

जैन विश्वभारती विश्वविद्यालय

लाडनूँ - 341 306 (राजस्थान)

दूरस्थ शिक्षा निदेशालय



स्नातकोत्तर (एम.ए.) पूर्वाद्ध

अहिंसा एवं शांति

चतुर्थ पत्र : संघर्ष निराकरण एवं शांति तकनीक

विशेषज्ञ समिति

- | | |
|--|---|
| 1. प्रो. राधाकृष्णन
चेन्नई | 2. प्रो. जयप्रकाशम
मदुरई |
| 3. प्रो. जे.एन. शर्मा
चण्डीगढ़ | 4. प्रो. बच्छराज दूगड़
विभागाध्यक्ष, अहिंसा एवं शान्ति विभाग
जैन विश्वभारती संस्थान, लाडनूँ (राज) |
| 5. डॉ. वी. अरुण कुमार
कोटा | 6. डॉ. अनिलधर
सह-आचार्य, अहिंसा एवं शान्ति विभाग
जैन विश्वभारती संस्थान, लाडनूँ (राज) |
| 7. डॉ. समणी सत्यप्रज्ञा
सह-आचार्य, अहिंसा एवं शान्ति विभाग
जैन विश्वभारती संस्थान, लाडनूँ (राज.) | 7. डॉ. अनिलदत्त मिश्रा
सहायक निदेशक, गांधी संग्रहालय
दिल्ली |

कॉपीराइट :

जैन विश्वभारती विश्वविद्यालय, लाडनूँ - 341 306 (राजस्थान)

लेखक :

प्रो. बच्छराज दूगड़

संस्करण : 2015

मुद्रित प्रतियाँ : 250

मुद्रक :

अनुक्रमणिका

Unit	Topic	Page No.
	संघर्ष निराकरण एवं शांति तकनीक	
इकाई-1	संघर्ष की अवधारणा	01-41
	अ. संघर्ष : अर्थ, स्वरूप, आधार, स्रोत, कारण और प्रकार	
	ब. संघर्ष के सिद्धान्त	
इकाई-2	संघर्ष निराकरण	42-74
	अ. संघर्ष निराकरण : अर्थ एवं स्वरूप, विश्वास और अभिवृत्ति-कार्यात्मक महत्ता, शक्ति एवं महत्त्व और अभिवृत्ति परिवर्तन	
	ब. संघर्ष निराकरण का इतिहास	
इकाई-3	संघर्ष निराकरण की विधियां	75-117
	अ. संघर्ष निराकरण की शांतिपूर्ण विधियां	
	ब. संघर्ष निराकरण की जैन विधि-अनेकांत	
	स. संघर्ष निराकरण की गांधीवादी विधि-सत्याग्रह	
इकाई-4	संघर्ष निराकरण हेतु कार्यरत अभिकरण एवं संगठन	178-225
	अ. अमेरिकन शांति सेना	
	ब. संयुक्त राष्ट्र शांति सेना	
	स. शांति सेना	
	द. संयुक्त राष्ट्र संघ	
	इ. स्टॉकहोम अंतर्राष्ट्रीय शोध संस्थान	
इकाई-5	परमाणु निःशस्त्रीकरण : ऐतिहासिक परिदृश्य, संधियां एवं समझौते, अंतर्राष्ट्रीय राजनीति पर प्रभाव	226-261

चतुर्थ पत्र

संघर्ष निराकरण एवं शांति तकनीक

इकाई-1 संघर्ष की अवधारणा

अ. संघर्ष : अर्थ, स्वरूप, आधार, स्रोत, कारण और प्रकार

ब. संघर्ष के सिद्धान्त

इकाई-2 संघर्ष निराकरण

अ. संघर्ष निराकरण : अर्थ एवं स्वरूप, विश्वास और अभिवृत्ति-कार्यत्मक महत्ता, शक्ति एवं महत्त्व और अभिवृत्ति परिवर्तन

ब. संघर्ष निराकरण का इतिहास

इकाई-3 संघर्ष निराकरण की विधियां

अ. संघर्ष निराकरण की शांतिपूर्ण विधियां

ब. संघर्ष निराकरण की जैन विधि-अनेकांत

स. संघर्ष निराकरण की गांधीवादी विधि-सत्याग्रह

इकाई-4 संघर्ष निराकरण हेतु कार्यरत अभिकरण एवं संगठन

अ. अमेरिकन शांति सेना

ब. संयुक्त राष्ट्र शांति सेना

स. शांति सेना

द. संयुक्त राष्ट्र संघ

इ. स्टॉकहोम अंतर्राष्ट्रीय शोध संस्थान

इकाई-5 परमाणु निःशस्त्रीकरण : ऐतिहासिक परिदृश्य, संधियां एवं समझौते, अंतर्राष्ट्रीय राजनीति पर प्रभाव

इकाई-1

संघर्ष की अवधारणा

अ. संघर्ष : अर्थ, स्वरूप, आधार, स्रोत, कारण और प्रकार

ब. संघर्ष के सिद्धान्त

उद्देश्य

1. संघर्ष की अवधारणा को स्पष्टकरना।
2. संघर्ष सम्बन्धी विभिन्न सिद्धान्तों का परिचय देना।
3. समाज में संघर्ष के वर्तमान स्वरूप को जानना।

संरचना

अ. संघर्ष : अर्थ, स्वरूप, आधार, स्रोत, कारण और प्रकार

1. अर्थ व परिभाषा
2. संघर्ष की विशेषताएँ
3. संघर्ष का स्वरूप
 - 3.1 विध्वंसात्मक बनाम उत्पादक संघर्ष
 - 3.2 दृष्टिकोण, व्यवहार और संघर्ष
 - 3.3 सम्बन्ध न होने की अपेक्षा संघर्षपूर्ण सम्बन्ध अच्छे हैं
4. संघर्ष का आधार
 - 4.1 एक या एक से अधिक पक्ष—
 - 4.1.1 अन्तर्वैयक्तिक संघर्ष
 - 4.1.2 अन्तर्राष्ट्रीय संघर्ष
 - 4.2 पक्षों के बीच सम्बन्ध
 - 4.3 वह व्यवस्था जिसमें पक्ष कार्य करते हैं
5. संघर्ष के प्रकार
 - 5.1 वैयक्तिक संघर्ष
 - 5.2 प्रजातीय संघर्ष
 - 5.3 वर्ग संघर्ष
 - 5.4 जातीय संघर्ष
 - 5.5 राजनैतिक संघर्ष
 - 5.6 अन्तर्राष्ट्रीय संघर्ष
6. संघर्ष की प्रक्रिया
 - 6.1 अन्याय
 - 6.2 आक्रामकता
 - 6.3 परमाणु अस्त्र-शस्त्रों का भय

7. संघर्ष के कारण
 - 7.1 व्यक्तिगत भिन्नताएँ
 - 7.2 सांस्कृतिक भिन्नताएँ
 - 7.3 परस्पर विरोधी हित या हितों का टकराव
 - 7.4 सामाजिक परिवर्तन
 - 7.5 संकीर्ण निष्ठाएँ
 - 7.6 सुविधाओं का अभाव
 - 7.7 अहम् भाव
 - 7.8 वस्तुओं की कमी
 - 7.9 संग्रह करने की इच्छा
 - 7.10 युयुत्सा
8. संघर्ष की उपयोगिता/महत्त्व
9. संघर्ष के स्रोत
 - 9.1 आंकड़े
 - 9.2 सम्बन्ध
 - 9.3 मूल्य
 - 9.4 संरचना
 - 9.5 हित
 - 9.6 कुण्ठा
10. मतभेद के स्तर और संघर्ष के प्रति प्रतिक्रिया
 - 10.1 मतभेद
 - 10.2 असहमति
 - 10.3 समस्यायें
 - 10.4 विवाद
 - 10.5 संघर्ष
 - 10.6 हिंसा
 - 10.7 युद्ध
11. संघर्ष सम्बन्धी सिद्धान्त
 - 11.1 स्वाभाविक एवं सांयोगिक सिद्धान्त
 - 11.1.1 सांयोगिक सिद्धान्त की मान्यताएं
 - 11.1.2 स्वाभाविक सिद्धान्त की मान्यताएं
 - 11.2 अस्तित्व के संघर्ष का सिद्धान्त
 - 11.3 ओपेनहेमर का सिद्धान्त
 - 11.4 कोज़र का सिद्धान्त : संघर्ष का प्रकार्यवाद

- 11.5 हेगल (G.W.F. Hegel, 1770-1831)
- 11.6 कार्ल मार्क्स (Karl Marx, 1818-1883)
- 11.7 वाल्टर बैजॉट
- 11.8 गुस्ताव रात्सेनहॉफर (Gustav Ratzenhofer, 1842-1904)
- 11.9 फ्रीडरीक निच या निची (Friedrich W. Nietzsche, 1844-1900)
- 11.10 लुडविग गम्पलोविक्च (Ludwig Gumplowicz, 1838-1910)
- 11.11 जे.नोविकॉव (Jacques Novicow, 1849-1912)
- 11.12 एल्बीयन डब्लू. स्मॉल (Albion W. Small, 1854-1926)
- 11.13 टी.वेबलेन (T. Veblen, 1857-1929)
- 11.14 टी.एन. कार्वर (T.N. Carver, 1865)
- 11.15 लुविस ए. कोज़र (Lewis A. Coser)
- 11.16 रैल्फ डारेनडॉफ (Ralf Dahrendorf, 1929)

12. अभ्यास प्रश्नावली

अ. संघर्ष : अर्थ, स्वरूप, आधार, स्रोत, कारण और प्रकार

संघर्ष एक मौलिक व सार्वभौमिक प्रक्रिया है। जब व्यक्ति-व्यक्ति के बीच सहयोग नहीं होता या जब वे एक-दूसरे के प्रति तटस्थ नहीं होते तो संघर्ष की स्थिति उत्पन्न हो जाती है। जब कोई व्यक्ति या समूह किसी लक्ष्य की प्राप्ति के लिए विरोधी को नुकसान पहुँचाने, नष्ट करने, उसके हितों को चोट पहुँचाने या उसके कार्य में बाधा डालने का प्रयत्न करता है तो इसे संघर्ष के नाम से पुकारा जाता है। संघर्ष में साधनों पर उतना ध्यान नहीं दिया जाता है जितना कि साध्य पर। जब अनेक व्यक्ति और समूह सीमित लक्ष्य को प्राप्त करना चाहते हैं तब उनका ध्यान लक्ष्य पर ही रहता है, चाहे उसकी प्राप्ति के लिए उन्हें कैसे ही साधन क्यों न अपनाने पड़े, तो इस दशा में संघर्ष प्रारम्भ हो जाता है।

व्यक्तियों के बीच सहयोग नहीं होता तब वे एक-दूसरे के प्रति तटस्थ नहीं होते एवं उनके विचार, ज्ञान, प्रत्याशाएँ भिन्न होती हैं तब संघर्ष की स्थिति उत्पन्न हो जाती है। संघर्ष को सामाजिक जीवन का अंग माना जाता है। यह न तो अस्वाभाविक है न हमारी असफलता सूचक है और न ही व्यक्तिगत व व्यवस्थागत कुव्यवस्था को दर्शाते हैं। इन्हें प्रायः एक सृजनात्मक शक्ति समझा जाता है जो समस्याओं को उभारकर लाती है। व उनके नए समाधान सुझाते हैं।

संघर्ष सभी समाज व स्थानों में पाया जाता है। सामाजिक जीवन के सभी क्षेत्रों में इसकी उपयोगिता है व सभी सामाजिक विज्ञान इसका अध्ययन करते हैं। आर्थिक संगठनों में मालिक-मजदूर, पूँजीपति श्रमिक आदि के संघर्ष का अध्ययन किया जाता है, राजनीतिशास्त्र राज्य व उससे सम्बन्धित घटकों के संघर्ष का अध्ययन करता है। समाजशास्त्र व्यक्ति, परिवार, धर्म, समूह आदि के बीच संघर्ष का अध्ययन करता है। मानव शास्त्र संस्कृति में संघर्ष का अध्ययन करता है, इतिहास भी अनेक संघर्षों का अभिलेखन करता है। अतः संघर्ष एक आवश्यक व महत्वपूर्ण प्रक्रिया है, जिसका सामाजिक महत्व है।

1. अर्थ व परिभाषा

संघर्ष Conflict शब्द लेटिन भाषा के con + fligo से मिलकर बना है। con का अर्थ है together तथा fligo का अर्थ है—to strike अर्थात् लड़ना, प्रभुत्व के लिए संघर्ष करना, विरोध करना, किसी पर काबू पाना आदि।

जब दो या दो से अधिक व्यक्तियों या व्यक्तियों के दो या दो से अधिक समूहों के बीच इस तरह की अंतःक्रिया होती है जिसमें किसी न किसी ढंग से एक-दूसरे का विरोध करने में हिंसा की इच्छा निहित होती है और इसमें प्रतिहार या बदला लेने के भी इच्छा निहित होती है।

मैकाइवर और पेज के अनुसार, “सामाजिक संघर्ष में वे सभी क्रियाकलाप सम्मिलित हैं, जिनमें मनुष्य किसी भी उद्देश्य के लिए एक-दूसरे के विरुद्ध लड़ते या विवाद करते हैं।”

प्रो. ग्रीन के अनुसार, “संघर्ष, दूसरे या दूसरों की इच्छा के विरोध, प्रतिकार या बलपूर्वक रोकने के विचारपूर्वक प्रयत्न को कहते हैं।”

गिलीन एवं गिलीन के अनुसार, “संघर्ष वह सामाजिक प्रक्रिया है जिसमें व्यक्ति तथा समूह अपने लक्ष्यों की प्राप्ति, विरोधी को प्रत्यक्ष हिंसा या हिंसा की चुनौती देकर करते हैं।”

ऑक्सफोर्ड डिक्शनरी के अनुसार, ‘दो वर्गों में या समूहों के बीच सशस्त्र प्रतिरोध, लड़ाई या युद्ध संघर्ष है। विपरीत सिद्धान्तों, कथनों, तर्कों आदि से विरोध भी संघर्ष है तथा विचारों, मतों और पसन्द के बीच असामंजसपूर्ण व्यवहार भी संघर्ष है।’

एचटिसन व हिल के अनुसार, “संघर्ष दो अथवा अधिक पक्षों के बीच साधनों या लक्ष्यों की प्राप्ति के लिए असहमति अथवा द्वन्द्व है।”

शर्लेकर व शर्लेकर के अनुसार, “सभी प्रकार के मनमुटाव अथवा विरोधपूर्ण प्रक्रियाएँ जो व्यक्तियों के बीच अथवा व्यक्ति समूहों के बीच पनपती है, संघर्ष है।

उपर्युक्त परिभाषाओं से यह स्पष्ट है कि संघर्ष एक पारस्परिक सामाजिक प्रक्रिया है। इसमें दो लोग, समूह किसी उद्देश्य की प्राप्ति के लिए बल-प्रयोग या हिंसा की धमकी द्वारा दूसरे की इच्छाओं को दबाते हैं या उनके उद्देश्यों की प्राप्ति में बाधा उपस्थित करते हैं। विभिन्न विद्वानों ने संघर्ष में हिंसा, आक्रमण व उत्पीड़न को साधारणतः जरूरी माना है। किंगले डेविस के अनुसार, जहाँ प्रतिस्पर्धियों का ध्यान प्रतिस्पर्धा से हटकर प्रतिद्वन्द्वियों पर केन्द्रित हो जाता है, वहीं संघर्ष प्रारम्भ हो जाता है। उदाहरण के लिए दो टीमों क्रीड़ास्थल में हार-जीत की बात पर स्पर्धा के कारण लड़ाई हो जाती है। राजनैतिक पार्टियों, जातियों, धर्म आदि के बीच भी संघर्ष होता है।

अर्थात् वह सामाजिक संरचना, जिसमें संघर्ष होते हैं वे विरोधी हितों को पैदा करती हैं और वे विरोधी हित संघर्ष का रूप ले लेते हैं। आधुनिक काल की परिभाषा में हितों को जोड़ा गया है और वे संघर्ष को हम आम जीवन में ही नहीं वरन् अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर भी सकते हैं।

2. संघर्ष की विशेषताएँ

संघर्ष के लिए दो या दो से अधिक व्यक्तियों या समूहों का होना जरूरी है जो एक-दूसरे के हितों को हिंसा की धमकी, आक्रमण, विरोध या उत्पीड़न के माध्यम से चोट पहुँचाने की कोशिश करते हैं।

- संघर्ष एक चेतन प्रक्रिया है जिसमें संघर्षरत व्यक्तियों या समूहों को एक-दूसरे की गतिविधियों का ध्यान रहता है। वे अपने लक्ष्य की प्राप्ति के साथ-साथ विरोधी को मार्ग से हटाने का प्रयत्न भी करते हैं।
- संघर्ष एक वैयक्तिक प्रक्रिया है। इसका तात्पर्य यह है कि संघर्ष में ध्यान लक्ष्य पर केन्द्रित न होकर प्रतिद्वन्द्वियों पर केन्द्रित हो जाता है।
- संघर्ष एक अनिरन्तर प्रक्रिया है। इसका अर्थ यह है कि संघर्ष सदैव नहीं चलता बल्कि रुक-रुक कर चलता है। इसका कारण यह है कि संघर्ष के लिए शक्ति और अन्य साधन जुटाने पड़ते हैं जो किसी भी व्यक्ति या समूह के पास असीमित मात्रा में नहीं पाए जाते। कोई भी व्यक्ति या समूह सदैव संघर्षरत नहीं रह सकते हैं।
- संघर्ष एक सार्वभौमिक प्रक्रिया है। इसका तात्पर्य यह है कि संघर्ष किसी न किसी रूप में प्रत्येक समाज और प्रत्येक काल में कम या अधिक मात्रा में अवश्य पाया जाता है।
- समाज की रचना इस तरह की होती है जिसमें व्यक्तियों व समूहों में विभिन्न स्वार्थ और हित होते हैं। व्यक्ति और समूह अपने हित की पूर्ति के लिए प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से संघर्ष करते रहते हैं।

- संघर्ष आंतरिक व बाह्य प्रक्रियाओं के कारण होता है। आंतरिक प्रक्रिया— जब स्त्रियों को शिक्षा में प्रवेश दिया तो वे आर्थिक रूप से स्वतंत्र हो गयी और फिर उन्होंने अपने अधिकारों की मांग की। आज नारी आंदोलन का जो स्वरूप दिखाई देता है वह व्यवस्था या समाज का आंतरिक संघर्ष है। साम्प्रदायिक दंगे, आतंकवाद, भ्रष्टाचार, विद्यार्थी और श्रमसंघ आंदोलन आदि आंतरिक संघर्ष हैं। बाह्य प्रक्रिया— दो राष्ट्रों के मध्य युद्ध, अन्तर्राष्ट्रीय बाजार व मंडी में युद्ध, तकनीकी साधनों के उत्पादन में जापान व अमेरिका में जो होड़ है वह भी बाह्य संघर्ष है।
- कोजर व उसकी परम्परा के विचारकों का मानना है कि संघर्ष हमेशा समाज के लिए हानिकारक नहीं होता। जब एक समाज दूसरे समाज के साथ संघर्ष में होता है तो समाज की सुदृढ़ता बढ़ती है।

3. संघर्ष का स्वरूप

मूलतः संघर्ष परिवर्तन का एक साधन है। परिवर्तन की आवश्यकता और इच्छा को नकारा नहीं जा सकता और यह भी स्वीकार करना ही होगा कि परिवर्तन के साधनों से ही परिवर्तन होगा। अतएव संघर्ष को सदैव हिंसक रूप में ही न देखकर उसे परिवर्तन के संदर्भ में भी देखना चाहिए। यह धारणा या विचार मिथ्या है कि “संघर्ष नैतिक रूप से गलत व सामाजिक रूप से अनचाहा है, संघर्ष सदैव त्याज्य या विध्वंसात्मक ही नहीं होता, यह समूहों के बीच तनाव को समाप्त भी करता है, जिज्ञासाओं व रुचियों को प्रेरित करता है तथा यह एक ऐसा माध्यम भी हो सकता है जिसके द्वारा समस्याएं उभारकर उनके समाधान तक पहुंचा जा सकता है अर्थात् यह व्यक्तिगत और सामाजिक परिवर्तन का आधार भी हो सकता है। संघर्ष का अनिवार्यतः यह अर्थ नहीं है कि यह समुदाय व सम्बन्धों के टूटने का कारण है। कोजर ने सामाजिक संघर्षों की महत्ता को प्रकाशित करते हुए लिखा है—संघर्ष असंतुष्टि के स्रोतों को खत्म कर तथा परिवर्तन की आवश्यकता की पूर्ण चेतना तथा नवीन सिद्धान्तों का परिचय देकर समुदाय पर एक स्थिर एवं प्रभावशाली छाप छोड़ता है।

मूल रूप से संघर्ष की दो स्थितियां हैं—

- न्यायोचित लक्ष्य के लिए प्रतिस्पर्धा में शामिल होना एवं
- ऐसा लक्ष्य जो न्यायोचित नहीं है, उसकी प्राप्ति के लिए प्रतिस्पर्धा में शामिल होना।

प्रथम **यथार्थवादी** संघर्ष है, जो एक विशेष परिणाम की प्राप्ति के लिए होता है। इसलिए यह संघर्ष या तो मूल्यों के संरक्षण के लिए या उन जीवनदायिनी चीजों के लिए होता है, जिनकी आपूर्ति कम होती है।

उपर्युक्त अर्थ में संघर्ष, परिमाण की प्राप्ति का साधन है। समाजशास्त्रियों का मानना है कि संघर्षविहीन समाज की कल्पना भी नहीं की जा सकती। **मेक्स वेबर** के अनुसार, “सामाजिक जीवन से हम संघर्ष को अलग नहीं कर सकते। हम जिसे शांति कहते हैं वह और कुछ नहीं है अपितु संघर्ष के प्रकार व उद्देश्यों तथा विरोधी में परिवर्तन है।” **रोबिन विलियम्स** के अनुसार, “किसी भी परिस्थिति में हिंसा पूर्ण रूप से उपस्थित या अनुपस्थित नहीं हो सकती।” यहां भगवान् महावीर की दृष्टि भी ज्ञातव्य है। उनके अनुसार समाज केवल हिंसा या केवल अहिंसा के आधार पर नहीं चल सकता। **प्रो. महेन्द्रकुमार** के अनुसार, हिंसा की पूर्ण अनुपस्थिति असंभव है क्योंकि अंतर्राष्ट्रीय समाज से संघर्ष का पूर्ण विलोपन संभव नहीं है और न ही यह वांछनीय है क्योंकि हिंसा की, अहिंसक—समाज निर्माण में महत्वपूर्ण भूमिका है या हो सकती है। अतएव संघर्ष को नियंत्रित या इच्छित दिशा में गतिशील किया जा सकता है, उसे पूर्ण रूप से हटाया नहीं जा सकता।

महात्मा गांधी ने भी संघर्ष की अनिवार्यता को स्वीकार किया था। जे.डी. टाटा ने जब गांधी से यह पूछा—“बापू! आप तमाम उम्र संघर्ष करते रहे हैं (ब्रिटिश लोगों से), उनके चले जाने के बाद आपकी संघर्ष की आदत का क्या होगा? क्या आप इसे छोड़ देंगे?” गांधीजी का उत्तर था—“नहीं। मैं इसे अपने जीवन से कभी अलग नहीं कर सकता।” लेकिन यहां यह स्पष्ट करना समीचीन होगा कि गांधीजी ने

कार्लमार्क्स की तरह संघर्ष को सामाजिक कानून के रूप में नहीं माना। उन्होंने संघर्ष की अहिंसक पद्धति विकसित करने पर बल दिया।

द्वितीय अयथार्थवादी संघर्ष है जो ऐसे लक्ष्यों की प्राप्ति के लिए किया जाता है जिन्हें किसी भी परिस्थिति में न्यायोचित नहीं कहा जा सकता। ऐसा कोई भी संघर्ष अथवा इसके लिए किये जा रहे प्रयत्न सदैव त्याज्य हैं।

3.1 विध्वंसात्मक बनाम उत्पादक संघर्ष

संघर्ष विध्वंसात्मक भी हो सकता है और उत्पादक भी। एक संघर्ष को उस समय विध्वंसात्मक कहा जा सकता है जब संघर्ष में सहगामी व्यक्ति, इसके परिणामों से असंतुष्ट हों तथा वे यह अनुभव करते हों कि संघर्ष के परिणामस्वरूप, उन्होंने कुछ खोया है। यही उत्पादक होगा, जब संघर्ष में सहभागी व्यक्ति इसके परिणामों से संतुष्ट हो तथा वे यह अनुभव करते हों कि संघर्ष के परिणामस्वरूप उन्होंने कुछ प्राप्त किया है।

3.2 दृष्टिकोण, व्यवहार और संघर्ष

विध्वंसात्मक दृष्टिकोण और व्यवहार को संघर्ष के समकक्ष या संघर्ष मानना भ्रामक है। तीनों का स्वतंत्र अस्तित्व है। संघर्ष एक प्रकार से विरोध तथा एक ऐसा लक्ष्य है जो दूसरे की लक्ष्य प्राप्ति में बाधक है। सामान्य रूप से संघर्ष के दो रूप हैं—

1. समाज के विभिन्न समूहों की वस्तुनिष्ठ रुचियों में भेद एवं
2. सामाजिक गतिविधियों में अत्मनिष्ठ लक्ष्यों में विरोध।

दृष्टिकोण व व्यवहार जब संघर्ष से जुड़ जाते हैं तब उन्हें निषेधात्मक दृष्टिकोण व व्यवहार कहा जाता है। इस प्रकार के निषेध घृणा या प्रत्यक्ष हिंसा के रूप में प्रकट होते हैं। जातीय और प्रजातीय संघर्षों में सामाजिक दूरी, पूर्वाग्रहों के कारण होती है जबकि संरचनात्मक हिंसा में यह भेदभाव के रूप में प्रकट होती है।

3.3 सम्बन्ध न होने की अपेक्षा संघर्षपूर्ण सम्बन्ध अच्छे हैं

प्रसिद्ध उक्ति है—‘पाप से घृणा करो, पापी से नहीं।’ अन्याय से घृणा या विरोध आवश्यक है क्योंकि यह अन्याय के संस्थाकरण को रोकता है लेकिन अन्यायी से घृणा सम्बन्धों के सुधार को रोकता है। इसी संदर्भ में यह कहा जा सकता है—संघर्ष पर आधारित सम्बन्ध, किसी प्रकार के सम्बन्ध न होने से अच्छे हैं। मेरे और आपके बीच संघर्ष यह दर्शाता है कि कोई एक चीज हम दोनों में सामान्य है। हमारी समस्या मेरी और आपकी है इसलिए हम इस समस्या से लड़ें न कि एक दूसरे से। संघर्ष के सावधानीपूर्ण प्रयोग से समाज में सामंजस्यपूर्ण सम्बन्ध स्थापित किये जा सके हैं। इस निष्कर्ष पर पहुंचने के दो आधार हैं—

- मानवीय एकता
- कर्त्ता बनाम व्यवस्था।

प्रत्येक मनुष्य एक दूसरे से अनेक बन्धनों व सामाजिक सम्बन्धों से जुड़े हैं। उनके बीच के सम्बन्ध सामंजस्यपूर्ण हैं तो वे उन्हें प्रदर्शित कर और अधिक प्रगाढ़ कर सकते हैं। यदि उनके बीच सामंजस्य नहीं है तो उन्हें यह समझाया जा सकता है कि सामंजस्यपूर्ण सम्बन्ध मानवीय एकता के लिए आवश्यक है। यदि उनके बीच किसी प्रकार के सम्बन्ध ही नहीं हैं, तो यह मानवीय एकता का बहिष्कार है।

किसी व्यक्ति के अन्यायी बनने में परिस्थितियों व व्यवस्था का भी योगदान होता है। सम्बन्धों को स्वीकार न करना अन्यायी की अस्वीकृति है जबकि असामंजस्यपूर्ण सम्बन्धों का स्वीकरण व्यवस्था व व्यक्ति सुधार की दिशा में प्रस्थान है।

4. संघर्ष का आधार

संघर्ष का मूल कारण व्यक्ति की अनन्त इच्छायें या लोभ की प्रवृत्ति है। जैन दर्शनानुसार इच्छा विस्तार समस्त बुराइयों की जड़ है। इच्छाओं की पूर्ति के लिए व्यक्ति दूसरों का शोषण करता है। अर्जित पदार्थों के संरक्षण हेतु शस्त्रीकरण को बढ़ावा मिलता है जो अन्ततः युद्ध या हिंसा को जन्म देता है। सुकरात ने कहा था— “लोक सरल जीवन पद्धति से संतुष्ट नहीं होंगे, वे अपनी इच्छाओं का विस्तार चाहेंगे, दूसरे भी ऐसा ही चाहेंगे— परिणाम होगा— युद्ध।”

मूलतः संघर्ष तब होता है जब इच्छा पूर्ति हेतु विरोधी क्रियाएं घटित होती हैं। जब दो व्यक्ति वह कार्य करना चाहें जो परस्पर विरोधी हैं तो तनाव स्वाभाविक है। क्योंकि इससे दूसरे व्यक्ति, समुदाय और राष्ट्रों की इच्छा पूर्ति में बाधा उत्पन्न होती है। समग्र इच्छाओं की पूर्ति के प्रयत्न तो दूसरों की अतृप्ति की कीमत पर किए जा सकते हैं। निम्न तीन घटक संघर्ष का आधार प्रस्तुत करते हैं—

4.1 एक या एक से अधिक पक्ष

किसी भी संघर्ष के लिए एक या अधिक पक्षों का होना आवश्यक है। एक व्यक्ति के भीतर ऊहापोह की स्थिति या उसके मानसिक द्वन्द की स्थिति उस व्यक्ति में घटित हो रहे संघर्ष का परिणाम होता है। यह स्थिति एक व्यक्ति में घटित होती है और उस व्यक्ति का मन दो रूप धारण करके दो पक्षों जैसी दशा निर्मित कर देता है। अन्तर्व्यक्तिक व सामाजिक संघर्षों में दो पक्ष निश्चित रूप से होते हैं जिनमें परस्पर संघर्ष की स्थिति होती है।

पक्षों के बीच सम्बन्ध हो तो उन पर आधारित संघर्ष दो प्रकार के हो सकते हैं—

4.1.1 अन्तर्व्यक्तिक संघर्ष

अन्तर्सम्बन्धों में संघर्ष का आधार वर्गों के बीच तनाव नृजातीय स्थितियां व सांस्कृतिक प्रारूपों की भिन्नता है। आधुनिक समाज दो वर्गों में बंटा है, उच्च वर्ग व निम्न वर्ग। मार्क्स ने कहा था कि जब तक समाज में यह वर्ग समाप्त नहीं हो जाते तब तक शांति संभव नहीं है और तब तक संघर्ष जारी रहेंगे। मार्क्स के वर्गविहीन समाज की रचना का सिद्धान्त अब तक तो मात्र एक आदर्श कल्पना ही सिद्ध हुआ है। इन वर्गों के अतिरिक्त विश्व में अनेक मानव वंश विद्यमान और इन मानव वंशों के आधार पर श्रेष्ठता का दावा व कमजोर लोगों को अधीनस्थ बनाने की प्रथा प्रारम्भ से ही रही है। यही कारण है कि वंश, जाति, कुल आदि के द्वारा मानव जाति बंटी हुयी है और श्रेष्ठता व हीनता का निर्धारण इन वंशों व कुलों के आधार पर ही किया जाता रहा है। यह वंश व कुल जहां निवास करते हैं, जैसी इनकी जीवन शैली होती है, वहां वैसी ही संस्कृति का निर्माण हो जाता है। अर्थात् यह कहा जा सकता है कि सांस्कृतिक प्रारूप जीवन शैली से प्रभावित होते हैं। उच्च व निम्न वर्ग की तरह सांस्कृतिक प्रारूप भी व्यक्ति को प्रभावित करता है। सांस्कृतिक विविधता यद्यपि इस जगत का सौन्दर्य है पर सबको अपनी संस्कृति का आग्रह है। दूसरों की संस्कृति को तुच्छ समझना ही अन्तर वैयक्तिक संघर्ष का प्रमुख कारण है। विश्व में उपनिवेशवादी नीतियों का मूल कारण वर्ग और संस्कृति रही है और आज भी पूर्वी और पश्चिमी संस्कृति के बीच क्लेश और ईसाई व इस्लाम संस्कृति के बीच युद्ध की चेतावनी अन्तर्व्यक्तिक संघर्षों में सांस्कृतिक प्रारूपों को प्रभावपूर्ण ढंग से दर्शाती है।

4.1.2 अन्तर्राष्ट्रीय संघर्ष

अन्तर्सम्बन्धों का प्रमुख कारण व्यक्तियों का राष्ट्रीय चरित्र व राजनीतिक ढांचा माने जाते हैं। यदि लोगों का राष्ट्रीय चरित्र उग्र राष्ट्रीयता लिए हुए है तो अपने राष्ट्र को श्रेष्ठ व अन्य राष्ट्रों को हीन समझने की प्रवृत्ति ऐसे संघर्षों में आम रूप से देखी जा सकती है। प्रथम व द्वितीय विश्व युद्ध का एक प्रमुख कारण लोगों का यह स्पष्ट राष्ट्रीय चरित्र ही रहा है। इतिहास में व विशेषकर द्वितीय विश्व युद्ध के बाद है कि किस तरह से राजनीतिक ढांचा व राजनीतिक विचारधारा युद्ध व अशांति को जन्म देती है। इस प्रकार अन्तः संघर्ष ये ऐसे घटक हैं जो संघर्ष के मूल कारण रहे हैं व भविष्य में भी रहेंगे।

4.2 पक्षों के बीच सम्बन्ध

संघर्ष का मुख्य आधार विषमता है। यह विषमता सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक आदि सभी क्षेत्रों में पायी जाती है। राजनीतिक सत्ता के क्षेत्र में विषमता, सम्पत्ति के स्वामित्व में विषमता, विरोधी धार्मिक विचार, विरोधी विचारधाराएँ, मूल्यों का भेद आदि विभिन्न विषमताओं के उदाहरण हैं। जितनी

अधिक विषमता होगी संघर्ष की संभावना उतनी ही अधिक बढ़ जाएगी। राजनीतिक क्षेत्र में शक्ति व सत्ता का वितरण समान न होने पर शक्ति संतुलन नहीं रहता व शक्ति संतुलन के अभाव में शक्तिशाली राष्ट्र किसी भी राष्ट्र पर युद्ध थोप सकता है। शक्ति व सत्ता का असंतुलन सरकार की अस्थिरता का भी कारण बनता है। द्वितीय विश्व युद्ध के बाद शक्ति व सत्ता के असंतुलन ने ही दीर्घकालीन शीत युद्ध को जन्म दिया।

इसी प्रकार सम्पत्तियों व संसाधनों का असमान वितरण भी संघर्ष को जन्म देता है। सम्पत्ति के असमान वितरण को लेकर कई खूनी क्रांतियाँ हो चुकी हैं। रूसी क्रांति इसी का ही उदाहरण कहा जा सकता है। भारत में भी कृषि भूमि के स्वामित्व में विषमता के कारण कृषकों व जमींदारों के झगड़े आम रूप से चर्चित रहे हैं।

विरोधी धर्म व विचारधाराएँ, वैचारिक परम्पराएँ भी विषमता का एक कारण हैं, जो संघर्ष का मूल स्वरूप हैं। भारत में हिन्दू-मुस्लिम झगड़े, भारत से बाहर ईसाई व इस्लाम के झगड़े व पूंजीवाद और समाजवाद के बीच टकराहट पिछले कई दशकों में संघर्ष व अशांति का एक बड़ा कारण रहे। विरोधी धार्मिक परम्पराएँ कहीं-कहीं तो आतंकवाद में बदल गयी और विरोधी विचारधारा ने अधिकांश सैनिक संगठनों को जन्म दिया है।

संस्कृति धर्म, विचार व हमारी जीवन शैली का एक मिला जुला रूप है। धर्म व संस्कृति के अनुरूप ही मूल्यों का निर्माण होता है। यदि धर्म व संस्कृति में टकराहट है तो वह टकराहट मूल्यों में भी देखने को मिलती है। मूल्यों का भेद भौगोलिक कारणों व जन्म के बाद अनुभवों से भी प्रभावित होता है। इन सभी घटकों पर आधारित मूल्य, व्यक्ति-व्यक्ति में अलग-अलग होते हैं तो वहाँ संघर्ष होना स्वाभाविक है। इसलिए विषमता चाहे धन-सम्पत्ति की है या सत्ता या सम्पत्ति की या फिर संस्कृति व मूल्यों की, वह मानव समाज में संघर्ष को जन्म देती है। इसलिए आज विषमता को कम करने के प्रयत्न किए जा रहे हैं।

4.3 वह व्यवस्था जिसमें पक्ष कार्य करते हैं

कोई भी व्यवस्था जिसमें खुला राजनीतिक तंत्र हो, स्वतंत्र न्याय व्यवस्था हो तो वहाँ मतभेद की कम संभावना होती है क्योंकि ऐसी व्यवस्थाएं उन मतभेदों को दूर करने या उनको नियंत्रित करने के साधन उपलब्ध कराती हैं ताकि ऐसे मतभेदों से अच्छी तरह से निपटा जा सके। ऐसी व्यवस्थाएं मूल्यों पर आधारित मतभेदों को भी समायोजित करती हैं व गहरे विवाद पनपने से रोकती हैं। वस्तुतः खुली राजनीति व्यवस्था व स्वतंत्र न्यायिक व्यवस्था लोकतंत्र की रीढ़ होती है। ऐसी व्यवस्थाओं में आम आदमी को अपने अधिकारों के साथ अपने विचारों की अभिव्यक्ति की भी पूर्ण स्वतंत्रता रहती है तथा अन्याय, दमन या शोषण के लिए स्वतंत्र न्यायपालिका की व्यवस्था उनके न्याय को भी सुनिश्चित करती है। यदि विवादों का संस्थाकरण न हो तो ऐसी व्यवस्था मूल्यों व विषमता पर आधारित मतभेदों को दूर करने में पूर्णरूपेण सक्षम होती है किन्तु यदि मतभेदों का संस्थाकरण कर दिया जाए या खुली राजनीतिक व्यवस्था निरंकुश शासन में बदल जाती है और न्याय पालिका की स्वतंत्रता खतरे में हो ऐसी स्थिति निश्चित रूप से संघर्षों को जन्म देती है।

पक्षों के सम्बन्ध एकता के स्तर पर ही निर्भर करते हैं। दोनों पक्षों के मध्य एकता का स्तर जितना अधिक होगा उतनी ही शत्रुता कम होगी और इसकी विपरीत दशा में शत्रुता अधिक होगी। दो पक्षों के बीच एकता दो बातों पर निर्भर करती है—प्रथम दोनों पक्षों के बीच अन्तर्निर्भरता का स्तर क्या है द्वितीयव्यवस्था के विविध घटकों के बीच परस्पर संगति व समानता का स्तर क्या है? एकता का स्तर जितना अधिक होगा उतनी ही असंतुष्टि कम होगी और संघर्ष कम होंगे और इसके विपरीत एकता का स्तर जितना कम होगा, उतनी अधिक असंतुष्टि होगी और संघर्ष ज्यादा होंगे। अन्तर्निर्भरता व एक व्यवस्था के घटकों में जितनी अधिक संगति व समानता होगी उतनी ही अधिक एकता होगी व संघर्ष कम होंगे।

एक व्यवस्था के आंतरिक घटकों में कई तत्त्व विद्यमान रहते हैं जैसे वैचारिक तत्त्व, भावनात्मक तत्त्व, आर्थिक तत्त्व, नौकरशाही के तत्त्व, अवसरवादिता के तत्त्व आदि। कोई भी व्यवस्था किसी विचारधारा पर आधारित हुए बिना नहीं पनप सकती है, व्यवस्था को किसी न किसी विचारधारा पर

अवलम्बित होना ही पड़ता है। यदि व्यवस्था तानाशाही के विचार पर आधारित है तो अशांति की सहज संभावना है व इसके विपरीत यदि व्यवस्था प्रजातांत्रिक मूल्यों पर आधारित है तो अशांति की कम संभावना रहती है। इसी तरह व्यवस्था में आर्थिक व नौकरशाही के घटक भी प्रभावी रहते हैं। कोई भी व्यवस्था जो केवल अर्थ व भौतिक संसाधनों पर निर्भर होती है वहां गलाकाट प्रतिस्पर्धा लोगों को शांत नहीं रहने देती। अर्थ के साथ मानवीय मूल्यों पर आधारित व्यवस्था शांतिपूर्ण समाज के निर्माण में सहायक बनती है व वहां के नागरिकों में संघर्ष की अपेक्षा कम होती है। इसी तरह जो व्यवस्था नौकरशाही पर आधारित होती है वहां भ्रष्टाचार पनप जाता है व संघर्ष की संभावनाएँ भी बढ़ जाती हैं। कैरिअर को ध्यान में रखकर चलने वाली व्यवस्थाओं में अत्यधिक प्रतिस्पर्धा देखी जाती है। इससे प्रतिस्पर्धा के फलस्वरूप प्रतिस्पर्धी को प्रतिद्वन्द्वी समझ लिया जाता है परिणामतः संघर्ष की संभावनाएँ बढ़ जाती है। अतः एक व्यवस्था के आंतरिक घटक भी अंतर्निर्भरता, पक्षों की संगति व सामंजस्य को प्रोत्साहित करने वाले हो तो वह व्यवस्था शांतिपूर्ण समाज की रचना करेगी व जिस व्यवस्था के आंतरिक घटकों में अंतर्निर्भरता, शांति व सामंजस्य का अभाव हो वहां वे घटक वह संघर्ष का आधार बन जाते हैं।

निष्कर्षतः पक्षों के बीच तनाव निवेशीय व सांस्कृतिक स्थितियां, लोगों का राष्ट्रीय चरित्र व ढांचा, विषमता व धार्मिक व मूल्यों पर आधारित भेद, खुली राजनीतिक व्यवस्था व स्वतंत्र न्यायपालिका का अभाव, अन्तर्निर्भरता, संगति व सामंजस्य की कमी आदि घटक सम्बन्धित रूप से संघर्ष का आधार बनते हैं।

5. संघर्ष के प्रकार

आधुनिक समाजशास्त्र में दो विचारधाराएँ सामाजिक सिद्धान्त को स्पष्टतः प्रभावित करती है। इसमें एक संघर्षवादी विचारधारा है जिसे रेडीकल या आमूलचूल परिवर्तन विचारधारा भी कहते हैं। दूसरी विचारधारा संतुलनवादी है जिसे संरचनात्मक प्रकार्यात्मक विचारधारा के नाम से भी जाना जाता है। रेडीकल विचारधारा के अनुसार संघर्ष कोई अस्थायी या असामान्य घटना नहीं बल्कि स्थायी व पूर्णतः सामान्य घटना है। इसके अनुसार अभाव की स्थिति समाज में संघर्ष को जन्म देती है व उसी से नेतृत्व का विकास होता है।

मेक्स वेबर के अनुसार, “सामाजिक जीवन से हम संघर्ष को अलग नहीं कर सकते। जिसे हम शांति कहते हैं वह और कुछ नहीं है अपितु संघर्ष के प्रकार व उद्देश्यों व विरोधी में परिवर्तन है।”

संघर्ष अनेक रूपों में हो सकता है जीवन के अनेक क्षेत्रों देखा जा सकता है। गिलीन व गिलीन ने संघर्ष के निम्न स्वरूपों की चर्चा की है जिसमें प्रो. सिमेल का वर्गीकरण भी समाहित हो जाता है। प्रो. सिमेल ने संघर्ष को चार प्रकारों में विभाजित किया है—1. युद्ध, 2. पुश्तैनी कलह, 3. मुकदमेबाजी, 4. मत वैभिन्य का संघर्ष।

■ वैयक्तिक संघर्ष

आंतरिक संघर्ष—कुण्ठा, स्वार्थ, हितों का ऊहापोह

बाह्य संघर्ष— वास्तविक संघर्ष, अवास्तविक संघर्ष

- प्रजातंत्रीय संघर्ष
- वर्ग संघर्ष
- जातीय संघर्ष
- राजनैतिक संघर्ष
- अन्तर्राष्ट्रीय संघर्ष

5.1 वैयक्तिक संघर्ष (Individual Conflict)

वैयक्तिक संघर्ष उसे कहते हैं जब संघर्षशील व्यक्तियों में व्यक्तिगत रूप से घृणा होती है तथा वे अपने स्वयं के हितों के लिए अन्य को शारीरिक हानि पहुंचाने तक भी तैयार हो जाते हैं। परस्पर विरोधी लक्ष्यों को लेकर घृणा, द्वेष, क्रोध, शत्रुता आदि के कारण इस प्रकार का संघर्ष हो सकता है।

वैयक्तिक संघर्ष आंतरिक व बाह्य दोनों प्रकार के हो सकते हैं। जब व्यक्ति का संघर्ष स्वयं से होता है तो वह आंतरिक संघर्ष का रूप है व जब व्यक्ति का संघर्ष किसी अन्य व्यक्ति या समूह से होता है तो वह बाह्य संघर्ष का रूप है। उदाहरण के लिए किसी कार्य को करने या न करने का मानसिक द्वन्द्व आंतरिक संघर्ष है व जमीन, जायजाद आदि के लिए होने वाला संघर्ष बाह्य संघर्ष है।

व्यक्ति के भीतर होने वाले संघर्ष— आंतरिक संघर्ष के मुख्य रूप से तीन कारक हैं जो इसे जन्म देते हैं— कुण्ठा, स्वार्थपरकता व हितों का टकराव।

व्यक्ति स्वयं जब कोई लक्ष्य निर्धारित करता है व किसी अवरोध से यदि वह लक्ष्य बाधित हो जाता है तो व्यक्ति की वह असफलता, कुण्ठा का रूप ले लेती है और जिसके परिणाम से व्यक्ति की कुछ प्रतिक्रियाएं होती हैं जो उसके आंतरिक संघर्ष को प्रदर्शित करती हैं।

व्यक्ति में आंतरिक संघर्ष उत्पन्न होने के जो कारण हैं उनमें सबसे महत्वपूर्ण कारण व्यक्ति की स्वार्थपरकता है। अपने स्वार्थों की पूर्ति वह उचित—अनुचित, वैध—अवैध सभी तरीकों से करना चाहता है। फलतः व्यक्तिगत ईर्ष्या उत्पन्न हो जाती है जिसके परिणामस्वरूप व्यक्ति की कुछ आंतरिक प्रतिक्रियाएं होती हैं जो आंतरिक संघर्ष को दर्शाती हैं।

व्यक्ति कभी स्वयं के हितों के कारण भी दुविधा में पड़ जाता है। व्यक्ति के पास स्वयं के हित के अनेक विकल्प होते हैं और उनमें से जब उसे यह चयन करना होता है कि क्या उसके लिए अच्छा होगा व क्या गलत, कौन—सा विकल्प हितकर होगा व कौन—सा अहितकर, कौन—सा सुगम होगा व कौन—सा जटिल तो यह असमंजस व ऊहापोह की स्थिति संघर्ष पैदा करती है।

जब व्यक्ति का संघर्ष अन्य व्यक्तियों व समूहों से होता है तो वह बाह्य संघर्ष होता है। यह भी दो प्रकार का होता है—वास्तविक व अवास्तविक। जब संघर्ष किसी न्यायपूर्ण या न्यायोचित उद्देश्यों को लेकर होते हैं तथा सामाजिक व कानूनी स्वीकृति को लेकर होते हैं तो वे वास्तविक संघर्ष कहलाते हैं। हितों का टकराव सामाजिक, आर्थिक, राजनैतिक, व्यक्ति का अहम व स्तर आदि कई कारक होते हैं जो इसे प्रभावित करते हैं।

जब संघर्ष अन्यायपूर्ण व अनुचित उद्देश्यों को लेकर होते हैं तो वे अवास्तविक संघर्ष कहलाते हैं। इनमें 'जैसे को तैसे' की प्रवृत्ति रहती है। ये संघर्ष कानूनी प्रक्रियाओं के द्वारा भी होते हैं।

अतः यह स्पष्ट है कि वैयक्तिक संघर्ष शीघ्र ही उत्पन्न हो जाते हैं। इनकी प्रकृति में निरन्तरता नहीं रहती, कभी संघर्ष चलता है तो कभी बंद हो जाता है व फिर चल सकता है। जब तक संघर्ष की परिणति सहयोग में न हो जाए यह चलता ही रहता है। ये संघर्ष अत्यधिक कटु नहीं होते हैं क्योंकि सामाजिक नियम उन्हें किसी न किसी रूप में नियंत्रित रखते हैं। इसमें शारीरिक हिंसा तुलनात्मक रूप से कम होती है।

5.2 प्रजातीय संघर्ष (Racial Conflict)

जब आनुवांशिक शारीरिक भेदभाव के कारण व्यक्तियों का वर्गीकरण किया जाता है तो उसे प्रजाति कहते हैं। वैयक्तिक संघर्ष के अतिरिक्त सामूहिक संघर्ष भी हो सकता है। प्रजातीय संघर्ष भी इसमें से एक है। प्रजातीय संघर्ष का आधार प्रजातीय श्रेष्ठता व हीनता जैसी वैज्ञानिक अवधारणा है। श्रेष्ठता व हीनता का मुख्य आधार संस्तरण है व उच्चता व निम्नता की भावना होती है। संस्तरण के कारण उच्च स्तर के व्यक्ति को अधिकार प्राप्त हो जाते हैं व उन अधिकारों का प्रयोग जब संस्तरण के निचले स्तर के व्यक्तियों पर किया जाता है या प्रदर्शित किए जाते हैं तो यह प्रजातीय संघर्ष है। भौगोलिक परिस्थितियों की भिन्नता, जीन संरचना, विशिष्ट शारीरिक लक्षण, सांस्कृतिक भिन्नता आदि ऐसे कई तत्व हैं जो प्रजाति की उच्चता व निम्नता निर्धारण में सहायक होते हैं। इन तत्वों के परिणामस्वरूप निर्धारित होने वाली प्रजाति की श्रेष्ठता व हीनता में व्यक्ति स्वयं जिम्मेदार नहीं होता है पर उस आधार पर व्यक्ति को ही श्रेष्ठ व हीन ठहरा दिया जाता है। उदाहरण के लिए अमेरिका में नीग्रो व श्वेत प्रजाति के बीच, श्वेत प्रजाति व जापानी प्रजातियों के बीच और अफ्रीका में श्वेत व श्याम प्रजातियों के बीच अक्सर जो संघर्ष होता है वह प्रजातीय संघर्ष के अनुपम उदाहरण हैं।

वर्तमान प्रगतिशील युग में प्रजातीय भेदभाव राजनैतिक, आर्थिक, सामाजिक, सांस्कृतिक आदि क्षेत्रों में कानून के रूप में व व्यवहार में जातीय भेदभाव के रूप में विद्यमान है। प्रजातीय संघर्ष कहीं सरकारी नीतियों से पुष्ट है तो कहीं प्रच्छन्न रूप में, जिससे विभिन्न वर्गों के बीच विषमता पायी जाती है। राजनैतिक क्षेत्र में विश्व के किसी भी देश में प्रजातीय भेदभाव को मान्यता नहीं है परन्तु राष्ट्रों में वहाँ की नीतियों व दशाओं के कारण सभी लोगों का मत देने, सरकारी सेवा में प्रवेश पाने एवं सार्वजनिक पदों के लिए चुनाव लड़ने का अधिकार नहीं है। आर्थिक क्षेत्र में प्रजातीय भेदभाव के परिणाम से कुछ विशेष प्रजाति के लोग कम वेतन पर मजदूर के रूप में सदैव उपलब्ध रहते हैं। प्रजातीय भेदभाव सार्वजनिक स्थल, स्वास्थ्य व चिकित्सा सम्बन्धी सुविधाओं, सामाजिक सुरक्षा व पारस्परिक सम्बन्धों में भी देखा जा सकता है। सांस्कृतिक क्षेत्र में जातीय भेदभाव जीवन स्तर की विभिन्नता से जन्म लेता है। वर्तमान समय में हर प्रजाति अपने को श्रेष्ठ व सुरक्षित बनाए रखना चाहती है इसलिए इस आधार के संघर्ष होते रहते हैं। अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर होने वाले संघर्षों का एक प्रमुख कारण यह भी है।

भेदभाव की यह भावना उस समाज में अधिक पायी जाती है जहाँ सांस्कृतिक, सामाजिक व आर्थिक जीवन में बहुत अधिक विरोधाभास होता है। नस्ल, रंग व वंश की दृष्टि से जिन राष्ट्रों में अलगाव की भावना है एवं जहाँ संस्कृति, रीति-रिवाज व परम्पराओं के कारण भिन्नताएँ हैं वहाँ की स्थितियाँ वास्तव में ही शोचनीय हैं। जातीय पृथक्करण की नीतियाँ विश्व के लिए एक बड़ा कलंक हैं।

5.3 वर्ग संघर्ष (Class Conflict)

वर्ग संघर्ष का इतिहास समाज के निर्माण से ही प्रारम्भ हो गया था। कार्ल मार्क्स ने लिखा था कि “आज तक अस्तित्व में रहे समाज का इतिहास, वर्ग-संघर्ष का इतिहास है।” समूचे समाज का इतिहास वर्ग संघर्ष में ढूँढा जा सकता है। प्राचीन काल में जब मुखिया सर्वेसर्वा था तब से वर्ग प्रणाली का प्रादुर्भाव हुआ। प्राचीनकाल में मालिक व दास, मध्ययुग में सामन्त व सेवक या कामदार, आधुनिक युग में मजदूर व पूंजीपति आदि वर्ग रहे हैं। विभिन्न समूहों की सामाजिक व आर्थिक स्थिति में परस्पर भिन्नताएँ पायी जाती हैं, फलतः उनके जीवन प्रतिमान एक-दूसरे से मेल नहीं खाते व ये समूह कालान्तर में विभिन्न वर्गों का रूप ले लेते हैं। प्रत्येक वर्ग सामाजिक व आर्थिक उपयोगिता की दृष्टि से स्वयं को सर्वाधिक महत्वपूर्ण मानता है। इस प्रकार की स्थिति उनके बीच विवादों व संघर्ष को जन्म देती है। उदाहरण के लिए वर्तमान में मजदूरों व मिल मालिकों का संघर्ष देखने को मिलता है। मजदूर अधिक से अधिक वेतन व सुविधाएँ लेना चाहते हैं जबकि पूंजीपति उनका अधिक से अधिक शोषण करना चाहते हैं। परिणामतः उनमें संघर्ष होता है। इस संघर्ष में मजदूर मिल-मालिकों को उनकी मांग न मानने पर तोड़फोड़ की धमकी देते हैं व अनेक बार ऐसा कर भी देते हैं। कुछ वर्ग के लोग आजकल अधिकारियों, मंत्रियों आदि का अपनी मांगों के समर्थन में घेराव करते हैं तथा हड़ताल व नारेबाजी करते हैं। ये सभी वर्ग संघर्ष के ही लक्षण हैं।

कार्ल मार्क्स ने कहा कि “समाज सदैव दो आर्थिक वर्गों में बंटा रहेगा— शोषक व शोषित। ये वर्ग सदैव एक दूसरे के साथ संघर्षरत रहेंगे जब तक कि वर्ग विहीन समाज की स्थापना न हो जाए।” मनोवैज्ञानिक रूप से इस संघर्ष को कभी समाप्त नहीं किया जा सकता है क्योंकि व्यक्ति विशेष में श्रेष्ठता व हीनता की भावना स्वभावतः होती ही है। चूँकि वर्ग विहीन समाज का अस्तित्व वर्ग स्वार्थों के कारण व्यावहारिक रूप में कठिन है अतः वर्ग संघर्ष एक सार्वभौमिक घटना है। ऐसे संघर्षों का अंत प्रत्येक बार या तो समग्र समाज के क्रांतिकारी पुनर्निर्माण में होता है या संघर्षरत वर्गों की बर्बादी में निहित होता है।

5.4 जातीय संघर्ष

जातीय संकीर्णता सामाजिक संघर्षों का एक प्रमुख कारण बनी है। यह समस्या अर्द्धविकसित व विकासशील देशों में अधिक पायी जाती है। हम कुछ जातीय पूर्वाग्रहों को पालते हैं, क्योंकि इनसे हमारी सुरक्षा, प्रतिष्ठा व मान्यता जैसी कतिपय गहन आवश्यकताओं की संतुष्टि होती है। सामाजिक व्यवस्था में जाति विशेष की श्रेष्ठता व हीनता को मानने की प्रवृत्ति जातीय संघर्ष का कारण बनती है। ऐसे संघर्ष भी संस्तरण की मानसिकता से जुड़े रहते हैं। आज कट्टरपंथी व उदारवादी लोगों के बीच जो संघर्ष होता है वह जातीय संघर्ष का ही एक भाग है। एक जाति का शासन के साथ, कट्टरपंथी का जातीय

समीकरणों के साथ, किसी जाति विशेष का जाति विशेष के साथ, उदारवादी व कट्टरपंथी आदि के बीच होने वाले संघर्ष जातीय संघर्ष के विभिन्न स्वरूप हैं। भारत में जातीय तनाव अधिक देखने को मिलते हैं। जैसे मणिपुर में नागा व हुकी जाति का विवाद, बिहार में लाला व ब्राह्मण जाति का विवाद आदि।

ये संघर्ष परम्परागत रूप से लम्बे समय से एक सामाजिक बुराई के रूप में स्थापित होते रहे हैं। यद्यपि कानूनी रूप से विभिन्न जातियों के बीच ऊँच-नीच की भावना को अस्वीकार किया गया है फिर भी ऊँच-नीच की भावना के कारण विभिन्न जातियों में बैर-भाव रहता है व जातीय संघर्ष चलते रहते हैं। इन जातीय विवादों के कारण आज भारतीय राजनीति का मुख्य आधार ही जातिवाद बन गया है जिससे जनता सदैव आपसी संघर्षों में उलझी रहती है। एक पूर्ण विकसित समाज में ऐसे संघर्षों के खत्म होने की संभावना रहती है अन्यथा ये संघर्ष निरन्तर चलते रहते हैं।

5.5 राजनैतिक संघर्ष (Political Conflict)

राजनैतिक संघर्ष के दो रूप हैं—राष्ट्रीय संघर्ष एवं अन्तर्राष्ट्रीय संघर्ष। जातिवाद, साम्प्रदायिक तनाव, राजनैतिक तनाव, उग्रवाद, पृथक्करण, विभाजन आदि राष्ट्रीय संघर्षों के प्रमुख कारण बनते हैं। अन्तर्राष्ट्रीय संघर्ष की अभिव्यक्ति के भी अनेक रूप हैं—जैसे घृणा तथा आक्रामकता की अभिवृत्ति, जिसके फलस्वरूप समाचार पत्रों, रेडियो व दूरदर्शन पर भड़कीले समाचार प्रसारित कर मनोवैज्ञानिक युद्ध किया जाता है। स्वजातिवाद की पृष्ठभूमि भी अन्तर्राष्ट्रीय तनाव का एक प्रमुख कारण है। अडोर्नो ने यह दर्शाया है—जिन व्यक्तियों में यह सोचने की अतिरंजित प्रवृत्ति है कि उनका अपना समूह अथवा जाति, अन्य जातियों से अत्यन्त श्रेष्ठ है, उनका सामान्य दृष्टिकोण रुढ़िवादी होता है तथा वे शक्ति की प्रशंसा व पराजितों से घृणा करते हैं जिससे वे दूसरों को अपने समान स्थान देने को तैयार नहीं होते। फलतः विदेशियों व अल्पसंख्यकों को हीन दृष्टि से देखा जाता है तथा उनमें असुरक्षा की भावना उत्पन्न होती है। इससे सैनिक संगठनों को बल मिलता है। राष्ट्रवादी अभिवृत्तियों के साथ-साथ अन्य देशों के प्रति प्रबल नकारात्मक भावना हो और प्रबल अन्तर्राष्ट्रीय भावना का अभाव हो तो उस स्थिति में अन्तर्राष्ट्रीय संघर्ष उत्पन्न हो ही जाता है और वह स्थिति शांति तथा एकता की बजाए युद्ध की प्रेरक होती है।

उपर्युक्त कारणों के अतिरिक्त वैचारिक भिन्नताएं, विस्तारवादी नीतियां, व्यापारिक एवं सीमा विवाद, अस्त्र-शस्त्र आदि भी अन्तर्राष्ट्रीय विवादों के प्रमुख कारण बनते हैं।

5.6 अन्तर्राष्ट्रीय संघर्ष

यह भी राजनैतिक संघर्ष का ही एक विस्तृत रूप है। राजनैतिक संघर्ष का क्षेत्र जब एक राष्ट्र की सीमा पार करके अन्य राष्ट्रों तक फैल जाता है तो उसे अन्तर्राष्ट्रीय संघर्ष कहते हैं। दूसरे शब्दों में, जब राष्ट्रीय सीमाओं के पार संघर्ष होता है तो वह अन्तर्राष्ट्रीय संघर्ष कहलाता है। इसका सबसे स्पष्ट रूप युद्ध है जो कि भारत और चीन के बीच, भारत-पाकिस्तान के बीच व अन्य राष्ट्रों के बीच होते हैं।

उपरोक्त समस्त विवेचन के आधार पर यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि संघर्ष अनेक स्वरूपों/प्रकारों में दृष्टिगोचर होता है। वैयक्तिक संघर्ष से प्रारम्भ होकर संघर्ष प्रजातीय व वर्ग संघर्ष की सीढ़ियां चढ़ते-चढ़ते जातीय संघर्ष परिवर्तित होता है व अंततः संघर्ष के विभिन्न रूप राजनैतिक स्तर के राष्ट्रीय व अन्तर्राष्ट्रीय संघर्ष में परिवर्तित हो जाता है। भारत के संदर्भ में संघर्ष के इन स्वरूपों की विवेचना की जा सकती है। धर्म के आधार पर भारत का विभाजन हुआ व पाकिस्तान के रूप में एक नए राष्ट्र की स्थापना हुई। विभाजन के बाद धर्म को लेकर जो दंगे हुए वे धार्मिक आधार पर निर्मित थे व स्वतंत्रता के बाद भी कहीं-कहीं समाज विरोधी तत्त्वों के द्वारा धार्मिक भावनाओं के आधार पर दंगे फसाद किए गए। धर्म निरपेक्ष राष्ट्र में ऐसी घटनाएं राष्ट्र विरोधी मानी जाती हैं। इसके अतिरिक्त सिक्ख धर्म पर कुछ व्यक्तियों की अलग सिक्ख राष्ट्र की मांग को लेकर भी भारत के एक भू-भाग में संघर्ष की स्थिति को जन्म दिया है। इन संघर्षों में तर्क व व्यापक दृष्टिकोण का अभाव रहता है व निहित स्वार्थ वाले तत्त्व संकीर्णता के आधार पर अपनी स्वार्थ सिद्धि का प्रयास करते हैं। क्षेत्र को लेकर भी भारत में संघर्ष के कतिपय उदाहरण मिलते हैं। आसाम व देश के कुछ अन्य भागों में आंदोलन व संघर्ष इसके उदाहरण माने जा सकते हैं। भाषा के आधार पर भी यदा-कदा संघर्ष की स्थितियां उत्पन्न हो जाती हैं। भाषा, संस्कृति का प्रमुख अंग है। अतः इसको संचार की प्रमुख व्यवस्था के रूप में नहीं

मानकर भावनात्मक आवेग से जोड़ने का दुराग्रह किया है। अनुसूचित जाति व तथाकथित उच्च जातियों के मध्य संघर्ष के उदाहरण अनुसूचित जातियों के लोगों में जागरूकता का प्रतीक है। धर्म निरपेक्ष, वर्ग विहीन, जाति विहीन आधार पर बना भारतीय संविधान देश के प्रत्येक निवासी को समान अधिकार प्रदान करता है। ऐसी दशा में किसी विशेष जाति को नीचा मानकर उनसे सामाजिक विभेद अनुचित है। ये संघर्ष राष्ट्र एकता में बाधक होते हैं व साथ ही साथ व्यापक व दुरगामी दृष्टिकोण से व्यक्ति व समाज के लिए घातक भी होते हैं।

6. संघर्ष की प्रक्रिया

कुण्डा, अन्याय, आक्रामकता व परमाणु अस्त्र-शस्त्रों का निरन्तर भय— संघर्ष के लिए जिम्मेदार कहे जा सकते हैं।

कुण्डा— फ्रायड ने व्यक्ति के अंदर एक ऐसी अचेतन शक्ति की परिकल्पना की है जिसके कारण वह युद्ध का स्वागत करता है। फ्रायड का मत है कि निराशा के कारण मनुष्य एक ऐसे अवरुद्ध आक्रमण के लिए प्रेरित होता है जो अपनी अभिव्यक्ति के लिए एक ऐसा मार्ग ढूँढने का प्रयत्न करता है जो सामाजिक दृष्टि से स्वीकृत हो और उसके अहं को भी स्वीकार्य हो।

सामान्य रूप में निराशा को उत्पन्न करने वाली तीन मुख्य स्थितियाँ हैं—

- प्रतिकूल वातावरण द्वारा प्रस्तुत बाह्य बाधाएं, जो व्यक्ति को अपने लक्ष्य प्राप्ति से रोकती हैं।
- मनुष्य के पराहं द्वारा प्रस्तुत आंतरिक बाधाएं जो उसकी अस्वीकार्य प्रवृत्तियों की उन्मुक्त अभिव्यक्ति को रोकती हैं, तथा
- दो पारस्परिक विशिष्ट प्रवृत्तियों का एक साथ उत्प्रेरण, जहां पर एक व्यक्ति की संतुष्टि से दूसरे व्यक्ति के तात्कालिक संतोष में बाधा पड़ती है।

उपर्युक्त तीनों ही स्थितियां व्यक्ति की कुण्डा के लिए जिम्मेदार हैं, जो अंततः संघर्ष को जन्म देती हैं।

6.1 अन्याय— सामाजिक, आर्थिक तथा राजनैतिक क्षेत्र में किया जाने वाला अन्याय भी संघर्ष की प्रक्रिया को जन्म देता है। अन्याय की निरन्तरता प्रतिशोध व विवादों को जन्म देती है तथा व्यक्ति, समाज व राष्ट्र संघर्षरत हो जाते हैं।

6.2 आक्रामकता— कुण्डाग्रस्त व्यक्ति प्रतिक्रिया स्वरूप आक्रामक हो जाता है। आक्रामकता उसका व्यवहार व आदत बन जाती है। सामाजिक व राजनैतिक संघर्षों में आक्रामकता एक प्रमुख कारण बनती है।

6.3 परमाणु अस्त्र-शस्त्रों का भय— आणविक अस्त्रों ने अपने प्रारंभिक काल से ही अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में उथल-पुथल शुरू कर दी थी। परिणामस्वरूप उस समय की महाशक्तियों के बीच परस्पर अविश्वास की वृद्धि और शीतयुद्ध को प्रोत्साहन मिला। आणविक शक्ति से सम्पन्न होने की लालसा ने ही शस्त्रीकरण की दौड़ को जन्म दिया तथा यह सैनिक गुटों के निर्माण का भी एक कारण बना था। एशिया और अफ्रीका के देश भी आणविक कूटनीति से बच न सके तथा विश्व के देशों की सैनिक व्यूह रचना ही बदल गई।

आणविक अस्त्रों की सैनिक कूटनीति ने विश्व की अर्थव्यवस्था पर भी प्रभाव डाला। विकासशील राष्ट्रों की राष्ट्रीय आय का एक बड़ा हिस्सा शस्त्रीकरण में खर्च होने लगा। विश्व का सैनिक खर्च जो प्रारंभ में 25 बिलियन डॉलर था, आज यह 900 बिलियन डॉलर से भी अधिक हो गया है। अतएव परमाणु कूटनीति आज पूरे विश्व पर हावी है तथा समस्त विश्व को निरन्तर संघर्षरत रखे हुए है।

संघर्ष का विकास माइक्रो व मेक्रो दोनों ही स्तर पर होता है। माइक्रो स्तर पर संघर्ष का विकास तब होता है जब एक व्यक्ति स्वयं के व्यवहार के परिप्रेक्ष्य में समूह के व्यवहार को देखता है। प्रारंभिक मनोवैज्ञानिक अध्ययनों में व्यक्तियों के व्यवहार को समूह-संघर्षों का प्रमुख कारण माना गया। समकालीन संघर्षों में भी व्यक्तियों के व्यवहार की अहम भूमिका स्पष्ट है।

समाजशास्त्री, मानवशास्त्री तथा राजनीतिज्ञों एवं संगठन तथा संचार सिद्धान्तों ने संघर्ष की मेक्रो दृष्टि को ग्रहण किया। इन्होंने संघर्ष को एक ऐसी स्थिति माना है जिसमें एक विशेष समूह दूसरे का सक्रिय प्रतिद्वन्द्वी बनता है। अर्थात् व्यक्तिगत स्तर पर व्यक्तिगत व्यवहार तथा समूह के स्तर पर समूहों का परस्पर विरोध संघर्ष के विकास का प्रमुख कारण है।

7. संघर्ष के कारण

चूंकि यह स्पष्ट है कि संघर्ष एक स्वाभाविक और सतत् प्रक्रिया है। प्रत्येक समाज में संघर्ष किसी न किसी रूप में विद्यमान रहता ही है। लेकिन फिर भी अनेक ऐसे निम्न कारण हैं जो संघर्ष को जन्म देते हैं और उनको बढ़ाने में योगदान देते हैं:-

7.1 व्यक्तिगत भिन्नताएँ—व्यक्ति-व्यक्ति में शारीरिक गठन, बौद्धिक क्षमता, आदतों, अभिवृत्तियाँ, मूल्यों, दृष्टिकोण, स्वभाव आदि के आधार पर अनेक अंतर पाए जाते हैं। किसी में क्रोध अधिक पाया जाता है तो किसी में सहनशीलता। किसी में मैत्रीभाव अधिक होता है तो किसी में द्वेषभाव। जब भिन्न-भिन्न क्षमताओं और विशेषताओं वाले व्यक्ति एक-दूसरे के सम्पर्क में आते हैं तो वे सुगमता से समायोजन नहीं कर पाते हैं। प्रत्येक अपनी तरीके से सोचता है और व्यवहार करता है। यह स्थिति संघर्ष के लिए दायी है।

7.2 सांस्कृतिक भिन्नताएँ—सांस्कृतिक भिन्नताएँ भी संघर्ष का एक महत्वपूर्ण कारण बनती हैं। संस्कृति व्यक्ति तथा समूह के जीवन के तरीके को अभिव्यक्त करती है। प्रत्येक व्यक्ति का व्यक्तित्व उस संस्कृति की देन होता है। उसमें उसका समाजीकरण होता है जिसमें उसका पालन-पोषण होता है। अन्य शब्दों में व्यक्ति के विचारों, मूल्यों, दृष्टिकोणों तथा अभिवृत्तियों पर उसके समूह की संस्कृति का काफी प्रभाव होता है। जब दो भिन्न संस्कृति वाले लोग एक-दूसरे से सम्पर्क में आते हैं तो सांस्कृतिक भिन्नता उनके सहयोगी सम्बन्धों के मार्ग में कई बार बाधक बन जाती है और संघर्ष की स्थिति पैदा हो जाती है। उदाहरणार्थ धार्मिक भिन्नताओं के कारण ही संसार के इतिहास में कितनी ही बार दो समूहों के बीच तलवारें चल गई हैं, रक्तपात हो गया है। किस प्रकार पाकिस्तान के समर्थकों ने भारत में 'इस्लाम खतरे में है' का नारा लगाकर कितने ही साम्प्रदायिक झगड़ों को जन्म दिया और अंत में भारत को खण्डित तक कर दिया।

7.3 परस्पर विरोधी हित या हितों का टकराव—व्यक्ति-व्यक्ति और समूह-समूह के हित/स्वार्थ एक-दूसरे से भिन्न हो सकते हैं। हितों की भिन्नता या परस्पर विरोधी हित संघर्ष का प्रमुख कारण होता है। विभिन्न नेताओं व राजनीतिक दलों में हितों के टकराने से संघर्ष होते हैं। इसी कारण समय-समय पर संघर्ष होते रहते हैं। मिल-मालिक स्वयं अधिक मुनाफा कमाना और श्रमिकों को कम वेतन देना चाहते हैं। मजदूर अधिक वेतन और सुविधाएँ चाहते हैं। परिणामस्वरूप उद्योगपतियों, मिल-मालिकों और पूँजीपतियों का श्रमिक वर्ग के साथ संघर्ष होता है जो हड़ताल, तालाबंदी, घेराव, तोड़-फोड़ आदि के रूप में व्यक्त होता है।

7.4 सामाजिक परिवर्तन—जब किसी समाज में तेजी से परिवर्तन आते हैं तो सम्बन्धों की पुरानी व्यवस्था अस्त-व्यस्त हो जाती है और समाज का पृथक-पृथक समूह में विभाजन हो जाता है। इनमें से प्रत्येक समूह अपने-अपने विशिष्ट सामाजिक मूल्यों और आदर्शों को महत्व देता है। यह भिन्नता व पृथकता संघर्ष के लिए उत्तरदायी है। उदाहरण के लिए कृषि स्तर के बदल जाने और औद्योगिक स्तर के प्रादुर्भाव के फलस्वरूप जो सामाजिक परिवर्तन हुए, उनके कारण समाज नयी पीढ़ी और परम्परागत पीढ़ी में बंट गयी। नयी पीढ़ी ने व्यक्तिवादी अपने ही माता-पिता से उनके बच्चों का संघर्ष प्रारंभ हुआ और संयुक्त परिवार का विघटन होने लगा।

7.5 संकीर्ण निष्ठाएँ—संकीर्णनिष्ठाएँ भी संघर्ष का एक प्रमुख कारण है। जहाँ राष्ट्रवाद अपने उग्र रूप में पाया जाता है, वहाँ विभिन्न राष्ट्रों के बीच संघर्ष होता है। संकीर्ण निष्ठाओं के कारण ही, जातिवाद, भाई-भतीजावाद, दलगत राजनीति और क्षुद्र स्वार्थ पनपते हैं। जो विभिन्न प्रकार के संघर्ष के लिए दायी होते हैं। जाति केन्द्रीयता भी इसी का ही एक भाग है। अपनी जाति, प्रजाति, धर्म, भाषा, मूल्य, रीति-रिवाज या जीवन विधि को ही श्रेष्ठ माना जाता है जो कि जाति केन्द्रीयता है। इसी के परिणाम से अन्य को हीन माना जाता है और परिणामस्वरूप संघर्ष होते हैं।

Mere Vebbar "Conflict can not be excluded from social life, what we call peace is nothing else than change in the form of conflict or in the antagonists or in the objects of conflicts."

“सामाजिक जीवन से हम संघर्ष को अलग नहीं कर सकते। हम जिसे शांति कहते हैं वह संघर्ष के स्वरूप, प्रतिद्वन्द्वी या संघर्ष के उद्देश्य में परिवर्तन के अलावा कुछ नहीं है।”

7.6 सुविधाओं का अभाव—जब साधनों की कमी तथा व्यक्तियों की संख्या अधिक होती है तो दुर्लभ साधनों के कारण सुविधाओं का अभाव भी लोगों में संघर्ष उत्पन्न करता है। जनसंख्या में वृद्धि और उसके अनुरूप नौकरी तथा रोजगार के अवसर का अभाव संघर्ष का कारण हो सकता है।

7.7 अहम् भाव— व्यक्तियों के अहम् भावना उनमें अहंकार का रूप ले लेती है। यह अहं भाव उन्हें स्वार्थी बनाता है। समाज के औद्योगिकीकरण के कारण स्वार्थ सिद्धि के हितों की ओर से ध्यान घटता जा रहा है। स्वार्थ से प्रेरित मानव से संघर्ष की अपेक्षा की जा सकती है।

7.8 वस्तुओं की कमी— संघर्ष का आरंभ प्रतिस्पर्धा से होता है व प्रतिस्पर्धा का आरंभ वस्तुओं की कमी के कारण होता है। अतः संघर्ष का मूल कारण वस्तुओं की कमी है। वस्तुओं की कमी, जिनको लोग चाहते हैं, संघर्ष पैदा करती है। जब तक वस्तुओं की अधिकता व बहुलता रहेगी तब तक संघर्ष नहीं होगा। जब दो कुत्तों के पास केवल एक हड्डी होती है तो संघर्ष होने लगता है। इसी प्रकार मानव समाज में भी संघर्ष होता है। जब केवल एक पद होता है अभ्यर्थी कई होते हैं, क्षेत्र निश्चित होता है पर जनसंख्या बढ़ती है या श्रमिक संगठित होते हैं व मालिक विरोध करते हैं तो संघर्ष होने लगता है।

7.9 संग्रह करने की इच्छा— व्यक्ति स्वभावतः अधिक से अधिक वस्तुओं व पदों को अर्जित करना चाहता है जिसका परिणाम यह होता है कि अन्य उत्साही व्यक्तियों में संघर्ष होने लगता है। यदि वस्तु प्राप्त करने का अवसर शांति से प्राप्त किया जाता है तो संघर्ष अवश्यभावी हो जाता है।

7.10 युयुत्सा—मनोवैज्ञानिकों का यह विचार है कि सभी व्यक्तियों में संघर्ष करने की शक्ति होती है और वह व्यक्ति को इसके लिए तैयार करती है कि किन-किन दशाओं में संघर्ष करें। कुछ व्यक्तियों ने तो सही हो या नहीं पर सभी व्यक्ति अपने अस्तित्व के लिए संघर्ष अवश्य करते हैं।

8. संघर्ष की उपयोगिता/महत्त्व

यद्यपि संघर्ष विघटनात्मक कार्य करता है फिर भी संघर्ष के महत्त्व को अस्वीकार नहीं किया जा सकता है। एक सामाजिक प्रक्रिया के रूप में व्यक्तित्व व सामाजिक संगठन दोनों के लिए ही संघर्ष अति आवश्यक है। किसी विद्वान ने सत्य ही कहा है कि 'संघर्ष ही जीवन है।' वास्तव में बिना संघर्ष के व्यक्ति न तो अपना विकास कर सकता है व न ही समाज की उन्नति में अपना योगदान कर सकता है। संघर्ष समूह में एकता व संगठन के विकास में सहायक सिद्ध होते हैं। यह उस समय होता है जब संघर्ष दो समूहों के बीच होता है। उस अवस्था में एकसमूह के सभी सदस्य अपनी एकता को बनाए रखते हैं ताकि वे बाह्य समूह का सामना कर सकें। चीन व पाकिस्तान के आक्रमण के दौरान भारत के सभी सम्प्रदाय, समूह, वर्ग व राजनीतिक दलों के बीच की एकता इसी का उदाहरण है। संघर्ष जहां एक ओर समूह की एकता को प्रोत्साहित करता है वहीं दूसरी ओर संघर्ष कभी-कभी समूह की एकता व संगठन में बाधा भी पहुंचाता है। जब समूह के अन्तर्गत ही संघर्ष होता है तब समूह का स्पष्ट विभाजन तो हो ही जाता है व साथ ही एक भाग के अंदर ही अनेक भाग होते चले जाते हैं। उदाहरण के लिए भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस दल में मध्यावधि चुनावों के पूर्व एक ऐतिहासिक संघर्ष प्रारम्भ हो गया था जिससे कांग्रेस कार्यालय के दो स्पष्ट दल हो गये जिससे कांग्रेस कार्यालय के प्रश्न को लेकर संघर्ष शारीरिक स्तर पर भी पहुंच गया।

संघर्ष से व्यक्ति में चेतना का विकास होता है। संघर्षरत व्यक्ति नए-नए तरीकों की खोज करता है व निरन्तर ज्ञान बुद्धि के विकास के लिए अत्यधिक श्रम करता है जिससे मानसिक विकास की गति मिलती है। इसी प्रकार चरित्र निर्माण के लिए भी संघर्ष आवश्यक है। उदाहरण के लिए यदि गांधी ने संघर्ष नहीं किया होता तो उन्हें कौन जानता? इस प्रकार जहां संघर्ष एक ओर सहयोग, आत्मचेतना, सामूहिक चेतना का विकास में वृद्धि करता है वहीं संघर्ष के नकारात्मक प्रभाव भी दृष्टिगोचर होते हैं। संघर्ष कभी-कभी किसी व्यक्ति विशेष के लिए प्रतिकूल भी हो सकता है। जिस देश या परिवार में

संघर्षात्मक परिस्थिति अधिक होती है उनके सदस्यों का संतुलित विकास नहीं हो पाता है। संघर्ष से जन व धन की भी बहुत क्षति होती है। उदाहरणतः युद्ध जैसे संघर्ष में तो जान व मान की इतनी क्षति हो सकती है जिसकी पूर्ति 100 वर्षों में भी संभव न हो। H_2O , O_2 आदि बमों के प्रयोग द्वारा होने वाले युद्ध तो मानव-सभ्यता व संस्कृति के लिए भी भयंकर अभिशाप बन सकते हैं। हीरोशिमा व नागासाकी की बर्बादी से कोई भी अनभिज्ञ नहीं है।

निष्कर्षतः यह कहा जा सकता है कि संघर्ष की अनिवार्यता को ध्यान रखते हुए इस बात की यद्यपि कल्पना नहीं की जा सकती है कि संघर्ष को दूर किया जा सकता है पर यदि रोकने का प्रयत्न किया जाए व संघर्ष उत्पन्न करने वाली दशाओं को निवारण का उपाय खोजा जाय तो संघर्ष को कम अवश्य किया जा सकता है। इसलिए अब इस बात पर बल दिया जा रहा है कि विद्यार्थियों का किताबी पढ़ाई के अतिरिक्त समाज की संघर्ष मयी घटनाओं का भी ज्ञान कराया जाए ताकि उनके चरित्र का निर्माण हो सके। संघर्ष की महत्ता को दर्शाते हुए Reuter व Hart ने कहा है “यह (संघर्ष) समस्त चेतन जीव के आधार एवं उत्पत्ति की जड़ है। आत्मचेतना और सामूहिक चेतना दोनों संघर्ष के ही परिणाम हैं।”

9. संघर्ष के स्रोत

संघर्ष के उपरोक्त समस्त विवेचन से संघर्ष के स्वरूप का ज्ञान होता है। जहां एक ओर कुछ कारण हैं जो संघर्ष को जन्म देते हैं वहीं कुछ स्रोत भी हैं जिससे संघर्ष की उत्पत्ति होती है। संघर्ष मुख्य स्रोत निम्नतः हैं:-

9.1 आंकड़ें—संघर्ष के कई महत्वपूर्ण स्रोत माने जाते हैं जिसमें यह स्रोत काफी महत्वपूर्ण है क्योंकि इसका क्षेत्र काफी विस्तृत है। इन आंकड़ों के द्वारा हम जो भी चाहे वो प्रदर्शित किया जा सकता है। आंकड़ों की वास्तविकता व उनके प्रदर्शन में सामान्यतः अंतर पाया जाता है जो कि संघर्ष का कारण बनता है। संघर्ष के इस स्रोत के कारण संघर्ष की उत्पत्ति भी शीघ्र होती है व समाधान भी शीघ्र होता है। एक ही प्रकार के आंकड़ों को कई प्रकार से व कई रूप से प्रदर्शित व्यक्ति अपनी सुविधा के अनुसार कर सकता है। चूंकि आंकड़ों का मापन संभव हो पाता है व ये वस्तुनिष्ठता पर आधारित योग्य होने के कारण इन पर आधारित संघर्षों को शीघ्र ही समाप्त किया जा सकता है। उदाहरणार्थ किसी विद्यार्थी की उपस्थिति 98 प्रतिशत आंकड़ों के अनुसार प्रदर्शित की जाती है व वास्तविक रूप में वह 100 प्रतिशत उपस्थित रहता है तो इस 2 प्रतिशत के परिवर्तन को आंकड़ों में 100 प्रतिशत दिखाकर संघर्ष को शीघ्र ही समाप्त किया जा सकता है।

9.2 सम्बन्ध—मानव एक विचारशील व परिवर्तनशील प्राणी है क्योंकि एक मनुष्य एक समय में अनेक प्रकार की भूमिका अदा करता है और भूमिका में परिवर्तन के अनुसार उसके सम्बन्धों में भी परिवर्तन होता रहता है। चूंकि मनुष्य स्वभाव परिवर्तनशील व अस्थिर होता है। इसलिए इन सम्बन्धों में होने वाले परिवर्तन बड़े ही नाटकीय ढंग से होते हैं। सम्बन्ध हमेशा दो पक्षीय होते हैं व दोनों पक्षों की विश्वसनीयता व एकात्मकता पर निर्भर करते हैं। सम्बन्धों की स्थिति को तो तय किया जा सकता है पर उनके व्यवहार को नहीं। जब सम्बन्धों में परिवर्तन सकारात्मक होते हैं तो सम्बन्ध सुदृढ़ व अच्छे होते हैं किंतु जब यह परिवर्तन नकारात्मक होते हैं तो ये सम्बन्ध बिगड़ जाते हैं और संघर्ष की उत्पत्ति होती है। सम्बन्धों की सुदृढ़ता के लिए परस्परता, विश्वसनीयता व एकात्मकता, मानसिक सतर्कता आदि तत्त्व क्रियाशील रहते हैं पर जब किसी सम्बन्ध में इन्हीं तत्त्वों पर संदेह की स्थिति आ जाती है तो सम्बन्ध बिगड़ जाते हैं और संघर्ष उत्पन्न होता है। सम्बन्धों का यह स्तर व्यक्तिगत, सामाजिक, राष्ट्रीय व अंतर्राष्ट्रीय सभी स्तरों पर विद्यमान रहता है। आज के आधुनिक समाज में जहां Give and Take के आधार पर सम्बन्ध बनते हैं, परिवर्तित होते हैं। वहां मानसिक सतर्कता से सम्बन्धों में परिवर्तन के अनुसार सामंजस्य करके सम्बन्धों को सही बनाए रखा जा सकता है। इसी कारण सम्बन्धों पर आधारित संघर्षों का समाधान जल्दी हो सकता है।

यहां यह ध्यान देने योग्य बात है कि सम्बन्धों पर आधारित रहने वाले संघर्ष पसंद, नापसंद, मूल्य, हित व भावनाओं पर आधारित नहीं होने चाहिए न ही सम्बन्धों का व्यक्तिकरण हो।

9.3 मूल्य—संघर्ष तब अधिक तीव्र व गहरे हो जाते हैं जब विवाद का आधार या तो किसी श्रद्धा के केन्द्र, मूल्य या आस्था से जुड़ जाता है। जब मूल्य पर दो पक्षों में भिन्नताएँ आ जाती है तो वे भिन्नताएँ सहजता से ही संघर्ष का रूप ले लेती हैं क्योंकि कोई भी व्यक्ति अपने मूल्यों व आस्था पर कुठाराघात को बर्दाश्त नहीं कर सकता है। जैसे शरीर को आत्मा से अलग नहीं किया जा सकता है वैसे ही हम अपने मूल्यों को भी अपने जीवन से अलग नहीं कर सकते हैं। इसलिए इस आधार के संघर्ष ज्यादा होते हैं। चूंकि मूल्य बहुत लम्बे समय की प्रक्रिया के बाद हमारे जीवन का अटूट हिस्सा बनते हैं इसलिए इनकी प्रतिक्रिया तीव्र व सहज होती है।

गांधीजी की शांति सेना का नियम था कि “जब तक कोई आपके मूल्यों पर प्रहार न करे तब तक कानून का पालन करो।” मूल्यों पर आधारित संघर्ष का निराकरण ना के बराबर होता है क्योंकि इन संघर्षों से संस्कृति जुड़ी होती है व संस्कृति की मान्यताएँ व्यक्ति में आस्था का निर्माण करती हैं और प्रश्न जब आस्था या विश्वास पर आता है तो समझौता करना मुश्किल होता है। उदाहरण के लिए सरकारी नीतियाँ व नियम आस्था से जुड़े तो संघर्ष गहरा हो जाता है व समस्या में परिवर्तित हो जाता है। उदाहरणार्थ—

- राम जन्म भूमि पर हमला, गुजरात के अक्षरधाम मंदिर पर हमला आदि पर हुए हमले न केवल मंदिर पर हुए वरन् व्यक्ति के मन व आस्था पर होने के कारण इनकी प्रतिक्रिया तीव्र हुयी।
- 1857 की क्रांति का विद्रोह मूल्यों पर कुठाराघात के कारण हुयी थी। कारतुसों पर सुअर गाय की चर्बी लगी थी जिसका विरोध मंगल पाण्डे ने किया था। यह विद्रोह भी आस्था व मूल्यों से जुड़े होने के कारण इनकी प्रतिक्रिया तीव्र हुयी।
- जनसंख्या नियंत्रण के लिए भ्रूण हत्या को एक राज्य कानूनी रूप से मान्यता दे सकता है पर जैसे ही यह मुद्दा मूल्यों व आस्था से जुड़ जाता है इसे सार्वजनिक बनाना कठिन हो जाता है।

9.4 संरचना—संघर्ष का एक कारण व्यक्ति के कार्य करने की व्यवस्था भी बनता है। दो पक्षों के बीच विवाद संरचना को या उस व्यवस्था को लेकर हो सकता है जिसमें वे काम करते हैं। जब व्यवस्था या संरचना पक्षों के लिए विरोधी होती है व वे यदि उसे परिवर्तित नहीं कर सकते हैं तो संघर्ष उत्पन्न होता है व यह निरन्तर बढ़ता ही जाता है। जब व्यवस्था एक पक्ष के लिए अनुकूल व दूसरे पक्ष के लिए प्रतिकूल हो तो भी संघर्ष हो सकता है। इस तरह के संघर्ष प्रायः कार्य स्थलों पर ज्यादा होते हैं। कभी-कभी शारीरिक योग्यता भी व्यवस्था में संघर्ष उत्पन्न करते हैं। चूंकि संरचना, व्यवस्था या ढांचे को परिवर्तित करना मुश्किल व न के बराबर होता है इसलिए इस प्रकार के संघर्षों का निराकरण भी सामान्यतः नहीं किया जा सकता है। उदाहरणार्थ आर्मी फोर्स में प्रवेश के लिए शारीरिक क्षमता तय की गयी है और जब कोई व्यक्ति उन शर्तों को पूरा नहीं कर पाता है वह व्यवस्था संघर्ष का कारण बन जाती है। पूंजीवादी व समाजवादी व्यवस्था में अंतर या पूंजीवादी में व्यक्ति को मेहनत करने की प्रेरणा की जाती है क्योंकि उस व्यवस्था में व्यक्ति को लाभ स्वयं को मिलता है पर समाजवादी व्यवस्था में व्यक्ति मेहनत करता है पर समाज को लाभ मिलता है जिससे वह प्रेरित नहीं हो पाता है। इसलिए समाजवादी व्यवस्था को लोग निकम्मे व सुविधावादी होते हैं जिस कारण सोवियत संघ का विभाजन हुआ। यह व्यवस्था ही संघर्ष का कारण बनी जिसके फलस्वरूप समाजवादी व्यवस्था का अंत हुआ।

9.5 हित— संघर्ष का वर्तमान में यह महत्वपूर्ण स्रोत बनता जा रहा है क्योंकि संघर्ष के सभी स्रोत जैसे सम्बन्ध, ढांचा आदि हितों पर ही निर्भर करते हैं। हम उसी संस्थागत ढांचे, सम्बन्ध, वस्तुओं आदि को स्वीकार करते हैं जो हमारे हित की पूर्ति करते हैं और उन्हें अस्वीकार करते हैं जो हित पूर्ति नहीं करते हैं। इस कारण कुछ समाजशास्त्रियों द्वारा संघर्ष को एक मुख्य स्रोत माना जाता है व अन्य स्रोतों में इसकी उपस्थिति रहती है। वर्तमान में प्रत्येक क्षेत्र में हित किसी न किसी रूप में जुड़ा होता है इसी कारण आजकल "Give and Take" की धारणा प्रचलित हो रही है। अंतर्राष्ट्रीय संघर्ष का भी मुख्य कारण सभी राष्ट्रों का अपना-अपना हित रहता है। चूंकि आवश्यकता पर आधारित संघर्ष को तो आवश्यकता पूर्ति कर समाप्त किया जा सकता है पर हितों पर आधारित संघर्ष मात्र हित की पूर्ति से ही समाप्त नहीं होते, क्योंकि मानव के हित/स्वार्थ निरन्तर बढ़ते व बदलते जाते हैं और यही स्थिति धीरे-धीरे तनाव का रूप लेकर संघर्ष उत्पन्न करती है। उदाहरणार्थ— अमेरिका व इराक के बीच हुए युद्ध व भारत व पाकिस्तान के बीच हुए युद्ध हितों पर आधारित संघर्षों का ही उदाहरण है जिसमें प्रत्येक राष्ट्र अपने

हित की पूर्ति के लिए दूसरे राष्ट्र के हित को गौण कर देता है। अफगानिस्तान पर अमेरिका का युद्ध का कारण रूस के प्रभाव को खत्म करना था।

9.6 कुण्ठा— उपर्युक्त घटकों के अतिरिक्त कुण्ठा को भी संघर्ष का एक स्रोत माना गया है। सामान्यतः कुण्ठा संघर्ष की प्रक्रिया का एक भाग है। एक व्यक्ति जब अपने लक्ष्य पूर्ति के लिए निरंतर प्रयत्न करता है किंतु यदि किसी कारणवश उसे उस लक्ष्य की पूर्ति से वंचित रखा जाता है अथवा निरंतर प्रयत्न करने के बाद भी वह अपने लक्ष्य को प्राप्त नहीं कर पाता है तो ऐसी स्थिति में व्यक्ति हताश या निराश होकर संघर्ष के लिए प्रेरित हो जाता है। फ्रायड ने व्यक्ति के अंदर एक ऐसी अचेतन शक्ति की परिकल्पना की है जिसके कारण वह युद्ध का स्वागत करता है। फ्रायड का मत है कि निराशा के कारण एक व्यक्ति एक ऐसे अवरुद्ध आक्रमण के लिए प्रेरित हो जाता है जो सामाजिक दृष्टि से स्वीकार्य हो व उसके अहम् को भी स्वीकार्य हो। सामान्य रूप से निराशा/कुण्ठा उत्पन्न करने वाली दशाएं हैं—

- प्रतिकूल वातावरण जो व्यक्ति को उसकी स्वीकार्य प्रवृत्तियों की उन्मुक्त प्रवृत्ति को रोकती है।
- दो विशिष्ट प्रवृत्तियों का एक साथ पैदा हो जाना जहां एक की संतुष्टि से दूसरी के संतुष्टि में तात्कालिक बाधा उत्पन्न होती है।

जैसाकि स्पष्ट है कि संघर्ष के स्रोत, तथ्य या आंकड़े, सम्बन्ध, हित, मूल्य या संरचना या व्यवस्था इनमें से आंकड़ों पर आधारित, हितों पर आधारित एवं सम्बन्धों पर आधारित संघर्ष आसानी से निपटाये जा सकते हैं। तथ्यों की जांच करके हितों को पूरा करके और सम्बन्धों में विश्वास पैदा करके संघर्षों का निपटारा किया जा सकता है। हित व सम्बन्धों पर आधारित संघर्ष बहुत कम है जिनका समाधान मुश्किल होता है।

इसके विपरीत मूल्य, संरचना या व्यवस्था पर आधारित संघर्षों का निराकरण लगभग असंभव सा होता है क्योंकि मूल्यों की कीमत पर कोई समझौता नहीं किया जा सकता है व इसी प्रकार संरचना या व्यवस्था पर व्यक्ति का अपना कोई नियंत्रण नहीं होता है। व्यवस्था या संरचना से सम्बन्धित संघर्ष ऐसे हैं जो व्यक्ति के नियंत्रण में नहीं होते और इसके लिए एक व्यक्ति को उत्तरदायी नहीं ठहराया जा सकता। चूंकि समाज व्यवस्था व सामाजिक संरचना का परिवर्तन बहुत जल्दी नहीं होता है। इसलिए इन पर आधारित संघर्ष भी बहुत जल्दी निपटाए नहीं जा सकते हैं।

10. मतभेद के स्तर और संघर्ष के प्रति प्रतिक्रिया

संघर्ष के विकासक्रम को देखने से यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि सभी संघर्ष एक समान नहीं होता, संघर्ष के विभिन्न स्रोतों, आधारों, उनकी जटिलताओं और संघर्ष के प्रति प्रतिक्रियाओं पर विचार करें, उससे पूर्व विभिन्न मतभेदों के स्तर पर विचार करना अधिक प्रासंगिक होगा जो वैयक्तिक स्तर पर प्रायः घटित होते हैं। मतभेदों के विभिन्न स्तर क्रमशः इस तरह विकसित होते हैं जो धीरे-धीरे हिंसक संघर्ष का रूप ले लेते हैं। वे स्तर निम्नानुसार हैं—

10.1 मतभेद— सभी व्यक्ति भिन्न-भिन्न हैं, उनकी भिन्नता का मूल कारण उनके व्यक्तित्व की विशेषताओं में भिन्नता है। प्रायः यह भिन्नतायें जीवन को रुचिप्रद बनाती हैं और यह भिन्नतायें उत्पादक अंतरक्रियाओं के कारण भी हैं। यह तथ्य है कि किसी न किसी तरीके से व्यक्ति भिन्न हैं किन्तु यह अपने आप में असहमति का कोई कारण नहीं है।

10.2 असहमति— कभी-कभी वे पक्ष जो भिन्न हैं, वे परस्पर मिलते हैं और अपने मतभेदों के कारणों को खोजते हैं तथा एक-दूसरे के दृष्टिकोणों को जानने की कोशिश करते हैं। वे यह जानते हैं कि वे परस्पर भिन्न हैं। किसी भी तरह वे सहमत होने में असफल हो जाते हैं तो भी उन पर किसी भी प्रकार का कोई प्रभाव नहीं पड़ता। वे अपने-अपने रास्ते पर जा सकते हैं क्योंकि असहमति मित्रतापूर्ण भी हो सकती है और लंबे समय तक मतभेदों का निराकरण किये बिना वे खुशी जीवन जी सकते हैं।

उपर्युक्त दोनों स्तर वैयक्तिक भिन्नता और व्यक्तिगत दृष्टिकोणों की भिन्नता संघर्ष के कारण हैं। इन दोनों स्तरों पर संघर्ष आवश्यक नहीं है किन्तु आगे जिन स्तरों की चर्चा हम करेंगे वे संघर्ष की ओर ले जाने वाले हैं।

10.3 समस्याएँ— परस्पर के मतभेद और असहमतियाँ कम से कम एक पक्ष पर अपना प्रभाव डालती हैं। इस प्रभाव को उपेक्षित भी किया जा सकता है किन्तु यह कुछ असरकारक होता है। समस्याएँ मिल बैठकर सुलझायी जा सकती हैं और उन्हें एक संकट भी बनाया जा सकता है। यदि समस्याएँ सुलझा ली जाये तो संघर्ष की संभावना क्षीण हो जाती है किन्तु अनसुलझी समस्याएँ प्रायः और अधिक गंभीर अन्तर्विरोध पैदा कर देती हैं। सुलझी हुई समस्याएँ हमारे दैनिक जीवन का हिस्सा हैं कोई भी इन पर कम ही ध्यान देता है।

10.4 विवाद— समस्याएँ एक या अधिक पक्ष के द्वारा जुड़ी होती हैं। पक्षकार जानते हैं कि वे भिन्न हैं और परस्पर असहमत हैं तथा उनमें से कम से कम एक पक्ष समस्या के मुद्दे को समाप्त करना चाहता है। वह पक्ष समस्या के समाधान के लिए दूसरे पक्ष से इसलिए सम्पर्क स्थापित करता है कि उस समस्या का कोई संभावित हल खोजा जा सके।

10.5 संघर्ष— संघर्ष में कम से कम दो पक्ष निश्चित रूप से जुड़े होते हैं और दोनों पक्षों की स्थिति विरोधी की स्थिति होती है। दोनों पक्ष में से कोई भी पक्ष अपने आप को पराजित होने नहीं देखना चाहता, उस स्थिति में या तो मूल्यों का या आवश्यकताओं का संकट होता है। प्रत्येक पक्ष अधिकाधिक संसाधनों को अपनी जीत सुनिश्चित करने अथवा अपनी पराजय को टालने में लगा देता है। यह स्थिति एक विवाद को संघर्ष में बदल देती है।

तीसरे स्तर से लेकर पांचवे स्तर तक या समस्या से लेकर संघर्ष तक, के ऐसे स्तर हैं जहाँ असहमति से पैदा हुई समस्याएँ अंततः संघर्ष का रूप ले लेती हैं। आगे के दो स्तर ऐसे हैं जिनमें विवादों से उपजा संघर्ष हिंसक संघर्ष का रूप ले लेता है। वे दो स्तर निम्नांकित हैं—

10.6 हिंसा— उपर्युक्त संघर्ष में रत दोनों पक्षों में से एक पक्ष शक्ति का प्रयोग करना चाहता है ताकि वह या तो जीत सके या अपनी पराजय टाल सके। शक्ति का प्रयोग शारीरिक शक्ति के रूप में भी हो सकता है और मनोवैज्ञानिक एवं भावनात्मक शक्ति के प्रयोग के रूप में भी हो सकता है, जो हिंसा के पहलू हैं।

10.7 युद्ध— प्रारम्भ में दोनों पक्षों के बीच जो भी मूलभूत मतभेद रहे हों संघर्ष उन मुद्दों से अलग हो जाता है और अब कम से कम एक पक्ष का यह सबसे बड़ा उद्देश्य होता है कि वह दूसरे पक्ष को हानि पहुंचाये।

इस प्रकार यह स्पष्ट है कि मतभेद और असहमति जीवन का अंग है। समस्याएँ भी जीवन का अंग हैं लेकिन यदि उन्हें न सुलझाया जाये तो वे संकट का रूप लेकर विवाद और संघर्ष में बदल जायेगी। संघर्षों का निपटारा न हो तो वे अंततः हिंसक संघर्ष का रूप ले लेते हैं और तब कम से कम एक पक्ष का अस्तित्व संकट में होता है। सामाजिक जीवन में मतभेदों और असहमतियों पर कभी-कभी ही ध्यान दिया जाता है। लोगों के ध्यानाकर्षण के लिए ये दोनों ही विशेष महत्वपूर्ण नहीं हैं। दूसरी ओर हिंसा को युद्ध से पुलिस, सेना, मनोचिकित्सक आदि निपटते हैं जो बीच के तीन मुद्दे हैं, उनमें मुख्यतः लोगों की भूमिका होती है। समस्या जो अंतर्विरोधों तक सीमित है, उस ओर लोगों का ध्यान आकर्षित करने के लिए या तो आंदोलन की आवश्यकता है या अंतर्विरोधों की ओर अधिक तीव्र करने की आवश्यकता है तथा जो सर्वाधिक चर्चित मुद्दे हैं, उन मुद्दों का समाधान करने की जरूरत है।

सामाजिक सम्बन्ध

क्षेत्र (Criteria)	सहयोग (Cooperation)	प्रतिस्पर्धा (Competition)	तनाव (Tension)	संघर्ष (Conflict)	संकट (Crises)
अधिकार Authority	वैधपूर्ण स्थिति (Legal)	चुनौतीपूर्ण भूमिका (Competition)	दोषारोपण की स्थिति	बिना अधिकार के पद पद	परिवर्तनीय स्थिति

(Status of Leader)	Position)	Challenging Status)	(Denaunced Status)	विरोध पूर्ण (Non-representative)	(Changable or Removal)
सम्बन्ध (Relationship)	खुले व अगोपनीय सम्बन्ध (Open and Creative Relation)	सजगतापूर्ण, सीमित व गोपनीय सम्बन्ध (Limited & Cautious Relation)	दोषारोपण करने वाले सम्बन्ध (Denaunced Relationship)	विरोधी सम्बन्ध (Confrontational)	एक दूसरे पर हावी होने व समाप्त करने के मानस के सम्बन्ध (Override Relationship)
प्रवृत्ति (Trend)	सामान्य, स्वतंत्र व सहयोग घटक (Normal, Cooperative)	असहयोगी, प्रतिस्पर्धी (Non-complimentary and Competitive)	अप्रत्यक्ष व प्रतिबंधित (Indirect and Restricted)	स्वयं की सुरक्षा व दूसरे को पूर्ण समाप्त करने की (Preventing self & Disrupted other)	बहुत बड़ी क्षति व विरोधी को इतनी बड़ी क्षति जिससे वो सामान्य अवस्था में न आए (Traumatized)
प्रक्रिया (Process)	परस्पर सहमति की प्रक्रिया (Smooth & applicable)	प्रतिस्पर्धी प्रक्रिया (Competitive Process)	प्रक्रियाएं थम जाती हैं (Process are Paralyzed)	औपचारिक प्रक्रिया समाप्त अनौपचारिक प्रक्रिया प्रारम्भ (Informal Process)	तीसरे पक्ष द्वारा दखल देना (Change or overtake, interfere of III party)

11. संघर्ष सम्बन्धी सिद्धान्त

संघर्ष का अर्थ, उसके स्वरूप एवं कारणों के समझ लेने के पश्चात् संघर्ष सम्बन्धी विभिन्न सिद्धान्तों की विवेचना करना समीचीन होगा। इस सम्बन्ध में यह उल्लेखनीय है कि संघर्ष के सम्बन्ध में सिद्धान्तों का प्रतिपादन कोई नई घटना नहीं है अपितु अति प्राचीन काल में ही विभिन्न विचारक अपने-अपने ढंग से संघर्ष सम्बन्धी सिद्धान्तों को प्रस्तुत करते आये हैं। ईसा से 205 वर्ष पूर्व श्री पालिबियस ने अपने संघर्ष सम्बन्धी सिद्धान्त को प्रस्तुत करते हुए लिखा था कि पशुओं की भांति मनुष्य में भी झुण्ड में रहने एवं संघर्ष करने की प्रवृत्ति पायी जाती है। शासक जब बिलकुल ही अन्यायी व अत्याचारी हो जाता है तो शासित वर्ग संघर्ष के द्वारा उसे उखाड़ फेंकने के लिए संगठित होता है। श्री पालिबियस के बाद खाल्डून, वोडिन हाब्स, डेविड ह्यूम आदि ने भी अपने-अपने संघर्ष सम्बन्धी सिद्धान्तों को प्रस्तुत किया। अतः यह कह सकते हैं कि संघर्ष से सम्बन्धित सिद्धान्तों का क्रम बहुत पुराना है, परन्तु श्री डार्विन की खोज के बाद सर हरबर्ट स्नेन्सर ने उसे एक वैज्ञानिक आधार देने का प्रयास किया। फलतः जीवित रहने के लिए संघर्ष का एक सिद्धान्त, जिसका कि आधार प्राणीशास्त्री है, उभरकर सामने आया। संघर्ष के विभिन्न सिद्धान्त निम्नतः हैं—

11.1 स्वाभाविक एवं सांयोगिक सिद्धान्त

समाजशास्त्र में संघर्ष के कई सिद्धान्तों का विवेचन उपलब्ध होता है जिनमें मुख्य रूप से संघर्ष के स्वाभाविक व सांयोगिक सिद्धान्तों की चर्चा प्रमुख रहती है। इसके अतिरिक्त जैविक, मनोवैज्ञानिक, शारीरिक आदि सिद्धान्त भी चर्चित रहे हैं। एक या अधिक पक्षों का होना, उन पक्षों के बीच सम्बन्ध व वह व्यवस्था जिसमें ये पक्ष कार्य करते हैं, संघर्ष के मूल आधार हैं। जब पक्षों की चर्चा की जाती है तो वहां यह जानना महत्वपूर्ण होता है कि वे पक्ष किन सिद्धान्तों के आधार पर हैं या जिन घटकों को लेकर उनके बीच अंतर्क्रियाएं होती हैं, वे सांयोगिक हैं या स्वाभाविक।

एक घटना उस समय स्वाभाविक मानी जाती है जब वह नियमित रूप से घटित होती रहती है या उसके उपादान एक व्यक्ति में सदैव विद्यमान रहते हैं। यहां घटना का घटित होना बाधित रहता है। इस सिद्धान्त के अनुसार संघर्ष समाज में सामान्य व स्वाभाविक है। परस्पर विरोधी लक्ष्य समाज के लिए अपरिहार्य होते हैं पर एक हिंसक संघर्ष व मतभेद दोनों को समान दृष्टि से नहीं देखा जा सकता है। शांति शोधकर्त्ता संघर्षों की समाप्ति के लिए प्रयत्न नहीं करते हैं अपितु वे संघर्षों की हिंसक व्यक्ति को समाप्त करने का प्रयत्न करते हैं। संघर्ष के इस सिद्धान्त को जब हम इस संदर्भ में देखते हैं तो पता चलता है कि इस सिद्धान्त की हिंसा को स्वाभाविक व अपेक्षित माना जाता है। परन्तु हिंसा की बढ़ती घटनाओं से हमें यह नहीं सोचना चाहिए कि यह मानव समाज का स्वाभाविक घटक है क्योंकि हिंसा की आवृत्तियां कई परिस्थितियों के कारण जन्म लेती है। यद्यपि ये परिस्थितियां ही स्वाभाविक मानी जाती हैं।

एक घटना सांयोगिक कहलाती है जब वह आकस्मिक रूप से किन्हीं असामान्य परिस्थितियों के फलस्वरूप पैदा होती है। अर्थात् यदि दो पक्ष परस्पर विरोधी लक्ष्यों के लिए कार्य करते हैं तो यह स्वाभाविक नहीं है अपितु उन आकस्मिक परिस्थितियों के कारण हैं जिनमें वे घिरे रहते हैं। कुंठा, प्रतिस्पर्धा, संसाधनों का असमान वितरण व शोषण आदि संघर्ष के कारण हो सकते हैं पर इन्हें स्वाभाविक कारण नहीं माना जा सकता है। उदाहरणतः कुंठा, आक्रामकता को जन्म देती है व आक्रामकता संघर्ष को, पर सदैव ऐसा ही हो यह निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता है। परिस्थितियां निर्धारित करती हैं कि इनसे संघर्ष पैदा होगा या नहीं।

एसकेटीन के अनुसार स्वाभाविक व सांयोगिक सिद्धान्तों के बीच में भेद एक ऐसी समस्या है जिसका निदान तब और भी आवश्यक हो जाता है जब संघर्ष के ये सिद्धान्त सतत विकासशील होते हैं। आज के विज्ञान व प्रौद्योगिकी के युग में संघर्ष को यदि स्वाभाविक मान लिया जाए तो इस पर कई प्रश्न उठ सकते हैं। जैसे कि गुरुत्वाकर्षण का सिद्धान्त स्वाभाविक सिद्धान्त है पर हम यहां देखते हैं कि यह केवल आदर्श स्थितियों में ही कार्य करता है और वह आदर्श स्थिति निर्वात है। हवा के दबाव व हवा की गति से ये प्रभावित होता है इसलिए स्वाभाविक होते हुए भी ये परिस्थितियों द्वारा प्रभावित होता है।

दर्शन व चिंतन के इतिहास में बुद्धिवाद व अनुभववाद ये दो विरोधी सिद्धान्त रहे हैं। समाज में परिवर्तन मानवीय सोच का परिणाम है इसलिए यह विरोधी चिंतन अस्वाभाविक नहीं है। कोई भी सामाजिक चिंतन मानव स्वभाव की प्रकृति के बारे में स्पष्ट व सटीक निर्णय नहीं ले पाया है। इसलिए अंतर्विरोध होना अपरिहार्य है। स्वाभाविक सिद्धान्त बुनियादी है जबकि सांयोगिक सिद्धान्त अनुभववादी। फ्रायड ने मनुष्य के समाज विरोधी इच्छाओं को जन्मजात या स्वाभाविक बताया है। वे हिंसा की वृत्ति को मूल प्रवृत्ति के रूप में देखते हैं। नोबल पुरस्कार विजेता लोरेन्ज ने तुलनात्मक जैविक अध्ययन के आधार पर यह निष्कर्ष निकाला है कि मनुष्य पशु की उस प्रजाति से सम्बन्धित है जिसमें हिंसा व हत्या के विरुद्ध कोई आंतरिक निरोध तंत्र नहीं है। वे ऐसे व्यवहारों के प्रतिकार या विरोध के लिए सामाजिक संगठनों की भूमिका पर बल देते हैं। इसके विपरीत जॉन लॉक जो अनुभववाद के जनक माने जाते हैं उन्होंने हिंसा के लिए अथवा किसी भी ज्ञान प्राप्ति के लिए अनुभव व परिवेश को ही प्राप्ति मुख्य माना है। समाजशास्त्री वॉटसन जो अनुभववाद को महत्त्व देते हैं वे कहते हैं कि “मुझे कुछ स्वस्थ बच्चे दीजिए, मैं उन्हें यादृच्छिक रूप से किसी को वैज्ञानिक, किसी को कलाकार और किसी को चोर बना दूंगा। उनका यह निर्माण उनकी योग्यता, उनकी जाति अथवा उनके धर्म को बिना आधार बनाए होगा।

अर्थात् वहां उनमें अंतर्निहित क्षमताओं का कोई महत्त्व नहीं होगा अपितु उन्हें दिए गए परिवेश का महत्त्व होगा।

संघर्ष के स्वाभाविक सिद्धान्त का अंतर्राष्ट्रीय सम्बन्धों में मजबूत आधार दिखाई देता है। प्रो. मॉर्गेन्थो ने कहा कि प्रत्येक राष्ट्र सुरक्षा, राष्ट्रीय हितों की प्राप्ति एवं प्रभुत्व स्थापना के लिए संघर्ष करता है। वे शांति को क्षणिक मानते हैं व उसकी प्राप्ति कुटनीतिक संगठनों व शक्ति संतुलन से संभव मानते हैं। मॉर्गेन्थो का यह कथन वर्तमान संदर्भों में कुछ सीमा तक सही माना जा सकता है पर वर्तमान राष्ट्रों के बीच क्षणिक शांति के स्थान पर स्थायी शांति का विचार भी हमारे समक्ष है। जो यह बताता है कि स्थायी शांति केवल व्यक्तियों के बीच ही नहीं राष्ट्रों के बीच भी संभव है। मॉर्गेन्थो के विपरीत जॉन बर्टन लिखते हैं कि युद्ध राष्ट्रों व उनकी बीच सम्बन्धों का परिणाम नहीं है बल्कि उस परिवेश का परिणाम है जो व्यक्ति को प्रभावित करता है। यह स्वाभाविक है कि कोई भी व्यक्ति व राष्ट्र अपनी आवश्यकता पूर्ति हेतु सतत प्रयत्नशील रहता है। इनके पूरा न होने की दशा में वे निराशाग्रस्त होकर संघर्ष की ओर उन्मुख हो जाते हैं। अतएव इन संघर्षों को स्वाभाविक नहीं माना जा सकता है। बर्टन ने लिखा है कि वे मूल्य जो मानवीय आवश्यकताओं की पूर्ति करते हैं उनकी आपूर्ति कम नहीं है। इसलिए सुरक्षा, हित, संवर्धन, पहचान आदि आवश्यकताओं की पूर्ति दूसरों को बिना पहुंचाए भी की जा सकती है। यदि परिवेश को परिवर्तित कर दिया जाए तो संघर्ष भी समाप्त किए जा सकते हैं।

वस्तुतः व्यक्ति जिसमें विश्वास करता है वह उसके लिए स्वाभाविक है व उसके परिणाम इसके लिए वास्तविक। दोनों सिद्धान्तों के बीच समन्वयवादी दृष्टिकोण की आवश्यकता है। थॉम्स ने लिखा है कि दोनों ही सिद्धान्तों को वैज्ञानिक रूप से स्वीकार करना कठिन होगा। जब तक कि यह निश्चित न हो जाए कि उन सिद्धान्तों के निगमन के त्रुटियों के परिणाम महत्त्वपूर्ण नहीं हैं अथवा संख्या में अधिक नहीं है।

संघर्ष के ये दोनों ही सिद्धान्त कुछ मूलभूत मान्यताओं पर आधारित हैं जो इसकी व्याख्या को अधिक स्पष्ट कर देती हैं, वे निम्न हैं—

11.1.1 सांयोगिक सिद्धान्त की मान्यताएं

- व्यक्ति मूलभूत रूप से शांतिप्रिय होता है।
- कुछ विशेष दशाओं के दबाव से उसकी शांतिप्रियता विमुख हो जाती है।
- संघर्ष के सिद्धान्त के लिए सबसे बड़ी समस्या यह है कि बार-बार घटित होने वाली हिंसा की व्याख्या कैसे करें।
- जब विशेष स्थितियां घटित होती हैं तो दूसरी मानव स्थितियां भी सक्रिय हो जाती हैं।
- सामूहिक हिंसा मूल रूप से उत्तेजना फैलाने वाली हैं इसलिए उसे सामान्य रूप से नहीं लेना चाहिए।
- हिंसा की प्रवृत्ति सांस्कृतिक शिक्षण से प्रभावित हो सकती है।

11.1.2 स्वाभाविक सिद्धान्त की मान्यताएं

- मनुष्य की मूल प्रवृत्ति मूलतः शक्ति व प्रभुत्व की तरफ होती है। हिंसा मनुष्य की इस स्वाभाविक प्रवृत्ति की चरम पर स्वाभाविक अभिवृत्ति है।
- शक्ति व सत्ता प्राप्ति के कई सारे स्रोत उपलब्ध हैं जिनमें से सामूहिक हिंसा मात्र है।
- मुख्य समस्या यह विश्लेषण करने की है कि हिंसा बार-बार क्यों नहीं घटित हो रही है? अहिंसा स्वाभाविक है।
- हिंसा का चयन मात्र सामरिक महत्त्व का है और सामरिक चयन लागत व लाभ की गणना से प्रभावित होते हैं।
- सांस्कृतिक घटकों की बहुत कम भूमिका होती है और वे हिंसा में सन्निहित होते हैं व हिंसा के प्रयोग को बढ़ाने वाले होते हैं।

दोनों सिद्धान्तों की मान्यताओं व विवेचन से यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि यद्यपि ये दोनों सिद्धान्त परस्पर विरोधी हैं पर यदि चिंतन की समग्रता की दृष्टि से ये दोनों ही विचार एक-दूसरे

के पूरक हैं। संघर्ष के इतिहास में किसी भी एक सिद्धान्त को लेकर संघर्ष की व्याख्या होती तो रही पर एकाकी ही सिद्ध हुयी है। अंतर्राष्ट्रीय सम्बन्धों में जहां हिंसा को शांति के लिए एक साधन के रूप में स्वीकार किया है वहीं अंतर्राष्ट्रीय सम्बन्धों में मनुष्य की शांति की चाह को देखते हुए शांतिपूर्ण साधनों पर भी बल दिया जाता है। हमें यहां यह स्वीकार करने में झिझक नहीं होनी चाहिए कि मनुष्य में हिंसा व अहिंसा दोनों ही तत्त्व विद्यमान हैं व इसी कारण इनमें से किसी एक के प्रभाववश व्यक्ति कभी हिंसा को चाहने लगता है व कभी अहिंसा को। इसलिए संघर्ष के समग्र अध्ययन की दृष्टि से यह अपेक्षित है कि हम दोनों सिद्धान्तों को समान रूप से महत्त्व दे व समेकित रूप से ही निष्कर्ष निकालें तो ही हमारा प्रस्थान शांति की ओर हो सकता है।

11.2 अस्तित्व के संघर्ष का सिद्धान्त

इस सिद्धान्त के अनुसार अपने अस्तित्व के लिए अथवा जीवित रहने के लिए प्रत्येक प्राणी को सदैव संघर्ष करना पड़ता है। इस संघर्ष की प्रक्रिया के तीन महत्त्वपूर्ण स्वरूप हो सकते हैं—

- प्राणी का प्रकृति के साथ संघर्ष,
- मनुष्य तथा अन्य जीवित प्राणियों के बीच संघर्ष,
- एक ही प्रकार के जीवित प्राणियों के बीच संघर्ष।

इन तीनों प्रकार के संघर्ष की प्रक्रियाओं को कुछ उदाहरणों के द्वारा सरलता से समझा जा सकता है। यदि किसी जीवित प्राणी में कोई प्राणिशास्त्रीय दोष है तो वह प्रकृति के साथ सफलतापूर्वक अनुकूलन नहीं कर पायेगा, इसलिए वह प्राकृतिक नियम से ही मरेगा। उदाहरण के लिए यदि एक पक्षी के पंख कमजोर या छोटे हैं तो वह सरलता से उड़ नहीं सकेगा और उस हालत में उसके लिए जीवित रहना असंभव होगा। एक व्यक्ति अपनी किसी शारीरिक दुर्बलता के कारण सर्दी से अपना अनुकूलन करने में असमर्थ है तो यह मानी हुई बात है कि उसे सर्दी लग जायेगी जिससे कि उसे निमोनिया हो सकता है और वह मर सकता है। उसी तरह से गर्म जलवायु में एक साँप जीवित नहीं रह सकता क्योंकि गर्मी से अनुकूलन करने में वह असमर्थ है। इन प्राणिशास्त्रीय दोषों के कारण वे प्रकृति के साथ अपना अनुकूलन नहीं कर पाते हैं, इसीलिए प्रकृति उन्हें स्वयं मार देती है। प्राकृतिक प्रवरण के सिद्धान्त के अनुसार मरते वही हैं जो कि अपने प्राणिशास्त्रीय दोषों के कारण प्रकृति के साथ अनुकूलन करने में असफल हैं और जीवित वही रहते हैं जो कि सफलतापूर्वक अनुकूलन कर लेते हैं। अतः स्पष्ट है कि जीवित प्राणी का सदैव प्रकृति के साथ संघर्ष होता रहता है।

उसी प्रकार मनुष्य तथा अन्य जीवित प्राणियों के बीच संघर्ष जीवित रहने के लिए होता रहता है। उदाहरण के लिए जंगल में रहने वाली जनजाति का कोई सदस्य आंखों से कम देखता है तो निश्चय ही किसी दिन वह किसी जंगली जानवर के पेट में जायेगा। इसके अलावा यदि हम अपने जीवन को ही लें तो देखेंगे कि रोग के जीवाणुओं से अपनी रक्षा करने के लिए हम डेटॉल, सेवलॉन, लाइफबॉय साबुन आदि कितनी ही चीजों का प्रयोग करते रहते हैं और इन सबका प्रमुख उद्देश्य यह है कि कहीं ये जीवाणु हम पर विजय न पायें जिससे कि हमारी मृत्यु हो सके। उसी प्रकार मच्छरों से अपनी रक्षा करने के लिए हम क्या-क्या नहीं करते हैं। इससे जनता को बचाने के लिए सरकार का एक अलग विभाग खुला हुआ है जिस पर कि करोड़ों रुपया व्यय हो रहा है। मच्छर के साथ इस संघर्ष में कभी-कभी मच्छर काटने से व्यक्ति को मलेरिया होता है और हो सकता है कि उसके फलस्वरूप उसकी मृत्यु हो जाय।

उसी प्रकार एक ही प्रकार के जीवित प्राणियों के बीच आपस में संघर्ष होता है। उदाहरण के लिए मनुष्य और मनुष्य में, पशु और पशु में, पक्षी और पक्षी में जीवित रहने के लिए संघर्ष चलता रहता है। मानव-समाज में चलने वाली प्रतियोगिता इसी संघर्ष का उत्तम उदाहरण है।

उपरोक्त आधारों पर ही उक्त सिद्धान्त के समर्थक यह निष्कर्ष निकालते हैं कि “केवल सबसे योग्य प्राणी ही जीवित रहेंगे।” (Only fittest can survive)। इसका यह तात्पर्य है कि केवल वही व्यक्ति जीवित रहते हैं या रहेंगे जो कि प्राणिशास्त्रीय दृष्टिकोण से पूर्ण रूप से योग्य हैं क्योंकि ऐसे व्यक्ति ही जीवित रहने के संघर्ष में विजयी हो सकते हैं अर्थात् प्राकृतिक प्रवरण के प्रभावों से अपनी रक्षा कर सकते हैं।

आज अधिकतर समाजशास्त्री प्राकृतिक प्रवरण या अस्तित्व के लिए संघर्ष के सिद्धान्त से सहमत नहीं हैं। उनके अनुसार, इस सिद्धान्त में निम्नलिखित कमियां हैं—

- यह कहना गलत है कि प्रत्येक जीवित प्राणी अपने अस्तित्व के लिए एक-दूसरे से संघर्ष करते रहते हैं। कोई भी समाज चाहे वह पशु-समाज हो या मानव-समाज, केवल संघर्ष के आधार पर नहीं टिक सकता। समाज में, सहयोग और संघर्ष दोनों ही पाये जाते हैं। इन दोनों में भी पारस्परिक सहयोग प्रमुख है अर्थात् सहयोग पर सामाजिक जीवन टिका हुआ होता है।
- पौधों तथा पशुओं का अध्ययन करके यह मालूम हुआ है कि उनमें एक-दूसरे को मारने की इच्छा नहीं पायी जाती। एक-दूसरे के सहयोग से ही वास्तव में वे पनपते हैं।
- डॉक्टर बम्पस के अनुसंधान के अनुसार, केवल सबसे योग्य प्राणी जीवित रहते हैं— यह कहना गलत है। वास्तव में यह देखा जाता है कि सबसे अधिक योग्य और सबसे अधिक अयोग्य प्राणियों का ही निरसन होता है अर्थात् इन लोगों को ही प्रकृति नष्ट करने के लिए चुनती है। जबकि आम तौर से बीच के दर्जे के अर्थात् न अधिक योग्य और अधिक अयोग्य व्यक्ति ही जीवित रहने में सफल होते हैं।

19वीं शताब्दी में संघर्ष सम्बन्धी जिन सिद्धान्तों ने लोगों का ध्यान अत्यधिक आकर्षित किया उनमें हीगल का दार्शनिक सिद्धान्त एवं कार्ल मार्क्स का वर्ग-संघर्ष का सिद्धान्त विशेष रूप से उल्लेखनीय है। यद्यपि कार्ल मार्क्स ने द्वन्द्व या संघर्ष के विचार को हीगल के दर्शन से ही ग्रहण किया था फिर भी इन दोनों का दृष्टिकोण एक दूसरे के विपरीत है। जहां हीगल ने द्वन्द्व या संघर्ष की प्रक्रिया को विचार और विरोधी विचार के बीच माना, वहीं मार्क्स ने दो विरोधी वर्गों के बीच संघर्ष की कल्पना की।

11.3 ओपेनहेमर का सिद्धान्त

संघर्ष सम्बन्धी गलत यूरोपियन सिद्धान्तकारों में फ्रांज ओपेनहेमर (1864-1943) का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है। उन्होंने समाज को एक स्वाभाविक अवस्था के रूप में माना। उनके अनुसार किसी भी समाज की स्वाभाविक अवस्था वह स्थिति हो, जो कि न्याय के द्वारा संगठित व प्रस्थापित होती है। जिस प्रकार मानव-स्वभाव में संघर्ष व सहयोग के कारक होते हैं, ठीक उसी प्रकार न्याय की भावना भी होती है जो कि संघर्ष करने वाले पक्षों पर किसी तीसरे लोग या समूहों द्वारा दबाव डालता है। न्याय, अन्य व्यक्तियों के साथ पारस्परिक अंतःक्रिया के मामले में व्यक्ति की पूर्ण स्वतंत्रता पर रोक लगाता है। व्यावहारिक रूप में न्याय, व्यक्तिगत स्वतंत्रता पर लगायी गयी सीमाओं का प्रतिनिधित्व करता है। इसकी आवश्यकता इसीलिए होती है क्योंकि प्रत्येक समाज में समाज द्वारा स्वीकृत या मान्य आदर्श-नियमों का उल्लंघन किया जाता है। आदर्श-नियमों से इस प्रकार का विचलन अनेक सामाजिक, आर्थिक या राजनैतिक कारकों के कारण होता है। इन्हीं कारकों के कारण संघर्ष की स्थिति भी उत्पन्न हो सकती है और होती भी है।

ओपेनहेमर के अनुसार संघर्ष के आर्थिक एवं राजनैतिक कारकों में स्पष्ट अंतर है। आर्थिक कारकों से होने वाले संघर्ष वास्तव में उस समय उत्पन्न होते हैं जबकि किसी व्यक्ति या समूह की आर्थिक आवश्यकताओं की पूर्ति या संतुष्टि में दूसरा कोई पक्ष बाधा उत्पन्न करता है। इन आर्थिक आवश्यकताओं में जीविका पालन सम्बन्धी आवश्यकताएं महत्वपूर्ण है। इसके विपरीत, राजनैतिक कारकों में उत्पन्न संघर्ष, दूसरों पर विजय पाने और उन्हें अपने साधनों द्वारा आर्थिक लक्ष्यों की पूर्ति करने के प्रयास के कारण भी संघर्ष की स्थिति उत्पन्न होती है। उदाहरणार्थ, अपने आर्थिक हितों की पूर्ति के लिए अंग्रेजों ने अपनी सैनिक शक्तियों का प्रयोग भारतीय भूमि को जीतने के लिए किया था जिसके कारण भारत के हिन्दू एवं मुसलमान शासकों तथा अंग्रेजों के बीच अनेक राजनैतिक संघर्ष घटित हुए।

यदि हम राज्य के उद्विकास के सम्बन्ध में विवेचना करें तो हमें पता चलेगा कि आरंभ में आधुनिक अर्थ में राज्य का कोई अस्तित्व नहीं था और न ही कोई न्याय व्यवस्था थी। फलतः हिंसा, मार-काट, सामूहिक खून, स्त्रियों व बच्चों का अपहरण, जानवरों को उठा ले जाना, मकानों में आग लगा डालना आदि घटनायें खुले तौर पर घटित होती थीं। इस स्तर पर संघर्ष का यह स्वरूप बहुत ही नग्न व भयंकर था। इसके बाद समाज के कुछ शक्तिशाली सदस्यों ने जमीन या भूमि पर अपना कब्जा

जमा लिया और उन पर शासन करने लगे जिन्होंने अपनी हार मान ली और भूमि पर अपने अधिकार हो त्याग दिया। इस प्रकार भूमि पर कब्जा व उसके लिए संघर्ष का आधार पूर्णतया आर्थिक न होकर राजनैतिक भी अवश्य रहा होगा। अतः ओपेनहेमर के अनुसार, “एक वर्ग-अवस्था के रूप में राज्य की उत्पत्ति बलपूर्वक विजय प्राप्ति व दमन के माध्यम से ही संभव हुआ होगा।”

11.4 कोजर का सिद्धान्त : संघर्ष का प्रकार्यवाद

विभिन्न विद्वानों द्वारा सामाजिक संघर्ष के सम्बन्ध में जितने भी सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया गया है उनमें प्रो. लीविस ए. कोजर का सिद्धान्त विशेष रूप से उल्लेखनीय है। उन्होंने अपने सिद्धान्त को अपनी प्रसिद्ध पुस्तक "The Functions of Social Conflict" में प्रस्तुत किया है। उनके सिद्धान्त को 'संघर्ष का प्रकार्यवाद' कहा जाता है क्योंकि उन्होंने सामाजिक संघर्ष के प्रकार्यात्मक पक्ष को उजागर करने का प्रयास किया और यह दर्शाया कि लोगों की यह धारणा गलत है कि सामाजिक संघर्ष से केवल विघटनात्मक परिणाम ही उत्पन्न होते हैं। वास्तव में सामाजिक संघर्ष का संगठनात्मक प्रकार्य कहीं अधिक महत्वपूर्ण है। कोजर के अनुसार संघर्ष के प्रकार्यों में ही सामाजिक परिवर्तन के तत्त्व छिपे हैं।

कोजर के अनुसार, सामाजिक संघर्ष से दो प्रकार के संभावित परिणाम उत्पन्न होते हैं—संगठनात्मक परिणाम और विघटनात्मक परिणाम। सामाजिक संघर्ष से संगठनात्मक परिणाम उस अवस्था में नजर आते हैं जबकि संघर्ष कर रहे विरोधी पक्षों की समान आस्था, समाज के कुछ आधारभूत मूल्यों में होती है। उदाहरणार्थ, लोकतंत्र के कुछ आधारभूत मूल्यों के आधार पर ही शासक दल और विरोधी दल, संसद या विधानसभा के अंदर व बाहर एक-दूसरे से टकराते हैं, बैलेट बॉक्स की लड़ाई लड़ते हैं। परन्तु इस प्रकार के टकराव या संघर्ष से हानि के स्थान पर लाभ ही होता है क्योंकि टकराव व आलोचना के माध्यम से दोनों पक्षों को अपनी-अपनी कमियां मालूम हो जाती हैं और वे उन्हें दूर करके ऐसे कार्यों को करने का प्रयास करते हैं जिनसे अधिकाधिक लोकहित संभव हो। इसके फलस्वरूप समाज में अनेक परिवर्तन घटित हो सकते हैं। उसी प्रकार किसी बाहरी समूह से संघर्ष होने पर भी समूह के अंदर सदस्यों में एकता पनपती है क्योंकि उनमें एकजुट होकर शत्रु को मुँह-तोड़ जवाब देने की समान इच्छा या संकल्प-शक्ति पनपती है। उदाहरणार्थ चीनी व पाकिस्तानी युद्ध के दौरान भारत के सभी सम्प्रदायों, समूहों, वर्गों और राजनीतिक दलों के बीच एक सराहनीय एकता देखने को मिली थी। मातृभूमि की रक्षा सम्बन्धी मूल्य पर लोगों की समान आस्था ही इस एकता का कारण है। इस प्रकार के प्रत्यक्ष संघर्ष के अतिरिक्त अप्रत्यक्ष संघर्ष के अंतर्गत प्रतिस्पर्धा का उल्लेख किया जा सकता है। आज सामाजिक आर्थिक जीवन की सारी प्रगति अथवा परिवर्तन प्रतिस्पर्धा के कारण ही संभव होती है।

इसके विपरीत, सामाजिक संघर्ष के विघटनात्मक परिणाम उस अवस्था में उत्पन्न होते हैं जबकि संघर्ष कर रहे विरोधी पक्षों की कोई आस्था समाज के आधारभूत मूल्यों में नहीं होती है और वे एक-दूसरे को मिटा देने का हर संभव प्रयास करते हैं। दो सेनाओं के बीच युद्ध या दो सम्प्रदायों के बीच दंगा-फसाद विघटनात्मक परिणामों को उत्पन्न करने वाले संघर्ष हैं जिनके कारण समाज में जान-माल की हानि तो होती ही है, साथ ही समाज में ईर्ष्या, कटुता, अव्यवस्था, अराजकता व अशांति भी फैलती है। कोजर के मतानुसार इस प्रकार के परिवर्तनों से सामाजिक प्रगति बाधित होती है।

कोजर ने दो प्रकार के संघर्षों में भेद किया है—1. यथार्थवादी तथा 2. अयथार्थवादी संघर्ष। वे संघर्ष जो कि कतिपय लक्ष्यों के आधार पर कुछ परिणामों को प्राप्त करने के अनुमानों से उत्पन्न अथवा विफल हुए लक्ष्यों को पुनः प्राप्त करने की ओर निर्देशित होते हैं उन्हें यथार्थवादी संघर्ष कहते हैं। ऐसे संघर्ष यथार्थवादी इस अर्थ में होते हैं कि इनमें संघर्ष करने वाले पक्षों के सामने कुछ यथार्थ लक्ष्य होता है और वे कुछ ठोस परिणामों की प्राप्ति के लिए ही आपस में टकराते हैं। स्पष्ट है कि यथार्थवादी संघर्ष में दो विरोधी पक्ष अपने-अपने लक्ष्यों की प्राप्ति पर अधिक बल देते हैं न कि दूसरे पक्ष को नष्ट कर देने पर। अर्थात् एक पक्ष का उद्देश्य दूसरे पक्ष को नष्ट करना नहीं अतपतु अपने-अपने लक्ष्यों की प्राप्ति करना होता है। उदाहरण के लिए लोकसभा या विधानसभा के चुनाव में जब दो विरोधी प्रत्याशी या उम्मीदवार आपस में चुनाव लड़ते हैं तो उनके दो विरोधी लक्ष्य होते हैं—एक पक्ष तो अपने लिए विजयश्री प्राप्त करना चाहता है तो उसका विरोधी पक्ष उसे 'बैलेट बॉक्स' की लड़ाई में पराजित करना

चाहता है। दोनों ही पक्षों के लिए यह जय-पराजय का लक्ष्य ही यथार्थ होता है। जो पक्ष पराजित होता है वह अगले चुनाव में इस पराजय को यथार्थ विजय में बदलने के लक्ष्य को सामने रखकर पुनः चुनाव मैदान में दूसरे पक्ष से टक्कर लेने उतरता है। दोनों ही मामलों में कतिपय यथार्थ राजनैतिक परिवर्तन घटित होते हैं। इसीलिए ऐसे संघर्ष को कोज़र ने यथार्थवादी संघर्ष कहा है।

इसके विपरीत अयथार्थवादी संघर्ष में न तो लक्ष्य स्पष्ट होता है और न ही किसी विशिष्ट परिणाम को प्राप्त करने के लिए संघर्ष किया जाता है। ऐसे संघर्ष में लक्ष्य या परिणाम महत्वपूर्ण नहीं होता, इनमें तो आक्रमण स्वयं विरोधी पक्ष पर किया जाता है। “हमें कुछ मिले, विरोधी पक्ष को नुकसान पहुंचे”—जब इस प्रकार का मनोभाव लेकर संघर्ष किया जाता है तो वह अयथार्थवादी संघर्ष ही कहलाता है क्योंकि यह यथार्थता से दूर होता है। अयथार्थवादी संघर्ष का बड़ा अच्छा उदाहरण भारत में विरोधी दल प्रस्तुत करते हैं। देश की विभिन्न राजनीतिक पार्टियों ने संयुक्त मोर्चे का गठन किया जिसने 1996 लोकसभा चुनाव में एकजुट होकर ‘भारतीय जनता पार्टी’ को चुनाव के बाद सरकार चलाने से रोका तथा स्वयं सरकार गठित करने में कामयाबी हासिल की। चुनाव लड़ने में उनका मनोभाव कुछ इस तरह का होता है कि ‘मैं तो जीतूंगा ही नहीं, पर तुम्हें भी जीतने नहीं दूंगा।’ स्पष्ट है कि अयथार्थवादी संघर्ष में तो केवल मानसिक तनाव को दूर करने हेतु संघर्ष होता है जो लक्ष्यविहीन होता है। कुछ भी हो, ऐसे संघर्ष के फलस्वरूप भी राजनैतिक परिवर्तन घटित होते हैं।

सकारात्मक प्रकार्यों के संदर्भ में संघर्ष, जिन परिणामों या परिवर्तनों को उत्पन्न करता है उनके विषय में कोज़र ने लिखा है—संघर्ष दो विरोधी पक्षों के बीच होने वाले टकराव को चरमरूप देकर अंततः उसे शांत करता है, नये आदर्श-नियमों को स्थापित करके या पुराने नियमों को पुनर्जीवित करके अनेक शिकायतों को दूर करने में सहायक सिद्ध होता है। बाह्य-समूह के साथ संघर्ष होने पर अंतःसमूह के सदस्यों में स्वतः ही एकता पनप जाती है। इसीलिए जब कभी भी किसी समाज या समूह को अपने अंदर अधिक संगठन व एकता के विकास की आवश्यकता अनुभव होती है तो उसके सदस्य बाहरी समूह या विदेशी राष्ट्र से संभावित खतरे को बढ़ा-चढ़ाकर प्रचारित करते हैं और इस प्रकार समाज में एकता व संगठन को अधिक दृढ़ बनाते हैं। पूर्व-प्रधानमंत्री श्रीमती इंदिरा गांधी की निर्मम हत्या एवं उसके पश्चात् उभरे देशव्यापी हिंसा के बाद हुए लोकसभा चुनाव में ‘इंदिरा कांग्रेस’ ने देश की एकता, अखण्डता व सुरक्षा का जो नारा लगाया उससे सारे देश के लोगों ने एक होकर ‘इंदिरा कांग्रेस’ के पक्ष में मतदान करके उसे प्रचण्ड बहुमत से विजयी बनाया ताकि केन्द्र में एक मजबूत सरकार बन सके। कोज़र के मतानुसार सामाजिक संघर्ष से न केवल नये आदर्श-नियमों और संस्थाओं का विकास ही संभव होता है, अपितु नई साझेदारी तथा साहचर्य भी पनपते हैं। संघर्ष का ही एक रूप प्रतिस्पर्धा है जिसके कारण औद्योगिक विकास तथा अर्थव्यवस्था का पुनरुद्धार संभव होता है और समाज-व्यवस्था को नई गति प्राप्त होती है। संघर्ष से तनाव व निराशा के शांत होने में मदद मिलती है तथा समाज-व्यवस्था को नई परिस्थितियों से अनुकूलन करने का अवसर प्राप्त होता है। ये सभी संघर्ष के फलस्वरूप समाज में घटित होने वाले महत्वपूर्ण परिवर्तनों को ही दर्शाते हैं।

इस प्रकार कोज़र का निष्कर्ष यह है कि सामाजिक संघर्षों को विघटनात्मक बताकर उसे पेश करना उचित न होगा। यह नहीं है कि संघर्ष हर रूप में समाज के लिए लाभप्रद ही होता है। संघर्षों से विघटनात्मक परिणाम या परिवर्तन भी उत्पन्न हो सकते हैं और होते भी हैं। परन्तु संघर्ष के संगठनात्मक परिणामों को या सकारात्मक प्रकार्यों को अनदेखा नहीं किया जा सकता। संघर्षों के सामाजिक प्रकार्य अत्यन्त महत्वपूर्ण तथा दूरगामी प्रभाव वाले होते हैं।

11.5 हेगल (G.W.F. Hegel, 1770-1831)

हेगल के अनुसार, विचार (idea) ही वास्तविक जगत का निर्माता है। उनका कहना था कि विवेक जगत में सबसे अधिक शक्तिशाली है तथा इससे ही मानव जगत का अस्तित्व संभव हुआ है। आगे उन्होंने बोदी (Jean Bodin) के इस विचार पर जोर दिया कि मानव समाज सदा प्रगति की ओर अग्रसर रहा है। इस विचार की व्याख्या करते हुए हेगल ने बताया है कि समाज में ऐसी भी घटनाएं घटती हैं जिससे ऐसा लगता है कि समाज पतन की ओर जा रहा है लेकिन यह मान लेना भूल है। वस्तुतः ऐसी घटनाएं समाज की प्रगति के लिए पृष्ठभूमि तैयार करती हैं। संक्षेप में, मानव इतिहास प्रगति की एक कहानी है।

हेगल ने प्रगति की सटीक व्याख्या के लिए द्वन्द्ववाद की व्याख्या की है। हेगल ने द्वन्द्ववादी चिंतन प्रणाली को मूलतः फिक्ट से ग्रहण किया। फिक्ट ने तर्क निर्माण की प्रक्रियाओं में तीन अवस्थाओं का जिक्र किया है, वे हैं—स्थापना, प्रतिस्थापना एवं समन्वय। प्रत्येक समन्वय परस्पर विरोधी स्थापना एवं प्रतिस्थापना से विकसित होती है। तर्क की प्रक्रिया यथार्थतः ऐसे अनुमानों की खोज करता है जो परस्पर विरोधी विचारों में विरोध की स्थिति समाप्त कर सके। यही स्थिति समन्वय कहलाती है। लेकिन यह उपाय क्षणिक होता है। समन्वय, स्थापना का रूप ले लेती है और विरोधी विचार प्रतिस्थापना का। फिर सामंजस्य के लिए समन्वय की आवश्यकता होती है। इस तरह स्थापना, प्रतिस्थापना एवं समन्वय की प्रक्रिया निरंतर चलती रहती है। इसके अनुरूप ही सामाजिक संरचना में भी परिवर्तन होते हैं।

11.6 कार्ल मार्क्स (Karl Marx, 1818-1883)

हेगल के द्वन्द्ववाद में विचार को महत्वपूर्ण माना गया है। कार्ल मार्क्स ने हेगल के द्वन्द्वात्मक विकास को तो स्वीकार किया लेकिन उसमें विचार की भूमिका की कटु आलोचना की। हेगल के अनुसार बाह्य जगत असत्य है क्योंकि इसकी सत्ता मानव मस्तिष्क से संभव हुई है। ठीक इसके विपरीत, मार्क्स का कहना था कि बाह्य जगत ही सत्य है, जिसका आधार भौतिक वस्तु है न कि आत्मा। आत्मा अवास्तविक है क्योंकि उसे हम प्रत्यक्षतः देख नहीं सकते हैं। वस्तुतः हेगल भौतिक पदार्थ, प्रकृति आदि को आत्मा के विकार के रूप में मानते हैं। ठीक इसके विपरीत मार्क्स आत्मा या मन को भौतिक शरीर से उत्पन्न चीज मानते हैं। मार्क्स (1976) ने अपनी पुस्तक कैपिटल में लिखा है, “मैंने हेगल के द्वन्द्ववाद को सिर (मस्तिष्क/आत्मा) के बल खड़ा पाया, मैंने उसे पैरों के बल (भौतिकता के आधार पर) खड़ा कर दिया।”

मार्क्स संभवतः विश्व के सबसे पहले सामाजिक चिंतक थे, जिन्होंने यह प्रमाणित करने का प्रयास किया कि सामाजिक परिवर्तन वर्ग संघर्ष द्वारा ही संभव है। वर्ग संघर्ष क्यों और कैसे होता है, यह समझने के लिए यह जान लेना आवश्यक है कि मार्क्स ने सामाजिक संरचना को किस प्रकार परिभाषित किया है। मार्क्स के अनुसार सामाजिक संरचना के मुख्य दो तत्त्व होते हैं— 1. आधारभूत संरचना और अधिरचना या आश्रित संरचना। समस्त उत्पादन प्रणाली को उन्होंने आधारभूत संरचना माना है और समाज के अन्य अंगों, जैसे—सरकार, धर्म, परिवार, आदर्श, दर्शन इत्यादि को आश्रित संरचना कहा है। मार्क्स ने कहा है कि उत्पादन प्रणाली ही समस्त सामाजिक व्यवस्था की आधारशिला है। अतः यदि आर्थिक व्यवस्था में कोई परिवर्तन होता है तो उससे समाज के बाह्य हिस्सों (आश्रित संरचना) में भी परिवर्तन आता है।

मार्क्स ने आधारभूत संरचना को दो उप-भागों में बांटा है—

- उत्पादन के साधन, जिसके अंतर्गत भूमि, प्रौद्योगिकी एवं अन्य पूंजी सामग्री सम्मिलित हैं।
- उत्पादन के सम्बन्ध—इसके अंतर्गत उत्पादन की प्रक्रिया से जुड़े विभिन्न वर्ग के लोगों के बीच का सम्बन्ध आता है। मार्क्स ने इसे भी दो उप-भागों में बांटा—उत्पादन—साधन के मालिक जिसे पूंजीवादी समाज में बूर्जुआ या पूंजीपति कहा जाता है और दूसरा श्रमिकगण जिसे मार्क्स ने सर्वहारा कहा है।

मार्क्स ने कहा कि अर्थ व्यवस्था अपने-आप में एक स्वतंत्र कारक है। मनुष्य अपनी समस्याओं को सुलझाने एवं सुख-सुविधाओं को बढ़ाने के लिए हमेशा प्रकृति पर हावी होना चाहता है, इससे प्रौद्योगिकी विकास होता है और फलस्वरूप उत्पादन के सभी साधनों में परिवर्तन आता है। चूंकि उत्पादन का साधन समाज की आधारभूत संरचना है, इसलिए जब इसमें परिवर्तन आता है तो उत्पादन के सम्बन्धों में भी परिवर्तन आता है। समाज के ऐतिहासिक विकास में एक ऐसा भी चरण आता है, जब उत्पादन के सम्बन्ध, उत्पादन के साधन के विकास को अवरुद्ध करने लगते हैं जिसके फलस्वरूप समाज में वर्ग संघर्ष होता है और मानव समाज एक स्तर से दूसरे ऐतिहासिक स्तर में प्रवेश करता है। जैसे, सामंती व्यवस्था के अन्तर्गत समाज दो वर्गों में विभक्त था—सामन्त एवं दास। इस काल में सामन्ती कुलीनतंत्र यह कभी नहीं चाहता था कि समाज में कोई प्रौद्योगिक विकास हो क्योंकि उत्पादन के साधनों का विकास होने पर उनके स्वार्थ या अस्तित्व को खतरा था, पर उनके विरोध के बावजूद वे

उस काल के बूर्जुआ लोगों ने प्रौद्योगिकी के विकास को बढ़ावा दिया। फलस्वरूप, समाज में एक क्रांति आयी और यूरोप के अधिकांश देश सामंती व्यवस्था से पूंजीवादी व्यवस्था में प्रवेश कर गये।

मार्क्स ने बताया कि स्वार्थों की टकराहट के कारण इसी ढंग का वर्ग संघर्ष उत्पादन के साधनों में परिवर्तन के फलस्वरूप इसके पहले वाले स्तर में भी उत्पन्न हुआ है, तभी समाज ने अपनी प्रारंभिक अवस्था से सामंती स्तर में प्रवेश किया। पूंजीवादी व्यवस्था में भी ठीक उसी ढंग से प्रौद्योगिकी के विकास से उत्पादन सम्बन्धों में परिवर्तन होगा और समाज पूंजीवादी व्यवस्था से साम्यवादी व्यवस्था की ओर बढ़ेगा। लेकिन साम्यवादी व्यवस्था में वर्ग संघर्ष नहीं होगा, क्योंकि उस व्यवस्था में उत्पादन के साधन कुछ लोगों के स्वामित्व से बिल्कुल मुक्त होंगे। उस दशा में समाज प्राचीन अवस्था की तरह वर्गों में विभाजित नहीं होगा। हर कोई इतना बराबर होगा कि वर्ग संघर्ष की कोई परिस्थिति ही नहीं बनेगी।

मार्क्स का मानना है कि जबतक समाज में वर्ग विभाजन है, समाज में शोषण का क्रम जारी रहेगा क्योंकि यह विभाजन शोषण पर आधारित है। उसी तरह जबतक समाज में शोषण है, संघर्ष का सिलसिला भी जारी रहेगा। उनके अनुसार इसी वर्ग संघर्ष की प्रक्रिया से समाज में परिवर्तन संभव होता आया है।

इसी अर्थ में मार्क्स ने साम्यवादी घोषणापत्र (Communist Manifesto) में लिखा है—“अभी तक के सभी समाजों का इतिहास वर्ग संघर्षों का इतिहास रहा है।” शोषक व शोषित एवं सदा एक-दूसरे के विरुद्ध प्रत्यक्ष या परोक्ष रीति से संघर्षरत रहे हैं। इसके परिणामस्वरूप ही समाज एक स्तर से दूसरे स्तर में जाता रहा है।

आधुनिक पूंजीवादी समाज में व्यक्तिगत सम्पत्ति सबसे अधिक संगठित होती है। लाभ उत्पादन का परम लक्ष्य होता है। पूंजीपति मजदूरों के श्रम को उचित मूल्यों से कम मूल्यों में खरीदकर अतिरिक्त मूल्यों को पूंजी में बदल देते हैं। इस तरह, पूंजी से पूंजी की सतत् वृद्धि होती रहती है। मार्क्स के अनुसार पूंजी वह धन है जो श्रमिकों के शोषण के निमित्त प्रयोग किया जाता है। यही शोषण कालान्तर में वर्ग संघर्ष का मुख्य कारक बनता है।

मार्क्स की दृष्टि में पूंजीवादी व्यवस्था में निहित विशेषताएँ ही इसके पतन का मार्ग प्रशस्त करती हैं। पूंजीपति, आपस में एक-दूसरे के गला-काट प्रतियोगी होते हैं। अतः उनके बीच मिथ्या वर्ग चेतना होती है। बड़े पूंजीपति सदा छोटे पूंजीपतियों को निगलने में लगे रहते हैं। मांग और प्रतियोगिता की खींचातानी से पूंजीपतियों के लाभ भी कम होने लगते हैं। उधर मजदूरों के बीच वर्ग चेतना ‘अपने आप में वर्ग’, वर्ग के लिए वर्ग’ में बदल जाता है। ऐसी स्थिति में वर्ग संघर्ष तीव्र हो जाता है और साम्यवादी समाज की स्थापना का मार्ग प्रशस्त हो जाता है। ऐसे समाज में श्रमिकों का शासन, उत्पादन की प्रणाली पर सर्वहारा का नियंत्रण, प्रौद्योगिकी की उच्चतम विकास, सभी लोगों की मौलिक आवश्यकताओं की पूर्ति होती है। ऐसे समाज में वर्ग संघर्ष की प्रक्रिया स्वतः समाप्त हो जाती है। इसी संदर्भ में मार्क्स ने श्रमिकों को संबोधित करते हुए लिखा था, “तुम्हें खोने के लिए जंजीर के सिवा कुछ नहीं है” (You have nothing to loose but chains.)

मार्क्स के सामाजिक परिवर्तन सिद्धान्त की आर्थिक व्याख्या की प्रशंसा करते हुए एंजल्स (F. Engels) ने लिखा था कि मार्क्स के द्वारा दी गई मानव इतिहास की आर्थिक व्याख्या उसी प्रकार का योगदान है, जैसा जीव-विज्ञान में चार्ल्स डार्विन एवं भौतिक विज्ञान के क्षेत्र में न्यूटन का था।

मैक्स वेबर (Max Weber, 1958) ने मार्क्स द्वारा सामाजिक परिवर्तन की व्याख्या में आर्थिक पक्ष पर अधिक जोर देने को एकपक्षीय कहा है। मैक्स वेबर के अनुसार सामाजिक परिवर्तन में सांस्कृतिक कारक की भी भूमिका महत्वपूर्ण होती है। उनके अनुसार प्रोटेस्टेंट आचार-संहिता के कारण ही पूंजीवाद का विकास संभव हुआ है, न कि श्रमिकों के शोषण से। वे मार्क्स के विरोधी विचारधारा के चिंतक हैं।

इसी तरह रेमण्ड अरॉ (Raymond Aron, 1976) ने मार्क्स की आलोचना करते हुए कहा कि समाज में आर्थिक आधार की जगह नये धर्मों व विचारों के प्रचार एवं प्रसार ने भी समाज में परिवर्तन किया है। विभिन्न ऐतिहासिक कालों के अध्ययनों से पता चलता है कि मार्क्स द्वारा प्रतिपादित वर्ग संघर्ष एवं ऐतिहासिक चरणों के क्रमों की सत्यता संदिग्ध है। मार्क्स के उत्पादन व्यवस्था सम्बन्धी विचार भी यथार्थतः सही नहीं हैं।

मार्क्स के अनुसार क्रांति की शुरुआत औद्योगिक रूप से विकसित पश्चिमी देशों में होनी थी, लेकिन यह यथार्थतः औद्योगिक रूप से कम विकसित समाज यथा रूस, चीन आदि देशों से हुई। इसी तरह श्रमिकों के बीच विमुखीकरण की प्रक्रिया भी पश्चिम के विकसित औद्योगिक देशों में न होकर और अस्थिर एवं अविकसित पूर्वी देशों के श्रमिकों के बीच देखने को मिली। इन सीमाओं के बावजूद इतना तो तय है कि जबतक समाज में उच्च एवं नीच, गरीब और अमीर के भेदभाव मौजूद होंगे, मार्क्स के विचारों एवं सिद्धान्तों की प्रासंगिकता बनी रहेगी। मार्क्स ने स्वयं कभी भी एक 'समाजशास्त्री' के रूप में पेश करने की कोशिश नहीं की। संभवतः मार्क्स ने 'समाजशास्त्र' शब्द का भी प्रयोग अपनी कृतियों में कभी नहीं किया था, लेकिन समाजशास्त्र के विकास में मार्क्स के विचारों का योगदान उनके कठोर-से-कठोर आलोचक भी नजरअंदाज नहीं कर पाते हैं।

सोरोकिन ने बताया है कि मार्क्स के सिद्धान्तों में काफी कमियाँ हैं। जैसे मार्क्स ने अपने विचारों में आर्थिक निर्धारणवाद पर कुछ ज्यादा ही जोर दिया है। उन्होंने कहा है कि "The mode of production determines the general character of the social, political and spiritual processes of life." इस प्रकार के विचार से आर्थिक व्यवस्था एवं सामाजिक संरचना के बीच एकतरफा सम्बन्ध का बोध होता है। इन दो व्यवस्थाओं के बीच इतना एकतरफा सम्बन्ध आज लोग स्वीकार करने को तैयार नहीं हैं। आज का वैज्ञानिक दृष्टिकोण प्रकार्यात्मक सम्बन्ध पर जोर देता है। मार्क्स के एकपक्षीय कार्य-कारण सम्बन्ध को लोगों ने तार्किक एवं तथ्यपूर्ण दोष की संज्ञा दी है।

मार्क्स ने भौगोलिक एवं जैविक कारकों को पूरी तरह नकार दिया है। व्यक्ति के अपने अनुभव, जैविक गुण, धार्मिक विश्वास की अपनी भूमिका रही है और उसका जीवन में अपनी एक महत्ता भी है। उन्होंने लोगों को सिर्फ आर्थिक प्राणी के रूप में देखने का प्रयास किया है। जो सही नहीं है। मानव का सम्बन्ध सिर्फ पेट-भर रोटी से है, इस विचार को शायद ही कोई आज स्वीकार करने के लिए तैयार हो सकता है।

वेबर ने यह स्पष्ट साबित कर दिया है कि आर्थिक व्यवस्था का निर्धारण, धर्म, जादू, तर्क एवं परम्पराओं से भी होता है। अतः यह कहा जा सकता है कि सामाजिक तथ्यों एवं अर्थव्यवस्था के बीच दोतरफा सम्बन्ध है।

सोरोकिन ने लिखा है कि यदि यह मान भी लिया जाए कि आर्थिक कारक बुनियादी कारक है तो भी यह स्पष्ट नहीं होता कि आर्थिक स्थितियों या कारकों में परिवर्तन किन कारणों से आता है। उन्होंने यह प्रश्न करते हुए कहा है कि क्या आर्थिक कारक के पीछे कोई दैवीय शक्ति है या अपने-आपमें स्वयं चालक है? यदि आर्थिक कारक को स्वतः चालक मान लेते हैं तो इस आर्थिक कारक के पीछे संभवतः कोई ईश्वरीय शक्ति है, जिसे न तो मार्क्स और न उसके आलोचक स्वीकार कर सकते हैं।

मार्क्स को समस्त मानव इतिहास में सिर्फ संघर्ष-ही-संघर्ष माना। उन्होंने कभी समाज में समझौता, सहयोग और शांति स्वीकार नहीं कि पर यदि मानव इतिहास में सिर्फ संघर्ष-ही-संघर्ष रहता तो कभी भी संघीय सरकार या अंतर्राष्ट्रीय स्तर के संघों की स्थापना नहीं होती। मानव समाज अपने में लड़कर मर-कट जाता और वर्तमान सभ्यता कभी भी इस रूप में दिखाई नहीं पड़ती।

मार्क्स ने वर्ग संघर्ष की विचारधारा को आर्थिक कारकों से जोड़कर ऐतिहासिक तथ्यों को नकारा है। इतिहास इस बात का साक्ष्य है कि समाज में संघर्षों का आधार प्रजाति, राष्ट्रीयता और धार्मिक विश्वास भी है।

मार्क्स के वर्ग की अवधारणा की सोरोकिन ने काफी आलोचना की है। जैसे-मार्क्स ने वर्ग के अंतर्गत कहीं समाज में पाये जाने वाले बहुत तरह के विभाजन के आधार, जैसे-जाति, पेशा एवं राजनीतिक स्थिति को समेट कर रख दिया है तो कहीं उन्होंने वर्ग को सिर्फ आर्थिक आधार पर ही देखी है। दास कैपिटल का तीसरा खण्ड वर्ग विश्लेषण से अंत होता है, लेकिन वह कुछ कारणों से अधूरा ही रह जाता है जिसे मार्क्स ने किसी कारणवश कभी पूरा नहीं किया। चूंकि मार्क्स की वर्ग की अवधारणा ही अपूर्ण है, इसीलिए उनके वर्ग-संघर्ष के सिद्धान्त में काफी अनिश्चितताएं हैं। मार्क्स के बहुत सारे अनुयायियों ने वर्ग की अवधारणा को स्पष्ट करने की कोशिश की है, पर विद्वानों ने

एक-दूसरे के विरोधी विचार को प्रकट कर इसे और पेचीदा बना दिया है। इतना ही नहीं, सर्वहारा, बूर्जुआ आदि शब्दों को ठीक से परिभाषित नहीं किया गया है। ऐसी स्थिति में मार्क्स के वर्ग संघर्ष सिद्धान्त को अपूर्ण, अवैज्ञानिक एवं विरोधाभास से भरा कहा जाना गलत नहीं होगा।

सोरोकिन (1978:545)ने मार्क्स के सिद्धान्तों के बारे में संक्षेप में कहा है कि "... there is nothing in their theory that was not said by earlier authors; second, what is really original is far from being scientific; third, the only merit of the theory is that it in a somewhat stronger and exaggerated form generalized the ideas given before the time of Marx. सोरोकिन ने बौद्धिक रूप से मार्क्स और लेनिन के योगदान को मध्यम से निम्न स्तर का बताया है। उन्होंने आगे स्पष्ट कहा है कि—There is no reason even for regarding their scientific contributions as something above the average."

11.7 वाल्टर बैजॉट

हॉफमैन और कोवलेव (Alexander Hoffman and Alexander Kovalev) का कहना है कि बैजॉट पहले सामाजिक वैज्ञानिक थे जिन्होंने डार्विन के सिद्धान्तों को सामाजिक विज्ञान के विश्लेषण में प्रयोग किया। गम्पलोविक्व की तरह इनके भी विचार में यह देखने को मिलता है कि संघर्ष व्यक्तियों के बीच नहीं बल्कि समूहों के बीच होता है। इसी भावना के चलते कभी-कभी दो राज्यों के बीच भी संघर्ष होता है।

उन्होंने बताया है कि दो समूहों के बीच संघर्ष होने से समूह के अंदर एकता और सहयोग की भावना का विकास होता है। उनकी इस एकता की भावना टार्ड के अनुकरण के सिद्धान्त पर आधारित है। जब एक समूह के लोग दूसरे समूह से झगड़ा करते हैं तो समूह के अंतर्गत अपनेपन एवं भाईचारे की भावना उत्पन्न होती है। एकता को बढ़ाने के लिए समूह के लोग एक-दूसरे के व्यवहारों एवं विचारों की नकल करते हैं, जिससे समूह में स्थायित्व उत्पन्न होता है। जिस समूह में जितनी अधिक एकता पायी जाएगी, उस समूह को किसी संघर्ष में जीतने की संभावना उतनी ही अधिक होगी। इसके प्रतिकूल जिस समाज में जितनी ही कम एकता होगी, उस समाज को उतनी ही जल्दी मिटने की संभावना होगी। इसके साथ बैजॉट ने यह भी कहा है कि समूह के लोग अपने को अपने पूर्वजों से थोड़ा भिन्न रखने की कोशिश करते हैं। इसी कोशिश के कारण समाज में विकास संभव होता है।

बैजॉट के सिद्धान्त में भी वही कमजोरी देखने को मिलती है, जो ऑस्ट्रियन समाजशास्त्री गम्पलोविक्व के सिद्धान्त में देखने को मिलती है।

11.8 गुस्ताव रात्सेनहॉफर (Gustav Ratzenhofer, 1842-1904)

रात्सेनहॉफर ऑस्ट्रिया के महान समाजशास्त्री थे। उन्होंने सामाजिक गत्यात्मकता की व्याख्या संघर्ष सिद्धान्तों पर की। उनके अनुसार संघर्ष का आधार मार्क्स की तरह वर्ग संघर्ष नहीं, बल्कि अनन्त इच्छाओं के बीच संघर्ष होना है। हिन्दी के सभी लेखकों ने Interest का प्रयोग यहाँ 'स्वार्थ' या 'हित' के अर्थ में किया है। Interest का हिन्दी रूपान्तर रात्सेनहॉफर के विचार से मेल नहीं खाता है। उन्होंने Interest शब्द का प्रयोग अपने सिद्धान्त में "इच्छा" के अर्थ में किया है। उनका कहना है कि इस इच्छा का आधार मनुष्य की आंतरिक जरूरतें हैं। यही इच्छाशक्ति सारे सामाजिक कार्यकलापों एवं व्यवहारों का मुख्य कारण है। इस बात की पुष्टि रात्सेनहॉफर के निम्न विचार से होती है, "It is the key of interests that unlocks the door of every treasure house of sociological lore."

रात्सेनहॉफर ने निम्न पांच मानवीय इच्छाओं की चर्चा की है:

- प्रजातीय व यौन इच्छा (The Racial or Sexual Interest)— प्रजनन के अर्थ में,
- शारीरिक इच्छा (The Physiological Interest)— आहार या पोषण के अर्थ में,
- वैयक्तिक इच्छा (The Individual Interest),
- सामाजिक इच्छाएं (The Social Interest)— परिवार से लेकर राष्ट्रीय हित तक के अर्थ में,
- आध्यात्मिक व धार्मिक इच्छा (The Transcendental Interest)।

समाज इन्हीं इच्छाओं का एक समूह है। कोई व्यक्ति या समूह इन्हीं इच्छाओं से प्रभावित होकर कार्य करता है और जब इन इच्छाओं की पूर्ति में अड़चनें आती हैं तो संघर्ष की स्थिति उत्पन्न हो जाती है। कभी-कभी इन इच्छाओं की पूर्ति के लिए समाज के कुछ लोगों के बीच सहयोग या सामूहिक एकता की भावना भी उत्पन्न होती है। रात्सेनहॉफर ने बताया है कि इच्छा पूर्ति के लिए समाज में संघर्ष इसलिए होता है कि इच्छाएं मानव की वैसी दमित या जैविक भावनाएं या जरूरतें हैं, जिसकी पूर्ति के बिना मानव जीवित नहीं रह सकता। मनुष्य की जैविक प्रेरणा उसके व्यवहार के प्रेरक कारक हैं। यौन सम्बन्ध की पूर्ति से लेकर समाज में आधिपत्य एवं आध्यात्मिक उपलब्धियों का लगाव किसी-न-किसी किस्म की इच्छा से है। कुछ समाजशास्त्रियों का कहना है कि रात्सेनहॉफर का संघर्ष सम्बन्धी विचार उनके सैन्य जीवन से प्रभावित हुआ है। उन्होंने अपने जीवन का बहुमूल्य समय सैन्य जीवन में व्यतीत किया। वे ऑस्ट्रिया के फील्ड मार्शल के रूप में सेवा निवृत्त हुए थे।

11.9 फ्रीडरीक निच या निची (Friedrich W. Nietzsche, 1844-1900)

गम्पलोज़िक्च ने जहां सामाजिक संघर्ष के सिद्धान्त को समूह पर आधारित किया है वहीं नीत्से ने अपने सिद्धान्त को व्यक्ति पर केन्द्रित किया है। जर्मन दार्शनिक नीत्से (Nietzsche, 1924) ने बताया है कि हर व्यक्ति में प्रभुत्व की इच्छा (Will to Power) अवश्य पायी जाती है। पर सभी में प्रभुत्व की इच्छा समान नहीं पायी जाती है।

नीत्से (Bogardus, 1964:266-67) ने प्रभुत्व की इच्छा के आधार पर समाज को दो भागों में बांटा है। समाज में सामान्यतः दो प्रकार के व्यक्ति होते हैं— प्रथम वे लोग हैं जिनमें प्रभुत्व की इच्छा अधिक पायी जाती है (वे लोग समाज के शासकवर्ग में होते हैं) और दूसरी तरफ बहुसंख्यक लोग जिनमें प्रभुत्व की इच्छा कम पायी जाती है, वे शोषित एवं शासित होते हैं। समाज के कमजोर वर्ग के लोग जिनमें प्रभुत्व की इच्छा कम (Inferior Will to Power) पायी जाती है, वे शोषित होते हैं। वैसे लोग कभी-कभी इकट्ठे भी हो जाते हैं और उन शोषकों का विरोध करते हैं, जिनके बीच प्रभुत्व की इच्छा अधिक पायी जाती है। जिन लोगों में प्रभुत्व की इच्छा अधिक होती है उनकी जीवन का नैतिक मूल्य एक अलग प्रकार का होता है। अधिक प्रभुत्व की इच्छा वाले व्यक्तियों का नैतिक मूल्य यह कहता है कि समाज के कमजोर वर्ग को इतना दबा दिया जाना चाहिए कि वह सत्ता में कभी न आ सके। वे अपने अभिजात वर्ग की स्थिति से कभी नीचे उतरने को तैयार नहीं होते हैं। इसे हर हाल में बचाए रखने की कोशिश करते हैं। दूसरी तरफ कम प्रभुत्व की इच्छा वाले दासता की भावना से ग्रसित होते हैं। वे आसानी से अपना जीवन दूसरों के लिए बलिदान करने को भी तैयार रहते हैं। इन लोगों में समूहशीलता की भावना पायी जाती है।

नीत्से ने अधिक प्रभुत्व की इच्छा वाले व्यक्तियों का खुला समर्थन किया है। उन्हें वे अतिमानव की संज्ञा देते हैं। उन लोगों के हितों की रक्षा के लिए उन्होंने प्रजातंत्र एवं प्रजातांत्रिक मूल्यों का हमेशा विरोध किया। उनका मानना था कि जन्म से सभी समान पैदा नहीं होते हैं। अतः समाज में सभी को समान अवसर नहीं दिया जाना चाहिए। ऐसी स्थिति में सामाजिक संघर्ष की स्थिति स्वाभाविक रूप से हमेशा बनी रहेगी। इससे यह भी स्पष्ट होता है कि समानता व सामाजिक न्याय के लिए संघर्ष समाज में हमेशा चलता रहा है और भविष्य में भी चलता रहेगा।

11.10 लुडविग गम्पलोज़िक्च (Ludwig Gumplowicz, 1838-1910)

गम्पलोज़िक्च (Gumplowicz) एक ऐसे समाजशास्त्री थे जो डार्विन एवं स्पेन्सर के योग्यतम की उत्तरजीविता (Survival of the fittest) के विचार में ज्यादा विश्वास रखते थे। गम्पलोज़िक्च ने कहा है कि मनुष्य प्रायः झुण्डों/गिरोहों (Hordes) में रहा करता था और गिरोहों का मुख्य आधार धर्म, भाषा, पेशा, रहन-सहन और स्वार्थ की समानता थी। मनुष्यों का यह समूह अपने से भिन्न किस्म के समूहों से झगड़ा किया करता था।

गम्पलोज़िक्च का यह विचार कार्ल मार्क्स के इस विचार से बिल्कुल मिलता-जुलता है कि "The history of all existing society is the history of class struggle." मार्क्स की तरह उन्होंने समाज में आदि से अंत तक संघर्ष—ही—संघर्ष देखा। सोरोकिन ने गम्पलोज़िक्च के इस समूह—संघर्ष सिद्धान्त को स्पष्ट करने के लिए उनके सिद्धान्त के चार मूलभूत कारणों की चर्चा की है, जो इस प्रकार हैं—

- मानव जाति की उत्पत्ति प्रारंभ से छोटे-छोटे घुमक्कड़ी गिरोहों से हुई है (The Theory of Polygenesis),
- मनुष्य के जत्थों के बीच में घृणा व द्वेष की भावना पायी जाती थी जिसके कारण आपस में वे लोग लड़ते रहते थे,
- मनुष्यों के जत्थों के बीच संघर्ष होने से समूह के आकार में वृद्धि हुई, क्योंकि जीता हुआ झुण्ड हारे हुए झुण्ड को अपने में मिला लेता था, एवं
- विजयी समूह हारे हुए लोगों को अपनी प्रजा या दास बनाकर उसका शोषण करता था। यहां यह भी उल्लेखनीय है कि गम्पलोलिविक्च का समूह से तात्पर्य प्रजातीय समूह से या समुदाय से था, किसी और प्रकार के सामाजिक समूहों से नहीं।

सोरोकिनने आगे बताया है कि मनुष्य के समूहों के बीच संघर्ष की प्रक्रिया से राज्य, कानून एवं सामाजिक स्तरण की उत्पत्ति हुई। विजयी समूह ने पराजित समूह पर शासन करने के लिए राज्य का निर्माण किया और जीते हुए शासक हुए तथा हारा हुआ समूह शासित। हारे हुए समूह पर सुचारु रूप से शासन एवं उसके शोषण के लिए कानून बनाया गया। चूंकि शासक लोगों ने अपने आपको समाज के सबसे ऊपरी स्तर पर रखा, इससे समाज में असमानता की उत्पत्ति हुई। गम्पलोलिविक्च ने कहा है कि विजित लोगों विजयी लोगों की सभ्यता एवं संस्कृति को समय के अंतराल में अपनाते गए और धीरे-धीरे दो समूहों के बीच सांस्कृतिक आदान-प्रदान से सामाजिक खाई भरने लगी। इसी तरह मानव के इतिहास का चक्र चलता रहा है।

गम्पलोलिविक्च के सिद्धान्त में कई दोष भी हैं। बहुत से इतिहासकारों के लिए यह स्वीकार करना कठिन है कि समाज में परिवर्तन का मुख्य स्रोत संघर्ष रहा है। हॉबहाउस, ह्वीलर एवं गिन्जवर्ग जैसे समाजशास्त्रियों ने 298 प्राचीन समाजों का अध्ययन किया, जिसमें 9 ऐसे थे जिसने युद्ध की बात न तो कभी सुनी और न ही युद्ध की स्थिति को कभी महसूस किया और 57 ऐसे समाज थे जिसमें लड़ाई के बाद कैदियों का हस्तांतरण हुआ करता था। इन तथ्यों को देखने से ऐसा लगता है कि पराजित और विजयी मनुष्य के झुण्डों से राज्य, कानून एवं सामाजिक स्तरण की उत्पत्ति हुई, जैसा कि गम्पलोलिविक्च ने दलील पेश की है, पर यह संदेहजनक है।

गम्पलोलिविक्च का यह विचार कि मनुष्यों के समूहों के बीच दुश्मनागत की भावना पायी जाती है, यह भी संदेहास्पद है। उन्होंने समाज में पाए जाने वाले संघर्ष की बात को बढ़ा-चढ़ाकर कहा है। ऐसा लगता है कि उनका यह विचार उनके देश के समकालीन प्रजातीय संघर्ष एवं व्यक्तिगत जीवन से प्रभावित था। उनका व्यक्तिगत जीवन काफी तनावपूर्ण था। जीवन के अंतिम दिनों में उनके पुत्र ने आत्महत्या कर ली और बाद में उन्होंने अपनी पत्नी की हत्या करने के बाद अपने-आपको भी समाप्त कर लिया।

सोरोकिन ने कहा है कि यदि समाज में संघर्ष-ही-संघर्ष होता तो समाज कब का समाप्त हो गया होता। तथ्य तो यह देखने को मिलता है कि मध्यकालीन एवं आधुनिक समाज की तुलना में प्राचीन समाज में युद्ध कम हुआ करता था।

गम्पलोलिविक्च का यह भी कहना सही नहीं लगता है कि सिर्फ युद्ध के सहारे ही एक समूह ने दूसरे समूह को बलपूर्वक मिला लिया, जिससे समूह का आकार बढ़ा हुआ। इतिहास में ऐसे भी उदाहरण हैं जिसे देखने से यह लगता है कि दो या दो से अधिक राज्य समझौतों से आपस में मिल गए हैं।

समाजशास्त्री यह मानने को तैयार नहीं हैं कि सामाजिक स्तरण की उत्पत्ति मात्र युद्ध से हुई। यह स्वीकार करना बहुत कठिन है कि अभिजात वर्ग सिर्फ विजेता लोगों का समूह है और समाज के निम्न वर्ग में सिर्फ पराजित व्यक्ति शामिल हैं। सामाजिक स्तरण के बहुत सारे कारक हैं, जिसे गम्पलोलिविक्च ने नजरअंदाज किया है। उसी के साथ यह मानना भी कठिन है कि सरकार में केवल वे ही लोग होते हैं, जो विजेता रहे हैं।

गम्पलोलिविक्च के सिद्धान्त में व्यक्ति का स्थान बहुत ही गौण है। उन्होंने संघर्ष के सिद्धान्त की चर्चा मनुष्यों के समूहों के संदर्भ में की है। इस तथ्य को झुठलाया नहीं जा सकता कि व्यक्ति के अभाव में समूह की कल्पना कभी नहीं की जा सकती है। हर समूह में व्यक्तियों की अपनी विशिष्ट पहचान एवं

भूमिका होती है। समाज में ऐसे बहुत महान व्यक्ति हुए हैं, जिन्होंने पूरे समाज या पूरे युग को दिशा निर्देश किया है।

जिन लोगों ने कानून की उत्पत्ति के ऐतिहासिक पहलुओं पर विचार किया है, वे गम्पलोविक्व के इस विचार को नहीं मानते हैं कि कानून की उत्पत्ति युद्ध से शुरू हुई है। इन कमियों के बावजूद यह कहा जा सकता है कि गम्पलोविक्व का योगदान समाजशास्त्र के क्षेत्र में एक महत्वपूर्ण स्थान रखता है।

11.11 जे.नोविकॉव (Jacques Novicow, 1849-1912)

नोविकॉव 19वीं सदी के एक ऐसे फ्रांसीसी समाज वैज्ञानिक थे, जिन्होंने डार्विन के सिद्धान्तों के आधार पर सामाजिक संघर्ष की चर्चा की है। उनका विचार जितना सामाजिक संघर्ष के सिद्धान्त से जुड़ा हुआ है, उतना ही उद्विकास के सिद्धान्त से भी। नोविकॉवने बताया है कि समाज में संघर्ष उद्विकासीय रीति से चलता है।

नोविकॉव ने उद्विकास के चार चरणों की चर्चा की है। उनके अनुसार मानव के इतिहास के प्रथम चरण में संघर्ष का स्वरूप शारीरिक था। एक समूह के लोग दूसरे समूह को पूरी तरह मिटा देने की कोशिश करते थे। धीरे-धीरे इसी संघर्ष ने आर्थिक रूप धारण कर लिया। अर्थात् द्वितीय चरण में संघर्ष का कारण आर्थिक था। संघर्ष जब अपने तीसरे चरण में पहुँचा तो इसका स्वरूप राजनीतिक हो गया। लोग राजनीतिक दबदबा बनाने के लिए आपस में झगड़ने लगे और कभी-कभी दो राज्यों के बीच भी संघर्ष हो गया। बौद्धिक द्वन्द्व चौथा और अंतिम चरण है। लोग अपने विचारों से दूसरों पर हावी होने की कोशिश करने लगे। फलस्वरूप समाज में विचारों का संघर्ष होने लगा। उन्होंने यह भी बताया है कि संघर्ष का स्वरूप समय के साथ-साथ बदलता गया। उनके अनुसार शीत युद्ध एक नए किस्म का संघर्ष है। वे मार्क्स की तरह यह मानते थे कि समाज में संघर्ष अनवरत रूप से चलता आया है और चलता रहेगा। समय के साथ सिर्फ इसके स्वरूप में परिवर्तन आएगा। इनके इस सिद्धान्त के सम्बन्ध में सोरोकिन ने लिखा है कि –Eternal struggle is universal and everlasting law.

11.12 एल्बीयन डब्ल्यू. स्मॉल (Albion W. Small, 1854-1926)

स्मॉल के अनुसार संघर्ष सामाजिक संघर्ष की एक मौलिक एवं सार्वभौमिक प्रक्रिया है। संघर्ष का आधार मानव का व्यक्तिगत स्वार्थ है। विज्ञान में जितना स्थान परमाणु की अवधारणा का है, उतना ही समाजशास्त्र के क्षेत्र में स्वार्थ की अवधारणा का है। स्मॉल के अनुसार स्वार्थ मानव की क्रियाशीलता का सबसे आसान आधार है। वस्तुतः मानव की सम्पूर्ण जीवन-लीला अपने स्वार्थों के विकास, अनुकूलन एवं संतुष्टीकरण की प्रक्रिया है। स्मॉल के शब्दों में, "The whole life process is at last a process developing, adjusting and satisfying interests."

स्मॉल ने समस्त सामाजिक प्रक्रियाओं के अंतर्गत व्यक्तियों के स्वार्थ को अपने विश्लेषण का केन्द्र बिन्दु माना है। इस संदर्भ में स्मॉल राट्जेनहॉफर के इच्छा सम्बन्धी विचार से प्रभावित लगते हैं। उन्होंने व्यक्तियों के सभी स्वार्थों को मुख्य रूप से छः भागों में विभाजित किया है, वे हैं—स्वास्थ्य सम्बन्धी स्वार्थ, सम्पत्ति स्वार्थ, प्रतिष्ठा सम्बन्धी स्वार्थ, ज्ञान-सम्बन्धी स्वार्थ, सुन्दरता सम्बन्धी स्वार्थ एवं अधिकार सम्बन्धी स्वार्थ।

स्मॉल का मानना है कि हर व्यक्ति इन स्वार्थों की पूर्ति में लगा हुआ है। इस प्रक्रिया में उसे इस बात की परवाह नहीं होती कि दूसरे लोग भी उसी स्वार्थ की पूर्ति में लगे हैं, जिसका नतीजा संघर्ष होता है।

जिन लोगों के स्वार्थ की पूर्ति वर्तमान सामाजिक संस्थाओं से होती है, वे उन सामाजिक संस्थाओं का समर्थन करते हैं। दूसरी तरफ जिन व्यक्तियों के स्वार्थों की पूर्ति उन संस्थाओं से नहीं होती, वे उनका विरोध करते हैं। स्मॉल का मानना है कि समाज व्यक्तियों के बीच इन्हीं स्वार्थों के संघर्ष का नतीजा है।

स्मॉल ने संघर्ष को विकासवादी नजरिए से देखा है। उन्होंने बताया है कि समाजीकरण की प्रक्रिया द्वारा समाज मौलिक संघर्ष की स्थिति से धीरे-धीरे शांति की ओर बढ़ता है।

11.13 टी.वेबलेन (T. Veblen, 1857-1929)

मॉर्गन (L.H. Morgan) की तरह वेबलेन ने बताया है कि सामाजिक परिवर्तन का मुख्य स्रोत नयी प्रौद्योगिकी का विकास है। हर समाज की संस्कृति का स्वरूप उस समाज के अंतर्गत पाए जाने वाले प्रौद्योगिकी पर निर्भर करता है। उन्होंने बताया है कि प्रौद्योगिकी तथा सामाजिक संस्थाओं के बीच हमेशा संघर्ष चलता रहता है।

वेबलेन का कहना है कि आविष्कार हमारी आवश्यकताओं की आवश्यकता रही है और संस्थाएं एवं सामाजिक परम्पराओं का आधार समाज में पायी जाने वाली प्रौद्योगिकी होती है। समाज की जरूरतों के अनुसार नयी प्रौद्योगिकी का जन्म होता है और नयी प्रौद्योगिकी के उपयोग के लिए नयी किस्म की योग्यता, आदतों एवं प्रशिक्षण की आवश्यकता होती है। पुरानी सामाजिक संस्थाएं नयी प्रौद्योगिकी से मेल नहीं खाती हैं, क्योंकि सामाजिक संस्थाएं बहुत देर से बदलती हैं। अतः परम्परागत संस्थाओं एवं नयी प्रौद्योगिकी पर आधारित मूल्यों के बीच समाज में संघर्ष होता है और इस संघर्ष में नये मूल्य की जीत होती है। फलस्वरूप परम्परागत मूल्य टूटने और बिखरने लगते हैं। नये मूल्यों की जीत इसलिए होती है कि समाज अपने-आपको जीवित रखने या तरक्की के लिए नयी प्रौद्योगिकी को अनिवार्य रूप से अपनाता है और इसी संघर्षमय प्रक्रिया से धीरे-धीरे सामाजिक परिवर्तन होता रहता है।

यह स्पष्ट है कि सामाजिक संघर्ष की प्रक्रिया का आधार जरूरतों के अनुसार मनुष्यों की खोज की प्रवृत्ति है। यहां संघर्ष का आधार मार्क्स की तरह वर्ग या गम्पलोविक्च की तरह कोई समूह नहीं है। यहां संघर्ष का आधार मनुष्य की अपनी रचनात्मक प्रवृत्ति है।

वेबलेन का सामाजिक परिवर्तन का सिद्धान्त मात्र संघर्ष पर ही आधारित नहीं है, बल्कि उनके विचारों में उद्विकासीय सिद्धान्त के तत्त्व भी मौजूद हैं। वर्तमान आधुनिक युग प्रौद्योगिकी विकास के कई चरणों से गुजरा है। आदिम काल के प्रौद्योगिकी का स्तर मध्यकालीन युग से बिल्कुल भिन्न था। उसी तरह से मध्यकालीन युग के प्रौद्योगिकी का स्तर, आज के प्रौद्योगिकी स्तर से काफी भिन्न था। जैसे-जैसे प्रौद्योगिकी का मानव की आवश्यकताओं के अनुसार उद्विकास होता गया, वैसे-वैसे क्रमशः मनुष्य की आदतों, विचारों, मूल्यों एवं सामाजिक संस्थाओं में परिवर्तन होता गया। वेबलेन के अनुसार, प्रौद्योगिकी एवं उससे जुड़ी संस्कृति का समानान्तर विकास चलता रहता है। यह विकास की प्रक्रिया संघर्षमय तरीके से चलती रही है क्योंकि समाज और प्रौद्योगिकी में परिवर्तन एक साथ नहीं चलते हैं।

कोज़र (Coser, 1996:274) ने बताया है कि वेबलेन का यह सिद्धान्त इतिहास का एक प्रौद्योगिक विश्लेषण है जिसमें प्रौद्योगिकी एवं संस्थागत विकास के बीच पिछड़ापन का सिद्धान्त स्थापित किया गया है।

11.14 टी.एन. कार्वर (T.N. Carver, 1865)

कार्वर एक अमेरिकन अर्थशास्त्री थे, जिन्होंने बताया है कि समाज में संघर्ष का प्रमुख कारण मानव स्वार्थों का द्वन्द्व है। हर व्यक्ति अपने स्वार्थों की पूर्ति करना चाहता है पर प्रकृति में हर चीजें उतनी नहीं हैं कि हर किसी के स्वार्थ की पूर्ति हो सके। जब किसी व्यक्ति को अपनी स्वार्थ की पूर्ति में बाधा पहुंचती है तो वह संघर्ष के लिए तैयार हो जाता है। स्वार्थ असीमित हैं, पर साधन सीमित। साधनों की इसी अनिश्चितता के कारण समाज में संघर्ष उत्पन्न होता है। कार्वर ने कहा है कि संघर्ष तीन स्तरों पर होता है—1. व्यक्ति एवं प्रकृति के बीच, 2. व्यक्ति एवं व्यक्ति के बीच एवं 3. एक ही व्यक्ति के स्वार्थों के बीच। उन्होंने बताया है कि यदि समाज में संघर्ष नहीं होता तो नैतिकता का सवाल ही नहीं खड़ा होता। मानव समाज स्वर्ग होता, पर वास्तविकता में ऐसा नहीं है। जैसा कि ऊपर बताया गया है कि व्यक्तियों के स्वार्थ असीमित तथा साधन सीमित हैं, इसलिए संघर्ष एक सामाजिक एवं आवश्यक प्रक्रिया है।

कार्वर (1915) ने बताया कि राज्य, सम्पत्ति तथा परिवार जैसी संस्थाओं की उत्पत्ति व्यक्तियों के स्वार्थों के संघर्ष के कारण हुई है। यदि सम्पत्ति की कमी नहीं होती तो कोई भी व्यक्ति सम्पत्ति हथियाने की कोशिश नहीं करता। उसी तरह से पुरुषों की यौन भावनाओं को पूरा करने के लिए महिलाओं की कमी नहीं होती तो परिवार की उत्पत्ति नहीं होती। कार्वर ने बताया है कि दुनिया में ऐसे लोगों की भारी कमी है, जो सम्पूर्ण मानवता की बात सोचते हैं। यदि प्रत्येक आदमी दूसरे की हितों की बात सोचता तो

कब का समाजवाद आ गया होता। जो लोग समस्त मानव के हित की बात करते हैं, उन्हें संत या पागल समझा जाता है। समाज में ऐसे लोगों के लिए कोई जगह नहीं है। समाज ऐसे लोगों से बना है जो अपने स्वार्थों के बोझ से दबे हुए हैं और स्वार्थ की पूर्ति ही संघर्ष का मुख्य कारण है। अतः हम यह कह सकते हैं कि संघर्ष अवश्यभावी है। उन्होंने बताया है कि समाज में संघर्ष कई स्वरूपों में उभरता है, जैसे—1. कुछ संघर्ष भयानक नृशंस एवं बर्बर किस्म के होते हैं, जैसे—युद्ध, डकैती, तोड़-फोड़ तथा हाथापायी, इत्यादि। 2. कुछ संघर्ष उससे ऊपरी स्तर के होते हैं जिसमें खून-खराबे और मार-पीट की बात नहीं होती, जैसे—चोरी, बेईमानी, ठगी, सामानों में मिलावट एवं झूठा इश्तहार, इत्यादि। 3. तीसरे किस्म का संघर्ष प्रभावकारी स्वरूप का होता है, जैसे—राजनीतिक विरोध, व्यावसायिक विरोध, मुकदमा, प्रेमालाप, शीतयुद्ध इत्यादि।

आर्थिक क्षेत्र में उत्पादन को बढ़ाना भी एक ऊँचे किस्म का संघर्ष है। उत्पादन एवं वस्तुओं की बिक्री में उच्च किस्म की प्रतियोगिता होती है। यह भी उनके अनुसार एक प्रकार का संघर्ष ही है।

कार्वर ने संघर्ष शब्द का प्रयोग बहुत ही व्यापक अर्थ में किया है। समाज में जितने भी प्रकार के विरोध, झगड़े और आपस में मिल जाने की प्रक्रियाएँ हैं, उसको उन्होंने संघर्ष की श्रेणी में रखा है। आधुनिक समाजशास्त्र संघर्ष का इतना व्यापक अर्थ में प्रयोग नहीं करता है। कार्वर के द्वारा दी गयी संघर्ष की अवधारणा पर विचार करते हैं तो ऐसा लगता है कि मार्क्स एवं गम्पलोविकच से भी ज्यादा उन्होंने संघर्ष को बढ़ाकर देखा। उन्हें हर जगह संघर्ष—ही—संघर्ष दिखाई पड़ा। आश्चर्य की बात तो यह है कि उन्हें सहयोग एवं प्रेम में भी संघर्ष ही नजर आया। इसीलिए तो बोगार्डस (E. Bogardus, 1960:372)ने उनके इस विचार को इस रूप में व्यक्त किया, "Even co-operation is a form of competition."

11.15 लुविस ए. कोज़र (Lewis A. Coser)

कोसर एक ऐसे अमेरिकन समाजशास्त्री हैं, जिनके विचारों में प्रकार्यवाद एवं संघर्ष सम्बन्धी दोनों सिद्धान्तों के तत्त्व मौजूद हैं। इसलिए टर्नर (Turner, 1995) ने उन्हें संघर्ष—प्रकार्यात्मक (Conflict functionalist) कहा है। कोज़र ने अपनी पुस्तक "The Functions of Social Conflict" (1956) में डारेनडॉफ एवं पारसन्स का काफी विरोध किया है। उन्होंने बताया है कि डारेनडॉफ ने अन्य संघर्ष विचारकों की तरह संघर्ष को मात्र विघटनकारी प्रक्रिया के रूप में लिया है तो पारसन्स ने समाज में मात्र संतुलन ही देखा। पारसन्स का प्रकार्यात्मक सिद्धान्त संघर्ष को नजरअंदाज करता है।

प्रकार्यवादियों ने डर्कहाइम से लेकर पारसन्स तक विचलन एवं विरोध को सामाजिक व्यवस्था में संतुलन के लिए व्याधिकीय स्थिति के रूप में लिया है। अर्थात् संघर्ष को लोगों ने दुष्प्रकार्य के रूप में लिया है। यह यथार्थ का एकतरफ चित्रण है। संघर्ष सामाजिक व्यवस्था का एक प्रकार्यात्मक यथार्थ है, जिसे झुठलाया नहीं जा सकता है। कोज़र ने बताया कि सामाजिक संघर्ष का सकारात्मक पहलू कम महत्वपूर्ण नहीं है। संघर्ष हमेशा समाज के लिए हानिकारक ही नहीं होता है। कोज़र ने यह भी कहा है कि मार्क्स एवं डारेनडॉफ ने संघर्ष के विध्वंसात्मक परिणाम पर ज्यादा जोर दिया, जो उचित नहीं है।

कोज़र ने अपने सिद्धान्त में सामाजिक संघर्ष के प्रकार्यात्मक पहलुओं पर प्रकाश डालने का प्रयास किया है। सामाजिक संघर्ष के मुख्यतः दो परिणाम होते हैं—संगठनात्मक एवं विघटनात्मक। संगठनात्मक या सकारात्मक परिणाम उस समय देखने को मिलते हैं जब संघर्षरत दो विरोधी समूहों की आस्था समाज के आधारभूत मूल्यों में एक जैसी होती है। दूसरी ओर सामाजिक संघर्ष के विघटनात्मक या नकारात्मक परिणाम उस समय उत्पन्न होते हैं जब दो विरोधी समूहों की आस्था समाज के आधारभूत मूल्यों के विपरीत होती है। ऐसे समूह एक—दूसरे के अस्तित्व को मिटाने का हर संभव प्रयास करते हैं। इससे समाज को आर्थिक हानि के साथ ही अराजकता एवं अशांति का सामना करना पड़ता है। इसके बावजूद कोसर का मानना है कि "संघर्ष आवश्यक रूप से दुष्प्रकार्यात्मक कभी नहीं है, बल्कि समूह के निर्माण तथा स्थायित्व के लिए कुछ मात्रा में संघर्ष एक नितान्त आवश्यक तत्त्व है (For from being necessarily dysfunctional, a certain degree of conflict is an essential element in group formation and the persistence of group.)

टर्नर (Jonathan H. Turner)के अनुसार कोज़र के प्रकार्यात्मक संघर्ष के सिद्धान्त में निम्नलिखित चार तथ्यों पर बल दिया गया है—

- समाज परस्पर सम्बन्धित अंगों की एक व्यवस्था है।
- सामाजिक व्यवस्था के सभी अंतःसम्बन्धित अंगों के बीच असंतुलन, तनाव एवं स्वार्थों के संघर्ष की स्थिति बनी रहती है।
- सामाजिक व्यवस्था के अंतर्गत विभिन्न तत्त्वों के बीच जो प्रक्रियाएं चलती हैं, वे विभिन्न परिस्थितियों में विभिन्न तरह से काम करती हैं, जैसे—कभी तो उससे सामाजिक परिवर्तन होता है तो कभी व्यवस्था में एकता एवं अनुकूलन को बढ़ावा मिलता है।
- समाज के अंतर्गत बहुत ऐसी प्रक्रियाएं हैं, जैसे—हिंसा, विरोध, विचलन एवं संघर्ष या द्वन्द्व व्यवस्था के लिए विघटनकारी माने जाते हैं, पर कुछ परिस्थितियों में वे व्यवस्था में एकीकरण एवं मजबूती भी प्रदान करती है।

कोज़र के उपर्युक्त विचार से यह स्पष्ट होता है कि संघर्ष सदा विघटनकारी ही नहीं, बल्कि संगठनात्मक भी होता है। सामाजिक संघर्ष से कभी समाज में परिवर्तन आता है तो कभी विभिन्न अंगों के पारस्परिक सम्बन्धों में वृद्धि होती है। दूसरे शब्दों में, सामाजिक संघर्ष से परिस्थितियों के अनुसार सामाजिक परिवर्तन एवं सामाजिक नियंत्रण दोनों ही होता है।

वस्तुतः कोज़र की अभिरुचि संघर्ष के सामाजिक प्रकार्यों में ही है। जॉर्ज जिमेल की भांति ही कोसर ने यह समझाने का प्रयास किया है कि किस तरह संघर्ष नई खोज एवं रचनात्मक कार्यों को प्रेरित कर सामाजिक व्यवस्था को गतिशील बनाए रखती है। संघर्ष की प्रक्रिया नये आदर्श—नियमों की स्थापना एवं व्यक्तियों के असंतोष को दूर करने में सहायता पहुंचाती है। बाह्य—समूह से संघर्ष होने पर अंतःसमूह के सदस्यों के बीच एकता बढ़ जाती है। प्रतिस्पर्धा जो कि संघर्ष का ही एक स्वरूप है, सामाजिक एवं आर्थिक व्यवस्था में प्रगति का मार्ग प्रशस्त करती है। इससे निस्संदेह सामाजिक व्यवस्था में अनुकूलन की क्षमता बढ़ जाती है। लोगों का तनाव और निराशा से भी बहुत राहत मिलती है।

कोज़र ने संघर्ष का कुछ प्रकार्यात्मक प्रस्ताव दिया है, जो विशेषरूप से उल्लेखनीय है—

- आंतरिक संघर्ष सामाजिक संरचना के लिए सकारात्मक प्रकार्य करते हैं, विशेषकर जब इसका सम्बन्ध समाज के ऐसे मूल्यों एवं हितों से होता है, जो आधारभूत मान्यताओं के विपरीत नहीं होते हैं।
- वे आंतरिक संघर्ष जो आधारभूत मूल्यों के विरोधी होते हैं, जिसपर सामाजिक व्यवस्था की वैधता निर्भर है, सामाजिक संरचना के लिए प्रलयकारी या दुष्प्रकार्यात्मक सिद्ध होते हैं।
- समूह के अंतर्गत जितनी निकटता होगी, संघर्ष उतना ही प्रलयकारी होगा। जहां पर समूहों के लोग अपने पूरे व्यक्तित्व के साथ समूह के जीवन में भाग लेते हैं और संघर्ष को दबाते हैं, यदि वहां किसी तरह संघर्ष प्रारंभ हो जाता है, तो सामाजिक संरचना का आधार को खतरा उत्पन्न हो जाता है। ऐसे समूह जिसमें सदस्य मात्र आंशिक या खंडित तौर पर भाग लेते हैं, वहां संघर्ष को विघटनकारी होने की संभावना कम होती है।

अन्य संघर्ष विचारकों की विचारधारा के विपरीत कोज़र ने बताया है कि संघर्ष का मुख्य कारण 'स्वार्थों की टकराहट' है। स्वार्थ का स्वरूप आर्थिक, सामाजिक, राजनीतिक आदि कुछ भी हो सकता है। इस तथ्य को स्पष्ट करते हुए कोज़र ने बताया कि जब कोई दबा हुआ व्यक्ति अपनी वर्तमान स्थिति के प्रति जागरूक हो जाता है और यह सोचने के लिए विवश हो जाता है कि अन्याय करने वाले शासक वर्ग या कोई अन्य सामाजिक समूह का विरोध किया जाना चाहिए तो संघर्ष शुरू हो जाता है।

किसी भी सामाजिक व्यवस्था का आधार सर्वसम्मति है। प्रत्येक व्यक्ति जब अपने स्वार्थ या हितों के प्रति समान रूप से जागरूक हो जाता है तो सामाजिक सौहार्द में कमी आ जाती है, समाज में संघर्ष की स्थिति उत्पन्न हो जाती है। जब तक शासित व्यक्ति अन्याय या शोषण को वैध मानता है, तबतक समाज में स्थिरता रहती है और जब वैधता में कमी आती है तो संघर्ष उत्पन्न हो जाता है।

टर्नर (1995) ने कहा है कि कोसर का संघर्ष सिद्धान्त काफी लोकप्रिय है, क्योंकि उन्होंने प्रकार्यवाद एवं संघर्ष के सिद्धान्त के बीच संतुलन या समन्वय की स्थिति प्रदान की है। कोसर ने खुद कहा है कि उन्होंने दोनों सिद्धान्तों में सुधार करने की कोशिश की है। कोसर ने अपने विचारों से मार्क्स के द्वन्द्वात्मक संघर्ष एवं डारेनडॉफ के संघर्ष सिद्धान्त को संतुलित किया है। वे पहले प्रकार्यात्मक समाजशास्त्री हैं, जिन्होंने यह बताने की कोशिश की है कि संघर्ष समाज की व्यवस्था के लिए हानिकारक होते हुए भी कभी-कभी सुरक्षा-कपाट का काम करता है, जिससे वर्तमान सामाजिक व्यवस्था को बने रहने में सुविधा होती है। उनके विचार से यह भी स्पष्ट होता है कि सामाजिक संघर्ष के यथार्थ को झुठलाया नहीं जा सकता। परिणाम चाहे जो भी हो, संघर्ष एक विश्वव्यापी यथार्थ है।

संक्षेप में, कोजर ने सामाजिक संघर्ष के सकारात्मक प्रकार्यों पर अधिक बल दिया है। संघर्ष के प्रकार्य वस्तुतः दूरगामी प्रभाव डालने वाले होते हैं। इसमें सामाजिक संरचना में सामाजिक संगठन एवं विघटन दोनों तरह की प्रक्रियाएं कार्यरत रहती हैं।

11.16 रैल्फ डारेनडॉफ (Ralf Dahrendorf, 1929)

कार्ल मार्क्स की तरह जर्मन समाजशास्त्री डारेनडॉफ ने अपनी पुस्तक 'Class and Class Conflict in Industrial Society' में संघर्ष सिद्धान्त को समर्थन दिया है। वे मार्क्स एवं वेबर के विचारों के साथ-साथ 19वीं सदी के शास्त्रीय उदारवादी सिद्धान्तों से भी काफी प्रभावित थे। उनके विचार न तो ज्यादा मार्क्सवादी हैं और न ही ज्यादा प्रकार्यात्मक।

डारेनडॉफ का मानना है कि हरेक सामाजिक व्यवस्था का आधार शक्ति का सोपानक्रम होता है। समाज का शक्तिशाली व्यक्ति अपने से कमजोर व्यक्ति को दबाता रहता है। यह लोगों को सामाजिक नियमों एवं कानूनों में बांधकर समाज में अनुरूपता एवं एकमतता पैदा करता है। अर्थात् समाज में अनुरूपता एवं एकमतता स्वाभाविक रूप से पैदा नहीं होती, बल्कि उत्पीड़न से पैदा की जाती है।

डारेनडॉफ के अनुसार शक्ति और सत्ता प्रत्येक समाज की प्रमुख विशेषता है। इसके अभाव में हम किसी भी समाज की कल्पना नहीं कर सकते हैं। यह सामाजिक संरचना के निर्माण की आवश्यक शर्तों में से है। इसलिए इसे सामाजिक व्यवस्था की प्रकार्यात्मक पूर्व शर्त भी कहा जाता है पर सत्ता का बंटवारा समाज के लोगों के बीच समान रूप से कभी नहीं होता है। सत्ता का वितरण हमेशा असंतुलित ढंग से होता है। चूंकि हर कोई सत्ता को अधिक-से-अधिक हथियाना चाहता है, इसलिए समाज में संघर्ष होता है। मार्क्स की तरह डारेनडॉफ भी संघर्ष के सिद्धान्त को स्वीकारते हैं, पर मार्क्स के विचारों के विपरीत उनके संघर्ष का आधार आर्थिक न होकर राजनैतिक है। संघर्ष का कारण आर्थिक शोषण न होकर सत्ता के द्वारा व्यक्तिगत स्वार्थ की पूर्ति है। उनका यह विचार उत्पीड़न का सिद्धान्त पर आधारित है।

डारेनडॉफ के अनुसार हर सामाजिक संरचना में संघर्ष का बीज छुपा होता है, जो उसमें परिवर्तन की प्रक्रिया को निरंतर गतिमान रखती है। मार्क्स के आर्थिक संरचना या मौलिक संरचना की जगह डारेनडॉफ ने सत्ता-संरचना की चर्चा की है। सत्ता-संरचना में मुख्यतः दो हिस्से होते हैं—शासन एवं दमन। सत्ता-सम्बन्ध के अंतर्गत शासक वर्ग शासित वर्ग के व्यवहारों को आदेश, चेतावनी एवं निषेधों के द्वारा नियंत्रित करते हैं। जब शासक-वर्ग सत्ता का काफी दुरुपयोग करता है, तो संघर्ष की प्रक्रिया स्वतः शुरू हो जाती है।

चूंकि मनुष्य के विभिन्न स्वार्थों की पूर्ति सत्ता पर आधारित है, इसलिए सत्ता के लिए संघर्ष एक ऐसी प्रक्रिया है जिसे हम चाहकर भी समाज से समाप्त नहीं कर सकते। सत्ता का समाज में समान बंटवारा कभी भी संभव नहीं है। अतः संघर्ष एक अनिवार्य एवं सर्वव्यापी प्रक्रिया है। समाज में सभी परिवर्तन संघर्ष के द्वारा संभव हो पाते हैं। मार्क्स का आर्थिक कारण बहुत से कारणों में से एक है। मार्क्स का आर्थिक कारण संघर्ष की सम्पूर्ण कहानी नहीं बन सकती। डारेनडॉफ ने बताया— संघर्ष को निर्देशित एवं संस्थाकृत किया जा सकता है, पर संघर्ष को समाज से अलग नहीं किया जा सकता है। डारेनडॉफ का यह सिद्धान्त पारकन्स और अन्य प्रकार्यात्मक विचारकों के अखिल एकमतता की विचारधारा का विरोधी है। डारेनडॉफ प्रकार्यवादियों के संतुलन प्रारूप और नियामक एकमतता की बातों

का खंडन करते हैं। उनका मानना है कि संतुलन और एकमतता समाज में उत्पीड़न से ही पैदा होता है। यह कोई स्वाभाविक सहयोगी अवस्था नहीं है।

जैसा कि उल्लेख किया जा चुका है— संघर्ष को सामाजिक जीवन से सदा के लिए अलग कर देना असंभव है, क्योंकि किसी भी सामाजिक संगठन की सत्ता—संरचना में सत्ता का असमान बंटवारे से विरोधी हित—समूहों का निर्माण होना एक स्वाभाविक घटना है। कहा जाता है कि संघर्ष को न तो निरंकुश राजा और न ही दार्शनिक राजा सदा के लिए समाप्त कर सकते हैं। डारेनडॉफ के ही शब्दों में, "The underlying assumption is that conflict can be temporarily suppressed, regulated, channelled and controlled, but that neither a philosopher-king nor a modern dictator can abolish it once and for all."

संक्षेप में, सत्ता का असमान वितरण ही संघर्ष की प्रक्रिया का मौलिक स्रोत है। वर्ग संघर्ष से होने वाला परिवर्तन भी मूलतः सत्ता—व्यवस्था में होने वाला परिवर्तन ही है। सत्ता की संरचना में परिवर्तन उन लोगों को हटाने से होता है, जो शासन की स्थिति में है या शासन के केन्द्र में है।

उपर्युक्त विवेचना से स्पष्ट है कि कार्ल मार्क्स की तरह ही डारेनडॉफ ने समाज में निहित संघर्ष एवं परिवर्तन की व्यापकता को स्वीकारते हुए वर्ग संघर्ष को सामाजिक परिवर्तन का मुख्य स्रोत माना। मार्क्स ने जहां वर्ग संघर्ष को आर्थिक—परिधि में घूमते देखा, वहीं डारेनडॉफ ने इसे सत्ता—परिधि में घूमते देखा। फ्रांसिस अब्राहम ने डारेनडॉफ के सिद्धान्त की कमजोरियों की ओर ध्यान आकृष्ट करते हुए कहा—वर्ग निर्धारण की प्रक्रिया में सत्ता ही एकमात्र निर्धारक तत्त्व नहीं है। आमदनी, स्थिति, प्रतिष्ठा, जीवनशैली आदि भी वर्ग निर्धारण के मुख्य तत्त्व हैं। इसी तरह सत्ता ही संघर्ष का एकमात्र स्रोत नहीं है। भाषा, धर्म, जाति, प्रजाति, विभेद इत्यादि भी संघर्ष के आधार बनते हैं। दूसरी ओर ऐसा भी मान लेना कि सत्ता परिवर्तन से ही सामाजिक परिवर्तन होता है, उचित नहीं प्रतीत होता है। ऐसे बहुत सारे ऐतिहासिक उदाहरण हैं, जिसमें शासक वर्ग के प्रभावकारी नेतृत्व के द्वारा बिना संघर्ष के परिवर्तन हुए हैं।

मैक्स वेबर ने कहा— मार्क्स के ऐतिहासिक भौतिकवाद (Historical Materialism) या विकासवादी सिद्धान्त के सहारे भी सामाजिक प्रक्रिया को अच्छी तरह नहीं समझा जा सकता है। विश्व स्तर पर समाज में इतनी अधिक विभिन्नताएं हैं कि हम किसी भी एक कारकीय सिद्धान्त से सामाजिक परिवर्तन की प्रक्रिया को नहीं समझ सकते। आर्थिक कारकों के अलावा सैन्य शक्ति, सरकार का स्वरूप एवं विचारधाराएं की बहुत ही महत्वपूर्ण भूमिका निभाती है। सामाजिक परिवर्तन को समझने के लिए इन कारकों की भूमिका को गौण नहीं किया जा सकता। इस विचार के विरोध में प्रतिक्रिया व्यक्त करते हुए गिडेन्स ने कहा है कि हम एक कारकीय सिद्धान्त से सामाजिक परिवर्तन का विश्लेषण नहीं कर सकते। संघर्ष सिद्धान्त के समर्थक यह बहस करते हैं कि समाज में परिवर्तन संघर्ष के द्वारा ही आता है, क्योंकि संघर्ष में व्यवस्था के लिए विरोध छिपा होता है। ऊपर से देखने में तो ऐसा लगता है कि यह विचार बिल्कुल सही है, क्योंकि जब समाज के विभिन्न अंगों के बीच पारस्परिक सम्बन्ध सामंजस्य या सौहार्दपूर्ण होगा तो परिवर्तन की कोई गुंजाइश नहीं है। सामाजिक व्यवस्था के विभिन्न अंगों के सम्बन्ध अच्छे रहने पर परिवर्तन के लिए किसी भी ओर से दबाव नहीं पड़ता है। इसलिए सहज भाव से लोग यह स्वीकार कर लेते हैं कि सामाजिक परिवर्तन संघर्ष के ही द्वारा आता है। दूसरे सभी सिद्धान्त सामाजिक परिवर्तन को बहुत स्पष्ट नहीं कर पाते, लेकिन यथार्थ कुछ भिन्न है। संघर्षवादियों ने जिस संघर्ष की चर्चा की है, उसे हम संरचनात्मक संघर्ष कहते हैं। वे छिटपुट संघर्ष की बात नहीं करते। संघर्षवादियों के विचार से समाज दो या दो से अधिक विरोधी खेमों में हमेशा से बंटे होते हैं और वे अपने स्वार्थ की पूर्ति के लिए एक—दूसरे से संघर्ष करते रहते हैं। परसी कोइन (Percy S. Cohen) का कहना है कि जब समाज में सिर्फ संघर्ष की स्थिति होगी तो परिवर्तन की कोई गुंजाइश ही नहीं है। जैसे, उद्योगों में भी जब मजदूरों एवं मालिकों के बीच हमेशा संघर्ष होगा तो परिवर्तन की कोई संभावना नहीं होगी। संघर्ष या तनाव से परिवर्तन के सारे दरवाजे बंद हो जाते हैं। परिवर्तन तो तब होता है जब दो विरोधी खेमों के लोग आपस में मिलकर कोई बीच का रास्ता निकालते हैं। इसलिए कोइन ने कहा—परिवर्तन द्वन्द्व से नहीं बल्कि समझौते से आता है। उन्होंने स्पष्ट कहा है कि द्वन्द्व से विरोध उत्पन्न होता है, परिवर्तन का रास्ता नहीं खुलता है। द्वन्द्व से समाज में सिर्फ परिवर्तन एवं विकास की गति ही अवरुद्ध होती है। जिस समाज के अंतर्गत क्षेत्रीयता, प्रजाति या जाति, धर्म और भाषा के आधार

पर काफी विभाजन है और उससे जुड़े संघर्ष या द्वन्द्व मौजूद हैं तो उस समाज का विकास संभव नहीं है। विकास के लिए शांति, सहयोग और लोगों के बीच आपसी मेल-जोल नितांत आवश्यक है। इसलिए मात्र संघर्ष को सामाजिक परिवर्तन का स्रोत या कारण नहीं माना जा सकता है।

कुछ लोगों का मानना है कि परिवर्तन साधारण संघर्ष से नहीं बल्कि संघर्ष की तीव्रता से आता है। अमेरिका के काले लोगों के जीवन में जो परिवर्तन आया है, वह गोरे लोगों के साधारण विरोध से नहीं आया, बल्कि काले और गोरे लोगों के बीच संघर्ष की तीव्रता से आया। यहां यह भी उल्लेखनीय है कि निग्रो के जीवन में जो परिवर्तन आया है, वह गोरे और निग्रो लोगों के बीच संघर्ष की तीव्रता मात्र से ही नहीं आया; उसमें विभिन्न किस्म के आर्थिक और सामाजिक विकास की भी भूमिका कम नहीं रही। जब कोई परिवर्तन साधारण संघर्ष से नहीं आता तो लोग क्रांति का रास्ता अपनाते हैं। लेकिन ऐसा देखा गया है कि कभी-कभी क्रांति से भी सामाजिक परिवर्तन नहीं आता है, क्योंकि हर क्रांति के विरोध में प्रतिक्रियाएं होती हैं। कभी-कभी विरोधी क्रांति के द्वारा संघर्ष को ही जड़ से उखाड़ फेंकने की कोशिश की जाती है। क्रांति से समाज में नयी व्यवस्था उत्पन्न हो सकती है, पर सामाजिक परिवर्तन होना कोई आवश्यक नहीं है। जबतक क्रांति को वैधता नहीं मिलती तबतक परिवर्तन नहीं आता है। अर्थात् परिवर्तन वैधता एवं एकमतता से आता है, मात्र क्रांति से सामाजिक परिवर्तन नहीं आता है।

12. अभ्यास प्रश्नावली

निबन्धात्मक प्रश्न

1. संघर्ष के स्वरूप को स्पष्ट करते हुए इसके विभिन्न प्रकारों की विस्तृत व्याख्या कीजिए।

लघूत्तरात्मक प्रश्न

1. कार्ल मार्क्स के संघर्ष सम्बन्धी सिद्धान्त की विस्तृत व्याख्या कीजिए।
2. संघर्ष के स्रोतों का विस्तार से वर्णन कीजिए।

वस्तुनिष्ठ प्रश्न

1. संघर्ष, दूसरे या दूसरों की इच्छा के विरोध, प्रतिकार या बलपूर्वक रोकने के विचारपूर्वक प्रयत्न को कहते हैं—
अ. मैकाइवर और पेज ब. शर्लेकर एण्ड शर्लेकर
स. प्रो. ग्रीन द. एचटिसन और हिल
2. किस विचारधारा के अनुसार संघर्ष स्थायी व सामान्य घटना है—
अ. संघर्षवादी विचारधारा ब. संतुलनवादी विचारधारा
स. समाजवादी विचारधारा द. उपरोक्त में से कोई नहीं
3. प्रतिस्पर्धा की स्थिति में सामाजिक सम्बन्धों का रूप होता है—
अ. खुले व अगोपनीय सम्बन्ध ब. विरोधी सम्बन्ध
स. सीमित व गोपनीय सम्बन्ध द. दोषारोपण करने वाले सम्बन्ध
4. "The Function of Social Conflict" पुस्तक के लेखक हैं—
अ. ओपनहेमर ब. कोजर
स. हीगल द. सोरोकिन
5. किस समाजशास्त्री के अनुसार समाज में संघर्ष का प्रमुख कारण मानव स्वार्थों का द्वन्द्व है—
अ. कार्वर ब. वाल्टर
स. टर्नर द. डारेनडॉफ

6. उदारवादियों और कट्टरपंथियों के बीच होने वाला संघर्ष किस प्रकार के संघर्ष का उदाहरण है?
- अ. जातीय संघर्ष ब. प्रजातीय संघर्ष
स. धार्मिक संघर्ष द. राजनैतिक संघर्ष
7. निम्न में से संघर्ष का स्वाभाविक कारण है—
- अ. कुंठा ब. प्रतिस्पर्धा
स. शोषण द. उपरोक्त में से कोई नहीं
8. दर्शन व चिंतन के इतिहास में तथा दो विरोधी सिद्धान्त हैं।
9. संघर्ष से व्यक्ति में का विकास होता है।
10. ही वास्तविक जगत का निर्माता है।

इकाई-2

संघर्ष निराकरण

अ. संघर्ष निराकरण :अर्थ एवं स्वरूप, विश्वास और अभिवृत्ति—कार्यत्मक महत्ता, शक्ति एवं महत्त्व और अभिवृत्ति परिवर्तन

ब. संघर्ष निराकरण का इतिहास

उद्देश्य

1. संघर्ष निराकरण के स्वरूप को जानना।
2. संघर्ष निराकरण में अभिवृत्ति परिवर्तन की भूमिका को स्पष्ट करना।
3. संघर्ष निराकरण के ऐतिहासिक परिदृश्य का परिचय देना।

संरचना

अ. संघर्ष निराकरण :अर्थ एवं स्वरूप, विश्वास और अभिवृत्ति—कार्यत्मक महत्ता, शक्ति एवं महत्त्व और अभिवृत्ति परिवर्तन

1. संघर्ष निराकरण का स्वरूप
2. संघर्ष प्रबंधन
3. विश्वास एवं अभिवृत्ति
 - 3.1 विश्वास (Belief)
 - 3.2 अभिवृत्ति (Attitude)
 - 3.3 अभिवृत्ति की विशेषतायें (Characteristics of Attitudes)
 - 3.4 अभिवृत्ति का विकास तथा निर्माण (Development and Formation of Attitudes)
 - 3.4.1. आवश्यकता पूर्ति
 - 3.4.2. प्रदत्त सूचनाएँ—
 - 3.4.3. सामाजिक सीखना
 - 3.4.4 समूह सम्बन्धन
 - (क) प्राथमिक समूह
 - (ख) संदर्भ समूह
 - 3.4.5 सांस्कृतिक कारक
 - 3.4.6 व्यक्तित्व कारक
 - 3.4.7 रूढ़िकृतियाँ—
 - 3.5 अभिवृत्ति परिवर्तन (Attitude Change)
 - 3.6 अभिवृत्ति परिवर्तन के कारक
 - 3.6.1 संदर्भ समूह में परिवर्तन
 - 3.6.2 समूह सम्बन्ध में परिवर्तन
 - 3.6.3 अतिरिक्त सूचनाएं
 - 3.6.3.1 सामूहिक परिस्थिति या एकान्त परिस्थिति

- 3.6.3.2 प्रकट एवं गुप्त वादा
- 3.6.3.2 समूह निर्णय विधि
- 3.6.4 प्रभावी या विश्वासोत्पादक संचारण
 - 3.6.4.1 संचारण का स्रोत या संचारक की विशेषता
 - (अ) विश्वसनीय संचारक
 - (ब) आकर्षक संचारक
 - 3.6.4.2 संचारण का विषय एवं विशेषता
 - 3.6.4.3 संचार का माध्यम
 - 3.6.4.4 श्रोता की विशेषताएं
- 3.6.5 बाधित सम्पर्क
- 3.6.6 अपेक्षित भूमिका—निर्वाह
- 3.6.7 व्यक्तित्व परिवर्तन प्रविधियां
- 3.6.8 सांस्कृतिक कारक
- 3.6.9 प्रचार
- 3.7 अभिवृत्ति परिवर्तन की विधियाँ
 - 3.7.1 व्यक्ति को बाह्य प्रभाव में रखकर
 - 3.7.2 अन्योन्य क्रिया
 - 3.7.3 समूह—परिचर्चा तथा समूह—निर्णय
- 3.8 अभिवृत्ति परिवर्तन कब कठिन हो जाता है?
 - 3.8.1 प्रतिघात
 - 3.8.2 पूर्व चेतावनी
 - 3.8.3 अभिवृत्ति टीका
- 3.9 अभिवृत्ति परिवर्तन के उदाहरण
- 4. विश्वास तथा अभिवृत्ति की आवश्यकता (Need of Beliefs and Attitudes)
- 5. विश्वास, अभिवृत्ति तथा तथ्य (Belief, Attitude and Facts)

ब. संघर्ष निराकरण का इतिहास

1. कानून और व्यवस्था मॉडल
2. दार्शनिक असफलता
3. औद्योगिक सम्बन्धों की खोज
4. अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर अंतराल काल
5. सोच में परिवर्तन
6. सिद्धान्त का विकास
7. वर्तमान-विकास
8. निपटारे की प्रक्रिया स्वयं ही संघर्ष के कारण के रूप में
9. परिवर्तन की समस्या
10. अभ्यास प्रश्नावली

अ. संघर्ष निराकरण :अर्थ एवं स्वरूप, विश्वास और अभिवृत्ति-कार्यत्मक महत्ता, शक्ति एवं महत्त्व और अभिवृत्ति परिवर्तन

संघर्ष की दो स्थितियां हैं—प्रथम किसी लक्ष्य की प्राप्ति हेतु न्यायोचित कार्यों के लिए प्रतिस्पर्धा में शामिल होना और दूसरी स्थिति जो न्यायोचित नहीं है, अतर्कसंगत और अविवेकपूर्ण है। दोनों ही स्थितियां, संघर्ष की हैं। प्रथम स्थिति को हम अपने सामाजिक जीवन से कभी अलग नहीं कर सकते क्योंकि यह एक विशेष परिणाम की प्राप्ति के लिए न्यायपूर्ण तरीके से प्रयत्न है। इस स्थिति को हम यथार्थवादी संघर्ष कह सकते हैं। दूसरी स्थिति, जिसमें किये गये प्रयत्न अन्यायपूर्ण होते हैं तथा इस स्थिति का सामाजिक जीवन में भी कोई विशेष महत्त्व नहीं होता। यह हमारे जीवन में रूपान्तरण किये जाने योग्य होती है अथवा त्याज्य होती है। यह अयथार्थवादी संघर्ष की स्थिति है। मैक्स वेबर ने कहा— “जिसे हम शांति कहते हैं वह और कुछ नहीं अपितु संघर्ष के स्वरूप का रूपान्तरण है अथवा संघर्ष के उद्देश्यों में परिवर्तन है और विरोधी का हृदय परिवर्तन है।” अतएव यह स्पष्ट है कि संघर्ष निराकरण का सही और न्यायोचित मार्ग है। इस तथ्य की पुष्टि गांधी के इस तथ्य से भी होती है— “मैं इसे (संघर्ष को) मेरे जीवन से कभी अलग नहीं कर सकता” अर्थात् महात्मा गांधी संघर्ष को सामाजिक जीवन से कभी अलग नहीं मानते थे किन्तु वे संघर्ष कार्ल मार्क्स के स्वरूप को स्वीकार न कर, संघर्ष की अहिंसक पद्धति के प्रयोग करने पर बल देते थे।

1. संघर्ष निराकरण का स्वरूप

संघर्ष निराकरण का अर्थ, संघर्ष का विलोपन नहीं है अर्थात् संघर्ष को पूर्ण रूपेण समाप्त करना नहीं है। इसका अर्थ है— निराकरण का सही मार्ग प्रशस्त करना। संघर्ष अर्थात् संघर्ष निराकरण का सम्बन्ध मुख्यतः संघर्ष के अहिंसक और शांतिपूर्ण समाधान से है। किसी भी संघर्ष के निराकरण के दो मार्ग हो सकते हैं— पहला हिंसात्मक तरीके से संघर्ष का निराकरण करना, दूसरा— अहिंसात्मक तरीके से संघर्ष का निराकरण करना। संघर्ष निराकरण का हिंसात्मक स्वरूप दमन एवं अन्याय पर आधारित है। इस रूप में संघर्ष तात्कालिक रूप से समाप्त होता प्रतीत होता है किन्तु कालान्तर में वह पुनः प्रकट हो जाता है क्योंकि इसमें विरोधी के साथ न तो सुलह होती है और न ही किसी भी प्रकार से संघर्ष के उद्देश्यों में परिवर्तन होता है। जबकि संघर्ष निराकरण के अहिंसात्मक स्वरूप में विरोधी के साथ सुलह होने से संघर्ष के उद्देश्यों में परिवर्तन होने के कारण संघर्ष का समाधान स्थायी रूप से होता है। अतएव यही मार्ग संघर्ष निराकरण का सही और उचित मार्ग है।

स्पष्ट है कि संघर्ष स्वाभाविक है। यह किसी असफलता का द्योतक नहीं और न ही यह किसी व्यवस्था का गलत तरीके से कार्य करना है। यह न तो कोई गलत वैयक्तिक समायोजन है और न ही कोई अपराध है। संघर्ष एक सृजनात्मक शक्ति है जो कि समस्याओं को हमारे सामने लाती है और नये

व अच्छे समाधान प्रस्तुत करती है अर्थात् संघर्ष परिवर्तन को लाने वाला बड़ा साधन है तथा इसे हम परिवर्तन को घटित करने वाले इंजन की उपमा दे सकते हैं।

प्रो. महेन्द्र कुमार के अनुसार, “संघर्ष निराकरण एक समूह के अंदर और समूह के बीच संघर्ष का शांतिपूर्ण समाधान है।” उनके अनुसार संघर्ष निराकरण का सम्बन्ध अहिंसक और शांतिपूर्ण समाधान से ही है।

संघर्ष निराकरण, विवाद या विरोध को निपटारे की प्रक्रिया है। संघर्ष का निराकरण, प्रत्येक पक्ष की आवश्यकताओं को पूरा करने और उन्हें सुनने का अवसर प्रदान करता है और उनके हितों की ओर पूर्ण रूप से ध्यान देता है ताकि दोनों पक्ष परिणाम से संतुष्ट हो सकें। संघर्ष निराकरण कर्त्ता सम्बन्धित पक्षों के साथ जीत-जीत या विजय-विजय के अवसर तलाशता है न कि एक पक्ष के जीत और दूसरे पक्ष की पराजय की। संघर्ष निराकरण के प्रारम्भ में ही संघर्ष की रोकथाम के प्रयत्न प्रारम्भ कर दिये जाते हैं ताकि संघर्ष वाचिक, शारीरिक, कानूनी लड़ाई या हिंसा का रूप न ले ले।

संघर्ष अपने आप में सकारात्मक और नकारात्मक दोनों निर्णय प्रस्तुत करता है। संघर्ष निराकरण में ऐसे रास्ते तलाश करने होते हैं जिससे सकारात्मक निर्णय प्राप्त हो सकें और नकारात्मक निर्णय निम्नतम किये जा सकें।

2. संघर्ष प्रबंधन

चूंकि सभी संघर्षों का समाधान नहीं किया जा सकता इसलिए कई बार संघर्ष निराकरण के स्थान पर संघर्ष प्रबन्धन, संघर्ष रूपान्तरण और संघर्ष हस्तक्षेप जैसे शब्दों का प्रयोग किया जाता है। संघर्ष प्रबन्धन एक सामान्य प्रक्रिया हो सकती है जिसमें संघर्ष का प्रबन्धन, सम्बन्धित पक्षों द्वारा समाधान के लिए किया जाता है।

संघर्ष निराकरण की प्रक्रिया भिन्न-भिन्न हो सकती है। यद्यपि समूह के बीच संघर्ष में दो या अधिक समूह किन्हीं विशेष मुद्दों पर विरोधी विचार रखने वाले होते हैं तो ऐसे समूह में संघर्ष निराकरण ने संराधन, मध्यस्थता, पंच निर्णय और न्याय निर्णय होते हैं। इन सभी तरीकों में तीसरे पक्ष का हस्तक्षेप आवश्यक होता है। कभी-कभी किसी संघर्ष के बिना समाधान के भी, उसका प्रबन्धन किया जाता है ताकि वह हिंसा का रूप न लें। इसे संघर्ष प्रबन्धन कहा जाता है। संघर्ष प्रबन्धन व्यक्तियों, समूह, संगठन और यहां तक कि राष्ट्रों को ऐसे रणनीतिक तरीके उपलब्ध कराता है जिससे मतभेदों और विवादों से निपटा जा सकें। प्रतिस्पर्धी और विरोधी समूह के विरोधी लक्ष्यों, विचारों की भिन्नता, मतों की भिन्नता और विचारधाराओं की भिन्नता से निपटने के लिए कलह-प्रबन्धन कारगर होता है।

यद्यपि कलह-प्रबन्धन और कलह-शमन में थोड़ा अंतर है। कलह प्रबन्धन में संघर्ष का समाधान नहीं होता अपितु संघर्ष को एक बार शांत कर दिया जाता है जबकि कलह-शमन में संघर्ष का पूर्णरूपेण निराकरण कर दिया जाता है। मैकमिलन के अनुसार, “वार्ता, पंच फैसला और इन्टीट्यूसन बिल्डिंग के तरीके और प्रक्रियाएं जो सामाजिक संघर्ष और युद्ध की समाप्ति करती है (युद्ध का शांतिपूर्ण समाधान करती है) संघर्ष निराकरण कहलाती है।”

शांति शोध में हाल ही में यह सिद्धान्त विकसित हुआ है कि संघर्ष के मूल में व्यक्ति या समूह के विश्वास या दृष्टिकोण की भूमिका महत्वपूर्ण होती है इसलिए संघर्ष निराकरण का स्वरूप गलत विश्वास एवं दृष्टिकोणों को बदलने में निहित है। अतएव संघर्ष निराकरण की पद्धतियों या प्रक्रिया पर विचार से पूर्व विश्वास व दृष्टिकोण का अध्ययन अपेक्षित होगा।

3. विश्वास एवं अभिवृत्ति

विश्वास एक ऐसा मूल्य है जो व्यक्ति की सामाजीकरण की प्रक्रिया के दौरान निर्मित होता है। प्रायः विश्वासों में परिवर्तन संभव नहीं होता क्योंकि ये एक दीर्घकालीन प्रक्रिया के दौरान निर्मित होते हैं। इसलिए विश्वासों के अनुरूप विचारों का जन्म होता है और परस्पर विरोधी विचार, संघर्ष का कारण बनते हैं। यद्यपि धीरे-धीरे विचार परिवर्तन के द्वारा विश्वासों में परिवर्तन किया जा सकता है किन्तु यह एक दीर्घकालीन प्रक्रिया है।

अभिवृत्ति नियत परिस्थितियों, व्यक्तियों, वस्तुओं या विचारों के प्रति संगत रूप से अनुक्रिया करने की तत्परता है। यह किसी व्यक्ति या समूह या संस्था के प्रति व्यक्ति के समायोजन को प्रकट करती है। जैसी अभिवृत्ति व्यक्ति द्वारा अपनाई जाती है उसी के अनुरूप प्रतिक्रिया घटित होती है। अभिवृत्ति के परिणामस्वरूप ही विशिष्ट परिस्थितियों में किसी विशेष तरीके से अनुक्रिया की जाती है। अर्थात् अभिवृत्ति द्वारा कुछ निश्चित प्रत्याशाओं का निर्धारण किया जाता है। यदि घटनाएं उन प्रत्याशाओं के अनुरूप होती हैं तो व्यक्ति को संतोष की प्राप्ति होती है और यदि घटना प्रत्याशा के विपरीत घटित होती है तो व्यक्ति असंतोष और अन्ततः संघर्ष की स्थिति में चला जाता है।

विश्वास तथा अभिवृत्ति दोनों इतने जुड़े हुए हैं कि उनका पृथक् से अर्थ करना भी कठिन है। अभिवृत्ति के शब्दकोशीय अर्थ को भी बिना विश्वास के नहीं रखा जा सकता। किसी वस्तु, गुण या विचार के बारे में व्यक्ति जब तक एक धारणा नहीं बना लेता, उसकी उसके बारे में अभिवृत्ति तरल ही रहती है। पक्की धारणा बनने पर ही अभिवृत्ति की पुष्टि होती है तथा व्यक्ति के विचार व व्यवहार उसी दिशा में बढ़ते जाते हैं, क्योंकि वह उनसे निर्देशित बना रहता है। हम यदा-कदा हिन्दू व मुसलमानों के किन्हीं विशेष व्यवहारों को देखकर धारणा बनाते हैं कि ये लोग गंदे हैं, दूसरे देश से हैं, उनके रीति-रिवाज, त्यौहार भिन्न हैं, उनका खान-पान भिन्न है, वे विकासशील नहीं हैं, वे दुश्मन देश जैसे पाकिस्तान व चीन की हामी भरते हैं, वे हिन्दुओं से मिलकर रहना ही नहीं चाहते आदि। इन्हीं धारणाओं के कारण उनमें घृणा भाव पैदा होता है और उनके बारे में विपरीत विचार सदा मस्तिष्क में बना रहता है। यह विचार सदा हिन्दुओं व मुसलमानों के परस्पर व्यवहार को प्रभावित करता रहता है। वे उनसे भिन्नता का भाव छोटी-छोटी सी बात को साम्प्रदायिक बनाकर झगड़ते हैं। इस प्रकार केवल समुदायों की बात ही नहीं, बल्कि व्यक्ति भी विभिन्न अभिवृत्तियों से घिरा रहता है, जैसे राजनीति के प्रति, किसी जाति विशेष के प्रति, किसी संगठन के प्रति या किसी व्यक्ति के प्रति। व्यक्ति के ये अभिवृत्तियां इन सबके प्रति उसके व्यवहार को पूर्ण रूप से प्रभावित करती रहेंगी।

मूल रूप से मनुष्य व्यवहार प्रेरणा, संवेग, प्रत्यक्षज्ञान व अधिगम से निर्धारित रहता है, परन्तु सामाजिक जीवन अति जटिल होने के कारण इन सभी प्रक्रियाओं का गत्यात्मक संगठन बन जाता है, जो एक उच्च स्तरीय मानसिक इकाई बनाता है। यह मानसिक इकाई ही व्यक्ति के विश्वास व अभिवृत्ति का निर्धारण करती है। अभिवृत्ति की महत्ता समाज मनोविज्ञान व समाजशास्त्र में अपना उच्च स्थान रखती है। विश्वास की महत्ता समाजशास्त्रियों के लिए मनोवैज्ञानिकों की अपेक्षा कहीं अधिक है। अभिवृत्ति अध्ययन से पहले यह उचित प्रतीत होता है कि विश्वास व अभिवृत्ति का अर्थ व अंतर भली-भांति समझ लिया जाय।

3.1 विश्वास (Belief)

विश्वास का शब्दकोशीय अर्थ तो धर्म, समुदाय, संगठन को मान्यता देना है, परन्तु उसका मनोवैज्ञानिक आधार व्यक्ति के प्रत्यक्षज्ञान तथा संज्ञान के ऊपर निर्भर करता है। ऑक्सफोर्ड शब्दकोश (1956) में विश्वास को किसी वस्तु में भरोसा या किसी तथ्य को मानना बताया गया है। विश्वास को परिभाषित करते हुए क्रैच तथा क्रचफील्ड (1948) ने लिखा है कि 'विश्वास व्यक्ति जगत के कुछ पहलुओं के बारे में प्रत्यक्षज्ञान तथा संज्ञान का एक स्थाई संगठन है।' विश्वास ही व्यक्ति को वस्तुओं का अर्थ बताता है। वह व्यक्ति का वस्तु के बारे में सम्पूर्ण ज्ञान होता है। इसी कारण उसमें सभी प्रत्यक्षज्ञानों के संगठनों का संगठन सम्मिलित रहता है, यानी सभी संगठित प्रत्यक्षज्ञान पुनः संगठित होकर संज्ञान की रचना करते हैं। उदाहरणार्थ, यदि हमारा यह विश्वास है कि गांव के लोग बुद्ध होते हैं, तो गांव के लोगों के बारे में हमारे संज्ञान के बहुत से पहलू हैं जिनका हमें प्रत्यक्षज्ञान है, जैसे गांव के लोग पढ़े-लिखे नहीं होते या कम पढ़े-लिखे होते हैं, उनकी संस्कृति का विकास नहीं हुआ है, वे विज्ञान का ज्ञान नहीं रखते, उनके रहने के ढंग आदिवासियों से मिलते-जुलते हैं, उनकी बुद्धि का विकास नहीं हुआ है, उनकी भाषा भी अविकसित है, जब वे शहर में आते हैं तो अजीब सा मूर्खों जैसा व्यवहार करते हैं, उनमें कपड़े पहनने का ढंग नहीं है, वे झोपड़ियों में रहते हैं आदि। इस प्रकार की प्रत्यक्षज्ञान की धारणायें ही उनके बारे में हमारा संज्ञान एकत्रित कर देती है। केवल इतना ही नहीं बल्कि व्यक्ति उन वस्तुओं के बारे में भी धारणायें बनाते हैं, जिन्हें उन्होंने कभी देखा न हो या प्रत्यक्षज्ञान न किया हो। ईश्वर को यद्यपि किसी ने नहीं देखा, परन्तु हम लोग विभिन्न आकृतियों में

उसका काल्पनिक संज्ञान विकसित करके उसके बारे में विश्वास करते हैं कि वही आदि शक्ति है, वह हमारी समृद्धि में हमसे खुश है तथा दुःख में क्रुद्ध आदि।

3.2 अभिवृत्ति (Attitude)

व्यक्ति के विचारों तथा क्रियाओं के बीच समन्वय करने वाली अभिवृत्ति ही होती है। विश्वास की भांति अभिवृत्तियों का मनुष्य जीवन में बड़ा महत्त्व है, क्योंकि इनके द्वारा व्यक्ति का व्यवहार संचालित होता है। अभिवृत्ति में व्यक्ति के सभी सामाजिक संज्ञान संगठित होते रहते हैं। ऑक्सफोर्ड शब्दकोश में अभिवृत्ति को व्यवहार की निर्धारित विधि (Settled mode) बताया है। थर्स्टन ने अभिवृत्ति की परिभाषा देते हुए कहा— अभिवृत्ति किसी मनोवैज्ञानिक वस्तु के पक्ष या विपक्ष में धनात्मक या ऋणात्मक भाव की तीव्रता है। मनोवैज्ञानिक वस्तु कोई चिन्ह, व्यक्ति, वाक्य, बात, विचार आदि कुछ भी हो सकता है जिसके बारे में वैयक्तिक विभिन्न धारणाएँ प्राप्त हो सकती हैं। इस प्रकार अभिवृत्ति उस वस्तु का भावात्मक मूल्यांकन है। परन्तु अन्य मनोवैज्ञानिकों का विचार है कि अभिवृत्ति केवल भावात्मक ही नहीं, बल्कि संज्ञानात्मक व व्यवहारात्मक पक्ष भी रखती है। इस विचारधारा का वर्णन प्रमुखतः क्रैच तथा क्रचफील्ड व जिम्बार्डो तथा इबैसेन ने किया है। जिम्बार्डो तथा इबैसेन ने साधारण शब्दों में ही अभिवृत्ति को परिभाषित किया है। उनका कहना है कि अभिवृत्ति व्यक्ति के भाव तथा संज्ञान पर आधारित दूसरे व्यक्ति के प्रति प्रवृत्ति है। इस परिभाषा में केवल वैयक्तिक अभिवृत्ति पर ही बल दिया गया है। क्रैच तथा क्रचफील्ड का विचार था कि व्यक्ति के सभी व्यवहार अभिवृत्ति से निर्धारित होते हैं जो उसकी सभी मानसिक शक्तियों से बनती हैं। अभिवृत्ति को परिभाषित करते हुए उन्होंने बताया कि अभिवृत्ति, व्यक्ति के संसार के कुछ पहलुओं के बारे में प्रेरणात्मक, संवेगात्मक, प्रत्यक्ष ज्ञानात्मक तथा संज्ञानात्मक प्रक्रियाओं का एक स्थाई संगठन है।

इस परिभाषा से यह विदित होता है कि अभिवृत्ति में व्यक्ति की सभी मानसिक प्रक्रियाएँ क्रियाशील होती हैं। इसका अर्थ है कि अभिवृत्ति संपूर्ण व्यवहार की कारक है। किसी मित्र को देखते ही व्यक्ति खुश होकर उससे अभिवादन करता है या हाथ मिलाता है। दूसरी ओर, शत्रु को देखते ही दूसरी ओर देखने लगता है—घृणा से भर जाता है, उसके बुरे की कामना करता है आदि। इस प्रकार प्रेम या घृणा अभिवृत्ति के संवेगात्मक पहलू हैं, अभिवादन, हाथ मिलाना व दूर जाना प्रेरणात्मक पहलू हैं, दृष्टि फेरना व उन्हें पहचानना प्रत्यक्षज्ञान पहलू हैं तथा उनके बारे में पूर्वानुभव संज्ञान पहलू हैं।

उपरोक्त विवेचन से यह विदित है कि विश्वास केवल संज्ञानात्मक होते हैं तथा अभिवृत्ति संज्ञानात्मक होने के साथ-साथ संवेगात्मक व प्रेरणात्मक भी होती है। यह भी आवश्यक नहीं है कि सभी विश्वास अभिवृत्ति के ही भाग हों, कुछ हो सकते हैं। अभिवृत्ति व्यवहार क्रिया चाहती है, जबकि विश्वास नहीं। अभिवृत्ति लक्षित होने के कारण व्यक्ति को कार्य करने को प्रेरित करती है। यदि हमारी अभिवृत्ति चीनी लोगों के प्रति ऋणात्मक है तो उनका नाम या उपस्थिति हमें घृणा से भर देगी, तथा या तो हम उससे दूर चले जायेंगे, बातें नहीं करेंगे या गाली देंगे या बुरा-भला कहेंगे आदि। उस दशा में हम उनसे मित्रता बढ़ाना कभी नहीं चाहेंगे। इस प्रकार अभिवृत्ति में संवेग व प्रेरणा दोनों ही विभिन्न परिस्थितियों में प्रदर्शित होते हैं। यदि कोई चीनी बालक हमारे तूजों पर पॉलिश कर रहा हो तो ये दोनों बातें बिलकुल नहीं उभरेंगी। उस परिस्थिति में हम संवेग व प्रेरणा को दबा लेते हैं। इस प्रकार पर्यावरण के विभिन्न संकेत अभिवृत्ति को तुरंत बदल देते हैं। अभिवृत्ति किसी वस्तु के बारे में या तो ऋणात्मक होती है या धनात्मक, जबकि विश्वास इस प्रकार की विपरीतताओं की ओर नहीं खिंचता, वह सदा उदासीन होता है।

3.3 अभिवृत्ति की विशेषताएँ (Characteristics of Attitudes)

अभिवृत्ति चाहे धनात्मक हो या ऋणात्मक, उसकी अपनी कुछ विशेषताएँ होती हैं। अभिवृत्ति की प्रकृति से यह विदित होता है कि उसमें प्रमुखतः निम्न विशेषताएँ होती हैं—

- अभिवृत्तियाँ जन्मगत नहीं होती अर्थात् वे मनुष्य प्रकृति में जन्म से नहीं पाई जाती बल्कि व्यक्ति सामाजिक परिस्थितियों में उसे अर्जित करता है। बहुत सी अभिवृत्तियाँ शारीरिक आवश्यकताओं से उत्पन्न हो सकती हैं, परन्तु उन सभी को व्यक्ति शनैःशनैः समाज में रहकर ही बढ़ाता है।

- जिन वस्तुओं, गुणों व विचारों को व्यक्ति जानता है, उन्हीं के बारे में वह अपनी कुछ राय बनाता है। इस प्रकार अभिवृत्तियां संज्ञानात्मक होती हैं तथा उन मानसिक वस्तुओं के गुण जानने के बाद ही व्यक्ति उनके बारे में कुछ धारणा बनाता है।
- अभिवृत्तियों की प्रकृति स्थाई व अस्थायी दोनों प्रकार की पाई जा सकती है। यदि किसी वस्तु प्रकृति तथा उसकी परिस्थितियां परिवर्तित नहीं होती तो वे स्थाई बनी रहती हैं। चीन से झगड़ा होने से पहले “चीनी-हिन्दी भाई-भाई” का नारा उनके प्रति धनात्मक अभिवृत्ति का द्योतक था, परन्तु चीन से युद्ध होने के बाद भारतीयों की अभिवृत्ति उनके प्रति ऋणात्मक हो गई।
- व्यक्ति का पर्यावरण बहुत जटिल है, क्योंकि उसके बहुत से उद्दीपक व्यक्ति को प्रभावित करते रहते हैं। उनसे व्यक्ति अपने प्रत्यक्षज्ञान की वृद्धि करता रहता है तथा उनके बारे में कुछ विचार बनाता है। ये विचार विभिन्न वस्तु, गुण, घटना, प्रतिभा, विचार आदि के बारे में विभिन्न होते हैं। इस प्रकार व्यक्ति एक ही समय में अनेक अभिवृत्तियां साथ-साथ रखता है।
- कुछ अभिवृत्तियां सामान्य होती हैं तथा कुछ विशिष्ट। सामान्य अभिवृत्तियां व्यक्ति की वे धारणायें हैं जो व्यक्ति अधिकतर सभी वस्तुओं के बारे में बनाता है। शांत स्वभाव का व्यक्ति अधिकतर वस्तुओं के बारे में धनात्मक विचार रखता है तथा अशांत स्वभाव वाला व्यक्ति ऋणात्मक या कटु। विशिष्ट अभिवृत्तियां केवल विशेष गुण, वस्तु, समुदाय, जाति, व्यक्ति के बारे में ही होती हैं।
- अभिवृत्ति संवेगों से जुड़ी हुई हैं। धनात्मक अभिवृत्ति का अर्थ होता है कि व्यक्ति वस्तु के बारे में कुछ अच्छा सोचता है, उसे व्यक्ति का प्रेम है तथा ऋणात्मक अभिवृत्ति घृणा की द्योतक होती है। प्रेम, घृणा, भय, खुशी आदि का पुट अभिवृत्तियों में सदा मिलता है, क्योंकि उनका आधार वस्तु के बारे में व्यक्ति के संवेगात्मक विचार ही होते हैं।
- अभिवृत्तियों में गत्यात्मकता होती है। वे व्यक्ति की किसी आवश्यकता या उद्देश्य से सम्बन्धित रहती हैं, इस कारण लक्ष्य प्राप्ति की ओर व्यक्ति प्रेरित रहता है। वह अभिवृत्ति को क्रिया द्वारा प्रदर्शित करता है, जैसे बुराई या बढ़ाई करके, गाली देकर, हंसकर, नारे लगाकर आदि।
- अभिवृत्तियां अपने तत्त्वों में भिन्नता रखती हैं। एक भारतीय की अभिवृत्ति पाकिस्तानी, चीनी, अमरीकी, रूसी, अंग्रेज सभी के लिये भिन्न-भिन्न होंगी।
- व्यक्ति की कुछ अभिवृत्तियां स्पष्ट होती हैं तथा कुछ अस्पष्ट होती हैं। उदाहरण के लिए दिन प्रतिदिन बाजार भावों के बारे में व्यक्ति की अभिवृत्ति स्पष्ट होगी, तथा धर्म के बारे में अस्पष्ट या ईश्वर के बारे में भी अस्पष्ट अभिवृत्ति होगी।
- व्यक्ति अभिवृत्तियों का सत्यापन किसी प्रमाण के आधार पर कर सकता है। सामान्य व्यक्ति अपनी अभिवृत्तियों का सत्यापन अपने अनुभवों के आधार पर करता है तथा मनोवैज्ञानिक वैज्ञानिक विधियों द्वारा।

3.4 अभिवृत्ति का विकास तथा निर्माण (Development and Formation of Attitudes)

अभिवृत्ति एक अर्जित प्रवृत्ति है किंतु इसके विकास में बहुत तरह के कारकों का प्रभाव पड़ता है। समाज मनोवैज्ञानिकों ने अभिवृत्ति के विकास को प्रभावित करने वाले कारकों से सम्बन्धित कई प्रयोग किये हैं। भिन्न-भिन्न प्रयोगों के आधार पर समाज मनोवैज्ञानिकों ने निष्कर्ष के रूप में कुछ ऐसे कारकों की ओर संकेत किया है जिससे अभिवृत्ति का निर्माण एवं विकास प्रभावित होता है। कुछ महत्वपूर्ण कारक निम्नांकित हैं—

3.4.1. आवश्यकता पूर्ति— जिस व्यक्ति, वस्तु तथा घटना से व्यक्ति को लक्ष्य की प्राप्ति होती है एवं आवश्यकता की पूर्ति होती है, उसके प्रति उनकी अभिवृत्ति अनुकूल होती है तथा जिस व्यक्ति, वस्तु एवं घटना से लक्ष्य की प्राप्ति में बाधा उत्पन्न होती है एवं आवश्यकता की पूर्ति नहीं होती है, उनके प्रति व्यक्ति की अभिवृत्ति प्रतिकूल हो जाती है। इस तथ्य का प्रयोगात्मक समर्थन रोजेनवर्ग के अध्ययन से मिलता है। इस अध्ययन में कॉलेज के 120 छात्रों ने भाग लिया। अध्ययन के निष्कर्ष में उन्होंने पाया कि जो वस्तुएं छात्रों के लक्ष्य की प्राप्ति में सहायक थीं, उनके प्रति उनकी अनुकूल अभिवृत्ति बन गयी तथा जिन वस्तुओं से उन्हें लक्ष्य-प्राप्ति में सहायता नहीं होती थी उनके प्रति उन छात्रों की अभिवृत्ति

प्रतिकूल बन गयी। इस अध्ययन से यह स्पष्ट हो जाता है कि आवश्यकता पूर्ति एक महत्वपूर्ण कारक है जिससे व्यक्ति की अभिवृत्ति का निर्माण होता है।

3.4.2. प्रदत्त सूचनाएँ— अभिवृत्ति के निर्माण में व्यक्ति की दी गयी सूचनाओं की भी महत्वपूर्ण भूमिका होती है। आधुनिक समाज में भिन्न-भिन्न माध्यमों से व्यक्ति को सूचनाएं दी जाती हैं। इन माध्यमों में रेडियो, टेलीविजन, अखबार, पत्रिकाएं आदि प्रमुख हैं। इन सूचनाओं के अनुसार व्यक्ति अपनी अभिवृत्ति विकसित करता है। इन माध्यमों के अलावा अन्य माध्यमों से भी व्यक्ति को सूचनाएं मिलती हैं और उनके अनुसार व्यक्ति अपनी अभिवृत्ति विकसित करता है। माता-पिता, भाई-बहनों, साथियों एवं पड़ोसियों से भी व्यक्ति को सूचनाएं मिलती हैं और इसके अनुसार भी व्यक्ति अभिवृत्ति का विकास करता है। प्रयोगात्मक परिणामों के आधार पर यह स्पष्ट हो गया है कि सभी तरह की सूचनाओं का प्रभाव अभिवृत्ति के विकास में समान रूप से नहीं पड़ता है। वास्तव में सूचनाओं की प्रभावशीलता कई बातों पर निर्भर करती है जिसमें सूचना के स्रोत की विश्वसनीयता सबसे अधिक प्रधान है। मेयर्स के अनुसार, “यदि सूचना देने वाला स्रोत में व्यक्ति को पूरा विश्वास होता है तो वैसी परिस्थिति में दी गयी सूचना शत-प्रतिशत प्रभावकारी होती है एवं नयी अभिवृत्ति के विकास में सहायक होती है। फेस्टिंगर, कार्टराइट तथा हाबेरी आदि मनोवैज्ञानिकों द्वारा किये गये अध्ययनों से इस तथ्य की पुष्टि होती है।

3.4.3. सामाजिक सीखना— सामाजिक सीखने का प्रभाव भी अभिवृत्ति के विकास में काफी पड़ता है। जिस तरह से व्यवहार के भिन्न-भिन्न रूपों को व्यक्ति सीखता है, ठीक उसी तरह अभिवृत्ति के विकास में भी सीखने की प्रक्रिया की महत्वपूर्ण भूमिका होती है। समाज मनोवैज्ञानिकों द्वारा किये गये अध्ययनों से यह स्पष्ट है कि अभिवृत्ति के विकास में, सीखने के तीन प्रक्रियाओं का महत्वपूर्ण स्थान है। वे तीन प्रक्रियाएँ हैं—क्लासिकी अनुकूलन, साधनात्मक अनुकूलन तथा प्रेक्षणात्मक सीखना। अभिवृत्ति के विकास में सीखने की इन तीनों क्रियाओं के महत्व की व्याख्या निम्नांकित है—

- **क्लासिकी अनुकूलन—** क्लासिकी अनुकूलन सीखने का एक महत्वपूर्ण सिद्धान्त है। इस सिद्धान्त के अनुसार जब किसी तटस्थ उद्दीपन को अनुक्रिया उत्पन्न करने वाले उद्दीपक के साथ बार-बार उपस्थित किया जाता है तो वैसी परिस्थिति में कुछ समय के बाद तटस्थ उद्दीपन में भी उसी तरह की अनुक्रिया करने की क्षमता उत्पन्न हो जाती है। समाज मनोवैज्ञानिकों का विचार है कि क्लासिकी अनुकूलन के इस नियम द्वारा हम दिन-प्रतिदिन में अनेक अभिवृत्तियों को सीखते हैं। उदाहरणार्थ, एक बच्चा अपने पिता को जब बार-बार यह कहते सुनता है कि अमेरिकन साहसी, मेहनती, ईमानदार व्यक्ति होते हैं, तो धीरे-धीरे वह अमेरिकन के प्रति एक अनुकूल अभिवृत्ति विकसित कर लेता है। प्रारंभ में ‘अमेरिकन’ शब्द उस बच्चे के लिये एक तटस्थ शब्द था जिसके प्रति किसी तरह की अभिवृत्ति नहीं थी। उसी तरह से जब बच्चा अपने पिता से प्रायः यह सुनता है कि ‘हरिजन’ गंदे एवं पिछड़े होते हैं, तो वह भी धीरे-धीरे ‘हरिजन’ के प्रति वैसी ही अभिवृत्ति विकसित कर लेता है। कुछ समाज मनोवैज्ञानिकों ने प्रयोग द्वारा भी यह स्पष्ट किया है कि क्लासिकी अनुकूलन के नियमानुसार किस तरह से अभिवृत्ति विकसित होती है। स्टॉट्स तथा स्टॉट द्वारा किया गया प्रयोग काफी लोकप्रिय है। इन्होंने दो शब्द को एक पर्दे पर प्रयोज्यों के सामने दिखलाया। वे दो शब्द थे—‘डच’ तथा ‘स्वेडिश’। इनमें से एक, राष्ट्रीयता शब्द दिखलाने के बाद धनात्मक विशेषण जैसे ‘खुश’ ‘पवित्र’, ‘मेहनती’ आदि शब्दों को, प्रयोगकर्त्ता बोलकर प्रयोज्यों को सुनाते थे तथा दूसरा राष्ट्रीयता शब्द को दिखलाने के बाद ऋणात्मक विशेषण जैसे—गंदा, कुरूप, तीखा आदि प्रयोगकर्त्ता द्वारा बोलकर, प्रयोज्यों को सुनाया जाता था। परिणाम में देखा गया कि वैसे राष्ट्रीयता शब्द के प्रति अनुकूल अभिवृत्ति प्रयोज्यों में विकसित हो गयी जो धनात्मक विशेषण द्वारा युग्मित किये गये थे तथा जिस राष्ट्रीयता शब्द को ऋणात्मक विशेषण द्वारा युग्मित किया गया उसके प्रति ऋणात्मक अभिवृत्ति प्रयोज्यों में विकसित हो गयी। लोर्ह तथा स्टॉट्स द्वारा बाद में किये गये अध्ययनों से यह स्पष्ट हो गया कि क्लासिकी अनुकूलन द्वारा किसी खास भाषा या संस्कृति के लोगों में ही नहीं अपितु सभी भाषा-भाषी एक संस्कृति में पले व्यक्तियों में इस नियम द्वारा अभिवृत्ति का विकास होता है।
- **साधनात्मक अनुकूलन—** साधनात्मक अनुकूलन का नियम सीखने का एक दूसरा महत्वपूर्ण नियम है जिससे अभिवृत्ति का विकास प्रभावित होता है। साधनात्मक अनुकूलन का नियम इस बात पर

बल देता है जिस अनुक्रिया को करने से उसे दण्ड मिलता है, उसे वह दोहराना नहीं चाहता है। बच्चों में वैसी ही अभिवृत्ति बहुत जल्द विकसित होती है जैसा कि उनके माता-पिता की होती है। इसका मुख्य कारण यह है कि माता-पिता बच्चों को समान अभिवृत्ति दिखलाने पर उसे पुरस्कार देते हैं अर्थात् उसके व्यवहारों की प्रशंसा करते हैं, उन्हें चाकलेट, बिस्कुट आदि खाने के लिए देते हैं और यहां तक कि कुछ पैसे भी देते हैं। ठीक उसी तरह से अपने माता-पिता की अभिवृत्ति के विपरीत अभिवृत्ति दिखलाने पर उन्हें डांट-फटकार और कभी-कभी शारीरिक दण्ड भी दिया जाता है। फलस्वरूप, वे इस तरह की अभिवृत्ति नहीं विकसित कर पाते हैं। अभिवृत्ति निर्माण में साधनात्मक अनुकूलन के महत्त्व को दिखलाने के लिये कुछ प्रयोग भी किये गये हैं। जैसे, इन्सको एवं मैल्सन ने अपने प्रयोग में यह स्पष्ट किया है कि जब प्रयोगकर्ता द्वारा प्रयोज्य को थोड़ा शाब्दिक पुरस्कार दिया जाता है, तो वैसी परिस्थिति में प्रयोज्य बहुत ही जल्द एक अभिवृत्ति विकसित कर लेता है। करपेलमैन तथा हिमेलफार्ब ने भी इसी तरह के प्रयोगात्मक सबूत द्वारा अपने प्रयोग की पुष्टि की है।

- **प्रेक्षणात्मक सीखना**— प्रेक्षणात्मक सीखना का अर्थ यह है कि मानव दूसरे की क्रियाओं को एवं उसके परिणामों को देखकर नयी अनुक्रिया करना सीख लेता है। इस नियम के प्रमुख प्रवर्तक बैण्डुरा हैं। समाज मनोवैज्ञानिकों का विचार है कि प्रेक्षणात्मक सीखना द्वारा बच्चे प्रायः वैसी अभिवृत्ति को भी अपने में विकसित कर लेते हैं। उदाहरणार्थ, यदि एक पिता अपने पुत्र को ईमानदारी की सबक सिखलाता है परन्तु स्वयं बेईमानी का कार्य करता है, तो पुत्र पिता की बातों को कम महत्त्व देते हुए स्वयं भी बेईमानी करने की अभिवृत्ति विकसित कर लेता है क्योंकि वह अपने पिता के गलत एवं कपटी क्रियाओं का प्रेक्षण करता है। ब्राएन, रेडफिल्ड तथा मैडर एवं रशटन द्वारा किये गये अध्ययनों से इस तथ्य की पुष्टि होती है।

3.4.4 समूह सम्बन्धन— व्यक्ति की अभिवृत्ति के निर्माण में समूह सम्बन्धन का भी प्रभाव पड़ता है। समूह सम्बन्धन से तात्पर्य व्यक्ति का किसी खास समूह के सम्बन्ध कायम करने से होता है। यह निश्चित है कि जब व्यक्ति अपना सम्बन्ध किसी खास समूह से जोड़ता है तो वह उस समूह के मूल्यों, मापदण्डों, विश्वासों, तौर-तरीकों को भी स्वीकार करता है। ऐसी परिस्थिति में व्यक्ति इन मूल्यों एवं मानदण्डों के स्वरूप के अनुसार अपने में एक नयी अभिवृत्ति विकसित करता है। अनेक मनोवैज्ञानिक अध्ययनों से भी यह स्पष्ट हो गया है कि समूह सम्बन्धन द्वारा व्यक्ति की अभिवृत्ति विकसित होती है। समाज मनोवैज्ञानिकों ने निम्नलिखित दो प्रकार के समूह के सम्बन्धन का अभिवृत्ति विकास पर पड़ने वाले प्रभावों का अध्ययन किया है—

(क) प्राथमिक समूह— प्राथमिक समूह वह समूह है जिसमें सदस्यों की संख्या साधारणतः कम होती है तथा जिसके सदस्यों में घनिष्ठ एवं आमने-सामने का सम्बन्ध होता है। जैसे— परिवार, खिलाड़ियों का समूह आदि। चूंकि प्राथमिक समूह के सदस्यों में अधिक सहयोग, भाईचारा एवं सहानुभूति का गुण पाया जाता है अतः इसका हर एक सदस्य ठीक वैसी ही अभिवृत्ति विकसित करता है जैसी कि अन्य सदस्यों की होती है। भाई की अभिवृत्ति के अनुसार बहन की अभिवृत्ति के अनुकूल, भाई-बहन की अभिवृत्ति का विकास माता-पिता की अभिवृत्ति के अनुसार प्राथमिक समूह के इसी प्रभाव के कारण होता है। बच्चा जब जन्म लेता है तक उसका मस्तिष्क एक कोरा कागज होता है। परिवार के अन्य सदस्यों, विशेषकर अपने माता-पिता के व्यवहारों एवं उनके साथ हुई अंतःक्रियाओं से उत्पन्न अनुभवों के अनुसार वह एक विशेष अभिवृत्ति विकसित करता है। जिन व्यक्तियों एवं घटनाओं के प्रति माता-पिता की अभिवृत्ति अनुकूल होती है, बच्चों में भी उन घटनाओं एवं व्यक्तियों के प्रति अनुकूल अभिवृत्ति विकसित हो जाती है। दूसरी तरफ, जिन चीजों के प्रति माता-पिता की अभिवृत्ति प्रतिकूल होती है, बच्चे भी उन चीजों के प्रति एक प्रतिकूल अभिवृत्ति विकसित कर लेते हैं। सिर्फ बच्चे ही नहीं बल्कि परिवार के अन्य सदस्य भी अपनी अभिवृत्ति उसी दिशा में विकसित कर लेते हैं। इस तरह से हम देखते हैं कि प्राथमिक समूह के प्रभाव के कारण समूह के सदस्यों की अभिवृत्ति में एकरूपता पायी जाती है। कैम्पवेल, गुरीन तथा मिलर ने तीन तरह के प्राथमिक समूहों की राजनैतिक अभिवृत्ति के निर्माण में उच्च एकरूपता पायी है। फिर अन्य मनोवैज्ञानिकों जैसे लेजार्सफेल्ड तथा सहयोगियों तथा बेरेलसन, लेजार्सफेल्ड एवं मैकफी ने भी

राजनीतिक अभिवृत्तियों के निर्माण में प्राथमिक समूह जैसे परिवार के महत्त्व को काफी स्पष्टतापूर्वक दिखलाया है।

क्रेच, क्रचफिल्ड तथा बैलेची के अनुसार, प्राथमिक समूह के प्रभाव के कारण अभिवृत्ति में जो एकरूपता आती है, उसके निम्नांकित चार कारण हैं—

- प्राथमिक समूह के सदस्यों पर अनुपालना के लिए सामूहिक दबाव अधिक होता है। इसके कारण ऐसे सदस्यों की अभिवृत्ति में एकरूपता पायी जाती है।
- प्राथमिक समूह एक ऐसी परिस्थिति उत्पन्न करता है जहां किसी सदस्य की अभिवृत्ति अन्य सदस्यों की अभिवृत्ति के अनुकूल होती है। इससे भी सभी सदस्यों की अभिवृत्ति में एकरूपता या समानता बढ़ती है।
- किसी भी प्राथमिक समूह के सदस्यों को एक समान सूचनाएं दी जाती हैं। फलतः उनके अभिवृत्तियों में एकरूपता आती है।
- प्राथमिक समूह का नया सदस्य अन्य सदस्यों की अभिवृत्ति को समूहस्वीकृति प्राप्त करने के उद्देश्य से अपनाता है।

(ख) संदर्भ समूह— अभिवृत्ति के निर्माण एवं विकास में, संदर्भ समूह का भी महत्त्वपूर्ण योगदान है। संदर्भ समूह से तात्पर्य ऐसे समूह से होता है जिसके साथ व्यक्ति आत्मीकरण कर लेता है चाहे वह उस समूह का सदस्य औपचारिक रूप से हो या न हो। प्रायः संदर्भ के लक्ष्य, मूल्य आदि को अपनाकर वह अपने व्यवहार एवं चरित्र में ठीक वैसा ही परिवर्तन लाता है जैसा कि इन लक्ष्यों एवं मूल्यों से अपेक्षित है। स्पष्ट है उस समय संदर्भ समूह का प्रभाव अभिवृत्ति के निर्माण में काफी अधिक होता है। उदाहरणार्थ, जब एक मध्यवर्गीय परिवार का व्यक्ति उच्च वर्गीय परिवार को अपना संदर्भ समूह मानता है तो स्वभावतः अपनी अभिवृत्ति में परिवर्तन करके वह एक ऐसी अभिवृत्ति विकसित करेगा जो उच्च वर्गीय परिवार के सदस्यों की अभिवृत्ति के अनुकूल हो जाती है। रॉसी तथा रॉसी ने अपने अध्ययन के आधार पर अभिवृत्ति निर्माण में धार्मिक संदर्भ समूह के महत्त्व को दिखलाया है। मेयर्स के अनुसार संदर्भ समूह व्यक्ति को नयी अभिवृत्ति के निर्माण में इसलिए सहायता प्रदान करता है क्योंकि संदर्भ समूह का मानक उसे वैसा करने के लिए बाध्य करता है।

3.4.5 सांस्कृतिक कारक— अभिवृत्ति के निर्माण एवं विकास में सांस्कृतिक कारकों का भी महत्त्वपूर्ण स्थान है। प्रत्येक प्रकृति का अपना मानदण्ड, मूल्य, परम्पराएं, धर्म आदि होते हैं। प्रत्येक व्यक्ति का पालन-पोषण किसी न किसी संस्कृति में ही होता है। फलस्वरूप उसका समाजीकरण इन्हीं सांस्कृतिक कारकों द्वारा अधिक प्रभावित होता है। व्यक्ति अपनी अभिवृत्ति इन्हीं सांस्कृतिक प्रारूप के अनुसार विकसित करता है। एक समाज की संस्कृति दूसरे समाज की संस्कृति से भिन्न होती है। इसी सांस्कृतिक विभिन्नता के कारण भिन्न-भिन्न संस्कृति के व्यक्तियों की अभिवृत्ति में भिन्नता पायी जाती है। परन्तु एक ही संस्कृति के सभी लोगों की अभिवृत्ति एक समान होती है। उसका सबसे अच्छा स्पष्टीकरण मुस्लिम संस्कृति तथा हिन्दू संस्कृति की तुलना करने पर मिलता है। मुस्लिम संस्कृति में पले व्यक्तियों की अभिवृत्ति मौसरे एवं चचेरे भाई-बहनों में शादी के प्रति अनुकूल होती है परन्तु हिन्दू संस्कृति में पले व्यक्तियों की अभिवृत्ति इस तरह की शादी के प्रति प्रतिकूल होती है। उसी तरह से मरने के बाद व्यक्ति का अंतिम संस्कार किस ढंग से किया जाए इसमें भी हिन्दू एवं मुस्लिम संस्कृति में पले व्यक्तियों की अभिवृत्ति अलग-अलग होती है। हिन्दुओं की अभिवृत्ति शव को जला देने के प्रति अनुकूल तथा दफना देने के प्रतिकूल होती है। इसके विपरीत मुसलमानों की अभिवृत्ति शव को दफना देने के अनुकूल तथा जला देने के प्रतिकूल होती है। कुछ मानवशास्त्रियों ने अध्ययनों के आधार पर इस बात की पुष्टि की है कि सांस्कृतिक कारकों का प्रभाव अभिवृत्ति के विकास में काफी पड़ता है। जैसे, मीड ने अपने अध्ययन के आधार पर यह स्पष्ट किया है कि सांस्कृतिक विभिन्नता के कारण ऐरापेश जाति के लोगों की अभिवृत्ति में उदारता, सहयोग तथा दयालुता आदि की भावना अधिक होती है जबकि मुण्डुगुमोर जाति के लोगों की अभिवृत्ति ठीक इसके विपरीत अर्थात् आक्रामकता तथा कटुता अधिक पायी जाती है। इसी तरह से रूथ बेनेडिक्ट ने भी अपने अध्ययन में सांस्कृतिक विभिन्नताओं के कारण तीन जातियों अर्थात् क्वाकियूटल, डोबू तथा जूनी जातियों की अभिवृत्तियों में भिन्नता होना बतलाया है।

3.4.6 व्यक्तित्व कारक— अभिवृत्ति के निर्माण एवं विकास में व्यक्तित्व शीलगुणों का भी अधिक प्रभाव पड़ता है। व्यक्ति उन अभिवृत्तियों को जल्द सीख लेता है जो उसे व्यक्तित्व के शीलगुणों के अनुकूल होती हैं। समाज मनोवैज्ञानिकों ने भिन्न-भिन्न तरह का अभिवृत्तियों जैसे धार्मिक अभिवृत्ति, राजनैतिक अभिवृत्ति तथा संजातिकेन्द्रवाद में व्यक्तित्व कारकों के महत्त्व का अध्ययन किया है। जैसे फ्रेंच ने अपने अध्ययन में धार्मिक अभिवृत्ति के विकास में व्यक्तित्व के कारकों के महत्त्व को दिखलाया है। इन्होंने अपने अध्ययन में पाया है कि अधिक संगठित धार्मिक अभिवृत्ति रखने वाले व्यक्तियों का शीलगुण कम संगठित धार्मिक अभिवृत्ति रखने वाले व्यक्तियों से सम्बन्धित ऐसे तथ्यों को खुलकर स्वीकार नहीं किया करते थे। अतः ऐसे लोगों में दमन करने की प्रवृत्ति अधिक थी। मैकलोस्काई ने राजनैतिक अभिवृत्ति में व्यक्तित्व कारकों के महत्त्व को दिखलाया है। उन्होंने अपने अध्ययन में पाया कि कम पढ़े-लिखे तथा मंद बुद्धि के लोगों में अनुदार अभिवृत्ति अधिक पायी जाती है। इन्होंने अपने अध्ययन के आधार पर यह भी बताया कि अधिक-से-अधिक अनुदार अभिवृत्ति रखने वाले व्यक्ति अधिक शक्की, झगड़ालू, दोषारोपण करने वाले, वैरपूर्ण, आक्रामक आदि होते हैं। ऐसे लोग अधिक चिंतित, दोष तथा अपूर्णता भाव से भी ग्रस्त होते हैं। ऐडोरनो तथा उनके सहयोगियों ने संजातिकेन्द्रवाद जैसी अभिवृत्ति के विकास में व्यक्तित्व शीलगुणों के महत्त्व का अध्ययन किया है। संजातिकेन्द्रवाद एक ऐसी अभिवृत्ति है जिसमें व्यक्ति अपने समूह या वर्ग के अन्य सभी समूहों या वर्गों की तुलना में श्रेष्ठ समझता है। इन्होंने अपने अध्ययन में संजातिकेन्द्रवाद को मापने के लिए एक मापनी बनाई जिसे एफ-स्केल कहा गया। इस स्केल पर आये प्राप्तांक के आधार पर इन्होंने प्रयोज्य के दो समूह तैयार किए—अधिक संजातिकेन्द्रवाद की अभिवृत्ति दिखलाने वाला समूह तथा कम संजातिकेन्द्रवाद की अभिवृत्ति दिखलाने वाला समूह। इन दोनों समूहों के व्यक्तित्व में काफी भिन्नता पायी गयी। जैसे— अधिक संजातिकेन्द्रवाद दिखलाने वाले व्यक्ति सामाजिक रूप से अवांछनीय विचचारों का खुलकर विरोध करते थे, सामाजिक मूल्यों के प्रति काफी आदर दिखलाते थे, व्यक्तिगत सम्बन्धों में प्रभुत्व एवं शक्ति का प्रयोग अधिक पसन्द करते थे तथा इनका व्यक्तित्व संगठन अधिक दृढ़ था। कम संजातिकेन्द्रवाद दिखलाने वाले व्यक्तियों में इनके विपरीत गुण देखे गये।

3.4.7 रूढ़िकृतियाँ— प्रत्येक समाज में कुछ रूढ़िकृतियाँ होती हैं जिनसे भी व्यक्ति की अभिवृत्ति का विकास प्रभावित होता है। रूढ़िकृतियों से तात्पर्य किसी वर्ग या समुदाय के लोगों के बारे में स्थापित सामान्यीकरण से होता है। उदाहरण के लिए हमारे समाज में महिलाओं के प्रति एक रूढ़िकृति है कि वे पुरुषों की अपेक्षा अधिक धार्मिक एवं परामर्शग्राही होती हैं। फलस्वरूप, समाज में महिलाओं के प्रति एक विशेष प्रकार की अभिवृत्ति सामान्य लोगों में पायी जाती है। उसी तरह से हिन्दू समाज में एक महत्त्वपूर्ण रूढ़िकृति है कि गाय हमारी माता है परन्तु मुस्लिम समुदाय में उस प्रकार की रूढ़िकृति नहीं पायी जाती है। फलस्वरूप, गाय के प्रति हिन्दुओं की अभिवृत्ति मुस्लिम अभिवृत्ति की अपेक्षा अधिक अनुकूल होती है। इसी तरह के कई ऐसे उदाहरण दिये जा सकते हैं जिससे यह स्पष्ट हो जाता है कि रूढ़िकृतियों द्वारा व्यक्ति की अभिवृत्ति का विकास एवं निर्माण होता है। इस सम्बन्ध में कुछ प्रयोगात्मक सबूत भी कुछ समाज मनोवैज्ञानिकों द्वारा प्रदत्त किए गए हैं।

3.5 अभिवृत्ति परिवर्तन (Attitue Change)

बहुधा ऐसा प्रतीत होता है कि लोग किसी व्यक्ति या वस्तु के बारे में जो अभिवृत्ति बना लेते हैं वे स्थिर हो जाती हैं तथा जीवन पर्यन्त चलती ही रहती हैं। परन्तु सभी अभिवृत्तियों के बारे में ऐसा नहीं है। कुछ अभिवृत्तियाँ समय के परिवर्तन के साथ बदलती रहती हैं या तो वे पूर्णतः परिवर्तित हो जाती हैं या कुछ बदल जाती हैं, या उनका स्थानापन्न हो जाता है। जिसने बचपन से प्याज नहीं खाया हो, उसकी अभिवृत्ति उसके बारे में ऋणात्मक होगी। यदि वह युवावस्था में कुछ अवसरों पर प्याज खा ले तथा डॉक्टर व पुस्तकों आदि द्वारा वह उसके लाभों के बारे में जानकारी प्राप्त कर ले तो प्याज के प्रति उसकी अभिवृत्ति परिवर्तित हो सकती है। सिगरेट पीना छोड़ देने के बाद भी व्यक्ति किसी विशेष छाप की सिगरेट के प्रति धनात्मक अभिवृत्ति रख सकता है, या वह सिगरेट के प्रति ऋणात्मक तथा सिगार के प्रति धनात्मक अभिवृत्ति उत्पन्न कर सकता है।

समाज मनोविज्ञान में “अभिवृत्ति परिवर्तन” विषय अति प्रमुखता का विषय है जिसके ऊपर बहुत अध्ययन हुए हैं। विभिन्न अध्ययनों के आधार पर यह स्पष्ट होता है कि सामाजिक परिवर्तन के साथ

अभिवृत्ति परिवर्तन में सुगमता होती है। भारत में अंग्रेजों के समय छुआ-छूत व जाति पाति का अधिक बोलबाला था। हरिजनों को लोग छूते तक न थे। स्वाधीनता के बाद समाज का उत्थान हुआ तथा एक बड़ा परिवर्तन आया। लोगों में जाति-पाति का भेद कम होने लगा व हरिजन अछूत नहीं रह गये। अंतर्जातीय विवाह भी होने लगे। जब समाज बदल गया तो क्या फिर लोगों की अभिवृत्ति परिवर्तन की आवश्यकता है? यदि पूरे समाज की अभिवृत्ति का पूर्णतः परिवर्तन लाने की सदा आवश्यकता रहती है तो उपरोक्त प्रश्न का उत्तर देने के लिये हम निम्न बातों की ओर ध्यान दे सकते हैं—

- कुछ अभिवृत्तियां समाज के उत्थान में बाधक होती हैं, उन्हें पूर्णतः समाप्त करना आवश्यक होता है। उदाहरणार्थ काले-गोरे का भेद, जाति-पाति, छुआछूत आदि की अभिवृत्तियां समाज में घुन का कार्य करती हैं, उन्हें दूर करना आवश्यक है।
- कुछ ऐसी अभिवृत्तियां हैं जो केवल रूढ़िवादिता पर आधारित होती हैं न कि गुण व योग्यता पर। प्याज, लहसुन खाना बुरा है चाहे उसमें कितने ही गुण हों, निम्न जाति के व्यक्ति को नौकरी में न लेना चाहे वह विशेषतः योग्य हो— इस प्रकार की अभिवृत्तियां ऐसी हैं जिनमें परिवर्तन लाना आवश्यक है।
- कुछ ऐसी अभिवृत्तियां होती हैं जिन्हें समूल नष्ट करने की आवश्यकता होती है। आज प्रजातांत्रिक समय में कुछ तत्त्व ऐसे भी होते हैं जो प्रजातंत्र विरोधी हो सकते हैं। ऐसे तत्त्वों की या अभिवृत्तियों की समाप्ति आवश्यक है।
- व्यक्तियों की विशेष अवांछित अभिवृत्ति में इसलिये भी परिवर्तन लाना आवश्यक है कि वे उस अभिवृत्ति को अधिक दिन न चलायें, या दूसरों में वे उसके बीज न बोयें। यदि मां बाप की कोई अभिवृत्ति बदल जाय तो वे अपने बच्चों में फिर उस अवांछित अभिवृत्ति को फैलाने से बचा सकते हैं।
- कुछ वांछित अभिवृत्तियों के विकास के लिए व्यक्तियों की अभिवृत्ति परिवर्तन आवश्यक है। यदि प्याज के प्रति व्यक्तियों की अभिवृत्ति धनात्मक करनी है तो वर्तमान की उनकी प्याज के प्रति ऋणात्मक अभिवृत्ति में परिवर्तन करना आवश्यक हो जाता है।
- कुछ अभिवृत्तियों के कुछ तत्त्वों में परिवर्तन लाने की भी आवश्यकता होती है चाहे सम्पूर्णतः परिवर्तित करने की आवश्यकता न हो। यदि जाति-पाति व छुआछूत को पूर्णतः उखाड़ा नहीं जा सकता तो उसकी कुछ बातों को समाप्त किया जा सकता है।
- अभिवृत्तियों में परिवर्तन करके अंतर्राष्ट्रीय सद्भाव बढ़ाया जा सकता है। विभिन्न राष्ट्रों में मित्रता व व्यापार की संभावना को बढ़ाया जा सकता है।
- व्यक्तियों के संवेगों को नियंत्रित करने के लिये उनकी अभिवृत्तियों को परिवर्तित करना आवश्यक है। इससे व्यक्ति के व्यवहारों में सुदृढ़ता व सामंजस्यता बढ़ाई जा सकती है।
- अभिवृत्ति परिवर्तन द्वारा व्यक्ति की आवश्यकतायें व मांगों को भी आवश्यकतानुसार परिवर्तित किया जा सकता है।

3.6 अभिवृत्ति परिवर्तन के कारक

समाज मनोवैज्ञानिकों एवं समाजशास्त्रियों द्वारा किये गये अध्ययनों से यह स्पष्ट होता है कि अभिवृत्ति परिवर्तन दो प्रकार के होते हैं—संगत परिवर्तन तथा असंगत परिवर्तन। किसी एक व्यक्ति की अभिवृत्ति किसी व्यक्ति या घटना के प्रति अनुकूल से परिवर्तित होकर और अधिक अनुकूल हो सकती है। उसी तरह से उसकी अभिवृत्ति प्रतिकूल से और अधिक प्रतिकूल भी हो सकती है। अभिवृत्ति में ये दोनों परिवर्तन संगत परिवर्तन के उदाहरण हैं। अतः अभिवृत्ति में संगत परिवर्तन वैसे परिवर्तन को कहा जाता है जिसमें परिवर्तन पहले की ही दिशा में होते हैं। असंगत परिवर्तन इस परिवर्तन को कहा जाता है जिसमें अभिवृत्ति अनुकूल से बदलकर प्रतिकूल या प्रतिकूल से बदलकर अनुकूल हो जाती है। स्पष्ट है कि असंगत परिवर्तन में अभिवृत्ति की दिशा बदल जाती है। अभिवृत्ति परिवर्तन से तात्पर्य इन दोनों या दोनों में से किसी एक तरह के परिवर्तन से होता है।

अभिवृत्ति परिवर्तन के क्षेत्र में किये गये अध्ययन से यह स्पष्ट हो गया है कि संगत परिवर्तन तथा असंगत परिवर्तन में एक तरह का नियम सम्मिलित नहीं होता है। इन दोनों तरह के परिवर्तनों से सम्बन्धित नियम अलग-अलग हैं, जो इस प्रकार हैं—

- अन्य बातें समान रहने पर, अभिवृत्ति में संगत परिवर्तन लाना असंगत परिवर्तन की अपेक्षा हमेशा आसान है।
- यदि व्यक्ति की वर्तमान अभिवृत्ति के तत्त्वों में अधिक शक्ति, आपस में घनिष्ठ सम्बन्ध, स्थिरता तथा संगति हो, तो वैसी परिस्थिति में अभिवृत्ति में संगत परिवर्तन लाना असंगत परिवर्तन की अपेक्षा तुलनात्मक रूप से अधिक सरल होता है।

उपर्युक्त विवरण से यह स्पष्ट है कि अभिवृत्ति परिवर्तन में जो संगत या असंगत परिवर्तन होते हैं, वे अलग-अलग नियमों द्वारा निर्धारित होते हैं। समाज मनोवैज्ञानिकों तथा समाजशास्त्रियों द्वारा किये गये अध्ययनों से यह स्पष्ट हो गया है कि अभिवृत्ति परिवर्तन कई कारकों द्वारा प्रभावित होता है। कुछ प्रमुख कारकों की व्याख्या निम्नतः है—

3.6.1 संदर्भ समूह में परिवर्तन— समाज मनोवैज्ञानिकों द्वारा किये गये अध्ययन से यह स्पष्ट है कि व्यक्ति के संदर्भ समूह में परिवर्तन कर उनकी अभिवृत्ति में भी परिवर्तन हो जाता है। न्यूकाम्ब ने एक अध्ययन से इसे स्पष्ट किया। उन्होंने वेनिंगटन कॉलेज की महिला छात्राओं पर कई वर्षों तक अध्ययन किया। कॉलेज के प्रथम वर्ष में ऐसी छात्राओं की अभिवृत्ति की माप की गयी और पाया गया कि इनकी अभिवृत्ति में उदारता अधिक थी। न्यूकाम्ब के अनुसार ऐसा स्वाभाविक ही था क्योंकि वे सभी धनी परिवार से आई थी और उनके माता-पिता स्वयं ही अधिक उदार थे। कॉलेज का वातावरण ऐसा था कि इससे उदार अभिवृत्ति को अधिक प्रोत्साहन मिलता था। यहां तक कि कॉलेज के अधिकारियों का छात्राओं में उदारता की अभिवृत्ति उत्पन्न करना भी प्रमुख उद्देश्यों में से एक था। कॉलेज के अंतिम वर्ष में जब इन छात्राओं की अभिवृत्ति मापी गयी तो यह देखा गया कि अधिकतर छात्राओं की अभिवृत्ति अनुदार से बदलकर उदार हो गयी थी। न्यूकाम्ब के अनुसार ऐसा इस कारण संभव हो सका क्योंकि छात्राओं के संदर्भ समूह बदलकर कॉलेज को गया था जहां उदार अभिवृत्ति की प्रधानता थी।

3.6.2 समूह सम्बन्ध में परिवर्तन— समूह सम्बन्ध में परिवर्तन का असर अभिवृत्ति परिवर्तन पर सीधा पड़ता है। यदि व्यक्ति अपने पुराने या वर्तमान समूह से सम्बन्ध तोड़कर एक नये समूह से सम्बन्ध जोड़ लेता है तो स्वभावतः वह अपनी अभिवृत्ति में नये समूह के नियमों के अनुसार परिवर्तन लाता है। उदाहरणार्थ, कोई एम.एल.ए. या एम.पी. जनता पार्टी को छोड़कर कांग्रेस पार्टी से अपना सम्बन्ध जोड़ता है तो स्वभावतः वह अपनी मनोदशा में एक ऐसा परिवर्तन लाता है जिससे उसकी अभिवृत्ति एवं अन्य व्यवहार कांग्रेस पार्टी के अन्य सदस्यों के अनुकूल हो जाती है।

जब समूह सम्बन्धन में परिवर्तन होता है, तब व्यक्ति की अभिवृत्ति की परिवर्तनशीलता दो बातों पर निर्भर करती है—समूह की विशेषता तथा समूह की सदस्यता की विशेषता। समूह की विशेषता से तात्पर्य समूह के मानदण्ड, विश्वास तथा मूल्य आदि से होता है। यदि किसी व्यक्ति के लिए नया समूह, जिसमें वह सम्बन्धन चाहता है, का मानदण्ड अधिक आकर्षक है, समूह का विश्वास स्वीकार के योग्य है तथा समूह का मूल्य या मान महत्त्वपूर्ण है, तो वैसी परिस्थिति में व्यक्ति अपनी अभिवृत्ति में इस नये समूह के मानदण्डों, विश्वासों एवं मूल्यों के अनुसार जल्द ही परिवर्तन कर लेता है। समूह में व्यक्ति की सदस्यता की विशेषता से तात्पर्य नए समूह में व्यक्ति की सदस्यता की स्थिति एवं उसके महत्त्व से होता है। यदि नयी सदस्यता की स्थिति अधिक सराहनीय है एवं उसका महत्त्व तुलनात्मक रूप से अधिक है, तो व्यक्ति अपनी अभिवृत्ति में सदस्यता की मांग के अनुसार तुरंत परिवर्तन कर लेता है। होमान्स ने अपने अध्ययन के आधार पर यह स्पष्ट किया है कि यदि किसी व्यक्ति की स्थिति नये समूह में अधिक ऊंची होती है तथा साथ-ही-साथ उसमें लोकप्रियता अधिक होती है, तो वह अपने व्यवहार में समरूपता अधिक दिखलाता है अर्थात् अपनी अभिवृत्ति में नये समूह की सदस्यता की मांग के अनुसार जल्द ही परिवर्तन लाकर उसी के अनुसार व्यवहार करना प्रारम्भ कर देता है। बाद में अन्य मनोवैज्ञानिकों जैसे शेरीफ ने भी उपर्युक्त तथ्य की पुष्टि अपने प्रयोगात्मक अध्ययन के आधार पर की है।

3.6.3 अतिरिक्त सूचनाएं— अभिवृत्ति में परिवर्तन, व्यक्ति को दी गयी अतिरिक्त सूचनाओं के द्वारा भी होता है। व्यक्ति को रेडियो, टेलिविजन, समाचार पत्र के माध्यम से भिन्न-भिन्न तरह की सूचनाएं दी जाती हैं। इतना ही नहीं व्यक्ति स्वयं भी अन्य व्यक्तियों के साथ अंतःक्रिया करके भिन्न-भिन्न तरह की सूचनाएं प्राप्त करता है। इन सूचनाओं के फलस्वरूप व्यक्ति अपनी अभिवृत्ति में परिवर्तन लाता है। इन अतिरिक्त सूचनाओं के फलस्वरूप अभिवृत्ति में होने वाली परिवर्तनशीलता मूल रूप से इस बात पर निर्भर करती है कि उस परिस्थिति का स्वरूप क्या है जिनमें व्यक्ति को सूचनाएं दी गयी हैं। समाज मनोवैज्ञानिकों ने ऐसी परिस्थिति के तीन प्रकारों का वर्णन किया है और अभिवृत्ति पर उसके प्रभाव का अध्ययन किया है। ये तीन प्रकार इस प्रकार हैं—

3.6.3.1 सामूहिक परिस्थिति या एकान्त परिस्थिति— समाज मनोवैज्ञानिकों ने अपने अध्ययन के आधार पर यह स्पष्ट किया है कि यदि कोई सूचना व्यक्ति को एक ऐसी परिस्थिति में दी जाती है जहां बहुत से लोग एकत्रित होते हैं तो उसमें व्यक्ति की अभिवृत्ति परिवर्तन एकान्त परिस्थिति में दी गयी सूचना की अपेक्षा अधिक होती है। इन्केल्स ब्रोडवेक आदि ने अपने प्रयोगों के आधार पर उपयुक्त तथ्य की पुष्टि की है।

3.6.3.2 प्रकट एवं गुप्त वादा— जब व्यक्ति अपने मतों एवं विचारों को खुलकर लोगों के सामने रखता है तो उसे हम “प्रकट वादा की संज्ञा” देते हैं। परन्तु जब वह अपने विचारों एवं मतों को गुप्त रखता है अर्थात् दूसरे लोग उसके बारे में नहीं जान पाते हैं तो इसे गुप्त वादा कहा जाता है। मनोवैज्ञानिक अध्ययनों से यह स्पष्ट है कि प्रकट वादा की परिस्थिति में जब अभिवृत्ति परिवर्तन के उद्देश्य से कोई सूचना दी जाती है, तो वह सूचना अधिक प्रभावकारी नहीं होती। परन्तु यदि वही सूचना गुप्त वादा की परिस्थिति में दी जाती है तो उससे अभिवृत्ति परिवर्तन प्रभावकारी दिशा में होता है। होमलैण्ड, कैम्पबेल तथा ब्रोक ने एक अध्ययन किया जिसमें छात्रों के दो समूहों ने अपनी अभिवृत्ति एक महत्वपूर्ण विषय पर किया। मत देने की उम्र 21 से घटाकर 18 वर्ष किया जाय, के प्रति अध्ययन किया। दोनों समूहों के सदस्यों की अभिवृत्ति में परिवर्तन के लिए विशेष सूचना दी गयी परन्तु एक समूह को ‘प्रकट वादा’ की परिस्थिति में तथा दूसरे समूह को ‘गुप्त वादा’ की परिस्थिति में। प्रकट वादा की परिस्थिति में छात्रों को अपनी अभिवृत्ति व्यक्त करके अपना नाम लिख देना था और उनसे यह भी कहा गया था कि उनके विचारों एवं मतों को अखबार में प्रकाशित किया जायेगा। परन्तु ‘गुप्त वादा’ की परिस्थिति में छात्रों को सिर्फ अपना विचार एवं मत प्रकट करना था। न तो उन्हें अपना नाम लिखने को कहा गया और न उनसे यह कहा गया कि उनके मतों को प्रकाशित किया जायेगा। परिणाम में देखा गया था कि जिन छात्रों ने अपना मत एवं विचार अन्य लोगों के सामने किया था। उनकी अभिवृत्ति विशेष सूचना द्वारा बहुत कम परिवर्तित हुई। परन्तु जिन छात्रों ने अपना मत एवं विचार लोगों के सामने प्रकट नहीं किया था उनकी अभिवृत्ति विशेष सूचना द्वारा काफी अधिक परिवर्तित हो गयी। इस अध्ययन से यह स्पष्ट हुआ कि वादा करने की परिस्थिति भी एक महत्वपूर्ण कारक है जिससे अभिवृत्ति परिवर्तन प्रभावित होता है।

3.6.3.2 समूह निर्णय विधि— समाज मनोवैज्ञानिकों का मत कि जब कोई सूचना, समूह निर्णय विधि द्वारा दी जाती है तो उससे अभिवृत्ति में अधिक परिवर्तन आता है। समूह निर्णय विधि वह विधि है जहां कई व्यक्ति एक साथ मिलकर किसी विषय पर विमर्श करते हैं। इसी विमर्श के माध्यम से उन्हें अभिवृत्ति में परिवर्तन करने के लिए विशेष सूचना भी दी जाती है। समूह निर्णय द्वारा अभिवृत्ति में परिवर्तन करने के लिए सबसे पहला प्रयोग लेविन तथा उनके सहयोगियों द्वारा किया गया। इस अध्ययन में गृहणियों के कई समूह लिये गये। इसका उद्देश्य पशुओं के खास अंगों जैसे हृदय, गुर्दा आदि जिसे मनुष्यों द्वारा भोजन के रूप में कम खाया जाता है, के प्रति गृहणियों में चली आ रही नकारात्मक अभिवृत्ति में परिवर्तन लाना था। गृहणियों के कुछ समूहों को इन अंगों को भोज्य पदार्थ के रूप में ग्रहण किये जाने की उपयोगिताओं को व्याख्यान विधि द्वारा बताया गया। प्रयोगकर्ता द्वारा व्याख्यान के माध्यम से उनकी उपयोगिता बढ़ाने सम्बन्धी विशेष सूचना उन्हें दी गयी। गृहणियों के कुछ दूसरे समूहों में इन अंगों को भोज्य पदार्थ के रूप में ग्रहण किये जाने की उपयोगिताओं पर एक गोष्ठी का आयोजन किया गया जिसमें समूह की सभी गृहणियों ने खुलकर अपना मत व्यक्त किया। इसी गोष्ठी के माध्यम से

प्रयोगकर्ता ने ठीक वही सूचना दी जिसे व्याख्यान विधि द्वारा गृहणियों को दिया गया था। परिणाम देखा गया कि व्याख्यान विधि द्वारा दी गयी सूचनाओं द्वारा 30 प्रतिशत गृहणियों की अभिवृत्ति में परिवर्तन आया जबकि समूह निर्णय विधि द्वारा दी गयी सूचनाओं द्वारा 32 प्रतिशत गृहणियों ने अपनी अभिवृत्ति में परिवर्तन लाया। लेविन ने ही अपने अन्य अध्ययनों में ऐसा ही परिणाम प्राप्त कर पहले के परिणाम की पुष्टि की है।

3.6.4 प्रभावी या विश्वासोत्पादक संचारण—अभिवृत्ति परिवर्तन के अनेक कारकों में विश्वासोत्पादक संचारण एक प्रधान कारण है। विश्वासोत्पादक संचारण से तात्पर्य ऐसे तथ्यों से आकर्षक एवं मनमोहक होते हैं और व्यक्ति की अभिवृत्ति पर सीधा असर करते हैं। प्रायः ऐसे संचारण को जब व्यक्ति स्वीकार करता है, तो इससे उसकी अभिवृत्ति में परिवर्तन आ जाता है। इस ढंग का विश्वासोत्पादक संचारण का अच्छा उदाहरण टेलीविजन एवं रेडियो द्वारा किये गये विज्ञापनों में मिलता है। आये दिन रेडियो तथा टेलीविजन से हमें कहा जाता है कि अपने स्वास्थ्य की रक्षा करना है तो आप अमुक साबुन का ही प्रयोग करें क्योंकि उसमें मैल में छिपे कीटाणुओं को मारने की शक्ति सबसे अधिक है। यह प्रभावी या विश्वासोत्पादक संचारण का एक उदाहरण है।

होमलैण्ड, जैनिंस तथा केली द्वारा येल विश्वविद्यालय में अभिवृत्ति परिवर्तन में विश्वासोत्पादक संचार को दिखलाने के लिये काफी प्रयोग एवं शोध किये गये। इन प्रयोगकर्ताओं का सामान्य निष्कर्ष यही था कि विश्वासोत्पादक संचारण द्वारा अभिवृत्ति में होने वाला परिवर्तन मूलतः चार कारकों पर निर्भर करता है—संचारण का स्रोत, संचारण का विषय एवं विशेषता, संचार का माध्यम तथा श्रोतागण की विशेषता। अभिवृत्ति परिवर्तन में इन चारों कारकों के महत्त्व का वितरण इस प्रकार है—

3.6.4.1 संचारण का स्रोत या संचारक की विशेषता— अभिवृत्ति परिवर्तन करने के लिए जो तथ्य एवं सूचना दूसरे व्यक्ति को दी जा रही है उसका स्रोत कैसा है— इस पर अभिवृत्ति की परिवर्तनशीलता अधिक निर्भर करती है। होमलैण्ड, जैनिंस एवं केली का विचार है कि सूचना देने वाला व्यक्ति अर्थात् संचारक की कुछ खास विशेषताएं होती हैं जिससे उनके द्वारा दी गयी सूचनाएं अभिवृत्ति परिवर्तन के लिए काफी प्रभावी सिद्ध होती हैं। ऐसी विशेषताओं में संचारक की विश्वसनीयता, आकर्षकता, शक्ति आदि प्रमुख हैं।

(अ) विश्वसनीय संचारक— इस तरह के संचारक विशेषज्ञ एवं भरोसेयोग्य होते हैं। फलस्वरूप उनके द्वारा दी गयी किसी प्रकार की सूचना पर श्रोतागण अधिक विश्वास करते हैं और अपनी अभिवृत्ति में आसानी से परिवर्तन करते हैं। होमलैण्ड तथा विश ने एक प्रयोग किया जिसमें कॉलेज के छात्रों को एक ही तरह की सूचनाएं पढ़ने के लिये दी गईं। परन्तु कुछ छात्रों से कहा गया कि इन तथ्यों एवं सूचनाओं का स्रोत एक विश्वसनीय व्यक्ति है तथा कुछ छात्रों से कहा गया कि इन तथ्यों एवं सूचनाओं का स्रोत एक कम विश्वसनीय व्यक्ति है। परिणाम में देखा गया कि विश्वसनीय स्रोत होने पर 23 प्रतिशत छात्रों की अभिवृत्ति में परिवर्तन आया परन्तु कम विश्वसनीय स्रोत के होने पर मात्र 7 प्रतिशत छात्रों की अभिवृत्ति में परिवर्तन आया। यह भी देखा गया कि कुछ समय (4 सप्ताह) के बीतने के बाद विश्वसनीय स्रोत वाले छात्रों की अभिवृत्ति तथा कम विश्वसनीयता स्रोत वाले छात्रों की अभिवृत्ति में अंतर समान हो गया। दूसरे शब्दों में समय बीतने पर उच्च विश्वसनीय संचारक का प्रभाव कम हो गया तथा निम्न विश्वसनीय संचारक का प्रभाव बढ़ गया। इसे समाज मनोवैज्ञानिकों ने स्लीपर प्रभाव कहा है।

(ब) आकर्षक संचारक— आकर्षक संचारक द्वारा दी गयी सूचनाएं अभिवृत्ति में अधिक प्रभावकारी सिद्ध हुई हैं। आकर्षकता में दो पक्ष महत्वपूर्ण हैं—शारीरिक सुन्दरता तथा समानता। चाईकिन तथा पालाक एवं उनके सहयोगियों द्वारा किये गये अध्ययन से यह स्पष्ट हुआ है कि जब सुन्दर लोगों द्वारा कोई तर्क तथा सूचना दी जाती है तो उसका प्रभाव सुनने वाले व्यक्ति की अभिवृत्ति पर अधिक पड़ता है और ऐसे व्यक्ति अपनी अभिवृत्ति में तत्परता के साथ परिवर्तन लाते हैं। जब संचारक में सुन्दरता कम होती है या नहीं होती है तो उनके तर्क का प्रभाव व्यक्ति की अभिवृत्ति पर कम पड़ता है। समानता, आकर्षकता का दूसरा महत्वपूर्ण पक्ष है। हम लोग वैसे व्यक्तियों को पसंद करते हैं जो हमारे समय के होते हैं। फलस्वरूप, वे हमारे लिये आकर्षक होते हैं और उनके द्वारा दी गयी सूचनाओं द्वारा अभिवृत्ति में आसानी से परिवर्तन आ जाता है। डेम्ब्रोस्काई तथा उनके सहयोगियों ने अपने अध्ययन में पाया कि स्कूल के कुछ श्याम छात्रों को दांत की देख-रेख से सम्बन्धित कुछ तथ्य श्याम संचारकों द्वारा तथा कुछ अन्य

श्याम छात्रों को उसी प्रकार का तथ्य गोरे संचारकों द्वारा दिये गये। दूसरे दिन जब एक दांत के डॉक्टर द्वारा उन छात्रों के दांतों की जांच की गयी तो देखा गया कि जो श्याम छात्र श्याम संचारक से सुनकर तथ्य प्राप्त किये थे, वे अपनी दांतों की सफाई उन श्याम छात्रों की अपेक्षा अधिक ठीक ढंग से कर रखे थे जिन्होंने गोरे संचारक से सुनकर तथ्य प्राप्त किये थे। इन अध्ययनों से यह स्पष्ट हो जाता है कि वैसे व्यक्ति द्वारा दिये गये तथ्यों एवं सूचनाओं से हमारी अभिवृत्ति अधिक परिवर्तित होती है जो हमारे समान होते हैं। रेभेन तथा फ्रेंच ने अपने अध्ययन से बतलाया है कि जो व्यक्ति समाजिक, राजनैतिक या आर्थिक रूप से अधिक शक्तिशाली होते हैं, उनकी बातों एवं तर्कों से भी अभिवृत्ति अधिक प्रभावित होती है और उनके द्वारा बतायी गयी दशा में परिवर्तन लाने के लिए हम विवश हो जाते हैं।

3.6.4.2 संचारण का विषय एवं विशेषता— व्यक्ति को दी गयी सूचनाओं का स्वरूप एवं विशेषता भी एक महत्वपूर्ण कारक है जिस पर अभिवृत्ति परिवर्तन निर्भर करता है। समाज मनोवैज्ञानिकों ने ऐसी सूचनाओं की विशेषताओं के कई पक्षों का अध्ययन किया है जिसमें निम्नांकित तीन अधिक महत्वपूर्ण हैं—

- **डर उत्पन्न करने वाली सूचना—** कुछ समाज मनोवैज्ञानिकों ने अपने प्रयोगात्मक अध्ययनों के आधार पर यह स्पष्ट किया है कि जब कोई तथ्य या सूचना ऐसी होती है जिससे व्यक्ति में ऋणात्मक संवेग जैसे डर उत्पन्न होता है और साथ-ही-साथ उस डर को कम करने का उपाय भी उनके सामने होता है, तो इससे अभिवृत्ति में परिवर्तन आसानी से होता है। लेभेन्थाल एवं रोजर्स तथा न्यूवार्न ने अपने प्रयोगों के आधार पर इस तथ्य की पुष्टि की है। सरकार की ओर से सिगरेट पीने वालों को यह चेतावनी दिया जाना कि सिगरेट पीने से फेफड़ों में कैंसर होता है, डर उत्पन्न कर अभिवृत्ति में परिवर्तन करने वाली सूचना का एक महत्वपूर्ण उदाहरण है।
- **एक-तरफा बनाम दो-तरफा संचारण—** जब दी जाने वाली सूचना का सिर्फ एक पक्ष अर्थात् धनात्मक या ऋणात्मक पक्ष पर ही संचारक बल देता है, तो इसे एक तरफा संचारण कहा जाता है। परन्तु यदि संचारक सूचना के दोनों पक्षों पर बल डालता है अर्थात् उसके लाभ और हानि दोनों को ही श्रोता को वह बताता है, तो इसे दो-तरफा संचारण कहा जाता है। होमलैण्ड, लम्सडेन तथा शैफिल्ड ने एक अध्ययन किया जिसमें अमेरिका-जापान युद्ध सैनिकों के दो समूह को सूचना दी गयी। एक समूह को एक-तरफा सूचना दी गयी जिसमें सिर्फ इस बात पर बल दिया गया कि जापान के साथ अमेरिका का युद्ध लम्बे समय तक चल सकता है क्योंकि जापान के पास लड़ने के साधन काफी हैं। दूसरे प्रयोगात्मक समूह को दो-तरफा सूचना दी गयी, जिसमें युद्ध से अमेरिका को होने वाले लाभों एवं जापान को होने वाली हानियों पर बल दिया गया। परिणाम में देखा गया कि दो-तरफा सूचना द्वारा अभिवृत्ति में असंगत परिवर्तन अधिक हुए जबकि एक-तरफा सूचना द्वारा अभिवृत्ति में संगत परिवर्तन अधिक हुए।
- **(स) प्राथमिकता बनाम अभिनवता—** किसी व्यक्ति या घटना के बारे में पहले दी गयी सूचनाएं उसी व्यक्ति या घटना के बारे में बाद में दी गयी सूचनाओं की अपेक्षा अभिवृत्ति में जल्द परिवर्तन लाती है। क्योंकि पहले दी गयी सूचनाओं का असर व्यक्ति के मस्तिष्क पर अपेक्षाकृत अधिक होता है। पहले दी गयी सूचना के प्रभाव को प्राथमिकता तथा बाद में दी गयी सूचना के प्रभाव को अभिनवता की संज्ञा दी जाती है। Asch, 1946 ने एक प्रयोग किया जिसमें कॉलेज के छात्रों को निम्नांकित दो तरह के वाक्य पढ़ने के लिए दिया—
जॉन— बुद्धिमान, मेहनती, आवेगशील, विवेचनात्मक, जिद्दी तथा डाही है।
जॉन— डाही, जिद्दी, विवेचनात्मक, आवेगशील, मेहनती तथा बुद्धिमान है।

जिन छात्रों ने पहले वाक्य को पढ़ा, उनकी अभिवृत्ति जॉन के प्रति सकारात्मक हो गयी तथा जिन छात्रों ने दूसरे वाक्य को पढ़ा, उनकी अभिवृत्ति जॉन के प्रति नकारात्मक हो गयी। बाद में लैंगर एवं रॉथ तथा मैकएण्ड्रयू ने भी अपने प्रयोगों में उपर्युक्त तथ्य की पुष्टि की है। मैकगुरी ने भी अपने प्रयोग के आधार पर यह स्पष्ट किया है कि जब किसी व्यक्ति के वांछनीय गुणों को पहले तथा अवांछनीय गुणों को बाद में उपस्थित किया जाता है, तो सुनने वाले व्यक्ति की अभिवृत्ति में वांछनीय गुणों की दिशा में परिवर्तन हो जाती है।

3.6.4.3 संचार का माध्यम— अभिवृत्ति परिवर्तन के लिए दी जाने वाली सूचना का माध्यम भी एक महत्वपूर्ण कारक है जिससे अभिवृत्ति में परिवर्तन होता है। समाज मनोवैज्ञानिकों ने संचार के निम्नांकित तरह के माध्यमों के प्रभावों का अध्ययन किया है—

- **सामूहिक माध्यम बनाम व्यक्तिगत प्रभाव—**रेडियो, टेलिविजन, अखबार आदि संचार के सामूहिक माध्यम के उदाहरण हैं जिनमें संचारक, जनता को सामूहिक रूप से किसी बात की सूचना देता है। इनमें संचारक एवं सामान्य व्यक्तियों के बीच सीधा सम्बन्ध या आमने-सामने का सम्बन्ध नहीं होता है। व्यक्तिगत प्रभाव में संचारक प्रत्येक व्यक्ति से व्यक्तिगत रूप से मिलकर अपनी बात को समझाता है। लेजार्सफेल्ड, बेरेलसन तथा गाडेट ने अपने प्रयोग के आधार पर बतलाया है कि किसी विशेष राजनैतिक पार्टी के प्रति वोट देने की अभिवृत्ति में परिवर्तन के लिए सामूहिक माध्यम से दी गयी सूचना व्यक्तिगत रूप से दी गयी सूचना की अपेक्षा कम प्रभावकारी होता है। उसी तरह से एल्डर्स-भेल्ड एवं डोज ने अपने अध्ययन में पाया कि जब सूचनाएं सामूहिक माध्यम के सहारे दी गयी तो किसी विशेष पार्टी के प्रति वोट देने की अभिवृत्ति में मात्र 19 प्रतिशत परिवर्तन हुआ। परन्तु जब वही सूचनाएं व्यक्तिगत रूप से सभी लोगों को दी गयीं तो इससे उनकी अभिवृत्ति में 75 प्रतिशत परिवर्तन हुआ। इन अध्ययनों से स्पष्ट हुआ कि अभिवृत्ति परिवर्तन के लिए सामूहिक माध्यम से दी गयी सूचनाएं, व्यक्तिगत रूप से दी गयी सूचनाओं की अपेक्षा कम प्रभावकारी होती है।
- **सक्रिय अनुभव बनाम निष्क्रिय ग्रहण—** समाज मनोवैज्ञानिकों ने सूचना ग्रहण करने के इन दोनों माध्यमों का तुलनात्मक अध्ययन करके यह स्पष्ट किया है कि जब व्यक्ति कोई अनुभव सक्रिय रूप से क्रियाशील होकर प्राप्त करता है, तो इससे अभिवृत्ति में परिवर्तन तेजी से होता है। परन्तु जब उसे कोई अनुभव दीवार पर कुछ लिखा देखकर या इशतहार पढ़कर प्राप्त होता है, तो इससे व्यक्ति की अभिवृत्ति में परिवर्तन कम होता है। क्राफार्ड ने अपने अध्ययन के आधार पर इस तथ्य की पुष्टि की है। क्राफार्ड के अनुसार निष्क्रिय रूप से दी गयी सूचनाओं पर व्यक्ति ज्यादा ध्यान नहीं देता है।

3.6.4.4 श्रोता की विशेषताएं— अभिवृत्ति परिवर्तन के लिए किए गए अनुनयन की सफलता इस बात पर निर्भर करती है कि श्रोतागण कौन हैं, उनकी विशेषताएं क्या हैं, आदि। समाज मनोवैज्ञानिकों द्वारा किये गये अध्ययनों से यह स्पष्ट है कि कुछ लोग अनुनयन किये जाने पर अपनी अभिवृत्ति में तुरन्त परिवर्तन कर लेते हैं तथा कुछ लोगों पर प्रभावी अनुनयन का भी कोई असर नहीं पड़ता है। उदाहरणार्थ, जिन व्यक्तियों में आत्मसम्मान अधिक होता है उनमें आत्मविश्वास अधिक होता है। फलस्वरूप ऐसे व्यक्तियों पर अनुनयन का प्रभाव कम पड़ता है और इनकी अभिवृत्ति में परिवर्तन आसानी से नहीं होता है। मेयर्स के अनुसार, आक्रमणकारी स्वभाव के व्यक्ति में हठधर्मिता अधिक पायी जाती है एवं वे संकुचित विचार के होते हैं। फलतः इनकी अभिवृत्ति में भी परिवर्तन लाना आसान नहीं होता। श्रोतागण की उम्र का भी प्रभाव उनकी अभिवृत्ति परिवर्तनशीलता पर पड़ता है। सीयर्स ने अपने अध्ययन के आधार पर बताया है कि जैसे-जैसे व्यक्ति की आयु बढ़ती जाती है, उसकी अभिवृत्ति में परिवर्तन एक विशेष दिशा में होता जाता है। दूसरे शब्दों में उनकी अभिवृत्ति में उदारता कमती जाती है तथा अनुदारता बढ़ती जाती है। यही कारण है कि बूढ़े व्यक्तियों की सामाजिक अभिवृत्ति एक वयस्क की सामाजिक अभिवृत्ति की अपेक्षा अधिक अनुदार होती है। हमारे देश में सह-शिक्षा के प्रति अधिकतर बूढ़े व्यक्तियों की अभिवृत्ति उसी कारण नकारात्मक होती है।

3.6.5 बाधित सम्पर्क— अभिवृत्ति परिवर्तन में बाधित सम्पर्क का भी महत्व काफी अधिक है। बाधित सम्पर्क से तात्पर्य वैसे सम्पर्क से होता है जिसमें व्यक्तियों को कुछ ऐसे व्यक्तियों के साथ लाचारी में अंतःक्रिया करनी पड़ती है जिनके साथ वह अंतःक्रिया करना सचमुच में नहीं चाहता है। उदाहरणार्थ, एक हरिजन एवं एक ब्राह्मण को एक ही कमरे में यदि एक साथ रहने को कहा जाय, तो यह बाधित सम्पर्क का उदाहरण होगा। समाज मनोवैज्ञानिकों ने ऐसे अनेक अध्ययन किये हैं जिसमें देखा गया है कि बाधित सम्पर्क में व्यक्तियों को एक-दूसरे को समझने का मौका गहन रूप से मिलता है। फलस्वरूप एक दूसरे के प्रति उनकी अभिवृत्ति में धीरे-धीरे अपने आप ही परिवर्तन आने लगता है। बाधित सम्पर्क से वर्तमान अभिवृत्ति में संगत परिवर्तन तथा असंगत परिवर्तन दोनों ही हो सकते हैं। ब्राह्मण को हरिजनों के साथ रहने पर संभव है कि उसकी अभिवृत्ति नकारात्मक से बदलकर सकारात्मक हो जाए या संभव है कि नकारात्मक से और अधिक नकारात्मक हो जाय।

द्वितीय विश्वयुद्ध में अमेरिकी सैनिक के शोध विभाग द्वारा एक अध्ययन किया गया जिसमें गोरे सैनिकों तथा श्याम सैनिकों को एक साथ, एक ही दल में रहकर दुश्मनों का सामना करना था। शोध विभाग द्वारा सर्वे के अनुसार अधिकतर गोरे सैनिक एवं दो तिहाई गोरे सैनिक के पदाधिकारियों ने पहले इस ढंग से दल कायम करने के प्रति नकारात्मक अभिवृत्ति व्यक्त की। परन्तु दो महीने के बाद दूसरा सर्वे करने पर देखा गया कि 77 प्रतिशत सैनिकों एवं पदाधिकारियों की अभिवृत्ति नकारात्मक से बदलकर सकारात्मक हो गयी थी। डियूश एवं कोलिन्स ने एक अध्ययन किया जिसमें आवासीय योजना में बाधित सम्पर्क का, अभिवृत्ति परिवर्तन पर प्रभाव देखा गया। इस अध्ययन में दो तरह की आवासीय योजना सम्मिलित की गयी—पृथक आवासीय योजना तथा संगठित आवासीय योजना। पृथक आवासीय योजना में गोरी गृहपत्नियां एवं श्याम (या निग्रो) गृहपत्नियां अलग-अलग मकान में रहा करती थीं जबकि संगठित आवासीय योजना में वे दोनों तरह की पत्नियां एक ही मकान में एक साथ रहा करती थी। कुछ दिनों के बाद दोनों तरह की आवासीय योजनाओं में रहने वाली गोरी पत्नियों की अभिवृत्ति (श्याम पत्नियों के प्रति) मापी गयी। परिणाम में देखा गया कि संगठित आवासीय योजना में रहने वाली गोरी गृहपत्नियां की अभिवृत्ति पृथक आवासीय योजना में रहने वाली गोरी गृहपत्नियों की अभिवृत्ति की तुलना में काफी परिवर्तित थी। संगठित आवासीय योजना की 95 प्रतिशत गोरी गृहपत्नियों की अभिवृत्ति निग्रो या श्याम पत्नियों के प्रति अनुकूल पायी गयी जबकि पृथक आवासीय योजना के मात्र 25 प्रतिशत गोरी पत्नियों की अभिवृत्ति निग्रो पत्नियों के प्रति सौहार्दपूर्ण पायी गयी। इसी तरह के अन्य कई अध्ययनों में भी ऐसा ही परिणाम पाया गया। हार्डिंग तथा हागरेफे ने एक अध्ययन किया जिसमें एक ही नौकरी में एक ही तरह के पद पर गोरे कर्मचारी तथा निग्रो कर्मचारी साथ-साथ काम करते थे। इन प्रयोगकर्ताओं ने निग्रो कर्मचारियों के प्रति गोरे कर्मचारियों की अभिवृत्ति मापने पर पाया कि गोरे कर्मचारियों को निग्रो कर्मचारियों के साथ काम करने में किसी प्रकार की हिचकिचाहट या अन्य किसी तरह का प्रतिबंध या शर्त नहीं था। स्पष्ट है कि गोरे कर्मचारियों की अभिवृत्ति (जो निग्रो के प्रति सामान्यतः नकारात्मक होती है) परिवर्तित थी। इसी तरह का एक अध्ययन मुसेन द्वारा भी किया गया जिसमें यह पाया गया कि एक गर्मी ऋतु के कैम्प में चार सप्ताह तक एक साथ रहने के कारण 73 प्रतिशत गोरे बच्चों की नकारात्मक अभिवृत्ति निग्रो बच्चों के प्रति कम हो गयी।

उपर्युक्त अध्ययनों से यह स्पष्ट हो जाता है कि बाधित सम्पर्क स्थापित किये जाने पर विभिन्न समूहों या जातियों को एक दूसरे को समझने का मौका अधिक मिलता है। फलस्वरूप उनके मन में पहले से चली आ रही गलतफहमियां दूर हो जाती हैं और व्यक्ति अपनी अभिवृत्ति परिवर्तित कर लेता है।

3.6.6 अपेक्षित भूमिका—निर्वाह— कभी-कभी ऐसा होता है कि व्यक्ति कुछ ऐसी क्रियाएं या व्यवहार लोगों के सामने करता है, जिसे वह नहीं करना चाहता। क्योंकि ऐसी क्रियाएं उसकी निजी अभिवृत्ति के विपरीत होती हैं। ऐसा पाया गया कि इस तरह की भूमिका करते-करते व्यक्ति की निजी अभिवृत्ति परिवर्तित होकर किये गये व्यवहार के अनुकूल हो जाती है, अर्थात् वह आम अभिवृत्ति के समान हो जाती है। कल्बर्टसन ने एक प्रयोग किया जिसमें पाया कि भूमिका—निर्वाह के कारण निग्रो के प्रति प्रयोज्य की सामान्य अभिवृत्ति तथा निग्रो-गोरे आवासीय संगठन के प्रति प्रयोज्यों की विशिष्ट अभिवृत्ति में क्रमशः 76.1 तथा 76.7 प्रतिशत धनात्मक परिवर्तन हुआ। इतना ही नहीं भूमिका—निर्वाह का प्रभाव भूमिका करने वाले के अलावा भूमिका देखने वाले की अभिवृत्ति में क्रमशः 56.8 तथा 42.9 प्रतिशत परिवर्तन हुआ। जैनिस तथा किंग ने भी अपने अध्ययनों में इसी ढंग का तथ्य पाया। इन लोगों ने भूमिका—निर्वाह के प्रभाव के कारण अभिवृत्ति में होने वाले परिवर्तन की व्याख्या करने के लिए दो प्राक्कल्पनाएं भी बनायी हैं—आशुक्रिया प्राक्कल्पना तथा संतोष प्राक्कल्पना। आशुक्रिया प्राक्कल्पना के अनुसार भूमिका—निर्वाह से अभिवृत्ति में परिवर्तन इसलिए आता है क्योंकि वह दूसरों को अपने द्वारा व्यक्त किये विचारों को स्वीकार कराये जाने के लिए दिये गये तर्कों से स्वयं ही काफी उत्तेजित एवं प्रभावित हो जाता है। संतोष प्राक्कल्पना के अनुसार भूमिका—निर्वाहक अभिवृत्ति में परिवर्तन इसलिए आता है क्योंकि उसे भूमिका करने से एक संतोष होता है, जिससे भूमिका से व्यक्त किया गया मत अपने-आप ही प्रकट होता है और फलस्वरूप, वह उसी के अनुसार अपनी अभिवृत्ति में परिवर्तन कर लेता है। किंग एवं जैनिस ने अपने अध्ययनों में इन दोनों तरह की प्राक्कल्पनाओं द्वारा अभिवृत्ति परिवर्तन की व्याख्या की पुष्टि किया है।

3.6.7 व्यक्तित्व परिवर्तन प्रविधियाँ— कुछ समाज मनोवैज्ञानिकों ने व्यक्तियों के व्यक्तित्व में परिवर्तन लाकर उनकी अभिवृत्तियों में परिवर्तन लाने की कोशिश की है। मनोवैज्ञानिकों का यह भी दावा है कि व्यक्तित्व संरचना में परिवर्तन लाने से व्यक्ति की अभिवृत्ति में होने वाला परिवर्तन अपेक्षाकृत अधिक स्थायी होता है। एक्सलाईन द्वारा किये गये अध्ययन से उपर्युक्त तथ्यों को पूर्ण समर्थन मिलता है। इस अध्ययन में सात वर्षीय कुछ ऐसे गोरे समस्यात्मक बच्चों को लिया गया जो प्रजातीय अभिवृत्तियों से काफी पीड़ित थे अर्थात् ऐसे बच्चे निग्रो बच्चों के प्रति या तो काफी आक्रामक थे या काफी असामाजिक व्यवहार करते थे। गोरे बच्चों के व्यक्तित्व में खेल चिकित्सा द्वारा परिवर्तन लाया गया जिसके बाद यह भी देखा गया कि निग्रो बच्चों के प्रति उनकी उदारता एवं प्रेम बढ़ गया। काज तथा उनके सहयोगियों ने भी एक अध्ययन किया जिसमें निग्रो के प्रति अभिवृत्ति परिवर्तन के लिए तथ्यपूर्ण-सूचना अपील तथा आत्म-सूझ विधि का तुलनात्मक अध्ययन किया गया और उन्होंने पाया कि निग्रो बच्चों के प्रति गोरे प्रयोज्यों की प्रतिकूल अभिवृत्ति में तथ्यपूर्णसूचना अपील विधि द्वारा कोई परिवर्तन नहीं हुआ परन्तु आत्म-सूझ विधि द्वारा विशेषकर वैसे गोरे व्यक्तियों की अभिवृत्ति में परिवर्तन हुआ जिसमें आत्म-रक्षात्मकता का शीलगुण कम था। इन अध्ययनों से यह स्पष्ट है कि व्यक्तित्व परिवर्तन द्वारा भी व्यक्ति की अभिवृत्ति में परिवर्तन होता है।

3.6.8 सांस्कृतिक कारक— प्रत्येक समाज की एक संस्कृति होती है जिसमें व्यक्ति का व्यक्तित्व विकसित होता है। संस्कृति के मूल्यों, मानदण्डों आदि में परिवर्तन होने से व्यक्ति में पहले से चली आ रही अभिवृत्ति परिवर्तित होकर बदले हुए सांस्कृतिक मूल्यों एवं मानदण्डों के अनुसार विकसित हो जाती है। आधुनिक शिक्षा के कारण भारतीय समाज में सांस्कृतिक मूल्यों में काफी परिवर्तन आया है। यही कारण है कि आजकल एक औसत भारतीय की अभिवृत्ति हरिजनों के प्रति, औरतों द्वारा नौकरी किये जाने के प्रति, अन्य सामाजिक समस्याओं के प्रति अब उतनी नकारात्मक नहीं रह गयी है जितनी कि 30-40 वर्ष पहले थी। फ़ैल्डमैन तथा मेयर्स ने अपने अध्ययनों में पाया कि भिन्न-भिन्न संस्कृति में पले व्यक्तियों की अभिवृत्ति एक ही तरह की सामाजिक समस्या के प्रति एक समान नहीं होती है और इस सांस्कृतिक विभिन्नता के कारण उनकी अभिवृत्तियों में परिवर्तन का प्रयास भी एक समान का परिणाम नहीं देता है। एक खास संस्कृति में पले व्यक्तियों की अभिवृत्ति में किसी सामाजिक समस्या के प्रति अभिवृत्ति में परिवर्तन करना आसान हो जाता है तो दूसरी संस्कृति में पले व्यक्तियों की अभिवृत्ति में उसी सामाजिक समस्या के प्रति अभिवृत्ति में परिवर्तन करना कठिन हो जाता है। मेयर्स ने अपने अध्ययनों में पाया कि यहूदी छात्रों में ईश्वर, युद्ध तथा संतति-नियमन के प्रति अभिवृत्ति में आसानी से परिवर्तन लाया जा सकता था परन्तु कैथोलिक या ईसाई छात्रों में इन सब विषयों के प्रति अभिवृत्ति में परिवर्तन लाना एक दुष्कर कार्य था।

3.6.9 प्रचार— अभिवृत्ति परिवर्तन में प्रचार का महत्त्व सर्वविदित है। रेडियो, सिनेमा, दूरदर्शन तथा समाचार पत्र आधुनिक युग में प्रचार के प्रमुख साधन हैं। साधनों का उपयोग सरकार तथा विज्ञापनकार दोनों ही व्यक्तियों की अभिवृत्ति में परिवर्तन लाने के लिए करते हैं। प्रचार का रूप लिखित अथवा मौखिक तथा प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष कुछ भी हो सकता है। अभिवृत्ति परिवर्तन में लिखित प्रचार की अपेक्षा मौखिक प्रचार तथा अप्रत्यक्ष प्रचार की अपेक्षा प्रत्यक्ष प्रचार अधिक प्रभावकारी सिद्ध हुआ है। भारत सरकार अनेक महत्त्वपूर्ण सामाजिक समस्याओं जैसे वयस्क शिक्षा, दहेज-प्रथा, परिवार कल्याण या परिवार नियोजन, हरिजन एवं पिछड़ी जातियों की समस्याएं आदि के प्रति विभिन्न तरह के प्रचार द्वारा जनता की अभिवृत्ति में वांछित दिशा में काफी हद तक परिवर्तन करने में सफल हो सकी है। मेयर्स तथा बेरोन एवं बर्न ने अपने प्रयोगात्मक अध्ययन के आधार पर यह स्पष्ट किया है कि प्रचार, व्यक्तियों की अभिवृत्ति के परिवर्तन में उस परिस्थिति में सबसे अधिक प्रभावकारी होता है जब लोग प्रचारक को विश्वासी एवं निर्भरयोग्य समझते हों तथा उसके द्वारा किये गये प्रचार के खिलाफ में दूसरा विरोधी प्रचार न हो।

उपर्युक्त विवरण से यह स्पष्ट है कि अभिवृत्ति परिवर्तन बहुत कारकों द्वारा निर्धारित होता है। इन सभी कारकों में से प्रभावी या विश्वासोत्पादक संचारण समाज मनोवैज्ञानिकों द्वारा सबसे महत्त्वपूर्ण कारक बतलाया गया है। चूंकि अभिवृत्ति परिवर्तन में अनेकों कारकों का योगदान होता है, इसलिए इसे क्रेच, क्रचकिल्ड एवं वैंलेची ने 'बहु निर्धारित' कारक कहा है।

3.7 अभिवृत्ति परिवर्तन की विधियाँ

हाल ही के वर्षों में, अभिवृत्तियों में परिवर्तन लाने की विधियों के निर्धारण हेतु परीक्षण किए गए हैं। अभिवृत्तियों में परिवर्तन के लिए निम्नांकित विधियाँ काम में लाई जाती हैं—

3.7.1 व्यक्ति को बाह्य प्रभाव में रखकर— इसमें व्यक्तियों को बाह्य प्रभाव में रखकर, उनमें होने वाले परिवर्तनों का अध्ययन कर अभिवृत्ति परीक्षण लिया जाता है। किसी विषय विशेष के प्रति उनकी अभिवृत्ति का माप लिया जाता है। उदाहरणार्थ, लोगों के एक समूह की हरिजनों के प्रति अभिवृत्ति का परीक्षण लिया जा सकता है। इसके पश्चात् सारे समूह को एक प्रकार का विशेष अनुभव कराया जाएगा—जै हरिजन सेवक संघ के किसी नेता को हरिजन समस्या पर भाषण देने लिए बुलाया जा सकता है तथा हरिजन सेवक संघ द्वारा हरिजनों का जीवन—स्तर उन्नत करने के लिए किए गए प्रयत्नों के सम्बन्ध में या किसी चलचित्र द्वारा हरिजन ग्राम की दशा, उसकी धूल, उसकी गंदगी, उसकी दरिद्रता और उन निम्न स्थितियों को दिखाया जा सकता है, जिनमें हरिजन रहते हैं तथा हरिजनोत्थान, उनकी शिक्षा, घरों की दशा में सुधार, कार्य करने की स्थितियाँ, अन्य समूह के लोगों के साथ सामाजिक सम्बन्धों आदि को प्रदर्शित भी किया जा सकता है। समूह को एक विशेष प्रकार का अनुभव या कई प्रकार के अनुभव कराने के बाद, पुनः एक अभिवृत्ति—परीक्षण किया जा सकता है। यदि इन दोनों परीक्षणों की माप में कोई अंतर पाया गया, तो उससे अभिवृत्ति में परिवर्तन के बारे में अनुभव के प्रभाव का पता चलेगा। उदाहरणार्थ, किसी क्षेत्र विशेष में विनोबा जी के प्रवेश के पूर्व भूदान आंदोलन के प्रति वहाँ के लोगों की अभिवृत्ति का अध्ययन किया गया है। विनोबा जी द्वारा क्षेत्र के भ्रमण कर लेने के बाद, पुनः अभिवृत्ति—परीक्षण लिया जा सकता है। इससे पता चला कि किस सीमा तक विनोबा जी का व्यक्तित्व, उनके भाषण, तथा भूदान कार्यकर्ताओं के सम्पर्क द्वारा वहाँ के लोगों में भूदान आंदोलन के प्रति परिवर्तन आया।

3.7.2 अन्योन्य क्रिया— जिन परिस्थितियों के अंतर्गत अभिवृत्ति में परिवर्तन आता है, उनको अध्ययन करने की दूसरी विधि का नाम है—अन्योन्यक्रिया प्रविधि। इसके अनुसार व्यक्ति को ऐसे सामाजिक परिवेश में रखा जाता है जहाँ उसे अन्य व्यक्तियों के साथ अन्योन्यक्रिया करने का अवसर मिलता है। इस प्रविधि के प्रयोग में सर्वाधिक प्रभावशील खोज न्यूकॉब की बेनिंगटन विधि है। बेनिंगटन कॉलेज संयुक्त राष्ट्र अमेरिका में स्त्रियों का एक छोटा विद्यालय था जिसमें लगभग 250 छात्राएँ अध्ययनरत थी। यह एकान्त स्थान में स्थित है। फलतः छात्राएँ नगर के सामान्य वातावरण का अनुभव नहीं कर पातीं। विश्वविद्यालय के अधिकारीगण तथा अध्यापक लोग सामाजिक तथा आर्थिक समस्याओं के प्रति उदारमना हैं। इस कॉलेज के आदर्शों में एक आदर्श यह रहा कि विद्यार्थी को सामाजिक समस्याओं के प्रति जागरूक किया जाए। इसकी छात्राएँ नगर के आर्थिक दृष्टि से सुसम्पन्न परिवारों से आई हैं। अतः कुछ सामाजिक तथा राजनैतिक समस्याओं के प्रति उनकी अभिवृत्ति सामान्य रूप से रूढ़िवादी रहती थी। न्यूकॉब ने विद्यमान सामाजिक समस्याओं के प्रति अभिवृत्तियों का अध्ययन करने के लिए प्रतिवर्ष छात्रों की जांच की। उसने साक्षात्कार लेने की प्रविधि का भी प्रयोग किया। इन समस्याओं में बेकारी, जन सहायता, श्रम संगठन आदि समस्याएँ थी। ये अध्ययन 1930 के मंदी के वर्षों में किए गए थे। न्यूकॉब ने देखा कि छात्राओं का बहुमत इन समस्याओं के प्रति रूढ़िवादी रुख को छोड़कर उदार रुख वाला हो गया, यह पाया गया कि जो छात्राएँ बहुत अधिक उदार थीं, उन्होंने ही प्रतिष्ठा तथा नेतृत्व का उपार्जन किया। इन विद्यमान समस्याओं से सम्बन्धित अभिवृत्तियों में जो अंतर देखे गए, वे सांख्यिकीय दृष्टि से ही थे। लेकिन इसके साथ यह भी देखने में आया कि कुछ छात्राएँ ऐसी भी थीं जिनमें समुचित परिवर्तन नहीं आया। इसके पश्चात् कुछ छात्राएँ ऐसी भी पाई गयीं जिन्होंने परिवर्तन का प्रतिरोध किया। न्यूकॉब का कथन है कि छात्राओं की बड़ी संख्या में परिवर्तनों की व्याख्या तथा थोड़ी छात्राओं में परिवर्तन के प्रति प्रतिरोध की व्याख्या, संदर्भ—समूह की संकल्पना के प्रसंग द्वारा की जा सकती है। जैसाकि स्पष्ट है कि प्रत्येक समूह के अपने प्रतिमान होते हैं, अपने ढंग की प्रस्थितियाँ होती हैं तथा अपने ही ढंग की भूमिका—संरचनाएँ होती हैं। व्यक्ति अपने समूह के व्याप्त प्रतिमानों से अपनी अभिवृत्तियों का निर्माण करता है। जिस बड़ी संख्या में छात्राओं की अभिवृत्तियाँ रूढ़िवादिता से उदारता में परिणत हो गईं, उनके लिए विद्यालय एक संदर्भ—समूह बन गया। दूसरी ओर, जिन्होंने परिवर्तन का प्रतिरोध किया, उनके लिए उनके परिवार ही 'संदर्भ—समूह' बने रहे तथा उन पर प्रभाव डालते रहे हैं। दूसरे शब्दों में इन लोगों के लिए विद्यालय—समुदाय, संदर्भ—समूह नहीं बना। फलतः विद्यालय के भीतर

माने जाने वाले प्रतिमानों ने उनकी अभिवृत्तियों को प्रभावित नहीं किया। अतः न्यूकॉब के अध्ययन से यह पता चला है कि व्यक्ति में अभिवृत्ति परिवर्तन कैसे होता है। उन्होंने यह भी जानने का प्रयत्न किया कि विद्यालय-समुदाय बहुत से व्यक्तियों के लिए संदर्भ-समूह क्यों बन गया और अन्य लोगों के लिए संदर्भ-समूह क्यों नहीं बन सका। उन्होंने देखा कि छात्राओं की बड़ी संख्या के लिए विद्यालय समुदाय, प्रभावशाली सिद्ध हुआ क्योंकि इससे उनमें सम्बन्ध, प्रस्थिति तथा उपलब्धि की भावना का उदय हुआ। इस प्रकार छात्राओं ने बतलाया कि वे “विद्यालय-समिति के मामलों में घुलमिल गए हैं” एवं “सामुदायिक प्रत्याशाओं द्वारा प्रभावित हुए हैं।” इसके बाद यह देखने में आया कि इन छात्राओं में से कुछ के घरों एवं परिवारों के आदर्शों में संघर्ष रहता है। एक लड़की ने कहा, “विद्या-विभाग के विरुद्ध परिवार मेरे लिए संघर्ष का विषय रहा है।” अतः अभिवृत्ति-परिवर्तन सम्बन्धी वैयक्तिक विभिन्नताओं के सम्यक् अध्ययन में प्रत्येक व्यक्ति, उसका निजी इतिहास तथा अनौपचारिक दलों आदि का अध्ययन भी सन्निहित रहता है, जिनसे उसका व्यक्तिगत सम्बन्ध होता है।

3.7.3 समूह-परिचर्चा तथा समूह-निर्णय

कूर्ट लेविन के प्रयोगात्मक कार्य का सबसे बड़ा गुण था उसके द्वारा तैयार किया अभिकल्प तथा प्रोग्राम, जिसे इस विषय के अध्ययन के लिए बनाया गया था। द्वितीय विश्वयुद्ध के दौरान लोगों की खाने की आदतों में परिवर्तन लाने के लिए इसका प्रयोग किया गया था। खाद्य-पदार्थों की कुछ किस्में काफी पोषक थीं लेकिन अमरीकी लोग उनका इस्तेमाल नहीं करते थे। लेविन ने छः रेडक्रास समूहों के स्वयंसेवकों पर अपने प्रयोग किए। प्रत्येक समूह में 13 से 17 तक व्यक्ति थे। तीन समूहों के लिए ‘भाषण-पद्धति’ तथा अन्य तीन समूहों के लिए ‘परिचर्चा पद्धति’ का प्रयोग किया गया। दोनों पद्धतियों में एक समय अर्थात् 45 मिनट दिए गए। भाषण-पद्धति द्वारा अप्रयुक्त खाद्य-पदार्थों के पोषक तत्वों का सविस्तार वर्णन किया गया। स्वयंसेवकों को बताया गया कि ये पदार्थ कितने लाभदायक हैं; उन्हें इन खाद्यों का सेवन करने के लिए प्रोत्साहित किया गया ताकि वे युद्ध-कार्यों के लिए कुछ मांस बचा सकें। इन अप्रयुक्त खाद्य-पदार्थों को तैयार करने के नुस्खों की प्रतिलिपियां भी वितरित की गयीं। परिचर्चा वाले दूसरे समूहों में यह बात समस्या के रूप में प्रस्तुत की गई। भाग लेने वालों से परिचर्चा के लिए कहा गया कि गृहिणियों को भोजन की आदतें बदलने के लिए किस प्रकार से प्रेरित किया जाए ताकि युद्ध-कार्यों में सहायता मिल सके और आम-जनता के स्वास्थ्य में भी प्रगति हो। नए खाद्य पदार्थों के प्रयोग में जो बाधाएं आईं और परिवार जिन बातों का विरोध करते थे, परिचर्चा पद्धति द्वारा उन्हें हल कर लिया गया। तदुपरांत पोषण-विशेषज्ञ ने नुस्खे दिए। अंत में समूह से निर्णय प्राप्त किया गया। कुछ दिनों के बाद इस बात की जांच की गई कि कितने व्यक्तियों ने नए खाद्य पदार्थों को अपने भोजन में शामिल किया। परिणामस्वरूप यह देखने में आया कि जहां भाषण-समूह के 3 प्रतिशत लोगों ने नए खाद्य-पदार्थों को अपने भोजन का अंग बनाया वहां परिचर्चा-समूह के 32 प्रतिशत लोगों ने ऐसा किया। इस तरह इस परीक्षण से दो महत्वपूर्ण पक्ष सामने आए। एक तो यह कि अभिवृत्ति तथा व्यवहार में परिवर्तन लाने के लिए भाषण-पद्धति की अपेक्षा परिचर्चा प्रणाली अधिक अच्छी है। दूसरी यह कि चाहे किसी भी प्रविधि को काम में लाया जाए लेकिन समूह के कुछ लोग ऐसे अवश्य होंगे जिन्हें बदलना संभव नहीं है।

अभिवृत्ति तथा व्यवहार-परिवर्तन के अन्य अध्ययनों के लिए यह प्रयोग, एक नमूना सिद्ध हुआ। पहले प्रयोग में एक कमी यह थी कि दो भिन्न-भिन्न व्यक्ति दो भिन्न-भिन्न समूहों में नेता बनाए गए थे। फलतः, दूसरे प्रयोग में वही एक ही व्यक्ति जो कि भाषण-समूह का नेता बनाया गया था, परिचर्चा-समूह का नेता बनाया गया। इस प्रयोग में सभी गृहिणियां थीं। प्रत्येक सत्र के, प्रत्येक समूह में 6 से 9 तक व्यक्ति थे। दो बार जांच की गई-पहली दो सप्ताह के बाद, तथा दूसरी चार सप्ताह के अंतराल के बाद। पुनः परिचर्चा-समूह निश्चित रूप से अधिक अनुक्रियाशील पाया गया। यह भी देखा गया कि परिचर्चा-समूह में जो परिवर्तन आया वह अधिक टिकाऊ रहा। लेनिन तथा बटलर ने इन परिणामों को एक औद्योगिक-योजना के अध्ययन द्वारा पुष्ट किया। इस कारखाने में 29 पर्यवेक्षक थे। उन्होंने उच्च पदों वाले लोगों का अधिमूल्यांकन तथा निम्न पदों वाले लोगों का निम्न मूल्यांकन किया था। समस्या थी उनकी अभिवृत्तियों के परिवर्तन की, ताकि उनमें उन लोगों के पक्ष या विपक्ष में कोई पूर्वाग्रह न हो, जिनका वे प्रतिनिधित्व करते हैं। इन पर्यवेक्षकों के तीन समूह बनाए गए, जिनमें एक समूह पर भाषण प्रविधि आजमाई गई। उन्हें बताया गया कि मूल्यांकन में त्रुटियों को कैसे दूर किया जा

सकता है। दूसरे समूह को समस्या पर परिचर्चा करके सामूहिक निर्णय करने के लिए कहा गया; जबकि तीसरा समूह नियंत्रण-समूह के रूप में कार्य करता रहा। यह देखा गया कि अन्य दो समूहों की अपेक्षा परिचर्चा-समूह में उल्लेखनीय सुधार हुआ है।

उपर्युक्त प्रयोगों से यह स्पष्ट है कि भाषण-समूह की अपेक्षा परिचर्चा-समूह में सक्रिय सहयोग द्वारा व्यक्ति की अभिवृत्ति तथा व्यवहार में अधिक प्रभावशाली ढंग से परिवर्तन लाया जा सकता है। जब व्यक्ति सक्रिय सहभागिता से किसी विषय पर बात करते हैं तो वे व्यक्तिगत रूप से उसके प्रति अनुरक्त रहते हैं। इसके बाद, व्यक्तिगत निश्चय की अपेक्षा समूह-निर्णय, अधिक अनिवार्य रूप से पालनीय होते हैं। शेरिफ का कथन है, “अभिवृत्ति में महत्वपूर्ण परिवर्तन लाने के लिए कठिन समस्या यह है कि विचाराधीन विषय में वैयक्तिक अहंमान्यता को सन्निहित किया जाए। वैयक्तिक अहंमान्यता को सन्निहित करने का अभिप्राय है अहम्-अभिवृत्तियों को उकसाना। ऐसा वैयक्तिक आवेष्टन सामाजिक परस्पर क्रिया की प्रक्रिया के आदान-प्रदान द्वारा बढ़ता है। केवल सूचनाया तर्क अभिवृत्ति को बदलता है तो “वह समूह के चिरकालीन सम्बन्धों की सुरक्षा से टूटकर अलग हो सकता है।”

स्पष्ट है कि यदि व्यक्ति को अपनी अभिवृत्ति में भी परिवर्तन करना पड़े, तो भी वह समूह-प्रतिमानों से ही उनमें कोई परिवर्तन करता है। इसका अभिप्राय यह है कि वह एक सीमा तक समूह-प्रतिमानों से दूर हट रहा है। यह कोई सरल कार्य नहीं है। यह समाजीकरण के विपरीत है। दूसरी ओर जब कोई व्यक्ति समूह में बैठकर किसी समस्या पर परिचर्चा करता है, तब वह परिवर्तन के पक्ष में अपने विचारों को निस्संकोच प्रकट कर सकता है। जब समूह में अनेक व्यक्ति परिवर्तन के लाभों का संकेत करते हैं, तब समूह समूह में परिवर्तन आता है। जब समूह बदलता है तो समूह-प्रतिमान बदलते हैं। इससे व्यक्ति प्रभावित होता है और परिवर्तन को संबल मिलता है। तत्पश्चात् जैसाकि समूह का नया प्रतिमान व्यक्ति का स्वायत्त-प्रतिमान बन जाता है। शेरिफ के प्रयोगात्मक कार्य से यह स्पष्ट हुआ है कि व्यक्ति चाहे समूह में हो अथवा अकेला, किन्तु उसका व्यवहार नये ढंग का ही होगा। बाद में, यदि कोई सदस्य व्यक्ति ऐसे नव-निर्मित प्रतिमान से अलग हटता है, तो वह ऐसा अनुभव करता है जैसे वह अपने स्वयं के मूल्यों को भंग कर रहा है, क्योंकि वह अब इन सामाजिक मूल्यों को अपने व्यक्तित्व का अंग बना चुका होता है। इस प्रकार “समूह-निर्णय में व्यक्ति की अहंमान्यता की से अभिवृत्ति और व्यवहार में प्रभावशाली परिवर्तन घटित होता है।”

कोथुर्कर ने हाईस्कूल के छात्रों में जातीय-अभिवृत्ति की कठोरता को कम करने के लिए अन्वेषण कार्य किया। उसने निम्न तीन पद्धतियां अपनाई—

- भारत की विभिन्न जातियों तथा समुदायों की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि का व्यवस्थित तथा तर्कसंगत लेखा-जोखा।
- विभिन्न समूहों की विशेषताओं को ध्यान में रखने, और देश के निर्माण में उन समूहों के योगदान को ध्यान में रखने के लिए भावनात्मक अपील।
- परिचर्चा प्रविधि।

कोथुर्कर की प्राक्कल्पना थी कि अभिवृत्ति में परिवर्तन लाने के लिए तर्कसंगत या भावनात्मक उपागम की अपेक्षा परिचर्चा पद्धति अधिक प्रभावपूर्ण होती है। फिर भी, सांख्यिकीय दृष्टि से विशेष महत्वपूर्ण परिणाम नहीं पाए गए। गार्डनर मर्फी का दावा है कि भावनात्मक अपील इसलिए अधिक प्रभावकारी हो सकती है क्योंकि अनुदेशक समूह को उद्बोधन द्वारा प्रेरित करता है। दूसरी ओर, शेरिफ का दृढ़ निश्चय था कि सांस्कृतिक-विभिन्नताएं ही इसका कारण हैं। उसका कथन है कि जिन समुदायों में समाजीकरण की प्रक्रिया प्राधिकार पर निर्भर रहने को बाध्य करती है, उनमें परिचर्चा-प्रविधि प्रभावशाली नहीं हो सकती। शेरिफ ने एक प्रकाशित रिपोर्ट को उद्धृत किया, जिसमें लिखा है कि द्वितीय विश्वयुद्ध के तुरंत बाद जर्मनी युवकों में एक प्रत्याशा प्रस्फुटित हुई कि उनमें से किसी को आगे आकर भावी कार्यक्रम की रूपरेखा तैयार करनी चाहिए। कोथुर्कर ने लिखा कि “परिणामों का जो भी महत्व हो, मैं अपने प्रयोगों के मुख्य निष्कर्ष की प्रामाणिकता से सहमत हूँ क्योंकि जहां तक इन लड़कों का सम्बन्ध था, उनकी अभिवृत्तियों को तथ्यों के आधार पर या परिचर्चा प्रणाली द्वारा बदलने की अपेक्षा अन्य समूहों के प्रति आदर और श्रद्धा के वातावरण द्वारा भावनात्मक उपागम अधिक अच्छी पद्धति सिद्ध

हुई। हमारी मूल प्रत्याशाओं एवं प्राक्कल्पनाओं के विपरीत, ये युवक परिचर्चा-प्रविधि द्वारा अपने सामाजिक सम्बन्धों को सुधारने के लिए स्वयं को अनुकूल स्थिति में नहीं पा सके। क्या यह स्थिति इस बात का संकेत करती है कि हमारे बालकों की परिचर्चा के प्रजातांत्रिक तरीके अपनाने पड़ेंगे और इस समय वे यह बात ज्यादा पसंद करते हैं कि सही अभिवृत्तियों की चर्चा करने की बजाय उन्हें यह साफ बता दिया जाए कि सही अभिवृत्तियां कौन-सी हैं।

यह कहा जा सकता है कि कोथुर्कर और शेरिफ दोनों की युक्तियों में कुछ सत्यता है। यह संभव है कि सांस्कृतिक विभिन्नताओं की स्थिति में परिचर्चा प्रविधि अन्य प्रविधियों की अपेक्षा उत्कृष्ट नहीं होती। लेकिन यह बात भी ध्यान देने योग्य है कि जिन समूहों में परिचर्चा प्रविधि का प्रयोग किया जाता हो उनमें यह बहुत प्रभावकारी हो सकती है। पुनः यह भी समझ लेना चाहिए कि पूना-अध्ययन के जो परिणाम प्राप्त हुए उनके परिचर्चा-प्रविधि तथा भावनात्मक अपील प्रविधि वाले परिणामों में कोई खास अंतर देखने को नहीं मिला। संभवतः मूलभूत बात अहंमान्यता की है। इस विशिष्ट मामले में भावनात्मक अपील अहंमान्यता को शामिल करके परिचर्चा प्रविधि की भांति ही अधिक प्रभावकारी सिद्ध हुई।

3.8 अभिवृत्ति परिवर्तन कब कठिन हो जाता है?

दिन-प्रतिदिन के जीवन में हमारी अभिवृत्तियों को परिवर्तन करने के लिए अनेक तरह के प्रभावी संचारण किये जाते हैं। प्रभावी संचारण अभिवृत्ति परिवर्तन का सबसे महत्वपूर्ण कारक है। अनेक तरह के प्रभावी संचरण के बावजूद भी हमारी अभिवृत्ति में तुरंत परिवर्तन नहीं होता है। किसी समस्या या विषय के प्रति प्रायः हम एक स्थिर अभिवृत्ति कुछ समय तक अवश्य ही बना कर रखते हैं। अतः प्रश्न यह उठता है कि अभिवृत्ति परिवर्तन में स्थिरता क्यों आती है? अनेक तरह के प्रभावी संचरण के बावजूद भी हम किसी समस्या या विषय के प्रति एक स्थिर अभिवृत्ति बनाकर क्यों रखते हैं? समाज मनोवैज्ञानिकों द्वारा इस विषय पर हाल के वर्षों में काफी शोध एवं प्रयोग किये गये हैं। इन शोधों एवं प्रयोगों के आधार पर इन लोगों ने निम्नांकित तीन कारकों को अभिवृत्ति परिवर्तन में सबसे प्रमुख बाधक कारक माना है—प्रतिघात, पूर्वचेतावनी एवं अभिवृत्ति टीका। इन कारकों का वर्णन इस प्रकार है—

3.8.1 प्रतिघात— जब कोई व्यक्ति अपने विचार या मत को स्वीकार कराने के ख्याल से किसी दूसरे व्यक्ति पर अधिक बल डालता है तो प्रायः देखा जाता है कि दूसरा व्यक्ति उनके द्वारा बताये गये विचारों का ठीक विपरीत विचार या मत बना लेने की ठान लेता है। इसे ही समाज मनोविज्ञान में प्रतिघात की संज्ञा दी जाती है। प्रतिघात की परिस्थिति में संचारक द्वारा बताई गई दिशा में व्यक्ति की अभिवृत्ति में परिवर्तन नहीं होता है। समाज मनोवैज्ञानिकों के अनुसार प्रतिघात की स्थिति में वांछित दिशा में अभिवृत्ति में परिवर्तन इसलिए नहीं होता क्योंकि ऐसी स्थिति में व्यक्ति अपने विचारों की व्यक्तिगत स्वतंत्रता खतरे में पाता है। व्यक्ति को ऐसा महसूस होता है कि संचारक अनावश्यक रूप से हमारे विचारों का गला घोट कर, अपने विचारों को मान लेने के लिए बाध्य कर रहा है।

अतः संचारक द्वारा बताई गई दिशा के ठीक विपरीत दिशा में वह अपनी अभिवृत्ति बना लेता है। यही कारण है कि कुछ समाज मनोवैज्ञानिकों जैसे ब्रेह्म तथा रोडवाल्ड एवं डेविसन ने प्रतिघात को एक नकारात्मक अभिवृत्ति परिवर्तन की स्थिति कहा है। प्रतिघात का उदाहरण हमारे दैनिक जीवन में काफी मिलता है। जब कोई दुकानदार कोई विशेष कम्पनी का ही माल खरीदने पर अधिक बल डालता है तो प्रायः व्यक्ति सचेत होकर यह सोचने लगता है, “आखिर बात क्या है, वह दूसरी कम्पनी के माल के बारे में कुछ नहीं कह रहा है। कम-से-कम अभी हमें उसकी बातों में नहीं आना चाहिए।”

3.8.2 पूर्व चेतावनी— कई समाज मनोवैज्ञानिकों का विचार है कि जब व्यक्ति किसी समस्या या विषय को महत्वपूर्ण समझता है और उसे पहले से किसी तरह यह पता चल जाता है कि अमुक सूचना या संचारण का उद्देश्य उनकी अभिवृत्ति मात्र में परिवर्तन करना है, तो वैसी सूचनाओं या संचारणों का प्रभाव व्यक्ति पर कम पड़ता है या यों कहें कि न के बराबर पड़ता है। इसे ही समाज मनोविज्ञान में पूर्व चेतावनी की संज्ञा दी गयी। आम समाज मनोवैज्ञानिकों का विचार है कि पूर्व चेतावनी से अभिवृत्ति परिवर्तन में काफी बाधा पड़ती है। बरोन एवं बर्न ने टिप्पणी करते हुए ठीक ही कहा है, “जब हम लोग यह जान लेते हैं कि कोई भाषण अभिलेखित संदेश या लिखित अपील हमारे विचारों को बदलने के लिए ही तैयार किया गया है, तो प्रायः इसे हम लोग बहुत कम ही प्रभावित होते हैं।” कुछ समाज

मनोवैज्ञानिकों जैसे सियालडिनी एवं पेटी तथा पेटी एवं कैकिओपो ने अपने प्रयोगात्मक अध्ययनों से इस तथ्य की पुष्टि की है कि प्रभावी संचारण के उद्देश्य से पूर्व परिचित हो जाने पर व्यक्ति में अभिवृत्ति परिवर्तन न के बराबर होता है। ऊड के अनुसार पूर्वचेतावनी की स्थिति में व्यक्ति को अपनी स्मृति से वैसे तथ्यों को संग्रह कर लेने का समय अधिक मिल पाता है जिससे वह प्रभावी संचारण को गलत साबित कर सके। यही कारण है कि पूर्वचेतावनी की स्थिति में अभिवृत्ति परिवर्तन काफी कम होता है। इस तरह से पूर्वचेतावनी व्यक्ति को पहले से शस्त्र-सज्जित कर देती है ताकि वह अपनी अभिवृत्ति पर प्रभावी संचारण के पड़ने वाले प्रभाव को नाकामयाब कर दें।

3.8.3 अभिवृत्ति टीका- समाज अभिवृत्ति में अभिवृत्ति टीका का संप्रत्यय मैकगुरी द्वारा प्रतिपादित किया गया है। इनका विचार था कि जिस तरह से बच्चों को पोलियो, कुकुरखांसी आदि का टीका लगा देने से भविष्य में बच्चे, पोलियो तथा कुकुरखांसी के प्रभाव से मुक्त हो जाते हैं, ठीक उसी तरह से यदि किसी व्यक्ति की अपनी अभिवृत्ति के विपरीत विचारों से हल्के-फुल्के ढंग से यदि पहले से ही अवगत करा दिया तो बाद में उसकी अभिवृत्ति में परिवर्तन करने के लिए जो प्रभावी संचारण किया जाता है, उसका उसकी अभिवृत्ति पर कोई असर नहीं पड़ता है। ऐसा इसलिए होता है कि व्यक्ति को पहले से अपनी अभिवृत्ति के विपरीत विचारों द्वारा झटका या 'टीका' लगा दिया गया होता है। इससे उसमें ऐसे विचारों को सहने की शक्ति तीव्र हो जाती है। मैकगुरी ने इस तरह की मानसिक स्थिति को 'अभिवृत्ति टीका' की संज्ञा दी है। 'अभिवृत्ति टीका' की वैधता को दिखाने के लिए अनेक प्रयोग पहले किये गये हैं और आज भी किये जा रहे हैं। इन अध्ययनों में मैकगुरी तथा पापेजियार्गिस द्वारा किया गया अध्ययन काफी महत्वपूर्ण एवं प्रचलित है। इस अध्ययन में प्रयोज्यों के तीन समूह बनाये गये-सहायक रक्षा समूह, खण्डन रक्षा समूह तथा नियंत्रित समूह। सहायक रक्षा समूह के छात्रों को विभिन्न विषयों एवं समस्याओं से सम्बन्धित उनकी अभिवृत्ति के समर्थन में कुछ सूचनाएं दी गयीं। खण्डन रक्षा समूह के छात्रों को उन्हीं विषयों एवं समस्याओं से सम्बन्धित उनकी अभिवृत्ति के विपरीत कुछ कमजोर तर्क दिये गये जिन्हें बाद में प्रयोगकर्ता द्वारा खण्डित किया गया। इस तरह से इस समूह को अपनी अभिवृत्ति के विपरीत विचारों द्वारा हल्का झटका नहीं दिया गया। नियंत्रित समूह को किसी तरह का संचारण नहीं दिया गया। कुछ दिनों के बाद तीनों समूहों के प्रयोज्यों को इन समस्याओं एवं विषयों से सम्बन्धित ऐसी सूचनाएं एवं संचरण दिये गये, जो उनकी अभिवृत्ति के बिलकुल विपरीत थे। परिणाम में देखा गया कि खण्डन रक्षा समूह के छात्र, अन्य दोनों समूहों के छात्रों की तुलना में ऐसी विपरीत सूचनाओं एवं संचारणों से कम प्रभावित हुए। फलस्वरूप विपरीत सूचनाओं एवं संचारणों की दिशा में ऐसे छात्रों में अन्य दोनों समूह के छात्रों की अपेक्षा अभिवृत्ति में परिवर्तन कम हुआ। इस अध्ययन से यह स्पष्ट हो जाता है कि अभिवृत्ति टीका भी अभिवृत्ति परिवर्तन में एक प्रमुख बाधक कारक है।

निष्कर्ष यह है कि अभिवृत्ति परिवर्तन के लिए किया गया प्रभावी संचारण हमेशा प्रभावकारी नहीं होता क्योंकि प्रतिघात पूर्वचेतावनी एवं अभिवृत्ति टीका की परिस्थिति ऐसी होती है जिनमें वैसे संचारण का प्रभाव बिलकुल ही कम हो जाता है।

3.9 अभिवृत्ति परिवर्तन के उदाहरण

हाल के वर्षों में, इस बात की ओर एक व्यापक रुचि रही है कि अपने देश की जनता की अभिवृत्तियों तथा दूसरे देशों की जनता के प्रति अपनी अभिवृत्तियों में क्रियाशील होकर परिवर्तन लाए जाएं। देश के भीतरी समूह तथा सरकार दोनों ही विभिन्न समस्याओं के प्रति लोगों की अभिवृत्तियों को बदलने में संलग्न है। सन् 1930 में संयुक्त राष्ट्र अमेरिका में, रुजवेल्ट ने कर्मचारियों तथा किसानों के प्रति वहां के लोगों की अभिवृत्तियों में भारी परिवर्तन किए, क्योंकि उसे 'मंदी' से उत्पन्न आर्थिक समस्याओं का निवारण करना था। इसी प्रकार ग्रेट ब्रिटेन की लेबर पार्टी ने मजदूर वर्ग की समस्या के प्रति वहां के लोगों की अभिवृत्तियों में भारी परिवर्तन किए। भारत में गांधी जी ने उन लाखों लोगों की अभिवृत्तियों को बदलने के लिए विशाल कार्य को हाथ में लिया, जो अंग्रेजी अधिराजत्व के प्रति या तो उदासीन थे अथवा वस्तुतः भयभीत। उन्होंने भारतीयों में 'स्वराज' तथा प्रजातंत्र के प्रति अनुकूल अभिवृत्ति विकसित करने और विदेशी शासन के विरुद्ध अभिवृत्ति बनाने का प्रयत्न किया। ठीक तभी उन्होंने अंग्रेजों की अभिवृत्ति को बदलने का प्रयत्न भी किया ताकि वे उपनिवेशवाद का अंत करने के अनुकूल हो सकें तथा निम्न शस्त्र सत्याग्रहियों के विरुद्ध हिंसा का प्रयोग करने के प्रतिकूल हो सकें।

उसके बाद उन्होंने हिन्दुओं की अभिवृत्ति में परिवर्तन लाने का प्रयास किया ताकि वे मुसलमानों, हरिजनों तथा अन्य अल्पसंख्यक वर्गों के प्रति अनुकूल रुख अपना सकें। इसी भांति, उन्होंने मुसलमानों की अभिवृत्ति को बदलने की कोशिश की, ताकि वह अभिवृत्ति हिन्दुओं के अनुकूल हो सके। गांधीजी ने राजनैतिक, सामाजिक, आर्थिक, धार्मिक, शैक्षणिक तथा अन्य अनेक क्षेत्रों में परिवर्तन किए हैं। यह हमारी अभिवृत्तियों का पूर्ण तथा व्यापक रूप से परिवर्तन ही है जिसके बल पर गांधी ने एक राष्ट्र का निर्माण किया जिसने स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद आने वाली सभी कठिनाइयों को झेल लिया है।

विश्व के सभी देशों की सरकारें लोगों की अभिवृत्तियों को बदलने के लिए सक्रिय रूप से लगी हैं। उदाहरणार्थ, संयुक्त राष्ट्र अमेरिका, ग्रेट ब्रिटेन, जर्मनी, जापान, रूस तथा अन्य सभी उच्च विकसित राष्ट्र अब यह अनुभव कर रहे हैं कि एशिया, अफ्रीका और दक्षिणी अमेरिका के अल्पविकसित देशों की सहायता करना उनका कर्तव्य है ताकि ये राष्ट्र खुशहाल हो सकें। यह बात मानव-इतिहास में बिलकुल नई है। लूटपाट, जीत तथा उपनिवेशवाद को छोड़कर अब कमजोर तथा अल्प विकसित देशों को आत्मनिर्भर एवं आर्थिक दृष्टि से खुशहाल बनाना है। उदाहरणार्थ, भारत में कृषकों की अभिवृत्ति को बदलने के लिए अनेक प्रयत्न किए जा रहे हैं ताकि वे कृषि, रासायनिक खादों, पशु-पालन, सहकारी समितियों आदि की नई विधियों को अपना सकें। इसी तरह उद्योगपतियों की अभिवृत्ति बदलने के प्रयास किए जा रहे हैं, ताकि वे केवल व्यक्तिगत लाभ के लिए ही काम न करें, बल्कि सारे देश की आर्थिक खुशहाली के लिए कार्य करें। इसी प्रकार व्यावसायिक वर्ग की अभिवृत्तियां बदली जा रही हैं जिससे वे असहाय ग्राहकों से अनुचित लाभ न उठाएं। अतः प्रत्येक देश में अभिवृत्तियों में परिवर्तन लाने के लिए सक्रिय कदम उठाए जा रहे हैं।

सामाजिक परिवर्तन की यह त्वरित गति राजनैतिक, आर्थिक तथा प्राविधिक क्षेत्रों में होने वाले अनेक परिवर्तनों पर निर्भर है। राजनैतिक दृष्टिकोण से अब यह अनुभव किया जाने लगा है कि उपनिवेशवाद के दिन बीत चुके हैं तथा प्रत्येक राष्ट्र को अपनी सरकार बनाने का अधिकार है। आर्थिक क्षेत्र में यह बात मानी जाती है कि प्रत्येक देश में अत्यन्त निर्धन तथा दलित वर्गों के लिए सुख-सुविधा के साधन जुटाना अत्यावश्यक है। फलतः प्रत्येक देश में, जीवन-स्तर उठाने के प्रयत्न किए जा रहे हैं ताकि कोई भी परिवार उन्नत-जीवन की परिस्थितियों से वंचित न रहे। प्रौद्योगिकी में जो विकास हुए हैं उन्होंने सम्पूर्ण विश्व को बहुत निकट ला दिया है। आकाशवाणी के द्वारा हम कुछ मिनटों में ही सारे संसार की घटनाओं के बारे में सूचना प्राप्त कर लेते हैं तथा जेट विमान के द्वारा हम कुछ घंटों में संसार के किसी भाग में यात्रा कर सकते हैं। विचार विकास के कारण संसार के प्रत्येक भाग में परिवर्तन हो रहे हैं। फलतः प्रत्येक देश में, लोगों के दृष्टिकोण बदलने के प्रयत्न हो रहे हैं ताकि उनमें आत्मविश्वास आ सके, वे कठिन कार्य कर सकें और अपनी जीवन-स्थितियों में परिवर्तन ला सकें। जिससे एक ही देश के भीतर या एक देश और दूसरे देश के भीतर समूह-समूह के बीच जीवन-स्तर की जो असमानता पाई जाती है वह दूर की जा सके।

4. विश्वास तथा अभिवृत्ति की आवश्यकता (Need of Beliefs and Attitudes)

विश्वासों का संगठन तथा पुनःसंगठन व्यक्ति में चलता रहता है। इससे विभिन्न विश्वासों तथा अभिवृत्तियों का पुनर्गठन होता रहता है तथा व्यक्ति में नये विश्वास व अभिवृत्तियां पैदा होती रहती हैं। यह प्रक्रिया व्यक्ति में चेतन या अचेतन दोनों ही रूपों में होती है। जो विश्वास व अभिवृत्तियां प्रत्यक्ष नहीं होतीं उन्हें बदलने के लिये व्यक्ति क्रियाशील रहता है। जब कोई विद्यार्थी स्कूल से कॉलेज में जाता है तो प्रथम वर्ष में बहुत से विश्वास बनाता है तथा बहुत से विश्वास बदलता है, तथा तृतीय वर्ष तक वह बहुत सी धारणाओं में परिवर्तन करता है तथा कॉलेज के बारे में अभिवृत्ति निर्माण कर लेता है। वे अभिवृत्तियां उसके कॉलेज पर्यावरणीय घटकों के अर्थ व अनुभवों पर निर्भर करती हैं। जब उसके पूर्व विश्वास नवीन अनुभवों से मेल नहीं खा पाते तो वह अन्य नवीन विश्वासों का निर्माण कर लेता है।

विश्वास तथा अभिवृत्ति दोनों का ही प्रमुख उद्देश्य विभिन्न लक्ष्यों को प्राप्त करना होता है। समस्या परिस्थितियों के प्रति अनुक्रिया करते समय व्यक्ति विश्वास व अभिवृत्तियों का संचय करता है, जो समस्या समाधान में व्यक्ति की हमेशा सहायता करती रहती हैं। विद्यार्थी कॉलेज आने के बाद विभाग, शिक्षक, विषय आदि के बारे में अपनी धारणायें बनाते हैं। जो उनके व्यवहार का, शिक्षा पाने के समय निर्धारित करती रहती हैं। यदि किसी विद्यार्थी ने किसी विषय के बारे में उच्च धारणा बना ली है

तो वह उस विषय को प्रेम करेगा, उसके आदर्शों को अपने जीवन में प्रयोग करेगा, उस विषय के शिक्षकों से अधिक सम्पर्क रखेगा, उनसे अधिक सीखेगा तथा अपने जीवन की समस्याओं को सुलझाने में उसका प्रयोग करेगा।

केवल व्यक्तिगत समस्या के समाधान के लिए नहीं, बल्कि समाज, राष्ट्र तथा संसार की, विभिन्न समस्याओं के समाधान में विश्वास तथा अभिवृत्तियों का प्रयोग किया जाता है। भारतीय व्यक्ति अमरीकी समाज व विज्ञान के बारे में अपने विश्वास व अभिवृत्ति उच्च धारणावाली बनाते हैं। ऐसी दशा में वे सदा अमरीकी लोगों से दोस्ती का हाथ बढ़ा सकते हैं। यद्यपि भारत-पाक युद्ध के दौरान अमरीकी सेना भारत के विरुद्ध पाकिस्तान की सहायता को भी आया। अमरीका, पाकिस्तान को सैनिक अस्त्र सहायता आदि भी देता है, फिर भी भारतीय उसके साथ मैत्री बनाये रखते हैं। यदि उसके स्थान पर चीन होता तो ऐसा नहीं होता क्योंकि चीन के प्रति ऋणात्मक अभिवृत्ति बन चुकी है। ऐसा इस कारण भी है कि अमरीका भारत को भी कई प्रकार की सहायतायें प्रदान करता है, जैसे तारापुर ताप बिजली घर के लिए यूरेनियम, भारी पानी आदि। चीन से ऐसा कोई लाभ नहीं है। लोग अपनी तत्कालिक व मौलिक आवश्यकताओं की संतुष्टि के कारण अपने को पुरस्कृत समझते हैं। इस प्रकार की संतुष्टि, चाहे वह केवल मानसिक ही हो, मानसिक तनाव को कम करती है। इससे व्यक्तियों में, समूहों के प्रति आस्था केवल विश्वास व अभिवृत्ति के आधार पर ही बन जाती है।

विश्वास तथा अभिवृत्ति व्यक्ति के व्यक्तित्व को सतत गत्यात्मकता प्रदान करते रहते हैं। ये व्यक्ति को प्रति दिन के प्रत्यक्षज्ञान व क्रियाओं का अर्थ बताकर उसके लक्ष्य की ओर क्रिया निर्धारण करते हैं। एक ही विश्वास या अभिवृत्ति कई लक्ष्यों की संतुष्टि कर सकती है तथा दूसरी ओर कई विभिन्न आवश्यकताओं द्वारा एक ही व्यवहार संगठित हो सकता है। इस पूर्णाकार प्रक्रिया का सही वर्णन करना अति कठिन है, क्योंकि विश्वास या अभिवृत्ति एक तो बहुत कठिन प्रक्रिया है तथा उसकी प्रत्यक्षज्ञान, प्रेरणा आदि से भिन्नता करना भी उतना ही कठिन है। जहां विश्वास व अभिवृत्ति की चर्चा की जाएगी वहां तनाव, प्रत्यक्षज्ञान, प्रेरणा, संवेग, संज्ञान सभी का मिश्रण रहता है तथा वे शुद्ध विश्वास या अभिवृत्ति नहीं होगी। फिर भी इसका अर्थ यह नहीं कि विश्वास तथा अभिवृत्ति की कोई परिसीमा ही नहीं।

5. विश्वास, अभिवृत्ति तथा तथ्य (Belief, Attitude and Facts)

अभिवृत्ति के मनोवैज्ञानिक अध्ययन के लिए यह आवश्यक है कि उनका सम्बन्ध उन तथ्यों से ज्ञात किया जाए, जिससे उनका सम्बन्ध व्यक्ति के वास्तविक जीवन से जोड़ा जा सके। बहुधा यह सुनने को मिलता है कि पुरुषों की अपेक्षा महिलाओं में कम बुद्धि होती है। यह लोगों का विश्वास है तथा वे इसी के आधार पर उनके प्रति अभिवृत्ति बना लेते हैं। लेकिन मनोविज्ञान द्वारा एकत्रित तथ्यों से पता लगता है कि उनकी बुद्धि में कोई सार्थक अंतर नहीं होता। कार्लसन के एक अध्ययन से यह पता चलता है कि विश्वास तथा तथ्य में सहसम्बन्ध केवल 20 है। उन्होंने 1928 के अमरीका में राष्ट्रपति पद के लिये उम्मीदवारों के बारे में तथ्य एकत्रित किये तथा 357 कॉलेज के विद्यार्थियों से उनके बारे में राय ली। जिन विद्यार्थियों को उम्मीदवारों के बारे में ज्ञान था उनकी राय भी औसत तथ्य से कम थी। इस प्रकार तथ्यों के ज्ञान की तीव्रता पर विश्वास की तीव्रता निर्भर नहीं करती।

उपरोक्त वर्णन से यह प्रतीत होता है कि व्यक्ति बिना सत्यता के आधार पर भी बहुत से विश्वास बना लेते हैं। इस प्रकार के विश्वासों को अतार्किक या असंज्ञानात्मक ही कहा जा सकता है। ईश्वर या धर्म के बारे में विश्वास किसी तथ्य पर निर्भर नहीं है। फिर भी लोग उन्हें वास्तविक मानकर उन्हें अपने जीवन में उच्च भाव से मानकर, अपने व्यवहार को उस अनुरूप ढालते हैं। वे विश्वास एक वैज्ञानिक को मूर्खतापूर्ण लगते हैं, परन्तु उन्हें मानने वाले व्यक्ति के लिये वे बुद्धिपूर्ण होते हैं। यह इस कारण भी होता है कि लोग वैसी धारणायें सदा से मानते आ रहे हैं तथा उन धारणाओं को बदलना नहीं चाहते। दूसरा कारण यह भी है कि धार्मिक नेता इस प्रकार का लगातार प्रचार करते हैं व व्यक्ति उससे धर्मान्ध बने ही रहते हैं। यद्यपि व्यक्ति प्रकृति से सचाई की खोज में सदा रहता है, परन्तु अचेतन विश्वास भी उसके साथ चलते रहते हैं। भाग्यवादिता, टोटके, रीति-रिवाज, शकुन, अपशकुन आदि अटपटे लगने के बाद भी लोग उन्हें छोड़ नहीं सकते। इस प्रकार व्यक्ति के विकास तार्किक व

अतार्किक दोनों ही प्रकार के चलते रहते हैं। वैज्ञानिक जो सदा तर्क द्वारा ही प्रत्येक वस्तु गुण, संप्रत्यय आदि को तोलता है अतार्किक विश्वासों से छुटकारा नहीं पा सकता।

व्यक्ति विपरीत विश्वासों का सदा पालन करता रहता है तथा उनमें ऐसा अंतर्द्वन्द्व नहीं होता कि एक-दूसरे को नष्ट कर दे। इसका कारण यह है कि वे किसी एक विश्वास संगठन के भाग नहीं हैं बल्कि स्वतंत्र रूप से पृथक-पृथक कार्य करते हैं। यदि वे एक ही विश्वास संगठन के भाग बनने लगते हैं तो विश्वास बदलने लग जाते हैं। बालक धार्मिक व अतार्किक बातों में विश्वास कर लेता है, परन्तु युवा होने पर जब उसमें तार्किकता बढ़ती है तो वह वैज्ञानिक बन जाता है तो वह धर्म की बुराई करता है तथा अतार्किक विश्वासों से दूर भागता है। अगर वह अति तार्किक होता है तो असामाजिक व एकांकी बन जाता है। समाज के अधिकांश लोग विभिन्न अतार्किक विश्वासों को लेकर चलते हैं, तथा उनकी उस व्यक्ति (वैज्ञानिक) से अंतःक्रिया उसे सदा उन विश्वासों के बारे में कोसती रहेगी। दूसरे, उस वैज्ञानिक का बचपन उस समाज में गुजरा जहां उसने केवल अतार्किक विश्वास इकट्ठे किये, उन्हें पूर्णतः नकार नहीं सकता। ईश्वर सम्बन्धी विश्वास को कितने ही तर्कों पर उतारा जाय पर वह केवल विश्वास ही रहता है तथा हर व्यक्ति को किसी न किसी रूप में मानना पड़ता है। सत्य होते हुए भी उसे किसी सत्यता द्वारा वर्णित नहीं किया जा सकता। इसी कारण वह विश्वास बना रहता है।

व्यक्ति के कुछ विश्वास— जैसे अंधविश्वास, भ्रमासक्ति, पूर्वाग्रह, रूढ़धारणा आदि का कुछ संज्ञानात्मक रूप होने के कारण उनकी परिभाषायें या तो तथ्यों पर आधारित हैं या केवल मनोवैज्ञानिक आधार पर। समाज मनोविज्ञान में इनकी चर्चा प्रायः पर मिलती है तथा उन्हें तथ्य व मनोवैज्ञानिक आधारों से वर्णित पाया जाता है। अंधविश्वास अलौकिक या अति-प्राकृतिक वर्णन किया जाए तो वे वस्तुगत आकृति में आ जाते हैं। अतः उनका वर्णन कुछ घटनाओं व व्यवहारों द्वारा किया जाता है। इस प्रकार का वर्णन समाजशास्त्र के लिये तो अति उपयोगी होता है, परन्तु मनोविज्ञान के लिये उतना नहीं। भ्रमाशक्तियां वे रुग्ण विश्वास हैं जो व्यक्ति की प्रकृति में अंदर तक बैठ जाती हैं। यद्यपि वे बिलकुल वस्तुगत तथ्य नहीं प्रतीत होता फिर भी उनके मनोवैज्ञानिक वर्णन दिये जा सकते हैं। यदि किसी सीधे साधे व्यक्ति के बारे में कोई कहे कि वह यंत्रणाकारी है, तो हो सकता है कि यह बात सच न हो, लोग उसे विश्वास कम ही करें, परन्तु जब चलते-फिरते लोग, होटल में बैठे लोग चर्चा करें व गुप्तचर विभाग के लोग उसका पीछे करें, तो उसकी प्रतिष्ठा कम होगी व गलत बात भी तथ्य प्रमाणित होने लगेगी। पूर्वाग्रह भी इसी प्रकार अतथ्य का तथ्य बना सकते हैं। पूर्वाग्रह, व्यक्ति की घटना होने से पूर्व की धारणा है। ऐसा निर्णय गलत भी हो सकता है, तथा सही भी। समाज मनोविज्ञान में पूर्वाग्रह व्यक्ति के ऐसे ही पूर्व निर्णय का ज्ञान है, जो धनात्मक या ऋणात्मक हो सकता है। समाज मनोविज्ञान में उसे तथ्य मानकर ही उसकी विवेचना की जाती है। रूढ़शक्तियां अधिकतर पूरे समाज में ही फैली हुई धारणायें होती हैं। ये सभी विश्वास व्यक्तियों में घर कर जाते हैं तथा जीवन पर्यन्त बने रहते हैं। ये विश्वास तथ्य रूप में इसलिये माने जा सकते हैं कि लोग उन्हें तथ्यों के रूप में ही देखते हैं तथा उनका मनोवैज्ञानिक विवेचन किया जा सकता है।

ब. संघर्ष निराकरण का इतिहास

प्रायः यह कहा जाता रहा है कि विश्व का इतिहास युद्धों का इतिहास है। मानव जाति ने हजारों युद्धों का सामना किया है तथा वह अब भी युद्धों से अपने आप को उबार नहीं पाई है। यदि युद्ध इसी रूप में मानव जाति के समक्ष होते रहें तो वह दिन दूर नहीं जब मानव जाति का अस्तित्व ही संकट में पड़ सकता है। इसीलिए मानव जाति का प्रयास इस ओर होने लगा है कि कैसे वे अपने आपको युद्ध से बचायें तथा संघर्षों का समाधान शांतिपूर्ण तरीकों से करें। द्वितीय विश्व युद्ध के बाद सम्पूर्ण शीतयुद्ध काल में शक्ति के लिए सौदेबाजी होती रही। कलह-शमन का ऐतिहासिक उद्भव 1950 और 1960 के दशक से प्रारम्भ हुआ। उस समय परमाणु अस्त्रों के विकास और महाशक्तियों के बीच संघर्ष के कारण शीत युद्ध अपने चरम पर था। विभिन्न विषयों के जाने-माने विद्वानों ने कलह-शमन के अध्ययन के महत्त्व को समझा और यह जानने की कोशिश की कि क्या यह अंतर्राष्ट्रीय सम्बन्धों, घरेलू राजनीति, औद्योगिक सम्बन्धों, समुदायों, परिवारों और व्यक्तियों के बीच लागू किया जा सकता है या नहीं। उन्होंने उन मूलभूत मुद्दों को देखा जो प्रबन्धन, औद्योगिक सम्बन्ध, समाज कार्य, सामाजिक मनोविज्ञान, अंतर्राष्ट्रीय सम्बन्ध और संचार के क्षेत्र में उद्भूत हो रहे थे। यद्यपि उन्होंने इसे बहुत गंभीरता से नहीं

लिया किन्तु अंतर्राष्ट्रीय सम्बन्ध के क्षेत्र में भी इसे गंभीरता से नहीं लिया गया क्योंकि परम्परागत विचारों, संस्थाओं तथा राजनीतिज्ञों को इससे समायोजित करना बहुत सरल कार्य नहीं था। इसलिए कलह शमन का विचार 70 व 80 के दशक में कुछ गति पकड़ पाया तथा कई संस्थाओं व उच्च स्तरीय पत्रिकाओं का उद्भव हुआ जिन्होंने अंतर्राष्ट्रीय संकटों, आंतरिक युद्ध, सामाजिक संघर्ष आदि क्षेत्रों में वार्ताओं और मध्यस्थता का परीक्षण किया। 1980 के दशक का समय संक्रमण काल का था। इस काल में शक्ति के लिए सौदेबाजी और वार्ताओं का स्थान, संघर्ष के विश्लेषण और परस्पर सहमति के विकल्पों की खोज ने ले लिया। इसके पश्चात् केन्द्र बिन्दु शक्ति के लिए सौदेबाजी की अपेक्षा प्रक्रियाएँ बनी तथा इस बात के लिए प्रयास किया गया कि कैसे संघर्षरत पक्षों के बीच परस्पर बैठकों का आयोजन किया जाये? संघर्षरत दो पक्षों के बीच हस्तक्षेप मुख्यतः कुछ आदर्शों पर आधारित था और कुछ "ट्रायल और एरर" पर आधारित था।

1980 के दशक में ही इसके सिद्धान्तों व शब्दावली को लेकर भी कुछ भ्रम की स्थिति उत्पन्न हुई थी। उस समय अधिकाधिक विश्वविद्यालय संघर्ष-निराकरण के क्षेत्र में विभिन्न-पाठ्यक्रम व अनुसंधान प्रारम्भ करने के इच्छुक थे। कुछ सरकारें जिनमें आस्ट्रेलिया, कनाडा, अमेरिका आदि सम्मिलित हैं। वे इस उद्देश्य की संपूर्ति के लिए शोध संस्थान स्थापित करने के लिए उद्धृत थे तब भी संघर्ष निराकरण की विषय-वस्तु और दृष्टिकोण पर स्पष्ट सहमति नहीं थी क्योंकि कलह-शमन का क्षेत्र अत्यन्त विस्तृत है। इसका क्षेत्र सामान्य मतभेद से लेकर नक्षत्र युद्ध तक है। शक्ति के लिए सौदेबाजी, कानूनी दृष्टिकोण, अभिवृत्ति परिवर्तन, समस्या समाधान आदि के द्वारा भी संघर्ष निराकरण को अलग-अलग दृष्टि से परिभाषित किया जाता रहा है। चूंकि संघर्षरत पक्षों के बीच बैठक का आयोजन महत्वपूर्ण होता है, इसके लिए यह आवश्यक था कि दोनों पक्षों को सृजनात्मक तथ्य प्रस्तुत किये जायें। पक्षों को सृजनात्मक तथ्यों की प्रस्तुति के लिये आवश्यक था कि उन्हें स्थिति विशेष की जानकारी के साथ उस क्षेत्र में किये जा रहे अनुसंधानों की भी जानकारी दी जाये। इस दृष्टि से तीसरे पक्ष की भूमिका अत्यन्त महत्वपूर्ण हो गई।

संघर्षरत राज्यों के बीच हस्तक्षेप के लिये, गलतियों से सबक लेने जैसी विचारधारा के लिए भी कोई गुंजाइश नहीं थी। तीसरे पक्ष द्वारा हस्तक्षेप एक गंभीर व्यावसायिक हस्तक्षेप था जिसमें संभावना का कोई स्थान नहीं था। ऐसे हस्तक्षेप में उच्च स्तरीय अनुमान और निश्चितता का मिश्रण आवश्यक था। इस काल के विश्लेषण से पूर्व संघर्ष निराकरण के इतिहास पर दृष्टिपात करना आवश्यक होगा ताकि इसके विकास को रेखांकित किया जा सकें। "The reasons which have led us to this enterprise may be summed up in two propositions. The first is that by far the most important practical problem facing the world today is that of international relations- more specifically the prevention of global war. The second is that if intellectual progress is to be made in this area the study of international relations must be made on interdisciplinary enterprise, drawing its discourses from all the social sciences and even further".(Kenneth Boulding on the publication of the issue of the Journal of Conflict Resolution on 1957.)

1. कानून और व्यवस्था मॉडल- 1945 में जब संयुक्त राष्ट्र संघ उदय में आया तब विश्व समाज एवं केन्द्रीय संघीय व्यवस्था को केन्द्र में रखा गया था। संयुक्त राष्ट्र में अधिकारियों को शांति बहाल या कायम रखने के लिए सभी अधिकारों के साथ एक अंतर्राष्ट्रीय न्यायालय का प्रावधान था जो अंतर्राष्ट्रीय कानूनों को सुनिश्चित कर सके। एक सुरक्षा परिषद् का भी प्रावधान रखा गया था जो शक्ति का प्रयोग कर सकती थी तथा सभी सदस्य राष्ट्र, एक उद्देश्य विशेष के लिए इसे सेना प्रदान करते थे। अर्थात् सम्पूर्ण विश्व समाज "एक राष्ट्र" के सिद्धान्त के साथ निर्मित किया जाना था। कानून व व्यवस्था, बहुमत का शासन, समाज हित- ये कुछ ऐसे सैद्धान्तिक विचार थे जिन्होंने उस समय के राजनैतिक चिंतन को विकसित किया था।

2. दार्शनिक असफलता- चूंकि उस समय शक्ति की पूजा की जाती थी इसलिए दर्शन भी शक्ति का ही दर्शन था। समान हित का सिद्धान्त घरेलू एवं अंतर्राष्ट्रीय दोनों ही स्तरों पर बहिष्कृत हो गया था। हित या समान हित वहीं थे जो शक्तिशाली लोगों के द्वारा माने जाते थे। प्रसिद्ध राजनीतिशास्त्री मार्गन्थो ने 1948 में एक विचार दिया था कि शक्तिशाली होना और शक्ति का प्रयोग-ये ही स्थिरता दे सकते हैं और स्थिरता ही सबका समान हित हो सकता है।

अनुभव के द्वारा तब तक यह स्पष्ट हो गया था कि संयुक्त राष्ट्र संघ का विश्व समाज बनाने का विचार और शक्ति बनाये रखने का तरीका— दोनों ही गलत साबित हुए। हम ऐसे ही लोगों को स्वीकार करते हैं जो अपने क्षेत्र में प्रभावशाली नियंत्रण रखते हैं क्योंकि यह लोग कानून के अभाव में भी शक्ति के द्वारा कानून और व्यवस्था बनाये रखते हैं। शक्ति या बल प्रयोग से व्यवस्था बनाये रखना संघर्ष का ही एक प्रकार है और यह धीरे-धीरे अंतर्राष्ट्रीय समाज में घर कर जाता है। सैनिक ताकत का प्रयोग कानून और व्यवस्था के लिए बहुत-सी सरकारों में आम बात है। समकालीन विश्व समाज के कानूनी नियम आवश्यक रूप से वैसे नहीं हो जो अपने सदस्यों का विकास करते हों अर्थात् शक्ति के प्रयोग से ही कानून और व्यवस्था बनाई रखी जा सकती है किन्तु यहां विचारणीय यह था कि क्या बल प्रयोग को संघर्ष निराकरण कहा जाये?

संयुक्त राष्ट्र दो प्रकार से गलत साबित हुआ। एक तो इसके बहुत से सदस्यों के पास अधिकृत शक्ति थी और दूसरा यह कि घरेलू संघर्ष के स्रोत, अंतर्राष्ट्रीय संघर्षों में परिणित होते चले गये जिससे महाशक्तियों के बाह्य हस्तक्षेप को बढ़ावा मिला। यद्यपि इन राष्ट्रों के पास न्यायिक घरेलू व्यवस्था थी जिससे वे अपनी समस्याओं का समाधान स्वयं कर सकते थे परन्तु उन्होंने अपने घरेलू अधिकारों का प्रयोग नहीं किया। फलस्वरूप विश्व समुदाय गंभीर समस्या से ग्रस्त हो गया क्योंकि ऐसा कोई संस्थान नहीं था जो उनकी घरेलू समस्याओं में हस्तक्षेप करके समाधान दे सकें। संयुक्त राष्ट्र संघ ही एक मात्र ऐसा संस्थान था जो परस्पर स्वीकृति के आधार पर ऐसी समस्या को हल कर सकता था किन्तु घरेलू समस्याग्रस्त राष्ट्रों का रुझान महाशक्तियों की तरफ था। क्योंकि वे इस बात से भयाक्रान्त रहते थे कि कहीं उनका घरेलू संघर्ष वैचारिक अंतर्राष्ट्रीय संघर्ष का रूप न ले लें। इसलिए वे अपने संघर्ष को संयुक्त राष्ट्र संघ के समक्ष नहीं प्रस्तुत करते थे।

एक ओर गंभीर समस्या यह थी कि संयुक्त राष्ट्र संघ के पास अंतर्राष्ट्रीय समस्याओं के हस्तक्षेप का कोई विशेष अधिकार नहीं था और जो कुछ भी अधिकार था वह भी उस समय प्रयुक्त नहीं किया जा सकता था। जब स्थायी सदस्यों में से एक सदस्य उस पर वीटो का प्रयोग कर देता। घरेलू मामलों में तो हस्तक्षेप का अधिकार संयुक्त राष्ट्र संघ को था ही नहीं। अन्य मामलों में सुरक्षा परिषद के माध्यम से शक्ति के प्रयोग के द्वारा संघर्ष समाप्त करने की कोई बात होती तो भी उसकी अपनी कोई सेना नहीं थी। इन प्रश्नों पर विचार करना चाहिये कि शांति बनाये रखने की सीमित भूमिका के अतिरिक्त उन क्षेत्रों में भी संयुक्त राष्ट्र की भूमिका क्यों नहीं महत्वपूर्ण हो सकी जो उसके अधिकार में थी। क्षेत्रीय संस्थानों के साथ संयुक्त राष्ट्र संघ क्यों अपना प्रभाव छोड़ नहीं सका तथा अमेरिका जैसा शक्तिशाली राष्ट्र भी क्यों मध्यस्थता की भूमिका में बहुत अधिक सफल नहीं हो सका?

3. औद्योगिक सम्बन्धों की खोज— दार्शनिक असफलता की खोज में उठे प्रश्नों के उत्तर भी कलह-शमन के इतिहास में ही मिलते हैं। लगभग 63-64 वर्षों के बाद शायद ही यह विश्वास होते कि 1945 में संयुक्त राष्ट्र संघ का चार्टर बनाया गया था। उस समय परम्परागत कानून के अतिरिक्त कलह-शमन पर कोई स्पष्ट विचार उपलब्ध नहीं थे। कलह-शमन का घरेलू मॉडल ही उस समय प्रयोग में था तथा उसका लक्ष्य जर्मनी, इटालियन और जापानी प्रकार के संघर्षों को रोकना था। कुछ शिक्षित व्यक्ति ही ऐसे थे जो यह पूछते थे कि यह संघर्ष क्यों होते हैं? इनके पीछे क्या परिस्थितियाँ हैं और क्या इन समस्याओं का हल भी है? युद्ध के दौरान तो ऐसे प्रश्न उठते भी नहीं थे। 1960 के दशक के प्रारम्भ तक सत्तात्मक सिद्धान्त को चुनौती भी नहीं दी जा सकती थी।

1964 में ब्लैक, सी.पोर्ट एवं कुछ अन्य चिंतकों ने प्रबंधकों एवं श्रमिकों के बीच अंतरक्रियाओं को आवश्यक माना तथा निर्णय-प्रक्रिया में भी सभी की भागीदारी पर बल दिया। यह विचार अंतरक्रियाओं पर आधारित निर्णय-प्रक्रिया का था। इस प्रक्रिया में केवल प्रभावी पक्षों के आधार पर ही निर्णय नहीं लिया जाता था। 1986 में समस्या समाधान के सिद्धान्त का विकास हुआ जिसमें अंतरक्रियाओं पर आधारित प्रक्रिया में विभिन्न स्तरों पर अपने-अपने अनुभवों का आदान-प्रदान किया जाता है। कलह-शमन और निर्णय-प्रक्रिया के क्षेत्र में यह एक महत्वपूर्ण विकास था।

4. अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर अंतराल काल— कालांतर में अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर कुछ परिवर्तन हुये। उस समय मूलभूत दर्शन यह था कि व्यक्ति आक्रामक है फलस्वरूप राष्ट्रीय सुरक्षा, राज्य की प्राथमिक नीति है और शक्ति की श्रेष्ठता प्राप्त करना राज्य का प्रमुख लक्ष्य है। इस दर्शन ने अपने प्रतिद्वन्द्वी पर आधारित

कुटनीति, राजनीति और शस्त्रों के विस्तार को जन्म दिया। संयुक्त राष्ट्र की भूमिका केवल मध्यस्थ तक सीमित रही और समस्या समाधान पर आधारित सिद्धान्तों का सर्वथा अभाव रहा।

1983 में महासभा सचिव ने अपनी रिपोर्ट में कहा कि सुरक्षा परिषद को और अधिक मजबूत करके कहल शमन के क्षेत्र में हम और भी प्रभावशाली हो सकते हैं। इस सुझाव के अतिरिक्त परम्परागत मध्यस्थ प्रक्रिया का और कोई विकल्प नहीं सुझाया जा सका। इसलिए इस काल को अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर अंतराल काल कहा गया। इस काल में कलह-शमन के क्षेत्र में कोई विकास नहीं हो सका।

5. सोच में परिवर्तन— विकास के इस चरण में गैर अधिकारी स्तर पर कुछ ऐसे प्रयोग हुए जिनमें बिलकुल अन्य दर्शन का उदय हुआ। यह परिवर्तन इतना तीव्र था कि राजनीतिज्ञ व शांतिकर्मी इस विकास का अनुगमन करने में प्रायः असमर्थ थे। ब्रिटिश वकीलों के समूहों ने यह विचार रखा कि संयुक्त राष्ट्र संघ के चार्टर के अनुसार मध्यस्थ वार्ता, न्यायिक निर्णय, संराधन आदि के समक्ष जो समस्याएं हैं वे पर्याप्त हैं। वे इस निष्कर्ष पर पहुंचे कि राज्य इनके प्रयोगों के प्रति अनिच्छा प्रकट करते हैं। यदि नागरिक और राज्य विवेकी तथा कानून का पालन करने वाले हों तो उपर्युक्त संस्थाएं— वार्ता, संराधन, न्यायिक निर्णय आदि संघर्ष निराकरण के लिए पर्याप्त हैं।

उस समय शैक्षिक जगत भी दो भिन्न विचारधाराओं में बंटा हुआ था। एक तरफ वे लोग थे जिन्होंने परम्परागत या शक्ति के दर्शन को विचार को अपनाया और दूसरे जिन्होंने व्यावहारवादी दृष्टिकोण अपनाया। इनका यह मानना था कि कानून व बल प्रयोग के स्थान पर संघर्ष का समाधान सम्बन्धित पक्षों की परस्पर समझ और संघर्ष के स्वस्थ विश्लेषण के आधार पर किया जाना चाहिए। संघर्ष विश्लेषण के लंदन स्थित केन्द्र ने इस आधार वाक्य को ठीक करने की कोशिश की कि विवादित पक्ष कलह-शमन के लिए सहयोग नहीं करते। उन्होंने कहा—संघर्षरत पक्षों को, संघर्ष के समाधान के लिए संघर्ष विश्लेषण सत्रों में आने के लिए प्रेरित करना चाहिए। जहां वे परस्पर विचार एवं विश्लेषण के आधार पर एक निर्णय पर पहुंच सकें, जो विवाद ग्रस्त पक्षों को स्वीकार्य हो सकें। उन्हें न्यायालय की शरण में जाने से बचना चाहिए। उपर्युक्त प्रक्रिया शक्ति के लिए सौदेबाजी को हतोत्साहित करती है तथा सभी पक्षों के लक्ष्यों व उद्देश्यों की पूर्ति के लिए विश्लेषित प्रक्रिया पर बल देती है। यह प्रक्रिया, तीन चार ऐसे विद्वानों का, तीसरे पक्ष के रूप में समावेश करती है जिन्हें संघर्ष और मानव व्यवहार का अंतर विषयक ज्ञान हो। इस प्रक्रिया को राजनैतिक व औद्योगिक संघर्षों से तथा सामुदायिक स्तर पर जांचा, परखा गया।

6. सिद्धान्त का विकास— किसी भी सिद्धान्त के आधार वाक्यों के गलत सिद्ध हो जाने यह सिद्ध नहीं होता कि उसके स्थान पर दूसरा विकल्प स्वतः प्रस्तुत हो जायेगा। व्यवहारवादी सिद्धान्त जिसे अभी विकसित किया जाना था, केवल यही वर्णन नहीं करता कि वे भिन्न पक्ष संघर्ष निराकरण के वर्तमान प्रविधियों/संस्थाओं से क्यों नहीं मिलना चाहते बल्कि वह इस बात का संकेत भी देता है कि इन पक्षों द्वारा किस तरह की संस्थाएं स्वीकार्य होगी या उनके लिये सहयोगी होगी।

व्यवहारवादी सिद्धान्त और आवश्यकताओं का सिद्धान्त— ये ऐसे सिद्धान्त थे जिनके विकास में समाजशास्त्रियों ने महत्वपूर्ण योगदान दिया। इनमें से Paulsties ने शक्ति के वास्तविक दृष्टिकोण को व्यक्त करते हुये कहा कि शक्ति व्यक्तियों के समूह के पास सुरक्षित होगी और वे इसका प्रयोग मानवीय आवश्यकताओं को पूरा करने के लिये करेंगे।

जो पक्ष हिंसक संघर्ष की स्थिति में है चाहे वह ऐतिहासिक कारणों से हो या स्वयं के व्यवहार से हो उनके बीच मूल्यों पर आधारित सम्बन्ध नहीं होते किन्तु जब वे आवश्यकताओं को पूरा करने की कोशिश करते हैं तो वे हिंसा के प्रयोग में असंयमित हो जाते हैं। इन स्थितियों में हम मानवीय आवश्यकताओं व हितों में स्पष्ट भेद कर सकते हैं। भेद के आधार पर यह कहा जा सकता है कि जो भेद हितों को लेकर हैं उन्हें दूर किया जा सकता है किन्तु जो भेद मानवीय आवश्यकताओं व मूल्यों पर आधारित है, उन्हें किसी भी स्थिति में नहीं सुलझाया जा सकता। ऐसी स्थिति में यह आवश्यक है कि संघर्ष की स्थिति में हम वहां की राजनीतिक संरचना पर विशेष ध्यान दें। क्योंकि राजनीति व्यक्ति के पूर्ण विकास को सुनिश्चित करती है तथा उन समूहों की पहचान भी करती है, जिनसे वे व्यक्ति सम्बन्धित हैं। वास्तव में संघर्ष निराकरण के लिए की जाने वाली संगोष्ठियों में एक पेनल का योगदान, एक राजनीतिक संरचना में विवादित पक्षों के बीच समान मूल्यों को खोजना है। संघर्ष निराकरण

संगोष्ठियों में शक्ति के स्थान पर कार्यात्मक सहयोग एवं विकेन्द्रीकरण को महत्व दिया जाता है जिनके फलस्वरूप विभिन्न सांस्कृतिक समूहों में प्रभावशाली सहयोग तथा एक-दूसरे के प्रति सम्मान का भाव संभव हो पाता है।

संघर्ष निराकरण के सिद्धान्त के विकास में एक ओर विशेष पड़ाव रहा है जिनके अंतर्गत एक व्यक्ति व समूह के रूप में व्यवहारात्मक मानव सम्बन्धों का अध्ययन किया जाता है। व्यवहार का कोई नियंत्रित अध्ययन संभव नहीं है। किसी प्रकार का नियंत्रण गलत निष्कर्ष दे सकता है। व्यवहार से सम्बन्धित कुछ ऐसी स्थितियां भी हैं जिन पर किसी प्रकार का प्रयोग और परीक्षण संभव नहीं होता। उदाहरण के लिए रूस या अमेरिका अथवा अन्य कोई भी देश आक्रामक है, इसका परीक्षण नहीं किया जा सकता।

व्यवहारवादी विकास के साथ ही विज्ञान का दर्शन भी विकसित हो रहा था। जो विधि पहले वैज्ञानिक मानी जाती थी अब वही अवैज्ञानिक सिद्ध हो गयी। एक और संभावना विकसित हुई कि जो अनुभूत कार्य पहले नहीं किये जाते थे, अब उनका प्रारम्भ समस्याओं के समाधान के लिये हुआ। परम्परागत सिद्धान्त जैसे—कानून व व्यवस्था, समान—हित, बहुमत पर आधारित निर्णय, शासन करने का अधिकार आदि संघर्षों से निपटने के लिये आधार हुआ करती थी। यह ऐसी स्थितियां थी जिनमें राजनीतिक वैधता का अभाव हुआ करता था तथा लोगों की पहचान और विकास पर कोई ध्यान नहीं दिया जाता था तथा सत्ता उन्हें सौंप दी जाती थी, जो आक्रामक थे और जो संघर्ष के स्रोत थे।

7. वर्तमान—विकास— आवश्यकता के सिद्धान्त ने संघर्षरत पक्षों को तार्किक रूप से यह समझने के योग्य बनाया कि उनके उद्देश्यों के पीछे छिपे हुये कारण क्या हैं ताकि वे एक समान मानवीय आवश्यकताओं की पूर्ति कर सकें। चूंकि ये आवश्यकताएं सार्वभौमिक थी और मुख्यतः सुरक्षा, पहचान और विकास से सम्बन्धित थी। इनकी पूर्ति के लिए संसाधन भी कम नहीं थे। इनसे सम्बन्धित संघर्षों के निराकरण के लिए ऐसी प्रक्रिया खोजी गई जिससे दोनों पक्षों को जीत का अनुभव हो सकें। उस समय इस बात पर बल दिया जाता रहा था कि संघर्ष मूलतः हितों का संघर्ष है। इसलिए यदि व्यक्ति का समाजीकरण कर दिया जाये तो संघर्ष समाप्त किये जा सकते हैं। कालान्तर में यह भी स्पष्ट हुआ कि व्यक्ति का सम्बन्ध कुछ समान आवश्यकताओं से भी है तथा सुरक्षा, पहचान व विकास जैसी आवश्यकताओं पर आधारित व्यवहार का समाजीकरण लम्बे समय में भी संभव नहीं था। यह विश्लेषण व सोच एक महत्वपूर्ण विकास था जिसने न केवल संघर्ष निराकरण की भूमिका को स्पष्ट किया न केवल संघर्ष निराकरण के क्षेत्र के संदेहों को दूर भी किया। यह भी स्पष्ट किया कि संघर्ष की कुछ स्थितियों में निराकरण के लिए परम्परागत वार्ताएं सार्थक थीं तथा कुछ स्थितियों में समस्या समाधान की प्रवृत्ति अधिक सार्थक थी। इस विकास से आगे आने वाले समय में यह और भी अधिक स्पष्ट हुआ कि किन स्थितियों में हम किन प्रवृत्तियों का प्रयोग किया जाए। आने वाले समय में यह भी स्पष्ट हुआ कि कब मानवीय हित, सांस्कृतिक मूल्यों में बदल जाते हैं और कब सांस्कृतिक मूल्यों को हम मानवीय हितों के रूप में देखने लगते हैं। हमारे पास यदि कुछ और भी प्रविधियां हों तो ऐसी समस्याओं से सहज ही निपटा जा सकता है।

8. निपटारे की प्रक्रिया स्वयं ही संघर्ष के कारण के रूप में—संघर्ष के इतिहास के अवलोकन से यह तथ्य भी सामने आया कि शक्ति के लिए सौदेबाजी तथा मध्यस्थता जैसी संघर्ष समाधान की पारम्परिक विधियां स्वयं ही संघर्ष का कारण बन जाती हैं। ऐसी स्थितियां वे होती हैं जो हमें तत्काल समाधान की ओर तो ले जाती हैं किन्तु विवाद से जुड़े मुद्दों का कोई समाधान नहीं करती। ऐसा ही खतरा शांति सेना के साथ भी जुड़ा हुआ है। समाचार विश्लेषण व सुविधाओं के अभाव में संघर्ष निराकरण धीरे-धीरे संघर्ष का संस्थाकरण कर देता है और फिर इसका समाधान अत्यन्त कठिन होता है।

9. परिवर्तन की समस्या—सक्षम प्राणी ही जीवित रह सकता है—इस विचार में परिवर्तन किये जाने की आवश्यकता है। जिसके पास नेतृत्व हैं, तथा सभ्य समाज उस ताकत को सुरक्षित रखना चाहते हैं जो उसकी देख-रेख में है अथवा उसके पास है जब तक की उन पर और अधिक शक्तिशाली लोग अधिकार न कर लें। समाज सदैव संघर्षरत रहा है क्योंकि उसके कुछ वर्ग परिवर्तन चाहते हैं और ऐसा परिवर्तन उनकी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए आवश्यक भी है किन्तु कुछ वर्ग ऐसे परिवर्तन से भयभीत भी होते हैं क्योंकि ऐसा परिवर्तन उनके हितों के लिए खतरा है।

परिवर्तन के साधनों के रूप में हमने विद्रोह, विपत्त्व, क्रांति और आतंक के अलावा और कोई विकास नहीं किया। ये साधन प्रायः समाज विरोधी हैं। हमारे पास शक्ति व हिंसा के प्रयोग के अलावा परिवर्तन का अन्य कोई सिद्धान्त नहीं है। संघर्ष निराकरण के लिए जो प्रविधियाँ हाल ही में विकसित की गई हैं वे उसी सीमा तक सफल हो पाती हैं जिस सीमा तक विवादग्रस्त पक्ष परस्पर परिवर्तन के लिए सहमत होते हैं, संघर्ष निराकरण के लिए सहमत होते हैं। संघर्ष निराकरण की जो अन्य प्रक्रियाएँ विकसित हुई हैं वे परिवर्तन के लिए समय में कटौती करती हैं और सामाजिक आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए विकासवादी प्रक्रियाओं को और अधिक गति देती हैं। इस सीमा के साथ यह दावा भी किया जा सकता है कि हम उन प्रक्रियाओं की ओर बढ़ रहे हैं जिनमें हितों एवं आवश्यकताओं के विरुद्ध सौदेबाजी को रोका जा सके तथा जिससे सम्बन्धित पक्ष आवश्यकताओं व हितों को परिभाषित कर सके। साथ ही आवश्यकताओं के स्थान पर हितों के सुरक्षा परिणामों की लागत भी पता लगाई जा सके। यह प्रक्रियाएँ संगठित हिंसा द्वारा परिवर्तन के विरुद्ध पक्षों को एक स्थान से दूसरे स्थान पर स्थानान्तरित करने में सक्षम बनाती हैं। इस प्रकार से एक शक्तिशाली शासक के स्थान पर दूसरे शक्तिशाली शासक, जो मानव आवश्यकताओं की कीमत पर केवल अपने वर्ग के हितों को पूरा नहीं करेंगे, को स्थापित करती है। इसलिए ऐसा परिवर्तन सार्थक और प्रभावकारी होगा। आने वाले समय में राष्ट्रों के बीच होने वाली बैठकों का मुद्दा शस्त्र नियंत्रण का न होकर उन प्रक्रियाओं एवं प्रविधियों पर होगा जो संघर्ष निराकरण के लिए कारगर सिद्ध हो सकती हैं।

निष्कर्षतः संघर्ष के इतिहास से यह जाना जा सकता है कि संघर्ष निराकरण की दिशा उत्तरोत्तर मानवतावादी होती जा रही है। अतीत में संघर्ष निराकरण के लिए शक्ति और हिंसा का प्रयोग ही एक मात्र साधन रहा है किन्तु अब संघर्ष की स्थितियों के अध्ययन और विश्लेषण से संघर्ष निराकरण की वैकल्पिक प्रक्रियाएँ खोजी गई हैं। आवश्यकता बनाम हितों का सिद्धान्त इस दिशा में एक क्रांतिकारी सिद्धान्त है। वैश्विक परिदृश्य में यदि एक विश्व समाज की रचना करनी है तो किसी एक वर्ग या समुदाय के हितों को छोड़कर सम्पूर्ण मानव आवश्यकताओं की पूर्ति की ओर ध्यान केन्द्रित करना होगा ताकि संघर्षों को होने से रोका जा सके।

10. अभ्यास प्रश्नावली

निबन्धात्मक प्रश्न

1. संघर्ष निराकरण को स्पष्ट करते हुए इसके इतिहास पर विस्तार से प्रकाश डालिए।

लघूत्तरात्मक प्रश्न

1. अभिवृत्ति निर्माण के विभिन्न कारकों की व्याख्या कीजिए।
2. संघर्ष निराकरण में अभिवृत्ति परिवर्तन की भूमिका का मूल्यांकन कीजिए।

वस्तुनिष्ठ प्रश्न

1. संघर्ष समाधान किए बिना, उसका निराकरण किया जाता है तब उसे कहा जाता है—

- | | |
|------------------|-----------------------------|
| अ. संघर्ष समाधान | ब. संघर्ष प्रबन्धन |
| स. संघर्ष टालना | द. उपरोक्त में से कोई नहीं। |

2. व्यक्ति के विचारों और क्रियाओं के बीच समन्वय करने वाला घटक है—

- | | |
|--------------|------------|
| अ. अभिवृत्ति | ब. विश्वास |
| स. मूल्य | द. स्वभाव |

3. निम्न में से विश्वास का उदाहरण है—

- | | |
|---------------|----------------|
| अ. अंधविश्वास | ब. पूर्वाग्रह |
| स. रूढ़ि | द. उपरोक्त सभी |

4. संज्ञाति केन्द्रवाद की अभिवृत्ति को मापने के लिए किस मापनी का प्रयोग किया जाता है—

- अ. डी स्केल ब. एफ स्केल
स. सी स्केल द. बी स्केल
5. किस देश में मजदूर वर्ग की समस्याओं के समाधान के लिए अभिवृत्ति परिवर्तन का साधन अपनाया?
अ. अमेरिका ब. जापान
स. ग्रेट ब्रिटेन द. भारत
6. अभिवृत्ति परिवर्तन में बाधक हैं—
अ. प्रतिघात ब. पूर्व चेतावनी
स. मनोवृत्ति टीका द. उपरोक्त सभी
7. संघर्ष निराकरण के इतिहास में कौन-सा दशक संक्रमण काल का था?
अ. 1980 का दशक ब. 1970 का दशक
स. 1960 का दशक द. 1990 का दशक
8. कलह शमन और निर्णय प्रक्रिया के क्षेत्र के महत्वपूर्ण विकास “समस्या समाधान सिद्धान्त” का विकास कब हुआ?
9. संघर्ष निराकरण की दिशा उत्तरोत्तर होती जा रही है।
10. की स्थिति में परिचर्चा प्रविधि अभिवृत्ति परिवर्तन हेतु उपयुक्त नहीं रहती है।

इकाई-3
संघर्ष निराकरण की विधियां

- अ. संघर्ष निराकरण की शांतिपूर्ण विधियां
ब. संघर्ष निराकरण की जैन विधि-अनेकांत
स. संघर्ष निराकरण की गांधीवादी विधि-सत्याग्रह
उद्देश्य

1. अंतर्राष्ट्रीय कलह शमन में प्रयुक्त विभिन्न विधियों को जानना।
2. संघर्ष निराकरण के क्षेत्र में जैन सिद्धान्त अनेकान्त की उपयोगिता को स्पष्ट करना।
3. सत्याग्रह की अवधारणा को स्पष्ट करते हुए कलह शमन में सत्याग्रह की भूमिका को जानना।

संरचना

अ. अंतर्राष्ट्रीय संघर्ष निराकरण की शांतिपूर्ण विधियाँ

1. अंतर्राष्ट्रीय कलह-शमन का स्वरूप
2. शांतिपूर्ण समाधान की प्रक्रियाएं
3. अंतर्राष्ट्रीय विवादों का स्वरूप
4. अंतर्राष्ट्रीय कलह शमन की विधियाँ
 - 4.1 मानवीय सम्बन्धों में सुधार
 - 4.2 वार्ताएं
 - 4.2.1 प्रत्यक्ष वार्ता
 - 4.2.2 अप्रत्यक्ष वार्ता
 - 4.3 सामूहिक सौदेबाजी
 - 4.4 शुभ कार्यालय (Good Offices)
 - 4.5 वाद-विवाद
 - 4.6 जाँच
 - 4.7 संराधन
 - 4.8 मध्यस्थता
 - 4.9 विवाचन
 - 4.9.1 विवाचन का इतिहास
 - 4.9.2 विवाचन का स्वरूप
 - 4.9.3 विवाचन के आधुनिक उदाहरण
 - 4.10 एक पक्षीय समाधान
 - 4.11 तथ्यों की खोज
 - 4.12 न्याय योग्यता

- 4.13 राष्ट्रसंघ तथा संयुक्त राष्ट्रसंघ द्वारा विवादों का समाधान
- 4.14 अवरोधक कूटनीति
- 4.15 दमनकारी प्रक्रियाएं

ब. संघर्ष निराकरण की जैन विधि—अनेकान्त

1. अनेकान्त की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि
2. अनेकान्त की दार्शनिक पृष्ठभूमि
3. वर्तमान युग में अनेकान्त की आवश्यकता
 - 3.1 पारिवारिक जीवन एवं अनेकान्त
 - 3.2 सामाजिक क्षेत्र में अनेकान्त का प्रयोग
 - 3.3 साम्प्रदायिक वैमनस्य और अनेकान्त
 - 3.4 राष्ट्रीय व अन्तर्राष्ट्रीय समस्याओं के संदर्भ में अनेकान्त
4. सापेक्ष दृष्टिकोण
 - 4.1 अहिंसा का विकास और सापेक्षता
 - 4.2 निरपेक्ष दृष्टिकोण : हिंसा का कारण
 - 4.3 सापेक्षता के सूत्र
 - 4.4 सापेक्षता के प्रयोग
 - 4.4.1 अध्यात्म जगत् में
 - 4.4.2 सामाजिक क्षेत्र में
 - 4.4.3 आर्थिक क्षेत्र में
 - 4.4.4 साम्प्रदायिक कलह के लिए
 - 4.4.5 अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में
5. सह—अस्तित्व
 - 5.1 सह—अस्तित्व का आधार
 - 5.2 सह—अस्तित्व के प्रयोग
 - 5.2.1 पारिवारिक जीवन में
 - 5.2.2 सामुदायिक जीवन में
 - 5.3 सह—अस्तित्व के सूत्र
6. सहिष्णुता
 - 6.1 सहिष्णुता का अर्थ
 - 6.2 सहिष्णुता की आवश्यकता
 - 6.3 सहिष्णुता का विकास
 - 6.4 सहिष्णुता के विकास की भूमिकाएं

स. संघर्ष निराकरण की गांधीवादी तकनीक : सत्याग्रह

1. सत्याग्रह : शब्द और अर्थ

2. सत्याग्रह का इतिहास
3. सत्याग्रह के सिद्धान्त
4. सत्याग्रह की उत्पत्ति
5. सत्याग्रह की मौलिकता
6. सत्याग्रह का अधिष्ठान
7. सत्याग्रह के विविध स्वरूप
8. हिन्दुस्तान में सामूहिक सत्याग्रह
9. सत्याग्रह का संगठन एवं शिक्षण
10. सत्याग्रह के लिए अनुशासन
11. सत्याग्रह तन्त्र
12. सत्याग्रह और उपवास
13. सत्याग्रह युद्ध का नैतिक पर्याय
14. सत्याग्रह का भविष्य
15. सत्याग्रह आंदोलन
 - 15.1 दक्षिण अफ्रीका का सत्याग्रह
 - 15.2 वीरगांव का सत्याग्रह
 - 15.3 चम्पारन सत्याग्रह
 - 15.4 खेड़ा सत्याग्रह
 - 15.5 मजदूरों का सत्याग्रह
 - 15.6 वायकोम सत्याग्रह
 - 15.7 नील सत्याग्रह
 - 15.8 बारडोली सत्याग्रह
 - 15.9 पहाड़ी जाति के लोगों का सत्याग्रह
 - 15.10 बोरसद सत्याग्रह
 - 15.11 झण्डा सत्याग्रह
 - 15.12 सामाजिक अन्याय के विरुद्ध सत्याग्रह
 - 15.13 हरिजन सत्याग्रह
 - 15.14 जेल सत्याग्रह
 - 15.15 पेक्स की खानों के मजदूरों की हड़ताल
 - 15.16 रौलट एक्ट सत्याग्रह
 - 15.17 अहिंसात्मक असहयोग
 - 15.18 सविनय अवज्ञा
 - 15.19 कानून-भंग का पुनरुत्थान
 - 15.20 भारत छोड़ो आंदोलन

15.21 अन्य ऐतिहासिक उदाहरण

15.21.1 फिनलैण्ड

15.21.2 जर्मनी

15.21.3 इंग्लैण्ड

15.21.4 हंगरी

16. अभ्यास प्रश्न

संघर्ष का प्रारम्भ व्यक्ति के मस्तिष्क से होता है और उसका प्रसार अंतर्राष्ट्रीय से वैश्विक स्तर पर होता है। यूनेस्को के प्रस्ताव में यह स्पष्ट किया गया है कि— युद्ध मस्तिष्क में जन्म लेते हैं। यह सत्य ही है, क्योंकि राष्ट्रों में कोई चेतना नहीं होती। क्योंकि चेतना व्यक्ति में ही होती है अतः संघर्ष और हिंसा का जन्मदाता मनुष्य ही है। प्राचीनकाल में संघर्षों का दायरा परिवार, समाज, ग्राम अथवा एक राज्य तक व एक सीमा तक ही था क्योंकि व्यक्तियों के बीच संघर्ष और उनके अंतर व्यवहार ऐच्छिक विषयों तक ही सीमित थे। समय के साथ-साथ मनुष्य का परिचय और उनके अंतर व्यवहार एक विशेष देश की सीमा से बाहर होने लगे इसलिये संघर्षों का दायरा भी राष्ट्रीय सीमाओं को पार कर अंतर्राष्ट्रीय जगत तक व्यापक हो गया। विषय की आवश्यकताओं ने संघर्ष को जन्म दिया तथा असंतोष व प्रतिस्पर्धा ने इसे बढ़ावा दिया। किसी भी समाज और राष्ट्र ने संघर्षों का आधार उस समाज अथवा राष्ट्र के लोगों में परस्पर भेदभाव होता है। यह भिन्नता आर्थिक, भौतिक, सांस्कृतिक, सम्मान, जातीय, धार्मिक आदि कारण से होते हैं। यह कारण मानव मस्तिष्क में भेदभाव पैदा कर संघर्ष को व्यापक स्वरूप प्रदान करते हैं। आदिम समाज जिसकी आवश्यकतायें सीमित और जनसंख्या सीमित थी। कालान्तर में बढ़ती आवश्यकताओं और बढ़ती आबादी ने विकसित समाज निर्माण की आधारशिला रखी। विकास की इस इच्छा और भविष्य की आशाओं ने समाज-विकास की पृष्ठभूमि तैयार की जिससे समाज का वर्तमान स्वरूप बना। समाज का यह रूप खुला समाज या खुली व्यवस्था है। जिसकी आवश्यकता इसलिये है क्योंकि हमारी अंतर्निर्भरता और अंतर्निर्वाह व्यापक रूप ले रहे हैं।

अ. अंतर्राष्ट्रीय संघर्ष निराकरण की शांतिपूर्ण विधियाँ

पूर्व के समाज और विशेषकर राजतंत्र के समाज में प्रायः यह देखा जाता है कि एक व्यक्ति के लाभ या उसके हितों की पूर्ति, दूसरे व्यक्ति के लाभ अथवा हितों का शोषण करके ही की जा सकती थी। आधुनिक समाज में भी यह व्यवस्था परिलक्षित होती है। विकसित राष्ट्रों की हित पूर्ति अविकसित अथवा विकासशील राष्ट्रों के हितों की मात पर ही संभव हो सकेगा।

अंतर्राष्ट्रीय समाज में इसी कारण राष्ट्रों की तीन श्रेणियाँ हैं— विकसित, विकासशील व अविकसित। एक ओर आर्थिक पक्ष है, दूसरी ओर वैचारिक पक्ष और प्रशासकों का मतैक्य है। धार्मिक विश्वास और सभ्यतायें दो राष्ट्रों के बीच संघर्ष का एक बड़ा कारण बनती जा रही है। कुछ राष्ट्र ऐसे भी हैं जो आर्थिक कारण से शस्त्र व्यापार से परहेज नहीं करते भले ही वह युद्ध की संभावना में वृद्धि करते हो अथवा मानव अस्तित्व के लिए संकट पैदा करते हों। बहुत से प्रशासक और नौकरशाह केवल अपने ऊंचे पद की प्राप्ति के लिए, सम्मान और प्रतिष्ठा के लिए विरोधी राष्ट्रों को स्वीकार नहीं करते। अंतर्राष्ट्रीय जगत का यह एक ऐसा परिदृश्य है जो यह सोचने पर विवश करता है कि क्या हम समाज के किसी एक सदस्य अथवा एक राष्ट्र के लाभ को बिना दूसरे सदस्य अथवा राष्ट्रों को हस्तक्षेप किए बिना कुछ सीमा तक नियंत्रित कर सकते हैं। यह सोच इसलिये भी आवश्यक है क्योंकि आज भौगोलिक, देशीय और काल की सीमा खत्म हो चुकी है।

भौगोलिक खोजों ने सामाजिक गतिशीलता में अत्यधिक वृद्धि की है। स्वतंत्र बाजार व्यवस्था वैज्ञानिक उपलब्धियों और अत्यधिक उत्पादन व अधिकतम उपयोग जहां एक तरफ सोच को वैश्विक करने के लिये बाध्य करता है वहीं दूसरी ओर ये सारी स्थितियाँ भेदभाव को बढ़ा रही हैं। इन विस्फोटक प्रभावों की पृष्ठभूमि में हमें अंतर्राष्ट्रीय संघर्षों-साधनों पर विचार करना समीचीन होगा।

1. अंतर्राष्ट्रीय कलह-शमन का स्वरूप

अंतर्राष्ट्रीय कलह-शमन का सम्बन्ध राष्ट्रों के बीच तनाव को कम कर उसका इस तरह प्रबन्धन करना है कि राष्ट्र अपने व्यक्तिगत और सामूहिक लक्ष्यों की प्राप्ति के लिए वे निरन्तर शांतिपूर्ण प्रयास कर सकें। कलह शमन की प्रक्रिया में सदस्य राष्ट्रों के बीच समान और विविध मुद्दों पर सम्पूर्ण विवरण उपलब्ध होना चाहिए। यह कथन इस बात को स्वीकारता है कि एक तरफ संघर्ष और यहां तक की युद्ध भी राष्ट्रीय जीवन का कोई असामान्य अंग नहीं है। लगभग 3500 वर्षों के इतिहास में 270 वर्ष हीऐसे रहे हैं जिनमें युद्ध नहीं हुआ है। दूसरी ओर अंतर्राष्ट्रीय राजनीति को पूर्णतया विरोधी के रूप में भी नहीं देखना चाहिए। चार्ल्स बोसन ने ठीक ही कहा है कि इस तरह की पहचान संधि कानूनी और नैतिक निर्णय, न्यायिक अपील आदि के प्रभाव को नकार देती है। अर्नेस्ट हास के द्वारा सहयोगात्मक पक्ष पर अधिक बल दिया गया। उन्होंने समकालीन अंतर्राष्ट्रीय कार्यवाद को राष्ट्रीय समाज और भावी अंतर्राष्ट्रीय पर्यावरण के परिवर्तित रूप को पुनः खोजा है। जॉन बर्टन यह सिद्धान्त प्रस्तुत करते हैं कि शक्ति का प्रयोग धीरे-धीरे सहयोगात्मक रूप लेता जा रहा है। उनका मानना है कि विरोधियों के बीच सम्बन्ध केवल स्वयं के स्वतंत्र और गुट निरपेक्ष हितों को बढ़ावा दे रहे हैं।

अंतर्राष्ट्रीय कलह-शमन के अध्ययन को केवल निर्णय लेने की प्रक्रिया तक ही सीमित नहीं किया जा सकता। उचित प्रकार की सूचनाएं, व्याख्याएं, विकल्प जो निर्णय लेने वाले के समक्ष उपलब्ध हैं, उन्हें भी प्राप्त कर सकते हैं। निर्णय प्रायः संघर्ष से गहरा सम्बन्ध रखते हैं किन्तु ऐसे निर्णय, केवल संघर्ष और उसके समाधान के संदर्भ में इसकी विषयवस्तु से सम्बन्धित होते हैं। निर्णय लेने की प्रक्रियाके अध्ययन में कुछ कमियां हैं। वे प्रायः अंतहीन और निरर्थक विवरण होते हैं तथा उनमें निर्णय से सम्बन्धित घटकों का अभाव होता है। अंतर्राष्ट्रीय संघर्ष प्रायः घटनापरक एवं क्रियात्मक होते हैं और निर्णयकर्ता इन परिस्थितियों के बारे में पूर्ण जागरूक नहीं होते। ऐसे निर्णय केवल कल्पित विचारों पर आधारित होते हैं। इसे महत्वपूर्ण विकास ही कहा जायेगा कि अंतर्राष्ट्रीय कलह शमन और उसके निराकरण का क्षेत्र बहुत अधिक व्याप्त हो चुका है। अंतर्राष्ट्रीय कलह शमन और इसकी विधियों पर शोधकर्ताओं द्वारा व्यापक शोध किये जा रहे हैं। सूचना और प्रौद्योगिकी के विकास के कारण अब कम्प्यूटरों द्वारा संघर्षों की परिस्थितियों का व्यापक विश्लेषण संभव हो सका है। जो संघर्षों के निराकरण के लिए महत्वपूर्ण सिद्ध हो रहा है। जीवशास्त्रियों, मनोवैज्ञानिकों और समाजशास्त्रियों द्वारा किये गये व्यक्ति और समूह के व्यवहार के अध्ययनों से भी अंतर्राष्ट्रीय संघर्ष को निपटाने में महत्वपूर्ण सहयोग मिला है।

2. शांतिपूर्ण समाधान की प्रक्रियाएं

संयुक्त राष्ट्रसंघ के चार्टर में अनुच्छेद 33 से 38 तक अंतर्राष्ट्रीय विवादों के शांतिपूर्ण समाधान की प्रक्रियाओं का उल्लेख है। अनुच्छेद 33 में कहा गया है कि यदि किसी विवाद से विश्व-शांति और सुरक्षा को खतरा हो और सम्बन्धित पक्ष अपना विवाद स्वयं निपटाने में असमर्थ रहें तो सुरक्षा परिषद विवादित पक्ष से वार्ता, जांच, मध्यस्थता, सौमनस्य या संराधन, पंच निर्णय, न्यायिक समझौतों, प्रादेशिक संस्थाओं या व्यवस्थाओं अथवा अन्य स्वेच्छिक शांतिपूर्ण उपायों द्वारा विवादों को निबटाने के लिए कह सकती है।

विवादों के शांतिपूर्ण समाधान के लिए अनुच्छेद 33 में जो विभिन्न उपाय सुझाए गए हैं वे इस बात की ओर संकेत करते हैं कि अंतर्राष्ट्रीय जगत् में सभी विवादों की प्रकृति समान नहीं हो सकती और न ही किसी एक उपाय द्वारा सभी विवादों का समाधान संभव है। प्रायः सभी विवाद एक-दूसरे से न्यूनाधिक भिन्न होते हैं। अपवादस्वरूप ही किन्हीं दो विवादों में समानता पाई जा सकती है। अतः यह सर्वथा उपयुक्त है कि प्रत्येक विवाद का आवश्यकतानुसार एक, दो या अधिक उपायों द्वारा समाधान किया जाए।

3. अंतर्राष्ट्रीय विवादों का स्वरूप

विगत वर्षों में संयुक्त राष्ट्रसंघ के समक्ष प्रस्तुत विवादों के तीन मुख्य रूप रहे हैं—

- **तथ्यमूलक विवाद**— इनमें विवादी पक्ष प्रायः एक-दूसरे पर अनुचित कार्यवाही करने का दोषारोपण करते हैं। 1960 में रूस और अमेरिका के RB-47विमान को मार गिराना व्यर्थ मूलक विवाद था।

- **न्याय अथवा कानूनी सम्बन्धी विवाद**— इन विवादों में वैधानिक अधिकारों तथा कर्तव्यों के प्रश्न निहित होते हैं। आइसलैण्ड और ब्रिटेन का विवाद न्याय-सम्बन्धी विवाद का उदाहरण है।
- **नीति सम्बन्धी विवाद**— इस प्रकार के विवाद वे होते हैं जिनमें विवादित पक्षों की नीतियों में टकराहट होती है। बर्लिन की स्थिति सम्बन्धी समस्या, एक नीति सम्बन्धी विवाद था जिसमें सोवियत संघ और मित्र-राष्ट्रों की नीतियों में टकराहट थी।

उपर्युक्त तीनों प्रकार के विवादों में प्रायः नीति सम्बन्धी विवाद सबसे जटिल होते हैं और लम्बे चलते हैं तथा शीत-युद्ध को सबसे अधिक जीवित रखते हैं। इन विवादों में सैद्धान्तिक संघर्ष भी अंतर्निहित हो सकते हैं। कभी-कभी ऐसे जटिल विवाद भी उपस्थित हो जाते हैं जिनमें तथ्यमूलक, न्याय-विषयक और नीति-सम्बन्धी-तीनों प्रकार के प्रश्न उलझे होते हैं। **प्लानो एवं रिग्न** ने संयुक्त राष्ट्रसंघ के सम्मुख प्रस्तुत होने वाले विवादों को इन पांच भागों में विभक्त किया है—

- क्षेत्रीय एवं सीमा विवाद,
- शीत युद्ध विवाद,
- स्वाधीनता विवाद,
- घरेलू विवाद,
- हस्तक्षेप सम्बन्धी विवाद।

4. अंतर्राष्ट्रीय कलह शमन की विधियाँ

अंतर्राष्ट्रीय क्षेत्र में कलह शमन के लिए कई विधियों का प्रयोग होता रहा है। अंतर्राष्ट्रीय जगत में शक्ति के सिद्धान्त का विशिष्ट स्थान रहा है जिसके अंतर्गत शक्ति के केन्द्रीयकरण वाला व्यक्ति व राष्ट्र संघर्षों को अपने पक्ष में निपटाता रहा है। इसके फलस्वरूप इस विचार को बल मिला था कि शांति, केवल शक्ति से ही संभव है। गत पांच-छः दशकों में संघर्षों के शांतिपूर्ण निपटारे के लिए कई विचार व विधियाँ विकसित हुयीं। परमाणु शस्त्रों की दौड़ में मानव स्थायित्व को सुरक्षित रखने हेतु शक्ति के प्रयोग के स्थान पर शांतिपूर्ण निपटारा ही एकमात्र विकल्प रह गया। यह प्रयास किया जाता रहा कि आक्रमण करने वाले व उससे प्रभावित होने वाले राष्ट्रों के बीच शांति वार्ता, समझौता अथवा अन्य शांतिपूर्ण तरीकों से मेल-मिलाप करवा दिया जाता है।

राजनीतिज्ञों का यह भी मानना था कि शांतिपूर्ण समाधान के लिए दोनों पक्षों के बीच शक्ति का संतुलन होना आवश्यक है पर पिछले कई दशकों का अनुभव यह बताता है कि शक्ति संतुलन के नाम पर हथियारों की होड़ को ही बल मिला था। इसलिए शक्ति संतुलन की प्रतीक्षा किए बिना समाधान के शांतिपूर्ण तरीकों पर कार्य करना प्रारम्भ कर देना चाहिए। यह अवश्य है कि शक्ति संतुलन की दशा में शांति वार्ताएं बाध्यकारी व प्रभावशाली हो जाती हैं। शांतिपूर्ण निपटारे में अब विश्वास बढ़ रहा है क्योंकि इस प्रकार के समाधान की विधियों का अब संस्थानिक विकास हो चुका है। 1899 का हेग सम्मेलन, द्वितीय विश्व युद्ध के बाद अंतर्राष्ट्रीय न्यायालय की स्थापना, संयुक्त राष्ट्र संघ का चार्टर, 1924 का जेनेवा समझौता आदि कई ऐसे महत्वपूर्ण दस्तावेज विकसित हो चुके हैं जो शांतिपूर्ण निपटारे में हमारा मार्गदर्शन करते हैं। शांतिपूर्ण समाधान के विविध तरीकों के द्वारा जो निर्णय लिए जाते हैं वे दो प्रकार के होते हैं—निर्णायक व गैर निर्णायक समझौते वे हैं जिन्हें मानने के लिए दोनों पक्ष बाध्य होते हैं। जैसे—विवाचन व न्यायालय द्वारा किए गए निर्णय। गैर निर्णायक समझौते वे हैं जो ऐसा कोई सुझाव नहीं देते जिसे मानने के लिए दोनों पक्ष बाध्य हो। वार्ता, मेल-मिलाप ऐसी विधियाँ हैं जिनके निर्णय को स्वीकार करना पक्षकारों की इच्छा पर निर्भर करता है, ये बाध्यकारी नहीं होती।

अंतर्राष्ट्रीय कलह शमन के अध्ययन की दृष्टि से वार्ताओं से लेकर युद्ध तक की सभी प्रक्रियाओं का अध्ययन अंतर्राष्ट्रीय कलह शमन के क्षेत्र में उपयोगी हो सकता है। इसका वर्णन अग्र लिखित है—

4.1 मानवीय सम्बन्धों में सुधार— वर्तमान वैश्विक परिदृश्य में कुछ खतरे जो सम्पूर्ण मानव जाति के लिए हैं। जिनमें मुख्यतः परमाणु यंत्रों का संकट व पर्यावरणीय संकट है। यह दोनों संकट मानवीय अस्तित्व के लिए गंभीर चुनौती है। परमाणु अस्त्र-शस्त्रों की विनाशलीला हम द्वितीय विश्व युद्ध के दौरान हिरोशिमा और नागासाकी में देख चुके हैं। एक अनुमान के अनुसार पूरी पृथ्वी को पचास से भी अधिक

बार नष्ट किए जाने के लिए हमारे पास परमाणु अस्त्र पर्याप्त मात्रा में है। अफगानिस्तान व अमेरिका संकट से एक बार पुनः परमाणु अस्त्रों के प्रयोग की क्षमता से सम्पूर्ण मानव जाति भयाक्रान्त है। इसी तरह पर्यावरण संकट पूरी मानव जाति को संतुष्ट किए हुए है। पर्यावरणीय प्रदूषण ने सभी सीमाएं लांघ दी हैं। किसी भी राष्ट्र की सीमा इस संकट पर लागू नहीं होती। यूरोप, अफ्रीका, लेटिन अमेरिका आदि राष्ट्रों में अम्लीय वर्षा और लुप्त होते वन केवल उसी राष्ट्र के औद्योगिक क्रियाकलापों का फल नहीं है, यह उन राष्ट्रों का फल भी है जिन्होंने अंधाधुंध औद्योगिक विकास कर, पर्यावरण को प्रदूषित किया है। इसी के साथ ओजोन परत की क्षति, संसाधनों की समाप्ति, लुप्त होते वन्य प्राणी— यह सभी मानव की प्रकृति पर विजय पाने के फलस्वरूप है। इस समान संकट के संदर्भों में हमें मानव सम्बन्धों को देखना है। मानवीय सहयोग और सह-अस्तित्व आज से पहले इतना अधिक अपरिहार्य नहीं रहा होगा। अस्तित्व के संकट ने एक बार पुनः मानव सम्बन्धों को परिभाषित करने के लिए बाध्य किया है।

मानवीय सम्बन्धों की पृष्ठभूमि में यह ध्यान रखा जाना आवश्यक है कि उपर्युक्त संकटों में मनुष्य की विचारधारा में मूलभूत परिवर्तन किए हैं। अस्तित्व के संकट ने मनुष्य को यह सोचने पर विवश किया है कि वह प्रकृति का मालिक या विजेता नहीं अपितु उसी का एक अंग है। प्रकृति का विजेता बनकर उसने प्रकृति के साथ जो खिलवाड़ किया उसके पीछे यह सोच रही है कि मनुष्य इस पृथ्वी का श्रेष्ठतम प्राणी है और प्रकृति प्रदत्त समस्त वस्तुएं व जीव-जगत उसके लिए भोग्य सामग्री है। आज परिवर्तित सोच ने मनुष्य को यह सोचने पर विवश किया है कि वह अन्य जीव-जगत के समान प्रकृति का हिस्सा है। इसलिए और अन्य जीव जगत उसके लिए भोज्य नहीं है। वर्तमान मानवीय सम्बन्ध इसी विचारधारा से निर्देशित होते दिख रहे हैं। मानवीय सम्बन्धों के लिए शास्त्रीय चिंतकों ने दो और आधार प्रस्तुत किए— आवश्यकता पर आधारित सम्बन्ध और हितों पर आधारित सम्बन्ध। भोजन, आवास, चिकित्सा व शिक्षा—यह सभी मनुष्य की मूलभूत आवश्यकताएं हैं। इन आवश्यकताओं को एक व्यक्ति की निजी आवश्यकता भी कहा जा सकता है। सुरक्षा, विकास आदि समूहगत आवश्यकताएं हैं जिनकी पूर्ति के लिए व्यक्ति सामूहिक रूप से परिवर्तन करता है। यदि समाज या विश्व का एक भाग इन आवश्यकताओं को पूरा नहीं कर पाता है और दूसरे भाग के पास इन आवश्यकताओं से अधिक सुविधाएं हैं तो निश्चित रूप से ऐसी स्थिति में मानवीय सम्बन्ध ठीक नहीं रह सकते।

संघर्ष को मूलतः हितों का संघर्ष ही कहा जाता है। अतः हित तो मानवीय सम्बन्धों में तकरार के प्रमुख कारण हैं। एक व्यक्ति या एक राष्ट्र के हित पूर्ति में, कोई दूसरा व्यक्ति या राष्ट्र बाधा बनता है तो यह स्थिति मानवीय सम्बन्धों को मधुर नहीं रहने देगी। निश्चित रूप से एक व्यक्ति और एक राष्ट्र के अपने वैयक्तिक व राष्ट्रीय हित होंगे ही। प्रश्न यह उपस्थित होता है कि क्या ऐसे निजी हित रहते हुए मानवीय सम्बन्धों को परिष्कृत और विकसित किया जा सकता है। सामान्य खतरों, आवश्यकताओं और हितों के परिप्रेक्ष्य में मानवीय सम्बन्धों का विश्लेषण आवश्यक है।

मनुष्य जाति पर जो सामान्य और सार्वभौमिक खतरे हैं उन खतरों ने सम्पूर्ण मानव जाति को एक परिवार के रूप में संगठित होने पर बल दिया है। “वसुधैव कुटुम्बकम्” की अवधारणा आज जितनी प्रासंगिक है उतनी शायद इतिहास में कभी नहीं थी। पर्यावरणीय खतरे और परमाणु खतरे— इन दोनों ने सम्पूर्ण मानव जाति को सह-अस्तित्व के लिए प्रेरित किया है। यद्यपि विज्ञान व प्रौद्योगिकी के विकास ने राष्ट्रों के बीच असंतुलन पैदा किया है लेकिन इससे सह-अस्तित्व की अवधारणा कम नहीं हुई है। पर्यावरणीय प्रदूषण ने मनुष्य को प्रकृति का अंग स्वीकार किए जाने के लिए विवश किया है। इसी कारण आज मानवीय सम्बन्धों में दासता, गुलामी आदि के भाव कम हुए हैं। व्यापक स्तर पर देखें तो उपनिवेशवादी नीतियों का अंत उपर्युक्त खतरों और सोच का ही परिणाम है। मनुष्य ने एक-दूसरे की संस्कृतियों से आदान-प्रदान करना सिखाया जो न केवल दूसरे की संस्कृति के सम्मान के लिए प्रेरित करता है बल्कि प्राणी मात्र के प्रति सम्मान को अभिव्यक्त करता है।

आवश्यकता और हितों पर आधारित सम्बन्धों पर दृष्टिपात करें तो यह कहा जा सकता है कि आवश्यकता पर आधारित सम्बन्ध उपयोगितावादी होने के बावजूद, हितों पर आधारित सम्बन्धों से अधिक ठीक है। हितों पर आधारित सम्बन्ध में बल या दमन सम्मिलित रहता है जबकि समान आवश्यकताओं की पूर्ति हेतु किए जाने वाले सम्बन्ध स्वैच्छिक होते हैं। मानवीय सम्बन्धों में हाल ही के वर्षों में तकरार डालने वाला एक प्रमुख घटक धार्मिक कट्टरपन रहा है। इस पर आधारित संघर्ष को कुछ चिंतकों ने

सम्यताओं का संघर्ष भी कहा है। आतंकवादी घटनाओं और उनके दमन के लिए अमेरिकी परिवर्तन इस बात की पुष्टि करते हैं कि विश्व धीरे-धीरे सम्यताओं के संघर्ष की ओर उन्मुख हो रहा है। आतंकवादी विरोध के लिए प्रबल जनमत होने के बावजूद विश्व के कई देशों के परिप्रेक्ष्य में हम मानवीय सम्बन्धों को लेकर बंट गए हैं। इस सम्पूर्ण परिप्रेक्ष्य में एक का प्रस्ताव इस रूप में प्रस्तुत किया जा सकता है—

- सह-अस्तित्व की अवधारणा को अधिक व्यापक बनाया जाना चाहिए। सह-अस्तित्व वर्तमान में मानव अस्तित्व के संकट की अवधारणा पर टिका है। भय पर आधारित सम्बन्ध टिकाऊ नहीं है। इसलिए पृथ्वी की रक्षा एवं मानव जाति के साथ सम्पूर्ण चर-अचर की रक्षा के उद्देश्य को लेकर सह-अस्तित्व का आधार तैयार किया जाना चाहिए। समान आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए हमारे प्रयत्न पूर्णतः सहयोगपरक होने चाहिए और ऐसे प्रयासों में सबकी सहभागिता सुनिश्चित की जानी चाहिए।
- हितां पर आधारित सम्बन्धों में शोषण एवं अन्याय की मात्रा को न्यूनतम किए जाने का प्रयास किया जाना चाहिए। ऐसे सम्बन्धों में कलह शमन के लिए बल प्रयोग की प्रविधियों का प्रयोग न करके द्विपक्षीय सहयोगपरक प्रविधियों का प्रयोग किया जाना चाहिए।
- मानवीय सम्बन्ध इच्छाओं के विस्तार, भय, शस्त्रीकरण पर आधारित न होकर परस्पर सामंजस्य, उदारता और स्वैच्छिक सादगी पर आधारित होने चाहिए।
- चूंकि हिंसा मानव मस्तिष्क में उत्पन्न होती है इसलिए शांति अथवा अहिंसा का विचार भी वहीं से उद्भूत होता है। चूंकि अभी हमारा मन हिंसा के लिए प्रशिक्षित है इसलिए इसे अहिंसा व शांति के लिए प्रशिक्षित करना चाहिए।

मानवीय सम्बन्धों पर विचार करते समय इस पर भी विचार करना आवश्यक है कि भूख, गरीबी, कुपोषण, असंतुलित विकास आदि के प्रभावों को जानकर सामाजिक पूर्ण निर्माण की बात भी की जाती है। यहां यह विचार स्पष्टतः आवश्यक है कि पूर्ण निर्माण का आधार या इसका केन्द्र बिन्दु मनुष्य को अथवा भौतिक संसाधनों का विकास एवं उसका समान वितरण है क्योंकि मानवीय सम्बन्धों में कटुता का एक कारण विकास के केन्द्र में मनुष्य का न रहना है। समस्त विकास का केन्द्र मनुष्य होने से ही आर्थिक पुनःनिर्माण संभव है और वह पुनःनिर्माण मानवीय सम्बन्धों को सहयोगपूर्ण बनाने में महत्वपूर्ण भूमिका निभा सकते हैं।

कलह शमन हेतु मानवीय सम्बन्धों में सुधार के लिए प्रो. जॉन गाल्टूंग ने गांधीवादी आधार प्रस्तुत किए, जो इस प्रकार है—

- **संघर्ष से अलग हो जाना**— मानवीय सम्बन्धों में सुधार हेतु एवं संघर्ष निराकरण की दृष्टि से सर्वप्रथम आवश्यकता उस संघर्ष से अपने आप को अलग करना है। असहयोग, सविनय अवज्ञा, सत्याग्रह आदि गांधीवादी तरीके इसी के उदाहरण हैं। यद्यपि असहयोग या सम्बन्ध तोड़ना सतही कार्य है पर अंतिम रूप से हमारा विश्वास मानवीय एकता में होना चाहिए। मानवीय सम्बन्धों में यदि हमारा विश्वास है तो निराकरण का तरीका, दबाव या बल प्रयोग नहीं अपितु हृदय परिवर्तन होगा।
- **एकता**— सामाजिक, आर्थिक व राजनीतिक बाधाएं मनुष्य के बीच भेदभाव की दीवारें खड़ी करती हैं। सामाजिक स्तर पर ऊंच-नीच की समस्याओं को, धार्मिक स्तर पर वर्ग भेद को अथवा राजनैतिक स्तर पर अधिकारों की संस्कृति, भेदभाव बढ़ाती और भारतीय दर्शन के पोषक होने के नाते हमारा यह विश्वास है कि आध्यात्मिक स्तर पर मनुष्य जाति ही नहीं प्राणी मात्र एक है। इसलिए इन तरीकों से यह भेदभाव की रेखाएं मिटाकर मानवीय सम्बन्धों को बेहतर बनाया जा सकता है।
- **समझौता**— असहयोग, अवज्ञा या सत्याग्रह के अन्य तरीकों के आधार पर यदि एक पक्ष जीत भी जाए अथवा एक पक्ष की सारी बातें मान भी ली जाएं तो भी सदैव समझौते के लिए तैयार रहना चाहिए ताकि कलह शमन के पश्चात् भी सम्बन्ध मधुर रह सके। लेकिन यहां यह विचारणीय है कि क्या मूल्यों की कीमत पर ऐसा समझौता किया जाए। निःसंदेह इस संदर्भ में यही उचित है कि सार्वभौमिक मूल्यों की कीमत पर कोई भी समझौता वांछनीय नहीं है।
- **विरोधों का निराकरण**— जब संघर्ष के निराकरण की बात की जाती है तो निश्चित ही उस संघर्ष की जड़ें गहरी नहीं होती। उपनिवेशवादी नीतियां जो क्रूरता, शोषण, शासन आदि को बल देती हैं तथा केन्द्रीकृत व्यवस्था जो व्यक्ति विकास की विरोधी हैं— यह दोनों ही संघर्ष के कारण हैं। वस्तुतः

संघर्ष की जड़ें समाज की संरचना में छिपी हैं जिसे दूर करने के लिए आर्थिक, सामाजिक और राजनैतिक ढांचे में बदलाव तो आवश्यक है ही पर साथ ही स्थाई शांति के लिए परस्पर विरोधों का निराकरण भी आवश्यक है। कोई भी तकनीक, समस्या का समाधान तो कर सकती है किन्तु विरोधों का निराकरण अथवा विरोधी मतों में बदलाव नहीं कर सकती। यह बदलाव हृदय परिवर्तन से ही संभव है। बेहतर मानवीय सम्बन्धों की दृष्टि से ये सभी घटक एक आधार प्रस्तुत करते हैं जिनकी समन्वित सहयोगपूर्ण विश्व का निर्माण कर सकती है।

4.2 वार्ताएं—अंतर्राष्ट्रीय कलह के निराकरण के उपायों में वार्ता एक प्रमुख व कूटनीतिक साधन है। यह एक ऐसा साधन है जिसके द्वारा दो राष्ट्रों के सम्बन्धों का पुनर्व्यवस्थापन किया जा सकता है। वस्तुतः अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर राष्ट्रों के सम्बन्ध इतने विविधतापूर्ण होते हैं कि एक राष्ट्र की गतिविधियां, दूसरे राष्ट्र को कई प्रकार से प्रभावित करती हैं। इन गतिविधियों के कारण दो राष्ट्रों के बीच तनाव पैदा होना संभव हो जाता है। अतः इस प्रकार के तनाव को कम करने के लिए, संघर्ष प्रबंधन के लिए, सम्बन्धों के पुनर्व्यवस्थापन के लिए, वार्ता की अपेक्षा की जाती है।

संघर्ष प्रबंधन के कई मार्ग हैं जिसमें सर्वाधिक महत्वपूर्ण यह है कि संघर्षरत पक्षों के बीच किसी प्रकार का सम्पर्क स्थापित हो जाए। यदि संघर्षरत पक्षों के बीच सामंजस्य बढ़ता है तो वे परस्पर और अधिक सहयोग बढ़ाने की दृष्टि से वार्ता आयोजित कर सकते हैं। इस प्रक्रिया का आधार विशेषतः कानून से सम्बन्धित अंतर्राष्ट्रीय न होकर व्यावहारिक सुविधा होती है। मैब्रोमैटिस पैलेस्टाइन कनसेशन सम्बन्धी विवाद के प्रसंग में न्यायाधीश मूर ने कहा— “अंतर्राष्ट्रीय क्षेत्र में और अंतर्राष्ट्रीय कानून के अर्थ में वार्ता एक वैधानिक, व्यवस्थित व प्रशासनिक प्रक्रिया है जिसकी सहायता से राज्य सरकारें अपनी संदिग्ध शक्तियों के प्रयोग द्वारा आपस में अपने सम्बन्धों का संचालन करती है और मतभेदों पर विचार—विमर्श कर उनका व्यवस्थापन व समाधान करती है।”

मूर की परिभाषा से स्पष्ट है कि यह परिभाषा अंतर्राष्ट्रीय न्यायालय के अनुसार दी गयी है। यह एक वैधानिक व निश्चित प्रक्रिया है। वार्ताएं प्रायः शीर्षस्थ व अधिकारियों के बीच की जाती हैं। इसमें प्रत्यक्ष व अप्रत्यक्ष दोनों वार्ताओं को शामिल किया जाता है। भारत व पाकिस्तान के बीच अल्पसंख्यकों की समस्या और ‘नहरी पानी विवाद’ को वार्ता के द्वारा ही सुलझाया गया है। नहरी पानी विवाद में भारत पाकिस्तान से वार्ता के लिए तैयार हो गया था और दोनों राष्ट्रों की सहमति से यह विवाद मध्यस्थता के लिए विश्व बैंक को सौंप दिया गया था।

4.2.1 प्रत्यक्ष वार्ता—प्रत्यक्ष वार्ता वह वार्ता कहलाती है जो दो राष्ट्रों के शीर्षस्थ व्यक्तियों, राष्ट्राध्यक्षों व उनके अधिकृत प्रतिनिधियों द्वारा की जाती है। यह वार्ताएं कई स्तरों पर आयोजित की जाती हैं। राष्ट्र के शीर्षस्थ नेताओं द्वारा की जाने वाली वार्ताएं कूटनीति कही जाती हैं। 1941 से 1961 के मध्य आयोजित 147 बैठकों का अध्ययन करके जॉन गाल्टुंग ने यह निष्कर्ष निकाले कि—

- ऐसी वार्ताएं नियमित रूप से आयोजित की जानी चाहिए।
- राष्ट्रों के बीच होने वाली वार्ताएं उनके द्वारा अधिकृत सरकारी प्रतिनिधियों के द्वारा की जाती हैं।
- इन प्रतिनिधियों के द्वारा राष्ट्राध्यक्षों के निर्देशों का कड़ाई से पालन किया जाता है।
- अधिकृत प्रतिनिधियों की भूमिका किसी आयोजन में मात्र हस्ताक्षर करने तक सीमित होती है।
- जॉन गाल्टुंग ने उपर्युक्त निष्कर्षों के अलावा प्रत्यक्ष वार्ता के निम्न तीन विषय भी बताए हैं जो निम्न हैं—
- वर्तमान हिंसा को रोकना व उसके लिए शांति व समर्पण संधि करना।
- ऐसे नए समझौते करना जिनका हिंसा से कोई सम्बन्ध नहीं होता है।
- पूर्व में किए गए समझौते अथवा संधियों का पुनर्वर्तन करना।

युद्ध व हिंसा को टालने के लिए शक्ति संधि, प्रत्यक्ष वार्ताओं का ही प्रचलित प्रकार है। 1550 से लेकर 1941 तक क्विंसीराइट ने 178 युद्धों का पता लगाया है जो इन वर्षों में शांति संधि द्वारा सुलझाए गए। यह निष्कर्ष भी सामने आया कि प्राचीन काल की अपेक्षा, आधुनिक समय की संधियां अधिक प्रचलित रही हैं व ऐसी संधियां द्विपक्षीय मामलों में अधिक प्रभावी रही हैं। 1971 के भारत—पाक युद्ध में

पाकिस्तान के द्वारा आत्मसमर्पण के समय की गयी संधि, समर्पण संधि का उदाहरण है। इसी प्रकार चीन व ब्रिटेन के बीच हांगकांग को लेकर समर्पण संधि हुयी थी जिस कारण से चीन, हांगकांग को पच्चीस वर्ष बाद मिला।

युद्धों को रोकने के लिए संधियां, युद्ध संधियां व शस्त्र संधियां भी हुयी हैं। ऐसी संधियों को शांति संधियों से पहले शांतिपूर्ण निपटारे के रूप में देखा जा सकता है। पूर्व संधियों के नवीनीकरण का उदाहरण है— भारत व रूस की शांति संधि जो पहले 25 वर्ष के लिए हुयी थी कालान्तर हार के बाद में शांति काल के दौरान इसे 15 वर्ष के लिए और बढ़ा दिया गया।

वर्तमान में शांतिकालीन संधियों पर अधिक कार्य किए जा रहे हैं। शोधकर्ता यह पता लगाने में जुटे हैं कि शांतिकालीन वार्ताएं कैसे अधिक लाभ पहुंचाती हैं। वे उन संभावनाओं को भी खोज रहे हैं जिसके अंतर्गत किसी एक पक्ष के द्वारा पूर्व में किए गए स्वार्थी व्यवहार को बदलकर ऐसी दशाएं पैदा की जाए कि उनके बीच किसी समझौते की सुनिश्चितता हो सके।

4.2.2 अप्रत्यक्ष वार्ता—अप्रत्यक्ष वार्ताएं एकपक्षीय कार्यवाही द्वारा की जाती है। इस दृष्टि से ये वार्ताएं प्रत्यक्ष वार्ताओं की विरोधी हैं क्योंकि अप्रत्यक्ष वार्ताओं में दो राष्ट्रों की सरकारें परस्पर बातचीत नहीं करती। इस प्रकार की वार्ता में एक पक्ष ऐसा कार्य करता है जिससे दूसरा राष्ट्र अपनी नीति में सुधार लाने का प्रयास करता है। 2003 के प्रारम्भ में जब भारत ने कश्मीर में सीमा पर से अपने सैनिकों को हटाया व पाकिस्तान के लिए वायु मार्ग खोलने का निर्णय लिया तो भारत की इस एकपक्षीय कार्यवाही का प्रभाव पाकिस्तान की नीति पर पड़ा और पाकिस्तान ने अपनी सेना को भी सीमा से हटा लिया। इसी तरह से युद्ध के दौरान एक पक्ष द्वारा युद्ध विराम की घोषणा भी इसी का उदाहरण है।

परमाणु अस्त्रों के प्रयोग का भय भी अप्रत्यक्ष वार्ताओं का एक उदाहरण है। यह भय युद्ध को रोकने का काम करता है। कोरिया संकट, वियतनाम-संकट ऐसे संकट थे। इन्हें परमाणु अस्त्रों के प्रयोग की धमकी का भय देकर एकपक्षीय कार्यवाही द्वारा सफलतापूर्वक रोका गया। तनाव को कम करने के लिए उठाए गए कदम संघर्ष की स्थिति को मंद कर देते हैं। अमेरिकन राष्ट्रपति जॉन केनेडी ने सोवियत संघ के साथ अपने सम्बन्धों को ठीक करने के लिए शांति सम्बन्धी उनकी रणनीति पर दिए व्याख्यान दिया जिसके पश्चात् 60-70 के दशक में दोनों राष्ट्रों के मध्य तनाव में कमी आयी और 1972 में परमाणु परिसीमन संधि व 1980 में दोनों महाशक्तियों के बीच व्यापार बढ़ा। ये सभी अप्रत्यक्ष वार्ताओं के उदाहरण हैं जो इनकी मध्यस्थता को स्पष्ट कर देते हैं।

वास्तव में वार्ता के की सफलता दोनों पक्षों के द्वारा समस्याओं के समाधान की इच्छा व ईमानदारी पर ही निर्भर है। भारत व पाकिस्तान के बीच अल्पसंख्यकों की समस्या व नहर विवाद को वार्ता के द्वारा ही सुलझाया गया पर पाकिस्तान ने भारत की उदारता का आदर नहीं किया।

4.3 सामूहिक सौदेबाजी—यह एक ऐसी प्रक्रिया है जिसमें दोनों पक्ष आपसी हितों का ध्यान रखते हुए अपने मतभेदों व संघर्षों का निराकरण करते हैं। यह आपसी समझौते द्वारा किसी विवाद का समाधान करने का द्विपक्षीय तरीका है। सामूहिक सौदेबाजी में प्रथम शब्द का अर्थ है—दोनों पक्षों के प्रतिनिधित अपने समूह सम्बन्धी विवाद के निराकरण में सहयोगात्मक आचार प्रदर्शित करे और दूसरे शब्द का सम्बन्ध एक ऐसी लचीली पद्धति से है जिसमें किसी विवाद का निराकरण करने हेतु दोनों पक्षों के प्रतिनिधि सहयोगात्मक रूप अपनाएं। मूलतः यह विधि दोनों पक्षों के सहयोग व लचीलेपन पर आधारित है। संक्षेप में सामूहिक सौदेबाजी दो पक्षों के बीच बातचीत व विचार-विमर्श का एक ऐसा साधन है जिसमें एक या दोनों पक्ष परस्पर मिलकर काम करने वाले व्यक्तियों का समूह होता है। इसकी सफलता बहुत कुछ दोनों पक्षों के परस्पर समायोजन की भावना पर निर्भर करती है। दोनों पक्षों के समायोजन के लिए यह आवश्यक है कि दोनों पक्षों को अपना पक्ष रखने का पूरा अवसर मिले साथ ही यह भी जरूरी है कि दोनों पक्ष पूर्वाग्रहों से मुक्त होकर बात करने के लिए बैठें। पूर्वाग्रह की दशा में कोई भी पक्ष दूसरे पक्ष की बात सुनने के लिए तैयार नहीं होता। परस्पर आदर-भाव व सद्भावना के साथ किया गया विचार-विमर्श ही किसी निर्णय पर पहुंचा सकता है।

सामूहिक सौदेबाजी के लिए यह भी जरूरी है कि जिसके लिए समझौता किया जाना है उसके बारे में अनिश्चितता नहीं होनी चाहिए। प्रो. क्लार्क के अनुसार, “यह विधि केवल शांतिपूर्ण उदात्त व

दोस्ताना माहौल में ही पनप सकती है।" जो पक्ष समझौता करवा रहा है वह ईमानदार, योग्य, तटस्थ एवं अपनी जिम्मेदारी को समझने वाला होना चाहिए। ऐसे पक्ष द्वारा किया गया समाधान या निर्णय दोनों पक्षों में पूर्ण विश्वास पैदा कर सकता है व ये दोनों पक्ष समझौते को कानूनी रूप प्रदान करने हेतु राज्य को नियमन हेतु प्रस्तुत कर सकते हैं।

सामूहिक सौदेबाजी की विधि का प्रयोग निरंतर संघर्षरत पक्षों में शांति स्थापना के लिये किया जाता है। यह विधि सामयिक परिवर्तन लाने के लिए भी कारगर है। निरंतर संघर्ष की दशाओं व सामाजिक परिवर्तन— इन्हीं दोनों क्षेत्रों में इस विधि की सफलता अधिक दर्ज की गयी है। विधि के प्रयोग की प्रक्रिया में सर्वप्रथम समस्या को रेखांकित किया जाना आवश्यक है तत्पश्चात् उस समस्या के निदान के लिए प्रक्रिया का चयन— पक्षों व उनके प्रतिनिधियों का निर्धारण आदि आवश्यक है। प्रतिनिधियों के निश्चित हो जाने के बाद प्रलेखों के आधार पर वार्ता आयोजित की जाती है व दोनों पक्षों के बीच "सहमति" बनाने का प्रयास किया जाता है। सहमति हो जाने के बाद समझौता व समझौते को लागू करने की प्रक्रिया का निर्धारण होता है। अर्थात् यह विधि समस्या को चिन्हित करने से प्रारम्भ होकर समझौते को लागू करने तक की सम्पूर्ण प्रक्रिया है और चूंकि समझौता परस्पर सहमति के आधार पर होता है इसलिए इस विधि की सफलता अधिक आंकी जाती है। यद्यपि वार्ता व मध्यस्थता की तुलना में इसका प्रयोग अधिक होता है।

4.4 शुभ कार्यालय (Good Offices)—यद्यपि अंतर्राष्ट्रीय कलह शमन का यह एक प्रारम्भिक स्वरूप है, किन्तु कलह शमन की दृष्टि से इनका महत्वपूर्ण स्थान है। उनका मुख्य कार्य संघर्षरत पक्षों के बीच पुनः संचार बहाली की दृष्टि से महत्वपूर्ण स्थान है। यह प्रक्रिया मुख्यरूप से निरन्तर अपनाने योग्य नहीं है। यह मुख्यतः विवादित पक्षों के बीच संचार में आये अवरोध को समाप्त करने तथा उनके बीच प्रारम्भिक मेल मिलाप के लिए एक ऐसे सुविधाजनक स्थान को उपलब्ध करवाना है जहां दोनों पक्ष सुविधा से संचार बहाली की दृष्टि से प्रयत्न कर सकें। यहां मुख्यतः यह तय किया जाता है कि वार्ता प्रक्रिया किस स्तर पर की जाये? यहां विवाद से सम्बन्धित मत पर गुणवत्ता की दृष्टि से कोई विचार नहीं किया जाता है।

मुख्यतः ये विधि दो पक्षों के बीच किसी तीसरे पक्ष के समावेश को वैध करार देती है। इसको कभी भी द्वेषपूर्ण करार नहीं दिया जाता क्योंकि वार्ता प्रक्रियाओं के प्रारंभ से पूर्व की ऐसी तैयारी महत्वपूर्ण मानी जाती है। 1951 में भारत पाक तनाव के समय तत्कालीन विवादों को दूर करने के लिए आस्ट्रेलिया ने अपने सद्भाव कार्यालय का उपयोग करना चाहा। भारत के तत्कालीन प्रधानमंत्री पं. जवाहरलाल नेहरू ने इस सम्बन्ध में कहा कि— उन परिस्थितियों में आस्ट्रेलिया के इस प्रयत्न का कोई लाभ नहीं होता। 1947 में संयुक्त राष्ट्र सुरक्षा परिषद ने इण्डोनेशिया व नीदरलैंड के झगड़े में अपने सत्प्रयत्न प्रस्तुत किए। इसी प्रकार फ्रांस ने अमेरिका व वियतनाम तथा दक्षिणी वियतनाम को गुड ऑफिस प्रदान किए। इसमें संयुक्त राष्ट्र संघ के महासचिव की भूमिका महत्वपूर्ण होती है। उदाहरण के लिए दो दशकों से अधिक के साइप्रस विवाद में सत्प्रयत्न, रेनबो वारियर विवाद में सद्प्रयत्न आदि द्वारा महासचिव ने महत्वपूर्ण भूमिका अदा की है।

4.5 वाद—विवाद—सुरक्षापरिषद् अथवा महासभा, कोई भी सिफारिश करने से पूर्व विवादित पक्षों के प्रतिनिधियों को लिखित अथवा मौखिक रूप से अपने दावे प्रस्तुत करने को आमंत्रित करती है और इस प्रकार उन्हें एक ऐसा मंच प्रदान करती है जहां वे स्वतंत्रतापूर्वक अपनी शिकायतें प्रस्तुत करते हैं तथा द्विपक्षीय कूटनीति के माध्यम से ऐसी स्थिति में पहुंच सकते हैं जहां विवाद के समाधानार्थ कोई समझौता हो सके। यह भी संभव है कि विवादित पक्ष, विवाद को सुलझाने की भावना की उपेक्षा करते हुए, अंतर्राष्ट्रीय मंच का उपयोग केवल विश्व जनमत को अपने अनुकूल करने की दृष्टि से करे अथवा दोनों पक्षों के बीच मतभेदों की खाई पहले की अपेक्षा अधिक चौड़ी हो जाय। इस बात की भी पूर्ण आशंका रहती है कि विवाद कूटनीतिक दांवपेवों और राजनीतिक वाद—विवाद के भंवर में फंसकर शीत—युद्ध का रूप धारण कर ले और दीर्घकाल तक चलता रहे, जैसे कश्मीर का विवाद। परिषद् अथवा महासभा में वाद—विवाद का यह सुपरिणाम अवश्य निकलता है कि संयुक्तराष्ट्र के सदस्य विवादित पक्षों के दावों और स्थिति से परिचित हो जाते हैं और अनेक ऐसे तथ्य एवं क्षेत्र प्रकाश में आ जाते हैं जिनके संदर्भ में दोनों पक्षों में समझौते की प्रभावी एवं फलप्रद चेष्टा की जा सकती है।

4.6 जाँच—अनुच्छेद 34 और 36 के अंतर्गत यह व्यवस्था है कि सुरक्षा-परिषद् किसी ऐसे विवाद अथवा स्थिति की जांच-पड़ताल कर सकती है जो अंतर्राष्ट्रीय संघर्ष का रूप ले सकता है अथवा जिससे कोई दूसरा विवाद खड़ा होने की आशंका हो। सुरक्षा-परिषद् इस बात का भी निश्चय करती है कि विवाद की स्थिति जारी रहने पर क्या विश्व की शांति व सुरक्षा को कोई खतरा पैदा हो सकता है। ऐसे विवाद या इस प्रकार की कोई स्थिति पैदा हो जाने पर सुरक्षा-परिषद् किसी भी समय उसके लिए उचित कार्यवाही करने या समाधान के उपायों की सिफारिश कर सकती है। इस प्रकार की सिफारिशें करते समय सुरक्षा-परिषद् को इस बात का विचार करना चाहिए कि सामान्य रूप से कानूनी विवादों को अंतर्राष्ट्रीय न्यायालय के विधान के अनुसार प्रस्तुत किया जाए।

जांच-पड़ताल का उद्देश्य वस्तुतः उन तथ्यों को ज्ञात करना होता है जिनसे विवादित पक्षों के बीच भ्रांति, अज्ञान या मतभेद दूर होकर शांति स्थापित हो सकती है। हेग अभिसमय की धारा 9 के अंतर्गत भी इस प्रकार की व्यवस्था की गई थी कि तथ्यमूलक विवाद की जांच के लिए दोनों पक्षों द्वारा चुने गए व्यक्तियों का एक अंतर्राष्ट्रीय आयोग बनाया जाए। 1924 में वाशिंगटन में हुए समझौते के अनुसार भी एक जांच आयोग स्थापित करने का निश्चय किया गया था।

अंतर्राष्ट्रीय संस्थाएं सौमनस्य एवं जांच-आयोग के माध्यम से अनेक समस्याओं को सुलझाने की चेष्टा करती रही हैं। उदाहरण के लिए, 1931 में मंचूरिया-काण्ड के लिए राष्ट्रसंघ द्वारा लिटन आयोग नियुक्त किया गया था। फिलीस्तीन में अरब देशों और इजराइल के बीच स्थाई शांति स्थापित कराने के उद्देश्य से भी एक सौमनस्य आयोग नियुक्त किया गया था। इण्डोनेशियाई और कश्मीर विवाद में भी संयुक्त राष्ट्रसंघीय आयोगों ने बड़ी श्रमसाध्य भूमिका अदा की थी। प्लानो एवं रिगज ने लिखा है कि सामान्यतः दोनों कार्य-तथ्यान्वेषण और मध्यस्थता जांच एवं मध्यस्थता आयोग को सौंपे जाते हैं और राष्ट्रसंघ की तरह ही संयुक्त राष्ट्रसंघ भी अपने क्षेत्राधिकार में आने वाले महत्वपूर्ण विवादों के लिए जांच एवं मध्यस्थता आयोग नियुक्त करता रहा है। यद्यपि कुल मिलाकर उनकी भूमिका प्रभावशाली रही है। यदि आयोग कोई समझौता कराने में असफल भी रहे तो भी विवादित पक्षों में निरन्तर सम्पर्क रखकर स्थिति अथवा विवादित पक्षों के दृष्टिकोण में आने वाले परिवर्तनों पर पैनी नजर रखकर तथा संयुक्त राष्ट्रसंघ 'उपस्थिति' के माध्यम से संयमित प्रभाव डालकर उन्होंने बड़ा उपयोगी कार्य किया है।

4.7 संराधन—विवादों के निबटारे का यह एक अन्य साधन है। इसमें वे विभिन्न तरीके शामिल हैं जो तीसरे पक्ष द्वारा दो या अधिक राज्यों के विवादों को शांतिपूर्वक हल करने के लिए अपनाए जाते हैं। प्रो. ओपेनहेम के अनुसार—“यह विवाद के समाधान की ऐसी प्रक्रिया है जिसमें कार्य कुछ व्यक्तियों के आयोग को सौंप दिया जाता है। यह आयोग दोनों पक्षों का विवरण सुनता है तथा विवाद को तय करने की दृष्टि से तथ्यों के आधार पर अपना प्रतिवेदन देता है। इसमें विवाद के समाधान के लिए कुछ प्रस्ताव होते हैं। ये प्रस्ताव किसी पंचाट या अदालती निर्णय की भांति अनिवार्य रूप से मान्य नहीं होते।”

1899 और 1907 के हेग अभिसमय में संराधन के आयोगों द्वारा विवादों के शांतिपूर्ण निपटारे की व्यवस्था है। प्रो. हडसन ने लिखा है कि—“संराधन की प्रक्रिया में तथ्यों का अन्वेषण और विरोधी दावों का समन्वय किया जाता है। उसके पश्चात् विवाद के समाधान के लिए प्रस्ताव तैयार किए जाते हैं। इन प्रस्तावों को स्वीकार करने अथवा न करने की स्वतंत्रता दोनों पक्षों को होती है।”

इस प्रकार कहा जा सकता है कि संराधन की प्रक्रिया में तीन बातें शामिल हैं—तथ्यों की जांच, मध्यस्थता एवं विवाद के लिए प्रस्तावों का प्रेषण। इस प्रक्रिया का विकास हेग अभिसमय के बाद हुआ।

संराधन पंच-निर्णय से भिन्न है। संराधन के अंतर्गत विभिन्न पक्ष इसके प्रस्तावों को स्वीकार करने या न करने के लिए पूर्ण रूप से स्वतंत्र होते हैं। दूसरी ओर पंच-निर्णय के अंतर्गत सम्बन्धित पक्षों को पंचाट द्वारा निर्धारित निर्णय मानना पड़ता है। संराधन-आयोग के महत्त्व के सम्बन्ध में संदेह नहीं किया जा सकता। राष्ट्रसंघ की परिषद् ने अनेक अवसरों पर इस प्रणाली का उपयोग किया था। यह जांच के अंतर्राष्ट्रीय आयोग तथा पंच-निर्णय के बीच की प्रक्रिया।

संराधन और मध्यस्थता के बीच भी अंतर है। प्रथम के अंतर्गत दोनों पक्ष अपना विवाद दूसरे व्यक्तियों को इसलिए सौंपते हैं कि वे तथ्यों की निष्पक्ष जांच के बाद उसके समाधान के प्रस्ताव प्रस्तुत

करें। यहां पहल विवाद के पक्षों द्वारा की जाती है। मध्यस्थता में पहलकर्ता तीसरा राज्य होता है। वह स्वयं विवाद के पक्षों के बीच वार्ता आरंभ कर विवाद को हल करना चाहता है।

संराधन में तीसरे पक्ष का संघर्ष के मूलभूत कारणों में सम्मिलित होना आवश्यक सा है। यद्यपि यह बहुत सीमित स्तर पर होता है। संराधन एक ऐसी प्रक्रिया है जो विवादग्रस्त पक्षों को परस्पर सहमति के आधार पर समाधान के लिए प्रेरित करती है। यह कोई आधारभूत प्रस्ताव नहीं देता। दोनों पक्षों के बीच वार्ता चलती रहे इसके लिए सहयोग करता है। संराधन संघर्ष की प्रकृति को उजागर करने की योजना पर चलता है क्योंकि संघर्ष की प्रकृति को विवादित पक्ष क्रोध एवं पूर्वाग्रहों के कारण देख नहीं पाते हैं। संराधन कुछ ऐसे उपाय प्रस्तुत करता है जिसमें से विवादित पक्ष स्वैच्छा से किसी भी विकल्प का चयन कर सके। इस दृष्टि से संराधक की भूमिका सहायक की है दिशा निर्देशक की नहीं। वैयक्तिक या छोटे समूह के झगड़ों में संराधन के अंतर्गत व्यक्तिगत या मनोवैज्ञानिक परामर्श को भी सम्मिलित किया जाता है जैसे वैवाहिक मामलों में यदि विवाद राजनैतिक समूह या संगठनों के बीच है तो संराधन में कानूनी सलाह को भी सम्मिलित किया जाता है। इसका उद्देश्य दोनों पक्षों को सहायता प्रदान करना होता है। इससे दोनों पक्षों के बीच संघर्ष का निराकरण हो जाता है और सामान्य सम्बन्ध बहाल हो जाते हैं।

जब संराधन असफल या अपर्याप्त होता है तब तीसरे पक्ष के हस्तक्षेप की एक प्रक्रिया मध्यस्थता है। एक मध्यस्थ संघर्ष प्रबंधन की सभी प्रविधियों का प्रयोग करता है उसमें संराधन तक की सभी विधियों का समावेश हो जाता है। यहां मध्यस्थ की भूमिका सहायक की नहीं होकर, दिशा निर्देशक की होती है और वह विवादित पक्षों के समक्ष विवाद को समाप्त करने के लिए ठोस प्रस्ताव प्रस्तुत करता है। संराधन जहां दोनों पक्षों के विचारों को स्पष्ट करने, उन्हें तकनीकी सलाह देने अथवा एक विशिष्ट विकल्प की क्रियान्वित करने तक सीमित रहता है, वही मध्यस्थ समाधान के मार्ग में आने वाली बाधाओं को दूर करने के लिए ठोस प्रस्ताव सुझाता है। शांतिपूर्ण निपटारे की प्रक्रिया में एक मध्यस्थ का निष्पक्ष होना बहुत आवश्यक होता है। साथ ही एक मध्यस्थ की स्वीकार्यता के लिये उसकी भूमिका कानूनी और विशेषज्ञ की होनी आवश्यक है। इस दृष्टि से एक मध्यस्थ के लिये आचार संहिता का निर्धारण भी किया जाने लगा है जिससे मध्यस्थता अब एक व्यवसाय का रूप लेता जा रहा है।

संराधन और मध्यस्थता जब दोनों ही असफल हो जाते हैं तो ऐसी स्थिति में विवाद का कानूनी निपटारा किया जाता है। जिसमें विवादित पक्ष द्वारा किए अधिकृत व्यक्ति, जिसे हम विवाचक कहते हैं, को सौंप सकते हैं अथवा वे चाहे तो अपना विवाद ट्रिब्यूनल के समक्ष प्रस्तुत कर सकते हैं। इस स्तर पर कलह प्रबंधन की विधियां सरकारी प्रशासनिक विधियों में बदल जाती हैं।

4.8 मध्यस्थता—मध्यस्थता, शांतिपूर्ण निपटारे हेतु तीसरे पक्ष के हस्तक्षेप की एक महत्वपूर्ण विधि है। इसका प्रयोग पूरे विश्व में प्राचीन काल से अनेक रूपों में होता रहा है। वर्तमान अंतर्राष्ट्रीय राजनीतिक परिदृश्य में मध्यस्थता का महत्व अधिक रूप से बढ़ा है। परंपरागत रूप में मध्यस्थता का प्रयोग पारिवारिक झगड़ों, कर्मचारी व प्रबंधकों के बीच झगड़ों को निपटाने के लिए होता था। अब इसका प्रयोग सामुदायिक संघर्ष, प्रजातीय संघर्ष व अंतर्राष्ट्रीय विवादों के क्षेत्र तक व्यापक हो गया है। अंतर्राष्ट्रीय सम्बन्धों में मध्यस्थता, न्यायाधीश व वकीलों आदि के द्वारा की जाती रही है। अब मध्यस्थता के कार्यक्रमों में शांति शोधकर्ता व अन्य सामाजिक कार्यकर्ता भी जुड़े हैं। 1970-1980 के बीच मध्यस्थता पर काफी साहित्य सृजन हुआ। इसके बढ़ते प्रयोग के कारण शांति कार्यकर्ताओं में यह विचार विकसित हो रहा है कि युद्ध व अन्याय जैसी समस्याओं का समाधान दोनों पक्षों से बातचीत के द्वारा ही निकाला जा सकता है।

जब विवादग्रस्त पक्ष समझौता वार्ता द्वारा अपने मतभेदों को सुलझाना नहीं चाहते या इस कार्य में असफल हो जाते हैं तो तीसरा राज्य अपनी सत्सेवा या मध्यस्थता द्वारा इन मतभेदों को मित्रतापूर्ण तरीके से दूर करने में सहायता कर सकता है। यह स्थिति प्रायः तब आती है जब विवादग्रस्त पक्ष अपने स्वार्थों के कारण उचित व अनुचित का अंतर नहीं करते। कलह शमन में मध्यस्थता को अलग रखा जाना आवश्यक है। सामान्य रूप से यह कहा जा सकता है कि मध्यस्थता शांतिपूर्ण समाधान की विधियों की शृंखला की एक कड़ी है। इसे संराधन व विवाचन के बीच की कड़ी कहा जा सकता है।

कभी-कभी मध्यस्थता का प्रयोग एक व्यापक अर्थ में किया जाता है जिसमें शांतिपूर्ण हस्तक्षेप की सभी विधियाँ समाहित हो जाती हैं। इस रूप में मध्यस्थता एक व्यक्ति या संस्था का रूप ले लेती है।

शांतिपूर्ण हस्तक्षेप का सबसे कमजोर प्रकार संघर्षरत पक्षों के बीच संचार को स्थापित करना व उसे बढ़ाना है। संचार के अभाव में सम्बन्ध टूटते हैं तथा अंतर्वैयक्तिक व अंतर्समूह के स्तर पर इससे कड़वाहट व विरोध बढ़ता है। राजनीतिक सम्बन्ध के स्तर पर संचार के टूट जाने से दोनों पक्षों के बीच ऐसे कार्यों की योजना बनायी जाती है जिससे एक दूसरे पक्ष को क्षति पहुँचायी जा सके व यहां तक कि उन्हें नष्ट किया जा सके। शांतिकर्मियों या किसी अन्य पक्ष के द्वारा प्रयत्नपूर्वक उनके बीच अप्रत्यक्ष सम्पर्क स्थापित कर दिया जाए तो कालांतर में आमने-सामने की वार्ता संभव हो सकती है। निष्पक्ष स्थान के चयन की भूमिका, शुभ कार्यालय द्वारा निभाई जाती है। जैसे ही विवादित पक्षों के बीच प्रत्यक्ष सम्पर्क स्थापित हो जाता है तीसरे पक्ष की भूमिका स्वतः समाप्त हो जाती है क्योंकि तब वार्ता, विवादित पक्षों को बिना किसी प्रबंधन के योग्य बना देती है। पर यदि यहां कुछ बुरी प्रवृत्तियाँ जैसे-पूर्वाग्रह, संघर्ष का ध्रुवीकरण व उकसाने की कार्यवाही आदि उपस्थित रहती है तो इस दशा में वार्ताएं असफल हो जाती हैं। असफलता के इस दौर में यह जरूरी हो जाता है कि तीसरा पक्ष पुनः हस्तक्षेप करे। इसे हम संराधन की कार्यवाही कह सकते हैं।

संराधन में तीसरे पक्ष का संघर्ष के मूलभूत कारण में सम्मिलित होना आवश्यक है। यद्यपि यह बहुत ही सीमित स्तर पर होता है। संराधन वह प्रक्रिया है जो विवादित पक्षों को परस्पर सहमति के आधार पर, समाधान के लिए प्रेरित करती है। यह कोई आधारभूत प्रस्ताव नहीं होता है। दोनों पक्षों के बीच वार्ता चलती रहे, इस हेतु संराधन सहयोग करता है। संराधन, संघर्ष की प्रकृति को उजागर करने की योजना पर चलता है क्योंकि संघर्ष की प्रकृति को, विवादित पक्ष क्रोध व पूर्वाग्रहों के कारण देख नहीं पाते हैं। संराधन कुछ ऐसे संभव उपाय प्रस्तुत करता है जिनसे विवादित पक्ष स्वेच्छा से किसी भी विकास का चयन कर सके। इस दृष्टि से संराधन की भूमिका सहायक की होती है। दिशा निर्देशक की नहीं। वैयक्तिक या छोटे समूहों के झगड़ों में संराधन के अंतर्गत व्यक्तिगत या मनोवैज्ञानिक परामर्श को भी सम्मिलित किया जाता है। प्रायः वैवाहिक मामलों में इसका प्रयोग होता है। यदि विवाद राजनैतिक संगठनों के बीच है तो संराधन में कानूनी सलाह को भी सम्मिलित किया जाता है। इससे दोनों पक्षों के बीच संघर्ष का निराकरण हो जाता है व सामान्य सम्बन्ध बहाल हो जाते हैं।

जब संराधन, असफल या अपर्याप्त हो तब तीसरे पक्ष की हस्तक्षेप की एक प्रक्रिया मध्यस्थता है। एक मध्यस्थ संघर्ष प्रबंधन की सभी विधियों का प्रयोग करता है उसमें संराधन तक की सभी विधियों का समावेश हो जाता है। यहां मध्यस्थ की भूमिका सहायक की न होकर दिशा-निर्देशक की होती है और वह विवादित पक्षों के बीच विवाद को समाप्त करने के लिए ठोस प्रस्ताव प्रस्तुत करता है। शांतिपूर्ण निपटारे की प्रक्रिया में एक मध्यस्थ का निष्पक्ष होना बहुत जरूरी होता है व साथ ही एक मध्यस्थ की स्वीकार्यता के लिए उसकी भूमिका कानूनी व विशेषज्ञ की होनी जरूरी है। इस दृष्टि से एक मध्यस्थ के लिए आचार संहिता का निर्धारण भी किया जाने लगा है जिससे मध्यस्थता का कार्य अब एक व्यवसाय का रूप लेता जा रहा है।

मध्यस्थता करने वाला राष्ट्र विवादित पक्षों में उत्पन्न नाराजगी के भावों को दूर करता है। वह विरोधी दावों में समन्वय स्थापित करता है। कई बार इससे युद्ध की संभावनाएं टल जाती हैं व विवादों का समाधान भी हो जाता है। शुभ कार्यालय या मध्यस्थता करने वाला एक व्यक्ति या संगठन हो सकता है। यह ध्यान देने योग्य बात है कि सत्सेवा व मध्यस्थता में जो अंतर है वह प्रायः संयुक्त राष्ट्र संघ के व्यवहार में नहीं दिखाई देता है। 1947 में सुरक्षा परिषद् ने इण्डोनेशिया के लिए जो संयुक्त राष्ट्र संघ की सत्सेवा समिति की नियुक्ति की थी उसके कार्य, सत्सेवा से अधिक थे। इसी प्रकार 1951 में संघ की महासभा द्वारा कोरिया विवाद के समय नियुक्त समिति भी व्यापक दायित्वों से युक्त थी। राजनयिक व्यवहार व संधियाँ सामान्यतः शुभ कार्यालय व मध्यस्थता के बीच अंतर नहीं करती इसलिए अंतर्राष्ट्रीय विवादों के निपटारे में ये प्रायः एक ही माने जाते हैं।

मध्यस्थता का अच्छा उदाहरण रूस द्वारा 1965 के अंत व 1966 के प्रारम्भ में भारत व पाकिस्तान के बीच ताशकंद समझौता कराना है। रूस का प्रयास सत्प्रयत्न व मध्यस्थता का मिश्रण था

क्योंकि रूस ने वार्ता के लिए ताशकंद का स्थान प्रदान किया जो सत्सेवा का उदाहरण था व कुछ सामान्य सुझाव भी दिए जिनसे समस्या का हल हो सके।

चूंकि इस आधार पर लिए गए निर्णय व सुझाव पक्षकारों के लिए बाध्यकारी नहीं होते हैं। अतः जब संराधन व मध्यस्थता दोनों ही असफल हो जाते हैं तो ऐसी दशा में विवाद का कानूनी निपटारा किया जाता है जिसमें विवादित पक्ष एक-एक अधिकृत व्यक्ति जिसे हम विवाचक कहते हैं को सौंप सकते हैं या वे चाहे तो अपना विवाद आयोग के समक्ष प्रस्तुत कर सकते हैं। इस स्तर पर कलह प्रबंध की विधियां सरकारी प्रशासनिक विधियों में बदल जाती है।

सत्सेवा और मध्यस्थता के बीच संक्षिप्त सा अंतर है। सत्सेवा में, तीसरा राष्ट्र दोनों पक्षों को एक-साथ बैठाता है और विवाद को सुलझाने के लिए सुझाव देता है। वह विवाद से सम्बन्धित विषयों में पूछताछ कर सकता है किन्तु इसमें तीसरा राज्य वास्तविक समझौता-वार्ता में भाग नहीं लेता। मध्यस्थता के समय हस्तक्षेपकर्ता राष्ट्र स्वयं, वार्ता में भाग नहीं लेता। यह अपनी ओर से सुझाव देता है और सभी विचार-विमर्शों में सक्रिय रूप से भाग लेता है। कभी-कभी विवादपूर्ण पक्ष यह मान लेते हैं कि मध्यस्थ द्वारा जो सुझाव दिया जाएगा वे उसे स्वीकार कर लेंगे किन्तु प्रायः ऐसा नहीं होता और मध्यस्थ के प्रस्ताव को मानना या न मानना दोनों पक्षों की इच्छा पर निर्भर होता है।

अंतर्राष्ट्रीय सम्बन्धों के इतिहास में ऐसे अनेक उदाहरण प्राप्त होते हैं जब तीसरे राज्यों की ओर से दो राज्यों के विवादों को सुलझाने के लिए हस्तक्षेप किया गया। कभी-कभी यह हस्तक्षेप सशस्त्र सेनाओं द्वारा भी होता है। ऐसी स्थिति में हस्तक्षेप करने वाला राज्य विवाद में एक नया तत्त्व और जोड़ देता है। दूसरी ओर हस्तक्षेप मित्रतापूर्ण एवं गैर-दबावकारी प्रकृति का भी होता है। इसमें दोनों पक्षों को विवाद निपटाने के लिए कुछ सुझाव दिए जाते हैं और उनको स्वीकार करने या न करने की स्वतंत्रता भी दी जाती है।

1899 के हेग सम्मेलन में सम्बन्धित पक्ष, सामान्य शांति की स्थापना के लिए मैत्रीपूर्ण हस्तक्षेप के महत्त्व से प्रभावित हुए थे। अंतर्राष्ट्रीय विवादों के शांतिपूर्ण समाधान के अधिनियम में यह कहा गया था कि शस्त्रों से काम लेने से पूर्व, एक या दो मित्रतापूर्ण शक्तियों की मध्यस्थता अथवा सत्सेवा का प्रयोग किया जाए। अधिनियम की आगे की धारा में यह कहा गया था कि तीसरी शक्तियां स्वयं पहल करके अपनी सत्सेवा एवं मध्यस्थता का प्रयोग कर सकती हैं। ऐसा मनमुटाव के समय भी किया जा सकता है। इसे अमैत्रीपूर्ण कार्य नहीं माना जाएगा। सम्बन्धित पक्ष तीसरे राज्य के सुझाव को मानने, न मानने के लिए स्वतंत्र होता है। हेग अधिनियम की धारा 6 के अनुसार ये उपाय केवल परामर्शात्मक होते हैं बाध्यकारी नहीं होते। यदि एक राज्य ने मध्यस्थता स्वीकार की है तो इसका अर्थ यह कदापि नहीं होता कि वह आवश्यक समझने पर युद्ध छेड़ नहीं सकता।

मध्यस्थता करने वाला राज्य विवादित राष्ट्रों में उत्पन्न नाराजगी के भावों को दूर करता है। वह विरोधी भावों में समन्वय स्थापित करता है। इससे युद्ध की संभावनाएं टल जाती हैं तथा तीसरे राज्यों की मध्यस्थता से विवादों का समाधान हो जाता है।

प्लानो एवं रिग्ज के अनुसार विवाद की समाधान-प्रक्रियाओं हेतु सुरक्षा-परिषद् या महासभा द्वारा जो सिफारिशें की जाती हैं, उनमें अधिकारियों के उच्चतर स्तर पर द्विपक्षीय पुनर्वाताएं, सलाह-मशविरा, किसी संयुक्त राष्ट्रीय आयोग द्वारा जांच एवं मध्यस्थता, किसी संयुक्त राष्ट्रसंघीय प्रतिनिधि या मध्यस्थ की नियुक्ति, किसी क्षेत्रीय अभिकरण को निर्दिष्ट या संदर्भित करना, पंच-निर्णय, न्यायिक-निर्णय आदि सम्मिलित हैं। समाधान की शर्तें, जनमत-संग्रह कराकर, आत्म-निर्णय द्वारा समाधान, सीमा-रेखाओं के पुर्ननिर्धारण, विवादग्रस्त क्षेत्र के विभाजन, किसी विवादग्रस्त क्षेत्र का संयुक्त राष्ट्रीय प्रशासन के अंतर्गत अंतर्राष्ट्रीयकरण आदि का रूप भी ले सकती हैं। पर यह आवश्यक है कि समाधान किए जाने वाले प्रयास या साधन ऐसे हों जिनको दोनों पक्षों द्वारा मान्य होने की संभावनाएं प्रबल हों।

यद्यपि सत्सेवा और मध्यस्थता के प्रयत्नों की सफलता की संभावना रहती है, तथापि संपादन की शर्तें या सुझाव प्रस्तावित करने में यह खतरा भी बना रहता है कि जहां परिषद् या महासभा ने एक बार न्यायपूर्ण समाधान का निर्णय ले लिया तो वहां संयुक्त राष्ट्रसंघ के दृष्टिकोण और व्यवहार की

लोचशीलता समाप्त हो जाती है। उदाहरण के लिए कश्मीर-विवाद में सुरक्षा-परिषद् ने दृढ़तापूर्वक अपने इस पूर्व-निर्णय को बदलने से बार-बार इंकार कर दिया है कि भारत एवं पाकिस्तान के बीच इस विवाद का समाधान राज्य में जनमत-संग्रह द्वारा किया जाए। पाश्चात्य राजनीतिज्ञ प्रायः यह पक्षपातपूर्ण एवं दुराग्रहपूर्ण आरोप लगाते हैं कि 1949 में भारत और पाकिस्तान दोनों ही कश्मीर जनमत-संग्रह के लिए सहमत हो गए थे, लेकिन आगे चलकर भारत ने इस समझौते के क्रियान्वयन से इंकार कर दिया। यह आश्चर्य की बात है कि आलोचक इस तथ्य को भुला देते हैं कि “जनमत-संग्रह कराने का प्रश्न स्पष्टतः इस शर्त के साथ जुड़ा हुआ था कि पाकिस्तान कश्मीर से अपनी फौजें हटा लेगा।” पर पाकिस्तान ने कई वर्षों तक इस शर्त को पूरा नहीं किया और उस बीच कश्मीर का स्वरूप बिलकुल बदल गया तथा 1954 में कश्मीर संविधान सभा ने वैधानिक तौर पर कश्मीर के भारत में विलय का अनुमोदन कर दिया। पश्चिमी महाशक्तियों की कुटिल राजनीति का शिकार बनते हुए भारत ने पाकिस्तान को न केवल समान दर्जा दिया वरन् सेनाओं को कश्मीर से हटाने सम्बन्धी व्यवस्था में पाकिस्तान द्वारा पालन न किए जाने के तथ्य की भी उपेक्षा कर दी। यह तथ्य भी ध्यान देने योग्य हैं कि कश्मीर पर आक्रमण का प्रश्न ही सुरक्षा-परिषद् के अधिकार क्षेत्र में आता है, भारत में कश्मीर के विलय का प्रश्न नहीं।

4.9 विवाचन—वार्ता, मध्यस्थता, जांच आदि वे उपाय हैं जो निर्णयेतर उपाय कहे जाते हैं क्योंकि इनमें विवादित पक्ष इस बात के लिए बाध्य नहीं होते कि वे इन उपायों को स्वीकार करें। इन्हें प्रभावशाली बनाने के लिए कुछ अन्य उपाय विकसित किए गए हैं, जिसमें निर्णयों को मानना दोनों पक्षों के लिए अनिवार्य है। इनमें से एक निर्णयात्मक उपाय है— विवाचन। न्यायिक प्रक्रिया के द्वारा राष्ट्रों के बीच विवादों के निपटारे की प्रक्रिया को विवाचन कहते हैं। प्रो. ओपनहेम के अनुसार, “विवाचन का अर्थ है राष्ट्रों के मध्य विवाद का समाधान कानूनी निर्णय द्वारा किया जाए। ऐसा निर्णय एक या अनेक पंचों के न्यायाधिकरण द्वारा होता है जो अंतर्राष्ट्रीय न्यायालय से भिन्न प्रकृति का है।”

विवाचन, कानून के सम्मान पर आधारित न्यायाधीशों का प्रयोग करते हुए व विवादित पक्षों द्वारा चुनी हुयी स्थितियों के आधार पर किया जाता है। विवाचन का उद्देश्य विरोधी पक्षों के बीच सामंजस्य स्थापित करना होता है जिसके लिए वे परस्पर अविश्वास व अन्य रूकावटों को दूर करने का प्रयत्न करते हैं। विवाचन चूंकि न्याय निर्णय होता है इसलिए इसमें समझौते का कोई स्थान नहीं होता। इसमें विवादित पक्ष अपने विवाद को कूटनीतिक प्रक्रियाओं की अपेक्षा न्यायिक प्रक्रिया द्वारा निपटाने में विश्वास व्यक्त करता है। यद्यपि विवाचन का प्रयोग अन्तर्राष्ट्रीय कलह-शमन के क्षेत्र में बहुत अधिक नहीं होता पर सीमा विवाद, क्षेत्रों को लेकर विवाद अथवा इसी तरह के अन्य विवाद जो परम्परागत मित्र राष्ट्रों के साथ हो, उनके लिए इस विधि का प्रयोग किया जाता है। पंचों व न्यायाधीशों के चयन के बाद सम्बन्धित पक्ष उन आधारों का भी चुनाव करते हैं जिनके द्वारा विवाद का समाधान खोजा जा सके। इस प्रक्रिया के द्वारा जो समाधान खोजा जाता है उसे मानना दोनों पक्षों के लिए बाध्यकारी होता है। यद्यपि विवादित पक्ष निर्णय की व्याख्या, निर्णय के सुधार या इस पर पुनर्विचार के लिए निवेदन कर सकते हैं तथा त्रुटिपूर्ण निर्णय या फैसले के लिए पक्षकार उस निर्णय को चुनौती भी दे सकते हैं।

यदि पंच निर्णय के फैसले को एक पक्ष स्वीकार कर ले व दूसरा पक्ष इसे स्वीकार न करे तो उसे स्वीकार कराने के लिए भी उपाय अपनाए जा सकते हैं। विश्व जनमत व अन्तर्राष्ट्रीय कानून ऐसे जनमत के विपरीत हो जाता है। 1951 में कश्मीर का प्रश्न, पंच निर्णय को सौंपने का प्रस्ताव भारत के सामने रखा गया पर उसने इसे स्वीकार नहीं किया क्योंकि वह इस मुद्दे को महाशक्तियों पर नहीं छोड़ना चाहता था। आगे चलकर कच्छ के रण विवाद को पंच निर्णय से सुलझाया गया था।

4.9.1 विवाचन का इतिहास—आधुनिक अंतर्राष्ट्रीय विवाचन, 1794 की एक संधि के पुनरावर्तन के रूप में देखा जाता है। वह संधि इंग्लैण्ड व अमेरिका के बीच विवाद के सम्बन्ध में थी। दोनों पक्षों ने विवाद के निपटारे के लिए आयोग गठित किए व दोनों ही राष्ट्रों द्वारा अपने-अपने आयुक्त भी नियुक्त किए गए। ये आयोग कूटनीतिक व न्यायाधिक- दोनों प्रक्रियाओं के मिले-जुले रूप थे जो विवाद के निपटारे के लिए व उसके प्रभावों के आकलन के लिए साधन जुटाते थे। धीरे-धीरे मिश्रित आयोगों में न्यायिक प्रक्रिया अधिक प्रभावी होती गयी और कूटनीतिक प्रक्रिया कम होती चली गई। इंग्लैण्ड व अमेरिका के बीच 1872 में अलबामावा का दावा, आधुनिक विवाचन में मील का पत्थर साबित हुआ। इस विवाद को

हल करने में मिली सफलता के बाद यह प्रस्ताव आया कि अंतर्राष्ट्रीय विवाचन के लिए कोई स्थायी व्यवस्था होनी चाहिए जिससे इसे व्यवस्थित स्वरूप दिया जा सके।

1899 का हेग सम्मेलन और 1907 में अंतर्राष्ट्रीय विवादों के शांतिपूर्ण निपटारे के लिए हुए सम्मेलन में, विवाचन हेतु एक स्थायी व्यवस्था प्रदान की गयी। हेग सम्मेलन में ऐसे विवाद जो कूटनीतिक साधनों द्वारा नहीं निपटाए जा सकते उनके लिए विवाचन को एक प्रभावशाली निष्पक्ष व न्यायसंगत साधन करार दिया।

विवाचन की स्थायी व्यवस्था के लिए एक प्रशासकीय परिषद् और एक अंतर्राष्ट्रीय ब्यूरो की स्थापना की गयी। प्रशासकीय परिषद् में विवादित पक्षों के प्रतिनिधि होते हैं जबकि अंतर्राष्ट्रीय ब्यूरो विवाद के निपटारे के लिए एक पंच मण्डल गठित कर उसका पंजीयन करता है। विवादित पक्ष प्रारंभ में अपने दो-दो पंच नियुक्त करते थे और वे चारों पंच मिलकर मुख्य या प्रधान पंच की नियुक्ति करते हैं। इस प्रक्रिया को 1907 के सम्मेलन में लिखित किया जाना अनिवार्य कर दिया गया व पांच की जगह तीन पंचों की नियुक्ति निश्चित की गयी। 1949 में अंतर्राष्ट्रीय आयोग द्वारा एक प्रस्ताव रखा गया जिसे 1953 में पारित किया गया। उसके अनुसार विवाद एक बार विवाचक को सौंपने के पश्चात् उसे वापिस नहीं लिया जा सकता। अर्थात् विवाद को पंच मण्डल को सुपुर्द करने के बाद उसके निर्णय को मानना बाध्यकारी है।

4.9.2 विवाचन का स्वरूप—विवाचन के मुख्य रूप से दो प्रकार बताए गए हैं— स्वैच्छिक विवाचन, अनिवार्य विवाचन।

- **स्वैच्छिक विवाचन**— ऐच्छिक विवाचन से तात्पर्य यह है कि दोनों पक्ष अपने मतभेदों को पारस्परिक रूप से सुलझाने में असमर्थ होने पर तथा मध्यस्थ और समझौताकार के प्रयत्नों से भी कोई सहायता न पाकर अपने विवाद को एक विवाचक के सम्मुख प्रस्तुत करके उसके द्वारा दिए गए निर्णय को मानना स्वीकार कर लेते हैं। इस प्रकार ऐच्छिक विवाचन का मुख्य तत्त्व, ऐच्छिक रूप से किसी विवाद को विवाचक को विवाचन के लिए सौंपना है। इस प्रकार इस विवाचन में यह आवश्यक नहीं रहता है कि बाद में पक्षकारों की उपस्थिति हो या कोई जांच-पड़ताल की जाए या निर्णय को लागू किया जाए, क्योंकि इसमें अनिवार्यता नहीं होती है। ऐच्छिक विवाचन के निर्णय सदैव बाध्यकारी नहीं होते। अपितु जब इन निर्णयों को न्यायालय में पंजीकृत करवा लिया जाता है तो वे बाध्यकारी हो जाते हैं। भारत व ब्रिटेन के मध्य के विवाद को इसी के द्वारा सुलझाया गया था। औद्योगिक विवादों के सम्बन्ध में विवाचन का प्रयोग अधिक किया जाता रहा है। इस उपाय का सुझाव सर्वप्रथम 1921 में महात्मा गांधी ने अहमदाबाद के मिलों के श्रमिकों व मालिकों को दिया था। वहां इसे काफी सफलता मिली क्योंकि अधिकांश मामलों में श्रमिकों व मालिकों ने गांधी जी को ही विवाचक नियुक्त किया था। इसके बाद आगामी वर्षों में ऐच्छिक विवाचन को मूर्त रूप दिया गया व 1956 में औद्योगिक विवाद अधिनियम व 1956 में संशोधन करके उसमें कुछ विशेष धाराएं भी जोड़ी गयीं।
- **अनिवार्य विवाचन**— अनिवार्य विवाचन वह है जब विवादित पक्ष परस्पर निर्णय करने में असफल रहते हैं या स्वैच्छिक विवाचन में समाधान नहीं हो पाता है तो सम्बन्धित पक्ष न्यायालय द्वारा विवाद का हल करवाते हैं। इसमें दोनों पक्षों को आवश्यक रूप से विवाद को विवाचक को सौंपना पड़ता है। वर्तमान समय में विवाचन का प्रयोग औद्योगिक व व्यावसायिक विवादों को निपटाने में किया जा रहा है। राष्ट्रों के बीच इसका प्रयोग उन क्षेत्रों में अधिक बढ़ रहा है जिनमें विवाद आर्थिक हितों पर आधारित होते हैं। अधिनियम, इसी विवाचन का दूसरा नाम है जिसका आशय है कि सरकार विवाद को विवाचन के लिए किसी अधिकारी को सौंप देती है और इसके निर्णय को दोनों पक्षों को मानने को बाध्य करी है। इस प्रकार अनिवार्य विवाचन में, अनिवार्य रूप से गवाहों की उपस्थिति, अनिवार्य रूप से जांच पड़ताल के अधिकार और अनिवार्य रूप से निर्णय को लागू करना और इन विवाचन निर्णयों के उल्लंघन करने पर दण्ड देने की व्यवस्था आदि सब सम्मिलित होते हैं। इस विवाचन के आधार पर दिए गए निर्णय प्रत्येक दशा में बाध्यकारी होते हैं।

द्वितीय महायुद्ध में युद्ध के लिए उत्पादन को जारी रखने व उद्योगों में शांति स्थापित करने के विचार से अनिवार्य विवाचन को कई देशों में अपनाया गया था। भारत में भी इस व्यवस्था को अपनाया गया था और इसमें ऐसी सफलता प्राप्त हुयी कि युद्ध के बाद भी अनिवार्य विवाचन के सिद्धान्त को 1947 के औद्योगिक विवाद अधिनियम में अपना लिया गया।

चूंकि अनिवार्य विवाचन में निर्णय सरकार द्वारा अधिकृत अधिकारियों के हाथ में होता है। अतः सामाजिक न्याय पूर्णतया निर्णायक अधिकारी की कार्यक्षमता, सद्भावना व विद्वत्ता पर निर्भर होता है। अतः अनिवार्य विवाचन को जब तक सावधानी से यदा-कदा ही उपयोग में लाया जाए तब तक यह संभावना बनी रहेगी कि राज्य का अनुचित हस्तक्षेप न हो जाए। यह प्रजातंत्र के सिद्धान्त के पूर्णतया विरुद्ध बात होगी। अतः अनिवार्य विवाचन का यह सिद्धान्त आलोचनात्मक वाद-विवाद का विषय रहा है। रोयल श्रम आयोग, वी.वी. गिरी, गुलजारी लाल नंदा, खंडुभाई देसाई आदि नेताओं ने इस विवाचन का विरोध किया था। यद्यपि भारत सरकार ने इसे अपनाकर इस विषय पर अधिनियम बनाए हैं पर युद्ध काल में संभवतः अनिवार्य विवाचन ठीक माना भी जा सकता है पर सामान्य अवस्था में इस सिद्धान्त को बनाए रखना अंततः हानिकारक होगा।

4.9.3 विवाचन के आधुनिक उदाहरण—अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर विवाचन के आधुनिक उदाहरण यह दर्शाते हैं कि उनके द्वारा किए गए समझौते कितने सफल होते हैं। विवाचन के उदाहरण प्रायः विवाद के मुद्दों, ट्रिब्यूनल की प्रक्रिया व उसके अधिकार क्षेत्र को परिभाषित करते हैं। ये उदाहरण इसलिए महत्वपूर्ण हैं क्योंकि वे विवाचन के द्वारा निर्णित किए गए और असफलता की दशा में न्यायालय में उन्हें चुनौती भी दी गयी। यद्यपि ऐसे उदाहरण नगण्य हैं। क्योंकि राष्ट्र न्यायिक प्रक्रिया के स्थान पर कुटनीतिक साधनों यथा वार्ता, जांच संराधन आदि के द्वारा शांतिपूर्ण निपटारे पर अधिक विश्वास रखते हैं। संयुक्त राष्ट्र की चार्टर की धारा 2 व 3 तथा अध्याय 6 के प्रावधानों के अंतर्गत राष्ट्र शांतिपूर्ण विधि द्वारा विवादों के निपटारे के लिए स्वतंत्र है। उनकी यह स्वतंत्रता अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर विवाचन के प्रयोग को अत्यन्त अल्प कर देती है। क्योंकि ऐसे राष्ट्र द्विपक्षीय समझौते या संधियों को अधिक महत्वपूर्ण मानते हैं। इनकी असफलता की दशा में विवाचन का प्रयोग होता है।

1928 में अमेरिका व नीदरलैण्ड के बीच पनामा द्वीप के स्वामित्व को लेकर विवाद, 1941 में कनाडा की एक कंपनी द्वारा फैलाए गए प्रदूषण व उससे अमेरिका में हुए विनाश को लेकर कनाडा व अमेरिका के बीच विवाद, 1968 में कच्छ के रण को लेकर भारत व पाकिस्तान के बीच विवाद तथा 1977 में इंग्लिश चैनल व फ्रांस के बीच विवाद आदि का निपटारा न विवाचन को परिभाषित करने, उसकी प्रक्रिया को स्पष्ट करने, उसके अधिकारों व सीमाओं को स्पष्ट करने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई है।

विवाचन का प्रयोग अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर भले ही कम हुआ हो पर अंतर्राष्ट्रीय शांति, सुरक्षा व शांतिपूर्ण निपटारे की दृष्टि से न्यायिक प्रक्रिया के रूप में यह एक महत्वपूर्ण विधि है। सीमा विवाद जैसे तकनीकी विवादों जहां विवादित राष्ट्र परस्पर विश्वास खो देते हैं वहां ऐसे मामलों के निपटारों के लिए विवाचन के अतिरिक्त हम यह कह सकते हैं कि विवाचन की प्रभावशीलता, विवादित पक्षों की राजनीतिक इच्छा शक्ति व विवाचन के निर्णय के प्रति सम्मान पर निर्भर करती है। विवाचन की महत्वपूर्ण भूमिका के कारण ही वर्तमान में औद्योगिक विवादों से लेकर अंतर्राष्ट्रीय विवादों के समाधान की एक महत्वपूर्ण प्रविधि बन गयी है।

4.10 एक पक्षीय समाधान—अंतर्राष्ट्रीय कलह शमन के क्षेत्र में यह एक ऐसी विधि है जिसमें दूसरे पक्ष की स्वीकृति के बिना भी समस्या का समाधान स्वेच्छा से किया जा सकता है। जैसे एक पक्षीय युद्ध विराम की घोषणा, किसी विवाद से अपने आप को स्वेच्छा से हटा लेना या फिर परस्पर लगाये गये प्रतिबंधों को एक तरफा हटा देना।

कलह शमन के क्षेत्र में संयुक्त राष्ट्र में वीटो पावर का उपयोग एक ऐसा अपवाद है जो इस प्रक्रिया को बाधित कर देता है। वर्तमान संघर्ष, चाहे वह परमाणु अस्त्रों से सम्बन्धित हो चाहे सीमा विवाद से सम्बन्धित हो, चाहे वैचारिक हो या चाहे अन्य मामलों से सम्बन्धित हो, इनके नियंत्रण में वीटो की भूमिका बड़ी ही है। किन्तु फिर भी संघर्ष निराकरण के पारस्परिक पद्धतियों का उपयोग भी है। ऐसे बहुत उदाहरण देखने को मिलते हैं जिनमें निजी हितों की पूर्ति के लिए वीटो का प्रयोग किया गया है।

यद्यपि अब इस ओर गंभीरता से ध्यान दिया जाने लगा कि परिणामरहित वार्ताओं की अपेक्षा, इन वार्ताओं को बंद कर स्वयं को इन वार्ताओं से हटा लेना ज्यादा अच्छा है। यह तनाव बढ़ाने की प्रक्रिया न होकर तनाव को कम करने की ओर एक महत्वपूर्ण एवं सकारात्मक कदम है।

निशस्त्रीकरण वार्ताओं में प्रायः यह देखने को मिला है कि अंतहीन वार्ताओं के स्थान पर किसी एक पक्ष के द्वारा, एकपक्षीय निशस्त्रीकरण की घोषणाओं ने निशस्त्रीकरण के क्षेत्र में आशातीत सफलता प्राप्त की है। ऐसे एकपक्षीय निर्णय बिना किसी औपचारिकताओं के तथा दूसरे पक्ष पर बिना किसी दबाव के संघर्ष को समाप्त करने में कारगर सिद्ध होते हैं। कभी-कभी यह कार्यवाही उस समय भी की जाती है जब समस्या के समाधान के लिये और कोई विकल्प नहीं रह जाता। यहां कानून का सहारा उपयोगी तो होता है किन्तु समस्याएं बहुत अधिक होने के कारण एक पक्षीय समाधान अधिक महत्वपूर्ण होता है।

वर्तमान परमाणु अस्त्र संकट में राष्ट्रों के मध्य संचार की होटलाईन व्यवस्था परमाणु संकट को टालने के लिये की गई है। यह एक आश्वासन अवश्य है किन्तु समस्या का समाधान नहीं। होटलाईन अवसर तब देती है जब ऐसे संकट के निपटारे में स्वयं के द्वारा ही कदम उठाया जाना सुरक्षित होता है। प्रतिपक्ष की प्रतीक्षा संकट को विनाश में बदल सकती है। अतएव एक पक्षीय निपटारे की प्रक्रिया सामान्यतः समाधान की गारंटी है।

गांधीजी ने एक पक्षीय निपटारे पर बहुत अधिक बल दिया था। उनका मानना था कि यह वास्तव में अहिंसक कार्यवाही है। संघर्ष से अपने आपको अलग कर लेना या समाप्त कर लेना, संघर्ष से भागना, पलायन करना या प्रतिपक्ष के सामने घुटने टेकना नहीं है वरन् अदम्य साहस के साथ संघर्ष का शांतिपूर्ण समाधान करने की प्रतिबद्धता है। जटिल संघर्षों की दशा में एकपक्षीय निपटारे की प्रक्रिया ही कोई समाधान दे सकती है। वर्तमान अंतर्राष्ट्रीय राजनीति के संदर्भ में हम यह स्पष्ट रूप से देख सकते हैं कि लाहौर व आगरा की वार्ताओं की असफलता के बाद भारत व पाकिस्तान द्वारा उठाए गए एकपक्षीय कदमों से ही उनके सम्बन्धों में सुधार हुआ। इसी प्रकार अंतर्राष्ट्रीय समुदाय में प्रतिस्पर्धा पर आधारित कई जटिल विवादों का समाधान इस प्रक्रिया द्वारा हुआ। निःशस्त्रीकरण की अंतर्राष्ट्रीय संधि व शस्त्रों में कटौती के प्रस्ताव इसके प्रत्यक्ष उदाहरण हैं।

4.11 तथ्यों की खोज—गुड ऑफिसेस संराधन व मध्यस्थता— इनमें निर्णयों का तब तक कोई महत्त्व नहीं होता जब तक उनके द्वारा कोई समाधान न निकल जाए। बहुधा यही देखा जाता है कि उपलब्ध तथ्यों का विश्लेषण विवादग्रस्त पक्ष अपने-अपने नजरिए से करते हैं। राज्यों के मामलों में तो प्रायः ऐसा होता ही है। अतएव तीसरे पक्ष द्वारा प्रस्तुत किए गए तथ्य व उनका विश्लेषण अधिक महत्वपूर्ण होता है। यदि तीसरे पक्ष द्वारा प्रस्तुत तथ्यों को नकार दिया जाता है तो इसका तात्पर्य है— तीसरे पक्ष को अस्वीकार कर देना। अंतर्राष्ट्रीय क्षेत्र में तथ्यों की खोज से सम्बन्धित तकनीक का महत्त्व हाल ही में बढ़ा है। जांच के लिए अंतर्राष्ट्रीय आयोग की स्थापना 1899 के हेग सम्मेलन के समय की गयी जिसका मुख्य कार्य तथ्यों की खोज था। प्रारम्भ में राष्ट्र संघ और उसके बाद संयुक्त राष्ट्र ने संगठनात्मक प्रबंध की दृष्टि से तथ्यों की खोज को बहुत महत्त्व दिया है। सुरक्षा परिषद् में यह तथ्य उभरकर सामने आया कि जो राष्ट्र संघर्ष में लिप्त हैं वे विरोधी को अपने ही नजरिए से देखते हैं। ऐसी स्थिति में संघर्ष ठहर सा जाता है। यहां निष्पक्ष जांच का प्रस्ताव एक विवेकपूर्ण निर्णय होता है। यद्यपि निष्पक्षता को कई परीक्षाओं से गुजरना होता है। विवादग्रस्त पक्ष जांच को अपने अनुकूल कराने की दृष्टि से उसे गलत दिशा देने का प्रयत्न करते हैं। इसलिए जांच का वस्तुनिष्ठ हो जाना आवश्यक हो जाता है। फिर भी अंतर्राष्ट्रीय समुदाय में शक्तिशाली राष्ट्रों का वर्चस्व, ऐसी जांच को प्रभावित कर अपने अनुकूल निर्णय करवाने में सफल हो जाते हैं। हाल ही में इसका उदाहरण पिछले दशकों में परमाणु अस्त्र-शस्त्रों से सम्बन्धित जांच का रहा है। अमेरिका ने अपने वर्चस्व से संयुक्त राष्ट्र पर्यवेक्षक दल को जांच में अपने अनुकूल कर लिया और इराक पर ऐसे हथियारों को नष्ट करने की दृष्टि से युद्ध थोप दिया गया। युद्ध के दौरान व युद्ध के पश्चात् ऐसे किसी भी तरह के हथियार का न मिलना तथ्यों की खोज पर आधारित तकनीक पर अमेरिका के वर्चस्व का स्पष्ट प्रभाव एक सटीक उदाहरण है। यद्यपि इससे सम्बन्धित आयोग में 1928 व 1949 में कुछ परिवर्तन किए गए थे पर परिणाम कभी भी उत्साहजनक नहीं मिले।

4.12 न्याय योग्यता—न्याय योग्यता शब्द को लेकर द्वितीय विश्व युद्ध के बाद लिखे गए साहित्य में काफी अस्पष्टता देखने को मिली। प्रायः यह समझा जाता रहा है कि तीसरे पक्ष को निर्णय के लिए जो विवाद सौंपा गया है उसके निर्णय की अस्वीकृति की स्थिति में समाधान के लिए एक ट्रिब्यूनल को मामला सौंपा जा सकता है। ऐसी स्थिति में तीसरे पक्ष की कोई समस्या नहीं रह जाती किन्तु तीसरे पक्ष के बने रहने की स्थिति में यह समस्या बनी रहती है कि तीसरे पक्ष द्वारा दिया गया निर्णय, समस्या का समाधान करेगा या नहीं। यहां प्रायः कानून या तकनीकी सलाह की आवश्यकता होती है ताकि न्याय-योग्यता पर आधारित समस्याएं युद्ध को न भड़का दे।

उदाहरण के लिए द्वितीय विश्व युद्ध के बाद बर्लिन से सम्बन्धित पूर्व-पश्चिम का संघर्ष कानूनी प्रश्नों तक ही सीमित रह गया, जिसे न्यायालय को सौंप देने की अपरिहार्यता सी थी। इस विवाद में कई कानूनी मुद्दे उठाए गए जो निम्न थे—

- सोवियत संघ जर्मन लोगों व सामान को जर्मनी व पश्चिम बर्लिन के बीच भेजने की स्वीकृति देने के लिए बाध्य है।
- पश्चिम जर्मनी व पश्चिम बर्लिन के बीच रेल सड़क या हवाई यातायात की स्वीकृति सोवियत संघ किस सीमा तक देगा।

इन प्रश्नों व कुछ ऐसे ही प्रश्नों के जवाब जब तक ट्रिब्यूनल के द्वारा नहीं जाते तब तक समाधान की दिशा में कोई प्रगति नहीं हो सकती। यही कारण है कि ऐसे ही विवाद शांति के लिए खतरा बन जाते हैं जब उन्हें न्याय के अयोग्य करार दिया जाता है। इसी प्रकार कश्मीर का मुद्दा व परमाणु अस्त्रों का मुद्दा इस प्रकार के मसले हैं जिनकी न्याय योग्यता या अयोग्यता को पूर्णतया साबित नहीं किया जा सकता।

न्याय योग्यता की समस्या यह दर्शाती है कि संघर्षरत पक्ष तीसरे पक्ष को अपना विवाद या तो सौंपने के लिए तैयार नहीं होते या तीसरे पक्ष को विवाद सौंपने से पूर्व कोई कानूनी अथवा तकनीकी सलाह नहीं लेते। यहां न्याय योग्यता दोनों पक्षों के बीच एक नीतिगत मुद्दा होता है। एक पक्ष विवाद को तीसरे पक्ष को सौंपना चाहता है जबकि दूसरा पक्ष ऐसा करने के लिए तैयार नहीं होता। यहां एक प्रश्न उठता है कि एक मुद्दा जो न्याय योग्य है उनके सम्बन्ध में क्या कोई कानूनी अथवा तकनीकी प्रश्न उठाया जा सकता है? प्रायः ऐसा माना जाता है कि कोई भी ऐसा मामला जो भविष्य में विवाद को पैदा करने वाला है उसे तीसरे पक्ष को नहीं सौंपा जाता और इन्हें न्याय के अयोग्य माना जाता है। ऐसे मामले प्रायः राजनैतिक होते हैं। दूसरी तरफ सभी ऐसे मामले जो समाधान के लिए तीसरे पक्ष को सुपूर्द किए जाते हैं उन्हें न्याय योग्य कहा जाता है। ऐसे मामलों को कानून भी कभी-कभी कहा जाता है। एक मामला न्याय योग्य है या नहीं यह प्रायः संघर्षरत पक्षों पर निर्भर करता है। कोई भी मामला एक पक्ष के हित के आधार पर ही तीसरे पक्ष को सौंपा जा सकता है व कभी इससे इंकार भी किया जा सकता है। पहली स्थिति न्याय योग्यता की है जबकि दूसरी स्थिति न्याय अयोग्यता की।

4.13 राष्ट्रसंघ तथा संयुक्त राष्ट्रसंघ द्वारा विवादों का समाधान—अंतर्राष्ट्रीय संस्थाओं की स्थापना विवादों के शांतिपूर्ण समाधान के लिए की गई थी ताकि विश्व-युद्ध पर रोक लगाई जा सके। राष्ट्रसंघ के घोषणा-पत्र में शांतिपूर्ण समाधान की विभिन्न प्रक्रियाओं का उल्लेख किया गया था ताकि सामूहिक सुरक्षा व्यवस्था का कानूनी आधार बनाया जा सके। सत्सेवा एवं मध्यस्थता की प्रक्रियाओं को व्यापक बनाया गया ताकि संघ के प्रत्येक सदस्य को यह मित्रतापूर्ण अधिकार दिया जा सके कि वह संघ की सभा या परिषद् का ध्यान प्रत्येक उस घटना की ओर आकर्षित कर सके जो शांति के लिए चुनौती है। संघ के घोषणा-पत्र की धारा 12 में विवादों के शांतिपूर्ण समाधान के तीन उपाय बताए गए: पंचों को सौंपना, हेग की स्थाई पंचायती अदालत को सौंपना तथा संघ की परिषद् द्वारा इसकी जांच करना। प्रथम दो तरीकों में निर्णय उपयुक्त समय में देने और परिषद् का निर्णय छः माह में करने की बात कही गई। यह कहा गया कि इन निर्णयों तथा जांच के तीन महीने बाद तक दोनों पक्ष युद्ध न छोड़े ताकि उनकी उत्तेजित भावनाएं शांत हो जाएं और शांतिपूर्ण तथा निष्पक्ष रीति से इस प्रश्न पर विचार किया जा सके।

राष्ट्रसंघ में सामूहिक सुरक्षा की भावना के अनुरूप यह प्रावधान रखा गया कि कोई राष्ट्र युद्ध अथवा युद्ध के लिए चुनौती, चाहे तुरंत ही संघ के किसी सदस्य को प्रभावित करे या न करे, संपूर्ण संघ की रुचि का विषय है। उस समय संघ द्वारा राष्ट्रों की शांति की रक्षा के लिए आवश्यक कदम उठाया जाएगा। संघ के सदस्यों पर यह दायित्व डाला गया कि उनके बीच विवाद उत्पन्न होने पर वे उसे पंच-निर्णय या परिषद् को जांच के लिए सौंपें। परिषद् को समझौता कराने की सामान्य शक्ति दी गई। परिषद् द्वारा दी गई जांच को स्वीकार करने के लिए कोई पक्ष बाध्य नहीं किया जा सकता। धारा 16 में शांतिपूर्ण समाधान का प्रस्ताव स्वीकार न करने वाले के विरुद्ध आर्थिक प्रतिबंध लगाने की व्यवस्था की गई।

राष्ट्रसंघ के अधीन विवादों के शांतिपूर्ण समाधान के स्थित तरीकों के अतिरिक्त परिषद् को यह निर्देश भी दिया गया कि वह अंतर्राष्ट्रीय न्याय के लिए स्थाई न्यायालय की स्थापना हेतु योजनाएं बनाएं और संघ के सदस्यों की स्वीकृति के लिए प्रस्तुत करें। अनेक संशोधनों और परिवर्तनों के बाद सम्बन्धित प्रारूप को संघ की महासभा ने 13 दिसम्बर, 1920 को स्वीकार कर लिया। 1929 में इस संविधि में अनेक संशोधन किए गए तथा इसे सदस्यों की स्वीकृति के लिए प्रस्तुत किया।

राष्ट्रसंघ के स्थाई न्यायालय में 19 सदस्य थे—15 न्यायाधीश और 4 उप न्यायाधीश। 1929 में के संशोधन में उप न्यायाधीशों को हटाकर न्यायाधीशों की संख्या ही 15 कर दी गई। न्यायालय का क्षेत्राधिकार दो प्रकार का था—सामान्य और विशेष। सामान्य क्षेत्राधिकार संविधि पर आधारित था और विशेष क्षेत्राधिकार का स्रोत, विशेष राज्यों द्वारा दी गई संधियां और अधिसमय थे। सामान्य क्षेत्राधिकार का अनुपूरक वैकल्पिक आवश्यक क्षेत्राधिकार भी था। न्यायालय के कुछ परामर्शदात्री कार्य भी थे। यह महासभा एवं परिषद् को आवश्यकता के समय कानूनी परामर्श देती थी।

संयुक्त राष्ट्रसंघ का एक मौलिक उद्देश्य राष्ट्रसंघ की भांति अंतर्राष्ट्रीय विवादों का शांतिपूर्ण समाधान तथा युद्ध को रोकना है। इस लक्ष्य की प्राप्ति के लिए कुछ दायित्व महासभा तथा सुरक्षा परिषद् पर डाले गए हैं। संयुक्त राष्ट्र संघ के चार्टर की धारा-14 महासभा को यह सलाह देती है कि उस स्थिति के शांतिपूर्ण समायोजन के लिए सुझाव दे जो राष्ट्रों के सामान्य कल्याण अथवा मित्रतापूर्ण सम्बन्धों को आघात पहुंचा सके। सुरक्षा परिषद् को दी गई शक्तियां और भी व्यापक हैं। यह महासभा की अपेक्षा अधिक जल्दी कार्यवाही कर सकती हैं। जब कभी अंतर्राष्ट्रीय शांति या सुरक्षा के लिए खतरा हो तो सुरक्षा परिषद् पंच-निर्णय, न्यायिक समझौता, वार्ता, जांच, मध्यस्थता, संराधन आदि उपायों द्वारा विवाद को सुलझाने का सुझाव दे सकती है। आक्रमण या शांति-भंग की स्थिति में सुरक्षा परिषद् यह तय करती है कि शांति एवं सुरक्षा की रक्षा के लिए वह क्या कदम उठाए? वह अपने निर्णयों को क्रियान्वित करने के लिए संघ के सदस्यों का सहयोग भी मांग सकती है। सुरक्षा-परिषद् कोई भी निर्णय ले सकती है, उस पर प्रतिबंध नहीं है। वह संयुक्त राष्ट्रसंघ के सिद्धान्तों के अनुसार कार्य करती है। यदि कोई विवाद शांतिपूर्ण उपायों से हल न किया जा सके तो यह सैनिक कार्यवाही करने का भी अधिकार रखती है। कोरिया और स्वेज नहर के मामले में यह सफलतापूर्वक इस अधिकार का प्रयोग कर चुकी है। इसके निर्णयों को न मानने वाले राज्यों के विरुद्ध यह आर्थिक प्रतिबंध लगा सकती है।

संयुक्त राष्ट्रसंघ के अधीन न्याय के एक अंतर्राष्ट्रीय न्यायालय की भी स्थापना की गई है। इस न्यायालय का प्रथम निर्वाचन 6 फरवरी, 1946 को तथा इसका प्रथम नियमित अधिवेशन 18 अप्रैल, 1946 को सम्पन्न हुआ। अंतर्राष्ट्रीय विवादों के शांतिपूर्ण समाधान में इसकी महत्वपूर्ण भूमिका है।

4.14 अवरोधक कूटनीति—डाग हैमरशोल्ड द्वारा विकसित 'अवरोधक कूटनीति' की धारणा का महत्त्व शीत-युद्ध की स्थितियों को मर्यादित और शांत रखने में है। अवरोधक कूटनीति का उपाय शांतिपूर्ण समाधान का पूरक है जिसका उद्देश्य विवाद में तनाव को कम करना तथा स्थिति को बिगड़ने से बचाना होता है। महासभा में निर्गुट राष्ट्र, शांति स्थापित रखने की दिशा में जो नवीन भूमिका आज निभा रहे हैं तथा शीत-युद्ध के क्षेत्र को सीमित करने के जो प्रयत्न कर रहे हैं—वे अवरोधक कूटनीति की ही विशेषताएं हैं।

प्लानो एवं रिगज ने संयुक्त राष्ट्रसंघ द्वारा अपनाई जाने वाली अवरोधक कूटनीति के उपायों को चार श्रेणियों में विभक्त किया है—1. निरीक्षक दल, जो युद्ध-विराम विसैन्यीकृत क्षेत्र तथा अस्थायी युद्ध-विराम रेखाओं या संधि सीमाओं का निरीक्षण करते हैं, 2. युद्धरत पक्षों के मध्य रखी गई संयुक्त

राष्ट्रीय सेनाएं, 3. आंतरिक संघर्ष का दमन करने और घरेलू-व्यवस्था कायम रखने में प्रयुक्त की जाने वाली संयुक्त राष्ट्रीय सेनाएं, तथा 4. साम्प्रदायिक समूहों में सशस्त्र संघर्ष को रोकने या सीमित करने में प्रयुक्त संयुक्त प्रांतीय फौजें।

संयुक्त राष्ट्रसंघ के निरीक्षक समूहों की बाल्कान प्रदेश में (1946-54), इण्डोनेशिया में (1947-49), कश्मीर और लेबनान में (1958), पश्चिमी इरियन में (1962-63) तथा यमन में (1963-64) बड़ी उपयोगी भूमिका रही थी। अवरोधक कूटनीति का सार उपयुक्त अंतिम तीन श्रेणियों में निहित है जिनमें संयुक्त राष्ट्रसंघीय सेना का शांति की रक्षा या शांति कायम रखने के लिए प्रयोग होता है। 1956 में मध्यपूर्व में तथा 1960 में कांगों में तथा 1964 में साइप्रस में इन उपायों का प्रयोग किया गया था। वास्तव में संयुक्त राष्ट्रसंघ द्वारा अवरोधक कूटनीति का प्रयोग विगत कुछ वर्षों से प्रभावशाली रूप में किया जाने लगा है।

संयुक्त राष्ट्रसंघ का मौलिक उद्देश्य विवादों का शांतिपूर्ण समाधान तथा युद्धों को रोकना है। विवादों के शांतिपूर्ण समाधान के सम्बन्ध में संयुक्त राष्ट्रसंघ का आधारभूत सिद्धान्त यह है कि राष्ट्रों को चाहिए कि वे अपने सभी विवाद समझौता-वार्ता, पंच-निर्णय, न्यायिक समझौता, जांच, मध्यस्थता, सौमनस्य आदि उपायों द्वारा सुलझा लें। यदि फिर भी मतभेद दूर न हों तो विवाद के सुरक्षा परिषद् अथवा महासभा में प्रस्तुत होने के बाद विवाद को परिषद् या सभा की कार्यसूची में शामिल कर लिया जाता है और तत्पश्चात् विवाद के सभी पहलुओं पर विचार-विमर्श होता है। विवादित पक्ष स्वतंत्रतापूर्वक विचार व्यक्त कर सकते हैं। चार्टर के अनुच्छेद 32 के अनुसार जब कोई विवाद सुरक्षा परिषद् में प्रस्तुत हो तो संयुक्त राष्ट्रसंघ, जो सुरक्षा परिषद् का सदस्य नहीं है अथवा वह राष्ट्र जो संयुक्त राष्ट्रसंघ का सदस्य नहीं है, यदि विवादित पक्ष है तो उसे बहस में भाग लेने के लिए बुलाया जा सकता है, परन्तु ऐसे सदस्य को मतदान का अधिकार नहीं होता। सुरक्षा परिषद् अपनी बहसों में ऐसे राष्ट्र द्वारा भाग लेने के लिए, जो संघ का सदस्य न हो, न्याय-सम्मत कार्यवाही करने जा रही हो तो उस स्थिति में दोनों पक्षों के लिए मतदान का निषेध नहीं है। चार्टर के 24वें अनुच्छेद के अनुसार संघ के सदस्य-राज्य इस बात के लिए वचनबद्ध हैं कि वे सुरक्षा परिषद् के निर्णय का पालन करेंगे, उसके प्रतिनिधित्व को मानेंगे चाहे परिषद् में उनका कोई प्रतिनिधित्व न हो। विवादों के समाधान की दिशा में यह बड़ी कमजोरी है कि यदि कोई राष्ट्र परिषद् के निर्णयों के विरुद्ध आचरण करे तो उसके विरुद्ध अविलम्ब कोई कार्यवाही किए जाने के प्रश्न पर अनेक बाह्य जटिल समस्याएं उठ खड़ी होती हैं।

उल्लेखनीय है कि विवाद के सम्बन्ध में सुरक्षा परिषद् अथवा महासभा को अंतर्राष्ट्रीय न्यायालय की भांति, निर्णय देने का अधिकार नहीं है। केवल प्रस्ताव पारित कर सम्बन्धित राष्ट्रों से यह सिफारिश की जा सकती है कि वे इन प्रस्तावों के आधार पर बातचीत द्वारा समस्याओं को सुलझाएं। चार्टर की धारा 14 महासभा को यह अधिकार देती है कि वह स्थिति के शांतिपूर्ण समायोजन के लिए ऐसे सुझाव दे जिनसे राष्ट्रों के सामान्य, कल्याणकारी अथवा मित्रतापूर्ण सम्बन्धों को आघात न पहुंचता हो। परिषद् और महासभा को मौके की जांच के लिए आयोग नियुक्त करने अथवा महासचिव को भेजने का अधिकार है ताकि विवाद के सम्बन्ध में संयुक्त राष्ट्रसंघ को वास्तविक जानकारी हासिल हो सके और यदि सशस्त्र संघर्ष छिड़ गया हो तो प्रभावशाली ढंग से अविलम्ब 'युद्ध-विराम' की स्थिति पैदा की जा सके। सुरक्षा परिषद् को जो शक्तियां दी गई हैं उनके बल पर वह महासभा की अपेक्षा अधिक जल्दी कार्यवाही कर सकती है।

अपने सीमित साधनों और परिस्थितियों के अंतर्गत तथा राष्ट्रों के प्रभुसत्ता-सिद्धान्त को ध्यान में रखते हुए संयुक्त राष्ट्रसंघ ने विवादों के शांतिपूर्ण समाधान के लिए अभी तक अनेक उल्लेखनीय प्रयास किए हैं जिनमें से बहुतों में सफलता प्राप्त हुई और कई बार महाशक्तियों की अड़ंगेबाजी तथा सदस्य-राष्ट्रों की अखाड़ेबाजी के कारण अनेक बार असफल भी होना पड़ा है। फिर भी यह स्वीकार करना होगा कि अंतर्राष्ट्रीय शांति और सुरक्षा बनाए रखने में संयुक्त राष्ट्रसंघ को उत्साहवर्द्धक सफलता मिली है। संघ के सदप्रयास अभी तक तृतीय महायुद्ध के विस्फोट को रोकने में बहुत सहायक सिद्ध हुए हैं।

4.15 दमनकारी प्रक्रियाएं—संयुक्त राष्ट्र संघ चार्टर के अध्याय सात की व्यवस्था के अनुसार विश्व-शांति व सुरक्षा के लिए संकट उत्पन्न होने, शांति भंग होने अथवा विश्व के किसी भी क्षेत्र में सशस्त्र आक्रमण

हने की दशा में संयुक्त राष्ट्रसंघ शांति एवं व्यवस्था की पुनर्स्थापना के उद्देश्य से यदि आवश्यक समझे तो बल-प्रयोग कर सकता है अथवा प्रतिरोधात्मक उपायों का आश्रय भी ले सकता है। संघ, बल-प्रयोग द्वारा अंतर्राष्ट्रीय विवादों का समाधान दो प्रकार से करने का प्रयत्न करता है— प्रथम— जिसमें सशस्त्र सेना के प्रयोग की आवश्यकता नहीं होती, एवं द्वितीय— जिसमें सशस्त्र सैन्य-बल का प्रयोग आवश्यक हो जाता है।

अनुच्छेद 39 के अनुसार सुरक्षा परिषद् ही इस बात का निर्णय करती है कि कौन-सी योजनाएं शांति के लिए खतरनाक, शांति भंग करने वाली अथवा आक्रमण की योजना समझी जा सकती हैं। इस अनुच्छेद के अनुसार परिषद् ही सिफारिश तथा निर्णय करेगी कि अंतर्राष्ट्रीय शांति एवं सुरक्षा कायम करने अथवा फिर से स्थापित करने के लिए क्या कार्यवाही की जानी चाहिए। अनुच्छेद 40 में यह व्यवस्था है कि किसी स्थिति को बिगाड़ने से बचाने के लिए सुरक्षा परिषद् अपनी सिफारिशें करने अथवा किसी कार्यवाही को निश्चय करने से पूर्व विवादी पक्षों से ऐसे अस्थायी कदम उठाने की मांग करेगी जिन्हें वह उचित या आवश्यक समझती हो। इन अस्थायी कदमों से विवादित पक्ष के अधिकारों, दावों या उनकी हैसियत का कोई अहित नहीं होगा। यदि कोई पक्ष इस प्रकार के अस्थायी कदम नहीं उठाता है, तो सुरक्षा परिषद् इसका भी विधिवत् ध्यान रखेगी।

बल-प्रयोग के उपर्युक्त दोनों उपाय सुरक्षा परिषद् के आदेशानुसार संयुक्त राष्ट्रसंघ के सदस्यों को मान्य होते हैं। इसका संचालन भी सुरक्षा परिषद् ही करती है। इस प्रसंग में उल्लेखनीय है कि चार्टर में कहीं भी 'आक्रमण', 'शांति भंग', 'शांति के लिए संकट', 'घरेलू मामला', आदि वाक्यों की व्याख्या नहीं की गई है। एक राष्ट्र की दृष्टि में जो 'आक्रमण' होता है वही दूसरे राष्ट्र की दृष्टि में 'घरेलू मामला' हो सकता है। इस प्रकार के सभी मामलों के निर्णय के लिए परिषद् के 5 स्थायी सदस्यों के मतों सहित कुल 9 सदस्यों के स्वीकारात्मक मत आवश्यक होते हैं। चूंकि राजनीतिक गुटबंदी के कारण यह कोई सरल कार्य नहीं है अतः सुरक्षा परिषद् ऐसे मामलों में प्रायः अविलम्ब कोई निर्णय नहीं ले पाती। यह सुरक्षा परिषद् की एक बड़ी कमजोरी है किन्तु एक बार इस निश्चय पर पहुंच जाने पर कि अमुक स्थिति शांति के लिए संकट है अथवा शांति भंग हुई है अथवा आक्रमण हुआ है—सुरक्षा परिषद् तुरंत कार्यवाही कर सकती है। इस प्रकार की कार्यवाही में सैनिक और असैनिक दोनों प्रकार की अनुशास्तियां निहित हैं और संघ के सभी सदस्य परिषद् के निर्णयों पर अमल करने के लिए, संघ के विधान के अनुसार बाध्य हैं। जब विवाद में सशस्त्र संघर्ष भड़क उठता है तो संयुक्त राष्ट्रसंघ जैसे अंतर्राष्ट्रीय संगठन के सामने सर्वाधिक गंभीर चुनौती उपस्थित हो जाती है। सिद्धान्ततः चार्टर के अनुच्छेद 7 के अनुसार विवादित पक्षों पर अनुशास्तियां लगाने की व्यवस्था है, तथापि संयुक्त राष्ट्रसंघ सामान्यतः दमनकारी या प्रतिरोध के उपायों से बचने की चेष्टा करता है और कूटनीतिक, राजनीतिक तथा वैधानिक उपायों से समस्या को सुलझाने का प्रयास करता है। सशस्त्र संघर्ष को रोकने के लिए यद्यपि चार्टर में स्पष्ट शब्दों में युद्ध-विराम आदेश का कोई उल्लेख नहीं है, तथापि अनुच्छेद 40 की व्यापक व्याख्या करते हुए सुरक्षा परिषद् संघर्षरत पक्षों को युद्ध-विराम के आदेश दे सकती है जो वास्तव में 'सिफारिशों' के रूप में होते हैं। अनेक मामलों में विवादित पक्ष युद्ध-विराम के लिए सहमत हो जाते हैं लेकिन इस बात की भी पूर्ण संभावना रहती है कि परिषद् के आदेशों अथवा सिफारिशों को ठुकरा दिया जाए। इण्डोनेशिया और डचों, यहूदियों और अरबों, साइप्रस के यूनानियों और अरबों, साइप्रस के यूनानियों और तुर्कों तथा दो अवसरों पर भारतीयों और पाकिस्तानियों के बीच युद्ध रोकने में सुरक्षा परिषद् के युद्ध-विराम आदेश प्रभावकारी सिद्ध हुए हैं।

अनुच्छेद 41 के अंतर्गत यह व्यवस्था है कि सुरक्षा परिषद् अपने निर्णयों पर अमल कराने के लिए ऐसी कोई भी कार्यवाही निश्चय कर सकती है जिसमें सशस्त्र सेना का प्रयोग न हो। वह संघ सदस्यों से इस प्रकार की कार्यवाही करने की मांग कर सकती है। इन कार्यवाहियों के अनुसार आर्थिक सम्बन्ध पूर्णतः अथवा आंशिक रूप से समाप्त किए जा सकते हैं; समुद्र, वायु, डाक-तार, रेडियो और यातायात के अन्य साधनों पर प्रतिबंध लगाया जा सकता है और कूटनीतिक सम्बन्धों का विच्छेद किया जा सकता है।

अनुच्छेद 42 में उल्लेख है कि यदि अनुच्छेद 41 के अधीन दी गई उपर्युक्त कार्यवाहियां सुरक्षा परिषद् की दृष्टि से अपर्याप्त हों या अपर्याप्त सिद्ध हो गई हों तो अंतर्राष्ट्रीय शांति एवं सुरक्षा की रक्षा

के लिए या फिर से शांति स्थापित करने के लिए वह जल, थल और वायु सेनाओं द्वारा आवश्यक कार्यवाही कर सकती है। इस कार्यवाही में विरोध प्रदर्शन, नाकेबंदी तथा संघ के सदस्य राष्ट्रों की जल, थल और वायु सेनाओं द्वारा की जाने वाली कोई भी कार्यवाही सम्मिलित है।

अनुच्छेद 43 के अनुसार परिषद् ही इस बात का निश्चय करती है कि उपर्युक्त कार्यवाही संघ के कुछ सदस्यों द्वारा की जाए अथवा सभी सदस्यों द्वारा की जाए तथा जो कार्यवाही की जाए वह स्वतंत्र रूप से हो अथवा प्रत्यक्ष हो अथवा अंतर्राष्ट्रीय संस्थाओं के माध्यम से हो। सदस्य-राष्ट्रों का यह कर्तव्य है कि वे सुरक्षा परिषद् के मांगने पर और विशेष समझौते अथवा समझौतों के अनुसार अपनी सशस्त्र सेनाएं, सहायता तथा अन्य सुविधा प्रदान करेंगे। व्यवस्था के अनुसार यदि इस प्रकार के समझौतों द्वारा यह निश्चय किया जाना था कि संघ का प्रत्येक सदस्य कितनी सहायता देगा, सेनाएं कैसे उपलब्ध होंगी, वे अविलम्ब कार्यवाही करने के लिए कैसे तैयार होंगी तथा प्रत्येक सदस्य किस प्रकार अन्य सुविधाएं प्रदान करेगा, पर ऐसे समझौते अभी तक किए नहीं जा सके हैं। उस स्थिति में अनुच्छेद में यह व्यवस्था दी गई है कि “जब सुरक्षा परिषद् बल प्रयोग करने का निश्चय कर ले तो किसी ऐसे सदस्य से, जिसे इसमें प्रतिनिधित्व प्राप्त नहीं है, सशस्त्र सेनाएं जुटाने के लिए कहने से पूर्व वह उस देश को, यदि वह सदस्य चाहे, तो उसकी सशस्त्र सेनाओं के प्रयोग से सम्बन्धित निर्णय में भाग लेने को आमंत्रित करेगी।”

संयुक्त राष्ट्रसंघ के सदस्य सामूहिक अंतर्राष्ट्रीय कार्यवाही के लिए अपनी-अपनी अंतर्राष्ट्रीय वायु सेना के दल शीघ्रातिशीघ्र उपलब्ध कराएंगे ताकि संघ, तुरन्त सैनिक कार्यवाही कर सकें। यह भी स्पष्ट किया गया है कि इन सैनिक दलों की तैयारी के बारे में सुरक्षा परिषद् अपनी सैनिक स्टॉफ समिति की सहायता लेगी। अनुच्छेद 46 के अनुसार सैनिक स्टॉफ समिति की मदद से सशस्त्र सेना को काम में लेने की योजनाएं बनाई जाएंगी। इस अनुच्छेद के अनुसार परिषद् को अधिकार है कि वह अग्रांकित विषयों पर सैनिक स्टॉफ समिति का परामर्श और सहयोग प्राप्त करे—1. अंतर्राष्ट्रीय शांति एवं सुरक्षा परिषद् की आवश्यकताएं, 2. परिषद् के अधीन सेनाओं का प्रयोग और उनकी कमान, 3. शस्त्रों का नियंत्रण, तथा 4. संभावित निःशस्त्रीकरण। सैनिक स्टॉफ समिति, सुरक्षा परिषद् के अधीन रखी गई है और वह सशस्त्र फौजों के सामरिक दृष्टिकोण से संचालन के लिए उत्तरदायी है।

चार्टर की इन व्यवस्थाओं से स्पष्ट है कि विश्व-शांति और सुरक्षा बनाए रखने अथवा पुनः स्थापित करने के लिए परिषद् को संवैधानिक दृष्टि से शक्तिशाली बनाया गया है तथापि कुछ ऐसी सांविधानिक दुर्बलताएं और जटिलताएं विद्यमान हैं जिनके कारण परिषद् व्यवहार में आशानुकूल सफल सिद्ध नहीं हुई है। प्रक्रियात्मक मामलों को छोड़कर शेष विषयों में निर्णय के लिए 5 स्थायी सदस्यों की सहमति अनिवार्य है जिसका अर्थ है कि कोई भी स्थायी सदस्य किसी भी उचित किन्तु अपने विरोधी दावे को निषेधाधिकार के प्रयोग से अमान्य ठहरा सकता है अथवा विश्व में शांति एवं सुरक्षा को स्थापित करने की दिशा में परिषद् की प्रभावकारी कार्यवाहियों में अवरोध उत्पन्न कर सकता है। यहां तक की स्थिति को यथावत् रखने के उपायों में भी स्थायी सदस्यों की सहमति अनिवार्य है। इसका स्वाभाविक परिणाम यह होता है कि चाहे कोई स्थायी सदस्य स्वयं शांति भंग अथवा आक्रामक कार्यवाही का दोषी हो तो भी शांति एवं सुरक्षा की स्थापना की दृष्टि से बल-प्रयोग या प्रतिरोधात्मक उपाय व्यवहार में नहीं लाए जा सकते। अब तक का इतिहास बतलाता है कि बड़े राष्ट्र, जो परिषद् के स्थायी सदस्य हैं, प्रत्यक्ष-अप्रत्यक्ष रूप से बड़े झगड़ों के पीछे होते हैं। अतः परिषद् प्रायः तक तक कोई कारगर उपाय नहीं कर पाती जब तक उसे सभी बड़े राष्ट्रों से सहयोग न मिले। चूंकि चार्टर में ‘आत्मरक्षा’ एवं ‘आक्रमण’ का भेद स्पष्ट शब्दों में उल्लिखित नहीं है। अतः अस्पष्टता का लाभ उठाकर उत्तरी कोरिया पर आक्रमण करने के मामले में केवल 16 राष्ट्रों ने ही संयुक्त राष्ट्रसंघ को सैनिक सहायता दी थी।

निष्कर्षतः अंतर्राष्ट्रीय कलह शमन के क्षेत्र में तीसरे पक्ष की महत्वपूर्ण भूमिका होती है। चाहे वह अच्छे कार्यालय के रूप में हो चाहे मध्यस्थ के रूप में और चाहे स्वेच्छिक विभाजन के रूप में। न्याय योग्य मुद्दों पर न्यायिक प्रक्रियाओं का प्रयोग समाधान के लिये एक महत्वपूर्ण विधि है। जहां विवाद लम्बा चल रहा हो और न्याय निर्णय की संभावना कम हो अथवा परमाणु युद्ध का खतरा हो ऐसी स्थिति में एक पक्षीय निपटारे की प्रक्रिया तनाव को काफी कम कर देती है। जब कानूनी तंत्र कमजोर हो तब दमनकारी प्रक्रियाओं का उपयोग समाधान के लिये महत्वपूर्ण विधि हो सकती है। अतः अच्छे कार्यालय

से लेकर दमनकारी प्रक्रियाओं तक सभी विधियां अंतर्राष्ट्रीय कलह शमन की दृष्टि से अपने-अपने क्षेत्र में उपयोगिता रखती है।

ब. संघर्ष निराकरण की जैन विधि-अनेकांत

यह पृथ्वी कभी भी धर्म व दर्शन से रिक्त नहीं रही है। भारत भी इसका अपवाद नहीं है। भारत में जैन, बौद्ध, वैदिक आदि विविध धर्मों का अस्तित्व रहा है। इन धर्मों के अपने-अपने विशिष्ट सिद्धान्त रहे हैं। अनेकान्त-जैन दर्शन का एक विशेष सिद्धान्त है। इससे ही बौद्धिक अहिंसा का सूत्रपात हुआ है, जो जैनों की अहिंसा-दर्शन में विशेष देन है। इसी देन के कारण अहिंसा जैन दर्शन से जुड़ी हुई है।

1. अनेकान्त की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि

विश्व का विचार करने वाली परस्पर भिन्न, दो मुख्य दृष्टियां रही हैं— सामान्यगामिनी व विशेषगामिनी। प्रथम दृष्टि प्रारम्भ में विश्व में समानता देखती है पर धीरे-धीरे अभेद की ओर झुकते-झुकते, अंततः समस्त विश्व को एक ही मूल में देखती है और यह निश्चय करती है कि जो कुछ प्रतीति का विषय है वह तत्त्व वास्तव में एक ही है। इस तरह समानता की प्राथमिक भूमिका से उत्तर कर अंत में यह दृष्टि तात्त्विक एकता की भूमिका पर रुक जाती है। जहां यह या तो भेदों को देख नहीं पाती या उन्हें देखकर भी वास्तविक न समझने के कारण व्यावहारिक, अपारमार्थिक कहकर छोड़ देती है।

दूसरी दृष्टि समस्त विश्व में असमानता ही असमानता देखती हैं धीरे-धीरे यह असमानता का मूल खोजते-खोजते अंत में विश्लेषण की ऐसी भूमिका पर पहुंचती है जहां उसे एकता, अपितु समानता भी कृत्रिम मालूम होती है। फलतः तो क्या दूसरी दृष्टि निश्चय पर पहुंच जाती है कि यह विश्व एक-दूसरे से अत्यन्त भिन्न भेदों का पूंज मात्र है।

भगवान् महावीर के पूर्व भारत-भूमि पर वैचारिक-संघर्ष एवं दार्शनिक विवाद अपनी चरम सीमा पर थे। जैन आगमों के अनुसार उस समय 363 मत प्रचलित थे। इन 363 दार्शनिक सम्प्रदायों को जैन आगमों में चार वर्गों में विभाजित किया गया था—

- क्रियावादी—जो आत्मा को पुण्य-पाप आदि का कर्ता-भोक्ता मानते थे।
- अक्रियावादी—जो आत्मा को अकर्ता मानते थे।
- विनयवादी—जो आचार-नियमों पर बल देते थे।
- अज्ञानवादी—इनके अनुसार ज्ञान से विवाद उत्पन्न होते हैं, इसलिए अज्ञान ही परम श्रेय है।

वैचारिक आग्रह और मतान्धता के इस युग में बुद्ध और महावीर दो महापुरुष हुए। बुद्ध ने विवाद व मतान्धता से ऊपर उठने के लिए विवाद परागमुखता को अपनाया। किन्तु इससे मानवीय जिज्ञासा का समाधान नहीं हो पाया। व्यक्ति दार्शनिक विचारों की इस संकुलता में सत्य को देखना चाहता था। वह जानना चाहता था कि इन विविध मतवादों में सत्य कहां है? ऐसी परिस्थिति में महावीर विरोध-समन्वय की एक विधायक दृष्टि लेकर आये और उन्होंने कहा—आग्रह, मतान्धता या एकान्त दृष्टि ही गलत दृष्टि है।

महावीर ने कहा—एकान्त दृष्टि और आग्रह ही सत्य का बाधत तत्त्व है। सम्पूर्ण सत्य का ज्ञान अनाग्रह से ही हो सकता है। दूसरों के सत्य को झुठलाकर सत्य को नहीं पाया जा सकता। सत्य विवाद में नहीं, विवाद समन्वय में प्रकट होता है।

2. अनेकान्त की दार्शनिक पृष्ठभूमि

सीमित क्षमताओं से युक्त मानव प्राणी के लिए पूर्ण ज्ञान सदैव ही एक प्रश्न रहा है। पूर्ण सत्य को जाना जा सकता है, पर कहा नहीं जा सकता। क्योंकि शब्दों की इतनी सामर्थ्य नहीं है कि वह एक साथ एक समय में, पूर्ण सत्य को कह सके। इसलिए अपूर्ण साधन से पूर्णता को जानने के सभी प्रयास अधूरे हैं। आंशिक सत्य को पूर्ण सत्य मान लिया जाए तो विवाद व वैचारिक संघर्षों का जन्म होता है। सत्य न केवल उतना है जितना कि हम जानते हैं अपितु वह एक व्यापक पूर्णता है। उसे तर्क, विचार, बुद्धि व वाणी का विषय नहीं बनाया जा सकता है। वस्तुतः हमारी एन्द्रिक क्षमता तर्क-बुद्धि,

विचार-क्षमता, वाणी तथा भाषा भी इतने अपूर्ण हैं कि वे सम्पूर्ण सत्य की अभिव्यक्ति में असक्षम हैं। अतः यह दावा करना मिथ्या है—“मेरी दृष्टि ही सत्य है, सत्य मेरे पास ही है।” इतना ही नहीं वस्तु सत्य में परस्पर विरोधी गुणों का भी मिलन रहता है। उपनिषदों से लेकर वर्तमान के दार्शनिकों ने इस बात को स्वीकारा है। कठोपनिषद् में सत् को बुद्धि व तर्क से परे माना गया है। मुण्डकउपनिषद् में उसे मेधा व श्रुति से अगम्य कहकर इसी तथ्य को स्पष्ट किया गया है। जैनागम आचारांग सूत्र में उसे शब्द, वाणी व तर्क से अगोचर कहा गया है। इसी प्रकार बौद्ध विचारक चन्द्रकीर्ति ने ‘परमायौहि आर्याणां तूष्णीं भाव’ कहकर इसी तथ्य को प्रकट किया है। पाश्चात्य विचारक लॉक, काण्ट, ब्रेडले व बर्गसां आदि ने भी सत् को विचार या तर्क की कोटि से परे माना है। समयसार में इसी बात का उल्लेख हुआ है कि “जो वस्तु तत्त्वस्वरूप है वही अतत्त्वस्वरूप भी है। जो वस्तु एक है वही अनेक भी है। जो वस्तु सत् है वही असत् भी है तथा जो वस्तु नित्य है वह अनित्य भी है। इस दशा में दो भिन्न दृष्टियों में परस्पर विरोधी तथ्य भी एक साथ सत्य हो सकते हैं।

अनेकान्त का सूत्र है—सहप्रतिपक्ष। प्रत्येक पदार्थ, विरोधी युगलों का संकुल है। इसलिए अनेकान्त का मूल आधार है—विरोध के अस्तित्व की स्वीकृति, प्रतिपक्ष की स्वीकृति। अनेकान्त आग्रह—बुद्धि का निरसन कर अनाग्रही या अनेकांतिक दृष्टि को प्रकट करता है। एकान्त मिथ्यादृष्टि के कारण सत्य के एक अंश को हम पूर्ण सत्य मान लेते हैं जिससे एक मत का दूसरे के साथ विरोध हो जाता है। अनेकान्त इन विरोधों का परिहार करके उनका समन्वय करता है।

3. वर्तमान युग में अनेकान्त की आवश्यकता

वर्तमान युग सापेक्षवाद, समन्वय, सह—अस्तित्व आदि से परिचित है। पर इनके पीछे जो सिद्धान्त है उसकी जानकारी लोगों को सामान्यतया नहीं है। इन विचारों के पीछे जो सिद्धान्त है वह है—अनेकान्त। एक मनुष्य क्या सोच रहा है, क्यों, कहा और किस अवस्था में सोच रहा है—इसका निर्णय किये बिना दूसरे के चिन्तन और प्रतिपादन के साथ न्याय नहीं किया जा सकता।

वस्तु, विराट् व अनन्तधर्मात्मक है पर शब्दों की अपनी सीमा है। एक शब्द एक समय में एक ही सत्य को बता सकता है। इसलिए इस व्यक्त सत्य के अलावा अव्यक्त सत्य जिसे कहा नहीं गया है, उसका भी अस्तित्व है। स्यात् शब्द यह बतलाता है कि सत्यांश अभिव्यक्ति को पूर्ण मत समझो। इस सापेक्ष दृष्टि के आधार पर ही हमारे ज्ञान में विरोध की छाया मिट सकती है। अहिंसा का विकास भी अनेकान्तवादी दृष्टि के आधार पर ही हुआ है। विचारों की विषमता हिंसा का कारण है। अनेकान्त का कहना है—सभी विचार परस्पर सापेक्ष हैं, इसलिए उनमें समन्वय संभव है।

उपर्युक्त आधारों पर अनेकान्त की आवश्यकता को समझा जा सकता है। व्यापक दृष्टि हेतु अलग—अलग क्षेत्रों में इसके प्रयोगों को इस प्रकार विश्लेषित किया जा सकता है—

3.1 पारिवारिकजीवन एवं अनेकान्त—पारिवारिक जीवन में संघर्ष के अनेक कारण होते हैं। वैचारिक भिन्नता, जीवन स्तर, पारस्परिक सम्बन्ध, आजीविका आदि पारिवारिक सदस्यों के बीच तनाव या कलह का कारण बनते हैं। वर्तमान में पारिवारिक जीवन में सामान्यतः संघर्ष के दो केन्द्र हैं—पिता—पुत्र तथा सास—बहू। इनमें विवाद का मूल कारण दोनों का दृष्टिभेद है। पिता, जिस परिवेश में बड़ा हुआ है उन्हीं संस्कारों में पुत्र को ढालना चाहता है। जो मान्यताएं पिता की हैं, उन्हीं मान्यताओं को पुत्र द्वारा मनवाना चाहता है। यही स्थिति सास—बहू की है। सास यह अपेक्षा करती है कि बहू ऐसा जीवन जीए जैसा उसने स्वयं जीया था। पर बहू युग के अनुरूप व अपने मातृ पक्ष के संस्कारों से प्रभावित जीवन जीना चाहती है। मायके की स्वतंत्रता के स्थान पर ससुराल में बहू का मर्यादित जीवन जीना पड़ता है। यही सब परस्पर विवाद का कारण बनते हैं। जब तक एक—दूसरे के प्रति सहिष्णु दृष्टिकोण व दूसरे की स्थिति को समझने का प्रयास नहीं किया जाएगा तब तक संघर्ष समाप्त नहीं हो सकता।

अनेकान्त कहता है—केवल अपने ही दृष्टिकोण के प्रति आग्रह न रखें, दूसरे के विचारों के प्रति भी सहिष्णु बनें। इस हेतु सहिष्णुता का विकास अपेक्षित है। हम स्वयं के भावात्मक संवेगों पर नियंत्रण रखें, दूसरे के विचारों को समझने की कोशिश करें तथा अहं व गर्व की भावना को महत्त्व न दें।

3.2 सामाजिक क्षेत्र में अनेकान्त का प्रयोग—समाज अनेक जातियों व अनेक तरह के लोगों का समूह है। प्राचीन काल की वर्णव्यवस्था ने समाज में उच्च और निम्न वर्गों को जन्म दिया। भगवान् महावीर के

अनुसार वर्ण जन्म के आधार पर नहीं, कर्म के आधार पर हों। कर्मणा जातिवाद, मानवीय एकता का आधार है। परिवर्तनशील जाति मनुष्य-मनुष्य के बीच ऊँच-नीच और छुआछूत की दीवारें नहीं खड़ी कर सकती। कोई भी संगठन समन्वय के बिना संभव नहीं है। समन्वय का दृष्टिकोण ही सह-अस्तित्व को बल देता है और सापेक्षता, सह-अस्तित्व को संभव बनाती है। निरपेक्ष दृष्टिकोण से सामाजिकता विकसित नहीं हो सकती। क्योंकि निरपेक्ष दृष्टि कहती है—पड़ौसी मरे या जीए, भूखा रहे या न रहे मुझे क्या? जबकि सामाजिक दृष्टि कहती है—परस्परपरोपग्रहो जीवानाम्।

3.3 साम्प्रदायिक वैमनस्य और अनेकान्त—अनेकान्त का प्रयोग, धार्मिक क्षेत्र में धार्मिक सहिष्णुता व सर्वधर्म समभाव के लिए किया जा सकता है। विश्व के विभिन्न धर्माचार्यों ने अपने युग की तात्कालिक परिस्थितियों से प्रभावित होकर साधना के बाह्य नियमों का निर्धारण किया। उनके मतावलंबियों ने अपने-अपने धर्माचार्यों के प्रति ममत्व एवं आग्रह के कारण अपने ही धर्म या साधना पद्धति को एकमात्र व अंतिम सत्य मानने को बाध्य किया। फलस्वरूप विभिन्न सम्प्रदायों के बीच वैमनस्य प्रारंभ हुआ। यदि हम यह समझ लें कि कोई भी तत्त्व सब सम्प्रदायों में पूर्ण नहीं है। पूर्णता मर्यादित है। निरपेक्षता और पूर्णता हमारी कल्पना है, यथार्थ नहीं। इसलिए सापेक्ष दृष्टिकोण साम्प्रदायिक कलह को दूर करने में सक्षम है। सर्व-धर्म सद्भाव के लिए अनेकान्त पांच सूत्र देता है—

- मण्डनात्मक नीति अपनाई जाए, दूसरों पर आक्षेप न हो।
- दूसरों के विचारों के प्रति सहिष्णुता।
- दूसरे सम्प्रदाय व उनके अनुयायियों के प्रति घृणा न हो।
- सम्प्रदाय परिवर्तन करने पर अवांछनीय व्यवहार न किया जाए।
- धर्म के मौलिक तथ्यों जैसे अहिंसा आदि के प्रचार के लिए सामूहिक प्रयत्न किये जाएं।

3.4 राष्ट्रीय व अन्तर्राष्ट्रीय समस्याओं के संदर्भ में अनेकान्त—वर्तमान में राजनैतिक जीवन भी वैचारिक संकीर्णता से परिपूर्ण है। पूंजीवाद, समाजवाद आदि अनेक राजनैतिक विचारधाराएं तथा राजतंत्र, प्रजातंत्र आदि अनेक शासन प्रणालियां प्रचलित हैं। ये विरोधी विचार एवं व्यवस्थाएं एक-दूसरे को समाप्त करने के लिए प्रयत्नशील हैं। इतना ही नहीं प्रत्येक खेमे के राष्ट्र अपना प्रभाव क्षेत्र बढ़ाने हेतु भी तत्पर हैं।

विश्व में अनेक राष्ट्र, उन सबकी अलग-अलग विचारधाराएं फिर उनमें संघर्ष नहीं हो, यह तभी संभव है जब हम सह-अस्तित्व के सिद्धान्त को स्वीकार करें। विरोधी व्यक्तियों, विरोधी राष्ट्रों, विरोधी धर्मों का सह-अस्तित्व हो सकता है। संयुक्त राष्ट्र संघ इसका सर्वोपरि उदाहरण है। भिन्नता से लड़ाई आखिर कब तक करेंगे। भाषा, वर्ग, सीमाओं तथा रंगों ने न जाने मनुष्य जाति के कितने टुकड़े किये हैं और यही होता रहा तो युद्ध मानव जाति नाश कर देगा। यदि मनुष्य को जीना है तो उसका मार्ग है—सहअस्तित्व।

आज हम बहुसंख्यकों के लिए अल्पसंख्यकों का, बड़े राष्ट्रों के लिए छोटे के हितों का बलिदान नहीं कर सकते। सापेक्ष दृष्टि के अनुसार किसी के लिए किसी का अनिष्ट नहीं किया जा सकता। प्रभुसत्ता की दृष्टि से सभी राष्ट्र स्वतंत्र हैं, सामर्थ्य की भिन्नता अवश्य हो सकती है। इस भिन्नता या वैषम्य के आधार पर दूसरों को मिटाने की बात गलत है। आज यह माना जाने लगा है कि यदि गरीब और अविकसित राष्ट्रों का विकास नहीं हो पाया तो समृद्ध और विकसित राष्ट्र, बहुत लम्बे समय तक अपने विकास को यथावत् नहीं रख पायेंगे। सभी राष्ट्र, सभी व्यवस्थाएं, सभी विचारधाराएं विश्व की विराट् व्यवस्था के अंग हैं। वे एक साथ रह सकते हैं। अनेकान्त दृष्टि के अनुसार—

- सभी अपना दृष्टिकोण सम्यक् बनाएं।
- समस्या को सुलझाने हेतु एक साथ बैठें।
- एक दूसरे को समझने का प्रयत्न करें।

अतएव अनेकान्त आज विभिन्न क्षेत्रों की युगीन समस्याओं को सुलझाने में समर्थ है। आवश्यकता है इन क्षेत्रों में अनेकान्त के प्रयोग की। समन्वय, सहिष्णुता, सह-अस्तित्व, सापेक्षता आदि

दृष्टियां जागतिक समस्याओं का निदान प्रस्तुत करती हैं और आज विश्व-व्यवस्था का झुकाव भी इन्हीं सिद्धान्तों की ओर है।

4. सापेक्ष दृष्टिकोण

प्रत्येक वस्तु अनेक विरोधी धर्मों का युगल है। हम अखण्ड वस्तु को जान तो सकते हैं पर उससे हमारा व्यवहार नहीं चल सकता। हम जब वस्तु स्वरूप के बारे में कहते हैं तो वस्तु स्वरूप के प्रत्येक उपयोग के पीछे हमारी अपेक्षा जुड़ी होती है। अपेक्षा न जुड़ी हो तो प्रत्येक व्यवहार परस्पर विरोधी हो जाएगा। अपेक्षा दृष्टि से वस्तु एक या अनेक नहीं अपितु एक और अनेक का समन्वय है। वस्तु केवल नित्य या अनित्य नहीं है वरन् नित्यता और अनित्यता का समन्वय है। वस्तु केवल भिन्न या अभिन्न नहीं अपितु भिन्न और अभिन्न का समन्वय है। इस यथार्थ को समझकर परस्पर के विरोध आसानी से सुलझाये जा सकते हैं।

4.1 अहिंसा का विकास और सापेक्षता—हिंसा की जड़ विचारों का विरोध है। वस्तु के जितने पहलू हैं उतने ही सत्य हैं, उतने ही उन सत्यों को कहने के तरीके हैं और जितने कहने के तरीके हैं, उतने ही मतवाद हैं। मतवादों का एकान्तिक दृष्टिकोण विवादों को जन्म देता है और विवाद हिंसा को। जबकि मतवादों में सापेक्ष दृष्टिकोण समन्वय को जन्म देता है और समन्वय, अहिंसा को।

एक वक्ता जो शब्द कहता है, वह शब्द उसने कब, कहाँ और किन परिस्थितियों में कहा है, उसका क्या उद्देश्य है, किस साध्य की प्राप्ति के लिए वह ऐसा कह रहा है, आदि—आदि बिन्दुओं पर जब तक ध्यान नहीं दिया जाता किसी भी व्यक्ति के विचारों के प्रति न्याय नहीं हो सकता। इसलिए सापेक्षवाद कहता है—प्रत्येक धर्म को अपेक्षा के साथ ग्रहण करो क्योंकि सत्य सापेक्ष है। स्वयं के साथ दूसरों को भी समझने की कोशिश करो। यही बौद्धिक अहिंसा है जो सापेक्ष दृष्टि से ही फलित होती है।

4.2 निरपेक्ष दृष्टिकोण : हिंसा का कारण—एकान्तिक आग्रह या निरपेक्ष दृष्टिकोण हिंसा का मूल है। यदि हम यह कहें कि व्यक्ति समुदाय से सर्वथा भिन्न है तो यह वस्तुस्थिति का तिरस्कार होगा तथा पार्थक्यवादी नीति होगी। यदि हम यह कहें कि समुदाय ही सत्य है तो यह व्यक्ति का तिरस्कार होगा और एकान्तिक सामुदायिक नीति होगी। यदि हम कहें कि व्यक्ति ही सत्य है तो सामुदायिकता का तिरस्कार होगा और एकान्तिक व्यक्तिवादी नीति होगी। यदि हम कहें कि वर्तमान ही सत्य है तो एकता का तिरस्कार होगा और एकान्तिक परिवर्तनवादी नीति होगी। यदि हम लिंगभेद और उत्पत्ति भेद को ही सत्य मानें तो यह एकता का तिरस्कार होगा। इस प्रकार निरपेक्ष या एकान्तिक दृष्टिकोण सदैव किसी न किसी का तिरस्कार करेगा जो अंततः हिंसा को जन्म देगा।

4.3 सापेक्षता के सूत्र

- कोई भी वस्तु या व्यवस्था सापेक्षता की मर्यादा से बाहर नहीं है। प्रत्येक वस्तु व व्यवस्था सापेक्ष होती है पूर्ण नहीं।
- दो विरोधी गुण एक वस्तु में एक साथ रह सकते हैं।
- सभी दृष्टिकोण परस्पर विरोधी नहीं हैं। सभी दृष्टिकोण सापेक्ष हैं, एक दूसरे के पूरक हैं।
- एकान्त विरोध या एकान्त अवरोध से पदार्थ व्यवस्था संभव नहीं है। विरोध और अवरोध के समन्वय से ही व्यवस्था संभव हो सकती है।
- जितने एकान्त या निरपेक्षवाद हैं उनमें दोष भरे पड़े हैं तथा वे परस्पर विनाश करने वाले हैं। अनाक्रमण, अहस्तक्षेप, स्वमर्यादा का अनतिक्रमण, सापेक्षता ये सामंजस्य के सिद्धान्त हैं, जो निरपेक्ष या आग्रही दृष्टि में सापेक्षता और अनाग्रह (समन्वय) को खोजते हैं।
- जितने वचन हैं, उतने ही सत्य हैं। प्रत्येक दृष्टि विशाल ज्ञान सागर का अंश है अर्थात् प्रत्येक दृष्टि अपनी-अपनी सीमा में सत्य है।

4.4 सापेक्षता के प्रयोग

कलह शमन के लिए अथवा संघर्षों के निराकरण के लिए विभिन्न क्षेत्रों में सापेक्षता का प्रयोग निम्न रूपों में किया जा सकता है—

4.4.1 अध्यात्म जगत् में—अध्यात्म जगत् में कोई भी व्यक्ति किसी भी जीव के प्रति निरपेक्ष नहीं हो सकता। निरपेक्ष होने का अर्थ है जीवों के प्रति क्रूर होना। अध्यात्म जगत् में सापेक्षदृष्टि कहती है सभी प्राणियों की अपेक्षा करो अर्थात् उनके महत्त्व को समझो। उनकी हिंसा मत करो, उनकी हिंसा मत करवाओ और दूसरा यदि उनकी हिंसा करता है तो उसका अनुमोदन भी मत करो।

4.4.2 सामाजिक क्षेत्र में—समाज में वैषम्य इसलिए है क्योंकि समत्व का विकास नहीं है। समत्व दृष्टि कहती है—जिस तरह तुम्हें दुःख अप्रिय है उसी तरह सभी प्राणियों को दुःख अप्रिय है। बाहरी आवरणों का भेद होने पर भी सब जीवों का भीतरी जगत् एक जैसा है। सभी जीवों में आत्मा समान है। सभी जीवों में सामर्थ्य की दृष्टि से ज्ञान समान है, उसका विकास भिन्न-भिन्न है। सामर्थ्य की दृष्टि से शक्ति सभी जीवों में समान है पर उसका विकास भिन्न है। इसलिए किसी भी जीव को उच्च य निम्न कहने का अधिकार हमें नहीं है।

व्यक्ति और समाज में, कभी व्यक्ति को महत्त्व दिया जाता है तो कभी समाज को। यदि अपेक्षा को समझ लिया जाए तो यह भी स्पष्ट हो जाएगा कि कब व्यक्ति को अधिक महत्त्व दिया जाए और कब समाज को। यदि व्यक्ति या समाज के प्रति एकान्तिक आग्रह ही रहेगा तो वह खिंचाव पैदा करेगा।

समाज का महत्त्वपूर्ण सूत्र है—“परस्परपग्रहो जीवानाम्” जो अनेकान्त द्वारा ही फलित होता है। समाज का हर व्यक्ति एकदूसरे को उपकृत करे। ऐसा सापेक्ष दृष्टिकोण न शोषण को जन्म देगा, न अपराध को और न हिंसा को। निरपेक्ष दृष्टि कहती है—कोई व्यक्ति मरे या जीए, भूखा रहे या न रहे इससे दूसरे व्यक्ति का कोई सम्बन्ध नहीं है। पर परस्परपग्रहो जीवानाम् के सिद्धान्त पर चलने वाला व्यक्ति पड़ौसी की परेशानी से भी परेशान होगा।

4.4.3 आर्थिक क्षेत्र में—प्रत्येक व्यक्ति में उपार्जन क्षमता है। यह क्षमता हर व्यक्ति की समान नहीं है। इस असमान क्षमता के आधारपर कोई धनी है, कोई गरीब है और उनमें वर्ग भेद है। वर्गभेद समाप्ति के लिए समाजवाद का विकास हुआ पर उसमें दायित्व का बोध नहीं। पूंजीवाद में वैयक्तिकता का विकास है पर उसमें स्वार्थ व शोषण वृत्ति पनपती है। इन सब समस्याओं का समाधान है—स्वामित्व को सापेक्ष बनाएं। भोग के लिए इच्छा परिमाण करें अर्थात् स्वामित्व का सीमांकन करें। सापेक्ष स्वामित्व दोहरी समस्या का समाधान है। एक तो इसमें शोषण वृत्ति बंद रहेगी क्योंकि उचित सीमा के बाद सम्पत्ति पर उसका अधिकार नहीं होगा एवं उपार्जन की स्वतंत्रता के कारण व्यक्तिगत प्रेरणा भी रहेगी।

4.4.4 साम्प्रदायिक कलह के लिए—धर्म सम्प्रदायों की विविधता के कारण, असामंजस्य की रंगभूमि रहे हैं। सापेक्षवाद के अनुसार सभी धर्मों में सत्यांश है। समाज व्यवहार या दैविक व्यवहार की दृष्टि से वैदिक धर्म ठीक है। अहिंसा या मोक्षमार्ग की दृष्टि से जैन धर्म ठीक है। श्रुतिमाधुर्य व करुणा की दृष्टि से बौद्ध धर्म ठीक है। धर्म उपासना पद्धति या योग की दृष्टि से शैव धर्म ठीक है। निरपेक्ष पूर्णता हमारी कल्पना है। पूर्णता सदैव मर्यादित होती है।

सर्व-धर्म सद्भाव की दृष्टि से सापेक्षवाद पांच सूत्र देता है—

- अपने मत का प्रतिपादन करें, दूसरों पर आक्षेप न करें।
- दूसरे के विचारों के प्रति सहिष्णुता रखें।
- दूसरे समुदाय या अनुयायियों के प्रति घृणा या तिरस्कार का भाव न हो।
- सम्प्रदाय परिवर्तन करने वालों के साथ अवांछनीय व्यवहार न हो।
- धर्म के मौलिक तत्त्वों अहिंसा आदि को विश्वव्यापी बनाने का सामूहिक प्रयत्न हो।

4.4.5 अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में—परिवार, जाति, समाज, राष्ट्र, विश्व ये सभी क्रमिक संगठन हैं। संगठन का अर्थ है—सापेक्षता। बिना सापेक्ष दृष्टिकोण के कोई भी संगठन अधिक दिनों तक नहीं चल सकता। निरपेक्ष दृष्टिकोण अंतर्राष्ट्रीय क्षेत्र में सदैव विषमता पैदा करते आये हैं। “अधिकतम व्यक्तियों के लिए अधिकतम सुख” के निरपेक्ष दृष्टिकोण ने ही हिटलर को यहूदियों पर अत्याचार का अवसर दिया। बहुसंख्यकों के लिए अल्पसंख्यकों तथा बड़ों के लिए छोटों का बलिदान भी निरपेक्ष दृष्टि का ही फल है। सापेक्ष नीति कहती है—किसी के लिए किसी का अनिष्ट नहीं किया जा सकता। बहुसंख्यकों के लिए

अल्पसंख्यकों की बलि नहीं दी जा सकती। इसी तरह रंग भेद, विचार भेद, व्यवस्था भेद आदि को भी एकान्तिक या निरपेक्ष दृष्टिकोण के आधार पर स्वीकार नहीं किया जा सकता।

आज विश्व सह-अस्तित्व और सापेक्षता के विचार की तरफ बढ़ रहा है। परमाणविक युग में यही उसका त्राण है। विकसित राष्ट्र विकासशील राष्ट्रों से निरपेक्ष रहकर अपना अस्तित्व दीर्घकाल तक नहीं बनाए रख सकते, उनकी स्वयं की समृद्धि ही उन्हें लील जाएगी। इसलिए विकसित राष्ट्रों ने अविकसित एवं विकासशील राष्ट्रों की अस्मिता को स्वीकार कर उनके विकास में सहयोग के लिए भी तत्पर हुए हैं।

5. सह-अस्तित्व

यह जगत् द्वन्द्वात्मक है। द्वन्द्वात्मक जीवन एक सच्चाई है जो यह बताती है कि विरोधी धर्मों को एक साथ रहना ही चाहिए। विरोधी युगलों का सह-अस्तित्व संभव है क्योंकि उनमें सर्वथा विरोध नहीं है, समन्वय के अनेक तत्त्व विद्यमान हैं। जैन दर्शन के अनुसार अनन्त आत्माएं हैं और सभी आत्माएं एक-दूसरे से स्वतंत्र हैं। जैसे अनेक आत्माएं हैं वैसे ही उनकी योनियां अर्थात् उत्पत्ति स्थान भी अनेक हैं। कोई आत्मा पशु है, कोई मनुष्य। मनुष्य जाति में भी विभाजन है। कोई गोरा है, तो कोई काला है। कोई उष्ण कटिबन्धीय है, कोई शीत कटिबन्धीय आदि-आदि। महावीर के युग में वर्ण व्यवस्था का प्रचलन था। उस व्यवस्था में मनुष्य जाति ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र-इन चार वर्णों में विभाजित थी। यह विभाजन मनुष्य के संस्कार, भौगोलिक वातावरण व समाज व्यवस्था के आधार पर था। मनुष्य के अहंकार के कारण उच्चता व निम्नता की दीवारें खड़ी हो गईं और जन्मना जाति स्थापित हो गई। उच्च कहलाने वाले लोग हीन कहलाने वाले लोगों के साथ दुर्व्यवहार करने लगे। महावीर ने सोचा-जब वस्तु जगत् में सह-अस्तित्व और समन्वय है तो यह मनुष्यों में क्यों नहीं हो? इस आधार पर मैत्री का संदेश दिया गया-सब जीवों के साथ मैत्री करो। स्वभाव, रुचि और चिन्तन-धारा भिन्न होने के कारण मैत्री टूट जाती है। मैत्री को साधने का सूत्र दिया गया-सहिष्णुता का प्रयोग करो।

5.1 सह-अस्तित्व का आधार-महावीर ने कहा-भेद में छिपे अभेद को देखो। तुम जिससे जितने भिन्न हो, उतने ही अभिन्न भी हो और जिससे भिन्न हो, उससे उतने ही भिन्न भी हो। जब सभी प्राणियों से भिन्न और अभिन्न हो, तब भेद मानकर किसी को शत्रु क्यों मानते हो? जिसे तुम नीच मानते हो, वह भी तुम्हारे मन का अहंकार है और जिसे तुम उच्च मानते हो, वह भी तुम्हारे मन का अहंकार है। इसलिए विभाजन के साथ उच्चता और नीचता की रेखाएं निर्मित मत करो। मनुष्य को तोड़कर मत देखो, मानवीय एकता को मत भूलो- यही सह-अस्तित्व का मौलिक आधार है।

एकता, अनेकता से पृथक् नहीं है और अनेकता, एकता से पृथक् नहीं है। इसी धरातल पर मानवीय एकता संभव है। इसी आधार पर भिन्न-भिन्न प्रणालियां एक साथ चल सकती हैं। अनेकता स्वाभाविक है पर शांतिपूर्ण जीवन जीने के लिए सह-अस्तित्व अनिवार्य है।

सह-अस्तित्व को ही आज समस्याओं का समाधान माना जा रहा है। पर दूसरों के स्वत्व को आत्मसात् करने की भावना बिना सह-अस्तित्व संभव नहीं है। एक व्यक्ति, जाति या राष्ट्र जब दूसरों के स्वत्व को हड़प जाना चाहते हैं, तब सह-अस्तित्व कैसे संभव हो? सह-अस्तित्व के लिए आवश्यक है-स्व का हरण नहीं हो। आज विचारशील व्यक्ति व राष्ट्र दूसरों के स्वत्व से बने विशाल स्वरूप को छोड़कर अपने स्वरूप में सिमटते जा रहे हैं। यही सामंजस्य की रेखा है और यही वर्ग-विग्रह व अंतर्राष्ट्रीय-विग्रह की समापन रेखा है।

5.2 सह-अस्तित्व के प्रयोग

समाज के विभिन्न क्षेत्रों में सह-अस्तित्व के प्रयोग के द्वारा संघर्षों का समाधान निम्न रूपों में किया जा सकता है-

5.2.1 पारिवारिक जीवन में-पारिवारिक जीवन तभी सफल हो सकता है जब पारिवारिक सदस्यों का शांत सहवास हो। पारिवारिक कलह के लिए पीढ़ीगत भिन्नता, वैचारिक भिन्नता, स्तर की भिन्नता आदि अनेक कारण बनते हैं। फिर भी दो पीढ़ी के लोग, दो विचार के लोग व दो भिन्न जीवन स्तर के लोग एक साथ शांति से रह सकते हैं यदि वे उस भिन्नता में कोई अभिन्नता का स्रोत खोज लें। यद्यपि

पग-पग पर टकराहट है, स्वार्थ है, भिन्नताएं हैं, विरोध हैं पर इनमें समन्वय का प्रयोग करें। विरोध किस जगह नहीं होता किंतु अपेक्षा है समन्वय की। यदि विरोध या भिन्नता में समन्वय खोजें तो इन विरोधों व भिन्नताओं के बावजूद सह-अस्तित्व संभव हो सकता है।

5.2.2 सामुदायिक जीवन में- आज समाज में वैषम्य देखने को मिलता है क्योंकि समत्व का अभाव है। स्वार्थ, मान्यताएं और असहिष्णुता-इन वृत्तियों पर शासन करने वाला ही समन्वय का विकास कर सकता है। पुराने समय में साम्प्रदायिक और जातीय- ये दो प्रकार के संघर्ष थे। आज के समाज में वर्ग-संघर्ष है। वर्ग-संघर्ष तब तक नहीं मिट सकता, जब तक स्वार्थ की वृत्ति खत्म न हो। हम स्वार्थ से ऊपर उठकर यह सोचें कि छोटे-बड़े सभी मनुष्यों में एकता है, समानता है। इसलिए हम एक साथ रह सकते हैं। सह-अस्तित्व से ही समाज सुन्दर बन सकता है।

आज राजनैतिक क्षेत्र में सह-अस्तित्व की ध्वनि मुखर हो रही है। संयुक्त राष्ट्र संघ भी इसके लिए प्रयास कर रहा है। यह संगठन सह-अस्तित्व का एक अच्छा उदाहरण भी है। यहां परस्पर विरोधी राष्ट्र एक साथ बैठकर विश्व की ज्वलन्त समस्याओं पर विचार-विमर्श करते हैं।

परमाणविक युग में जब हिंसा समग्र हो गई है, तब हमारे पास केवल दो ही विकल्प हैं-या तो हम अहिंसा व विश्वशांति को अपना लें या फिर महाविनाश के लिए तैयार हो जाएं। हिंसा की समग्रता ने सह-अस्तित्व की धारणा को और अधिक पुष्ट किया है।

प्रभुसत्ता की दृष्टि से सभी राष्ट्र स्वतंत्र हैं पर सामर्थ्य की दृष्टि से समानता नहीं है। कोई राष्ट्र शक्तिशाली है, तो कोई कमजोर। कोई समृद्ध है, कोई गरीब। सभी राष्ट्रों में कुछ साम्य भी है और कुछ वैषम्य भी। यदि वैषम्य को प्रधान माने तो दूसरों को मिटाने की बात आएगी और केवल साम्य को प्रधान मानें तो भी एकान्तिक आग्रह होगा और अंततः उसका परिणाम होगा-शीतयुद्ध। महावीर ने कहा-विरोधी युगलों का सह-अस्तित्व संभव है क्योंकि उनमें सर्वथा विरोध नहीं है। इस विचार के आधार पर पूंजीवाद और समाजवाद एक साथ रह सकते हैं, लोकतंत्र व राजतंत्र एक साथ रह सकते हैं क्योंकि विरोधी प्रणालियों में सह-अस्तित्व संभव है।

5.3 सह-अस्तित्व के सूत्र

- आश्वासन-एक-दूसरे के प्रति आश्वस्त हों अन्यथा आशंकाएं, शीतयुद्ध व संघर्ष को जन्म देंगी।
- विश्वास-द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद राष्ट्रों और विशेषकर महाशक्तियों के बीच अविश्वास की जड़ें गहरी हो गईं, जिसका परिणाम हुआ-शीतयुद्ध। सह-अस्तित्व के लिए अपेक्षित है एक व्यक्ति दूसरे व्यक्ति का व एक राष्ट्र दूसरे राष्ट्र का विश्वास करे।
- अभय-अविश्वास, शस्त्र-विस्तार को जन्म देता है, जबकि विश्वास अभय को जन्म देता है। अभय से निःशस्त्रीकरण संभव है।

सह-अस्तित्व के ये तीनों सूत्र परस्पर जुड़े हुए हैं। आश्वासन से विश्वास पैदा होगा और विश्वास से अभय। उदाहरणतः यदि परमाणु संधि होती है तो वह विश्व को एक आश्वासन होगा, उससे विश्व के राष्ट्रों में विश्वास का वातावरण बनेगा और नागरिक अभय हो जायेंगे।

अतः शांतिपूर्ण जीवन या शांत-सहवास के लिए सह-अस्तित्व का सूत्र बहुत महत्वपूर्ण है। संघर्ष प्रकृति का नियम नहीं, आरोपण है, विसंगति है। सह-अस्तित्व में संतुलन है, संगति है, इसलिए विरोधी तत्वों का भी सह-अस्तित्व संभव है। आज यह सूत्र राष्ट्रीय एकता, मानवीय एकता, धार्मिक सहिष्णुता और विश्व-शांति के लिए महत्वपूर्ण है। आवश्यक है इसके प्रयोग की। नेहरू ने जब पंचशील के सिद्धान्त में सह-अस्तित्व का समावेश किया था, तब इस सूत्र को राष्ट्रों के परस्पर व्यवहार के लिए महत्वपूर्ण सूत्र माना गया था, पर इसकी उपेक्षा की गयी जिसके कारण आज विश्व विनाश के कगार पर है। आज यह सूत्र किसी धर्मनेता का नहीं, बल्कि युग की मांग है।

6. सहिष्णुता

अकेला व्यक्ति संघर्ष नहीं कर सकता। सामुदायिक जीवन में संघर्ष, वैमनस्य, वैर-विरोध आदि देखे जाते हैं। सामुदायिक जीवन ही वस्तुतः सहिष्णुता की कसौटी होती है। सहिष्णुता, सामुदायिक जीवन का सौन्दर्य है जो सह-अस्तित्व और सापेक्षता से ही फलित होते हैं। सहिष्णुता के बिना

सामुदायिक जीवन में विकास और उन्नति नहीं हो सकती। जब तक समाज के विभिन्न वर्ग के लोग संघर्ष करते रहेंगे तब तक विकास, वह भी सबका सर्वतोमुखी विकास कैसे संभव हो सकेगा? डार्विन ने विकासवाद का सिद्धान्त देते हुए कहा था—वे ही प्रजातियाँ बचेंगी जिनमें अनुकूलन की क्षमता है अर्थात् वे प्राणी जो परिस्थिति के अनुकूल बन सकेंगे, वे ही भविष्य में बचेंगे। सच ही है—शक्तिहीन समाप्त हो जाता है। अनेकान्त का सिंहनाद है—जो सहता है वही बचता है और शक्तिशाली ही सहन कर सकता है।

समाज में अनेक प्रकार के व्यक्ति रहते हैं, जिनके अपने अनेक विचार हैं। ऐसी स्थिति में विचारों की टकराहट न हो, संघर्ष न हो, यह कैसे संभव हो सकता है? मनुष्य जाति को जीना है तो उसका मार्ग सहिष्णुता और सह—अस्तित्व है। प्रत्येक व्यक्ति की यह चाह होती है कि सब उस जैसा ही व्यवहार करें। विरोधी रुचियों, विरोधी स्वभावों के बीच टकराहट और युद्ध संभव है पर यदि विरोधी विचारों को सहने की क्षमता है तो न केवल युद्ध टाले जा सकते हैं वरन् शांति की दिशा में विकास भी हो सकेगा। अनेकान्त के अनुसार—

- सत्य की सापेक्ष व्याख्या करो। अपने विचार का आग्रह मत करो। दूसरे के विचारों को समझने का प्रयत्न करो।
- अपने विचारों की प्रशंसा व दूसरे के विचार की निन्दा कर अपने पाण्डित्य का प्रदर्शन मत करो।
- प्रत्येक विचार सत्य भी हो सकता है और असत्य भी। इसलिए किसी भी विचार के लिए निरपेक्ष दृष्टिकोण मत अपनाओ।

6.1 सहिष्णुता का अर्थ—सहिष्णुता, असहयोग है। विरोधी के साथ न प्रवृत्ति करो, न निवृत्ति करो, किन्तु उपेक्षा करो। क्रोध करने वाले के साथ क्रोध नहीं, अपितु उसकी उपेक्षा करो।

सहिष्णुता का एक अर्थ है—सहन करके, सुधार के लिए अवसर देना। किसी व्यक्ति की तुच्छता को सहन करना उसको बिगाड़ना नहीं, वरन् उसे सुधारने का अवसर देना है। प्रश्न है कि क्या अन्याय को भी सहन करें। अनेकान्त का उत्तर है—अन्याय को सहन मत करो पर उसका प्रतिकार सहिष्णुता से करो।

सहिष्णुता का एक अर्थ है—मानसिक शांति। विरोधी विचार व परिस्थितियाँ व्यक्ति को अशांत करती हैं। विपरीत विचारों, स्थितियों व व्यवस्थाओं को सहन करें। इससे मानसिक शांति भंग नहीं होगी और यदि व्यक्ति शांत होगा तो विश्व शांति भी संभव है।

6.2 सहिष्णुता की आवश्यकता—संयोग—वियोग की इस दुनिया में सहिष्णुता ही त्राण है। विरोधी व्यक्तियों, विरोधी विचारों, विरोधी परिस्थितियों के बीच यदि व्यक्ति सदैव प्रतिक्रिया ही करता रहेगा तो उसकी क्षमताओं का उपयोग विकास के लिए नहीं हो सकेगा? इसलिए सहिष्णुता प्रतिक्रिया विरति के लिए आवश्यक है। सुविधाओं के विकास के साथ व्यक्ति की सहनशीलता भी समाप्त हो गई है। चूंकि व्यक्ति में धैर्य, शक्ति, सहनशीलता है, अधीरता है, इसलिए भी सहिष्णुता की अपेक्षा है। सुविधावाद जो अंततः हिंस की ओर धकेलता है, कष्ट सहिष्णु बनकर ही उससे बचा जा सकता है।

सहिष्णुता के विकास से ही अनुशासन का विकास संभव है। अनुशासनहीनता की समस्या किसी एक राष्ट्र की नहीं, वरन् पूरे विश्व की है। सहिष्णुता के विकास से अनुशासनहीनता समाप्त होती चली जाएगी। सहिष्णुता व्यक्ति में शक्ति का वर्द्धन भी करेगी जो अंततः उसे समता के आदर्श तक पहुंचा सकेगी।

6.3 सहिष्णुता का विकास—सहिष्णुता के विकास के लिए कुछ मार्गदर्शक तत्त्वों का प्रयोग इस प्रकार है—

- विपरीत परिस्थिति के आते ही व्यक्ति संवेगों के भंवर में फंस जाता है। क्रोध या अहंकार जब प्रबल होता है तब व्यक्ति यह भूल जाता है उसे कैसा व्यवहार करना चाहिए। इसलिए सहिष्णुता के विकास के लिए क्रोध, भय, अहंकार, राग—द्वेष आदि संवेगों पर नियंत्रण करें।

- वस्तु सत्य को उसी रूप में जानें। कोई व्यक्ति कब, कैसे और किन परिस्थितियों में कह रहा है, उसे उसी संदर्भ में समझने की कोशिश करें।
- समस्या सुलझाने के लिए एक साथ बैठें। व्यक्तियों के बीच संचार के अभाव में संघर्ष बढ़ जाते हैं। इसलिए उचित संचार के लिए एक साथ बैठकर विचार-विमर्श करें।
- एक दूसरे को समझने का प्रयत्न करें।
- उपवास व सूर्य आतापना से सहनशीलता का विकास संभव है।
- मस्तिष्क के अग्रभाग व ललाट जिन्हें क्रमशः शांतिकेन्द्र व ज्योतिकेन्द्र कहा जाता है—इन दोनों केन्द्रों पर ध्यान करें फिर क्रमशः दोनों केन्द्रों पर सफेद रंग का ध्यान करें।
- अनुचितन करें—विरोधी विचार, विरोधी स्वभाव, विरोधी रुचि—ये संवेदन मुझे प्रभावित करते हैं, किन्तु इनके प्रभाव को कम करना है। यदि इनका प्रभाव बढ़ा तो शक्तियां क्षीण होंगी। जितना इनसे कम प्रभावित रहूँ, उतनी ही शक्तियां बढ़ेंगी। इसलिए सहिष्णुता का विकास मेरे जीवन की सफलता का महामंत्र है।

6.4 सहिष्णुता के विकास की भूमिकाएं:-

- परिस्थितियों को सहन करना।
- दूसरे व्यक्तियों को सहन करना।
- अपने से भिन्न विचारों को सहन करना।
- राग-द्वेष की तरंगों का सामना कर उन्हें परास्त करना।

इस प्रकार सहिष्णुता का विकास न केवल पारिवारिक कलह को दूर करेगा बल्कि समाज, धर्म, राष्ट्रीय व अंतर्राष्ट्रीय संघर्षों को भी निराकृत कर सकेगा। विशेषतः उन संघर्षों को जो वैचारिक हैं, जो महत्वाकांक्षाओं पर आधारित हैं, जो भय की भावनाओं या अविश्वासों के कारण हैं। क्योंकि सहिष्णुता दूसरे के विचारों को सहन करना सिखाती है। महत्वाकांक्षाओं व भय के संवेगों पर नियंत्रण करती है तथा आपसी विचार-विमर्श के द्वारा अविश्वासों को दूर करती है। इसलिए वैचारिक अशांति का महत्वपूर्ण निदान है—सहिष्णुता का विकास, दूसरे के विचारों को सहना।

स. संघर्ष निराकरण की गांधीवादी तकनीक : सत्याग्रह

1. सत्याग्रह : शब्द और अर्थ—सत्याग्रह मूलतः संस्कृत शब्द है। यह एक सामाजिक शब्द है जो 'सत्य' और 'आग्रह' से मिलकर बना है। इसका अर्थ है सत्य पर डटे रहना, सत्य को मजबूती से पकड़े रहना तथा सत्य का आग्रह करना। सत्य 'सत्' से बना है। सत् का अर्थ है—होना या वह जिसका अस्तित्व है। सत्य का अर्थ है—जो है उसके अनुसार। अतः जिसका अस्तित्व है, उसके अनुरूप जो बात है, प्रत्यक्ष जो वस्तुस्थिति है उसका यथार्थ ज्ञान। वेदों में सत्य के अनुरूप कृति के लिए—ठीक काम के लिए एक खास शब्द है। वह है 'ऋत्'। सत्य का अर्थ है वस्तुस्थिति का ज्ञान और 'ऋत्' का अर्थ है सत्यानुरूप व्यवहार। वैदिक ऋषि इस बात को जोर देकर कहते हैं कि सत्य और ऋत् दोनों साथ-साथ रहने चाहिए।

सन् 1906 में गांधीजी ने दक्षिण अफ्रीका में वहां के काले कानूनों का विरोध करने के लिए हिन्दुस्तानियों के जिस आंदोलन का नेतृत्व किया उसे प्रारंभ में 'पेसिव रेजिस्टेन्स' कहा गया। लेकिन इस शब्द को वहां के हिन्दुस्तानी पूर्णतः समझ नहीं सकते थे और न ठीक-ठीक इस्तेमाल कर सकते थे। यह शब्द भी अंग्रेजी था। अतः गांधीजी को इसमें शर्म महसूस हुई। लेकिन इससे भी ज्यादा महत्त्व की बात यह थी कि गांधीजी अनुभव करने लगे कि उन्होंने जिस आंदोलन को प्रारंभ किया है वह निःशस्त्र प्रतिकार के साधारण अर्थ से मूलतः भिन्न है। गांधीजी को इसके लिए उपयुक्त शब्द नहीं सूझा। अतः उन्होंने 'इंडियन ओपीनियन' में घोषणा की कि इसके लिए जो अच्छा शब्द सुझाएगा उसे इनाम दिया जायगा। परिणामस्वरूप कई लोगों के सुझाव आये। श्री मंगललाल गांधी ने 'सदाग्रह' शब्द सुझाया। सदाग्रह का अर्थ है अच्छे काम में निष्ठा। गांधीजी को इससे पूरा संतोष नहीं हुआ। पूरे अर्थ को अभिव्यक्त करने की दृष्टि से उन्होंने संशोधन करके उसका नाम 'सत्याग्रह' रखा। इसका अर्थ है—सत्य की शक्ति, सत्य व प्रेम से उत्पन्न होने वाली शक्ति अर्थात् अहिंसा। गांधीजी के मतानुसार सत्य

और अहिंसा अथवा प्रेम दोनों एक ही रूप हैं। सब धर्मों की तरह हिन्दू धर्म में भी सत्य और सत्याचरण को सबसे ऊंचा स्थान दिया गया है। संस्कृत तथा अन्य प्रांतीय भाषाओं के साहित्य में सत्य की खोज बहुत सुपरिचित विषय है; लेकिन सत्याग्रह शब्द का प्रयोग कहीं भी नहीं पाया जाता।

गांधीजी का कथन था कि— दक्षिण अफ्रीका के सत्याग्रह के समय किसी अज्ञात नवजात शिशु की भांति एक नये सिद्धान्त का जन्म हुआ। बस इतना ही उन्हें मालूम था। लेकिन गांधीजी सत्याग्रह के तरीके को जैसे-जैसे आगे बढ़ाते गये वैसे-वैसे सत्याग्रह शब्द अर्थ और विशेषता की दृष्टि से अधिक-अधिक समृद्ध होता गया। छोटे-से बीज से वह एक विशाल वृक्ष बन गया और एक रामबाण समाधान बन गया है। सर्वांगीण जीवन की अखण्ड विचारधारा के अर्थ में सत्याग्रह का प्रयोग किया जाता है। शब्द वही है लेकिन गांधीजी के प्रगतिशील जीवन के साथ और उनके द्वारा किये गये सत्य के भिन्न-भिन्न प्रयोगों के साथ उसका अर्थ भी विकसित होता गया।

‘सत्याग्रह’ का प्रयोग निःशस्त्र प्रतिकार के पर्यायवाची शब्द के रूप में प्रारंभ हुआ। यद्यपि भी निःशस्त्र प्रतिकार शब्द प्रचलित है लेकिन सत्याग्रह की अपेक्षा एकदम भिन्न अर्थ में। इसमें कोई संदेह नहीं कि दक्षिण अफ्रीका के भारतवासियों ने जो आंदोलन किया उसका तात्कालिक स्वरूप हिंसक सशस्त्र प्रतिकार से भिन्न था। वह लगभग ‘निष्क्रिय प्रतिकार’ जैसा ही था। लेकिन वही दोनों का साम्य समाप्त हो जाता है। गांधीजी का मार्ग, सैद्धान्तिक भूमिका तथा तंत्र सब कुछ साधारण निःशस्त्र प्रतिकार से भिन्न थे। इसीलिए गांधीजी को नये शब्द की आवश्यकता हुई और सत्याग्रह की उत्पत्ति हुयी।

ऐतिहासिक दृष्टि से सामान्यतः निःशस्त्र प्रतिकार का जो अर्थ लगाया जाता है। उसमें सैद्धान्तिक दृष्टि से हिंसा का त्याग नहीं होता बल्कि इसलिए कि शस्त्रों के अभाव में निःशस्त्र प्रतिकार के अलावा दूसरा कोई मार्ग ही नहीं है। यदि शस्त्र हाथ लग जाय या उसके प्रयोग से सफलता की पूरी आशा हो जाय तो शस्त्रों का भी आलम्बन लिया जा सकता है। अथवा निःशस्त्र और सशस्त्र प्रतिकार दोनों का प्रयोग एकसाथ किया जा सकता है। निःशस्त्र प्रतिकार में किसी विशेष कार्य के लिए शत्रु को परेशान करने और उस पर पूरा दबाव डालने की कल्पना निहित है। उसमें प्रेम के लिए कहीं भी स्थान नहीं है। अतः उसका उपयोग आत्मीय लोगों के विरुद्ध नहीं किया जा सकता। निःशस्त्र प्रतिकार में रचनात्मक प्रवृत्ति के लिए कोई स्थान नहीं है। निःशस्त्र प्रतिकार कोई जीवन-सिद्धान्त नहीं माना जाता।

सत्याग्रह इससे भिन्न है। सत्य के लिए आग्रह करना ही सत्याग्रह की आधारशिला है। उसमें प्रत्येक अवस्था और स्वरूप में हिंसा का त्याग किया जाता है। धन और जन को नुकसान पहुंचाने वाली किसी भी हिंसक प्रवृत्ति से सत्याग्रह का सम्बन्ध नहीं हो सकता। शत्रु को नष्ट करने की भावना सत्याग्रह में नहीं है। बल्कि सहानुभूति संयम व कष्ट-सहन के द्वारा उसका मत-परिवर्तन करना और उसे अपने पक्ष में मिलाने का भाव उसमें निहित है। यद्यपि सत्याग्रह सारे अन्यायों का तिरस्कार करता है और उनसे किसी भी तरह समझौता करने के लिए तैयार नहीं रहता तथापि अन्याय करने वाले को अपनी ओर खींचने के लिए उसके पास प्रेम के अलावा दूसरा रास्ता नहीं है। मनुष्य की मूलभूत सद्प्रवृत्ति पर उसका विश्वास होता है। अपने निकटतम तथा प्रिय व्यक्ति के विरुद्ध भी सत्याग्रह शस्त्र का प्रयोग किया जा सकता है। प्रेमपूर्वक ही सत्याग्रह का प्रयोग किया जाता है और जिसके प्रति प्रेम होता है उसके लिए ही सत्याग्रही में हर दर्जे के कष्ट सहने की तैयारी होती है। जब प्रत्यक्ष लड़ाई नहीं होती तब सत्याग्रही त्याग और सेवा की भावना से स्वयं को रचनात्मक कामों में लगा देता है।

आजकल सत्याग्रह शब्द का प्रयोग दोनों अर्थों में किया जाता है। एक तो तत्त्वप्रणाली और नैतिक मूल्य के रूप में जिसे गांधीजी व उनके निकटतम अनुयायियों के जीवनक्रम का आधार माना गया है। दूसरा व्यक्तिगत व सामूहिक रूप में अन्याय के प्रतिकार का वह मार्ग जिसे गांधीजी ने दक्षिण अफ्रीका में प्रारम्भ किया और बाद में हिन्दुस्तान में आगे बढ़ाया। इनमें से पहले प्रकार के लिए अनुशासन का मानदण्ड स्वभावतः ही ज्यादा ऊंचा रहता है। सत्याग्रह के सिद्धान्तों और रीति-नीति पर सत्याग्रही की पूर्ण निष्ठा होनी चाहिए। अन्याय का प्रतिकार करने के लिए एक हथियार के रूप में जो लोग सत्याग्रह का सहारा लेते हैं उनके लिए शर्त यही है कि सत्य उनके पक्ष में अवश्य हो। भले ही वह सिद्धान्त या धर्म के रूप में नहीं पर व्यवहार नीति के रूप में तो उन्हें अहिंसा का पालन करना चाहिए। जब सामूहिक सत्याग्रह प्रारंभ किया जाता है तब इस बात की जरूरत नहीं रहती कि समूह का

प्रत्येक व्यक्ति सत्याग्रह के सिद्धान्तों को पूरी तरह अपनाए। यदि नेता सत्याग्रह की आत्मा में घुल मिल गया हो तथा जनता नेता के अंकुश में हो और उनमें धन जन पर आघात करने वाले अत्याचारी कामों से दूर रहने का संयम हो तो यह काफी है। कई बार 'सत्याग्रह' जैसे व्यापक शब्द की सविनय प्रतिकार राष्ट्र का प्रयोग करना ज्यादा सार्थक होता है।

यह एक जीवन मार्ग है। जो सत्य की साधना करना चाहता है वह सर्वग्राही प्रेमभाव से हर समय सत्याग्रह का पालन करता है। उस प्रेमभाव को वह अपनी अखण्ड निष्काम सेवा के लिए व्यक्त करता है और आवश्यकता पड़ने पर उसके लिए मृत्यु को भी खुशी-खुशी गले लगा लेता है। परन्तु अपने मन, वाणी और कर्म से संसार के किसी भी प्राणी को कष्ट नहीं देता। सत्याग्रह का एक और अर्थ किया जाता है और वह है गांधीजी द्वारा प्रचारित अन्याय विरोध का अहिंसात्मक प्रत्यक्ष प्रतिकार।

2. सत्याग्रह का इतिहास—पुराणों, आख्यायिकाओं तथा जीवनचरित्रों में बहुत से व्यक्तिगत सत्याग्रहियों का वर्णन है। अनेक आध्यात्मिक और धार्मिक उपदेशकों ने धार्मिक जीवन व्यतीत करने की इच्छा रखने वाले व्यक्तियों तथा छोटे-छोटे समूहों के लिए जीवनमार्ग के रूप में सत्याग्रह पर जोर दिया है। लेकिन निश्चयपूर्वक यह बात कहने का श्रेय गांधीजी को ही है कि केवल अहिंसा द्वारा ही सत्य की साधना हो जा सकती है तथा अलग-अलग समूहों और राष्ट्रों के विरोध का अंत करने के लिए भी इस मार्ग का सहारा लिया जा सकता है। 'दी डॉन ऑफ इंडियन फ्रीडम' नामक पुस्तक के लेखक ने बिल्कुल ठीक ही कहा है—“इक्के दुक्के व्यक्तियों के लिए ही नहीं बल्कि समूहों और सम्पूर्ण राष्ट्रों के अंतर्राष्ट्रीय झगड़ों का अंत करने के लिए सत्याग्रह या अहिंसात्मक प्रतिकार को शस्त्र की भांति काम में लाने का मार्ग दिखाकर, विचार-जगत् को गांधीजी ने शायद सबसे ज्यादा महत्त्व की देन दी है।” प्राचीनकाल में सामूहिक रूप में सविनय प्रतिकार के उदाहरण शायद ही मिलेंगे। अगर भूल-चूक में कोई उदाहरण मिल भी जाता है तो उस आंदोलन की पद्धति के मूलभूत सिद्धान्तों में गांधीजी जैसी स्पष्ट और सुसंगत विचारधारा दिखाई नहीं देती। उस मार्ग को किसी ने शास्त्र या विज्ञान और कला के स्तर तक पहुंचाने का प्रयत्न भी नहीं किया। गांधीजी के तंत्र में उपवास का जो स्थान है वह तो अद्वितीय है। अहिंसात्मक युद्ध के अचूक तंत्र को स्थापित करने का काम उन्होंने ही किया है।

भिन्न-भिन्न राष्ट्रों की कहानियां व पौराणिक कथाओं में सत्याग्रह के अनेक उदाहरण पाये जाते हैं। कष्टसहन के मार्ग का अवलम्बन करने वाले बहुत-से व्यक्ति और उनमें भी आत्मरक्षा के लिए सविनय प्रतिकार करने के उदाहरण भी बढ़ा। वे आध्यात्मिक जीवन का अवलम्बन करके ऐहिक सुखों के प्रति उदासीन हो गये थे। उनमें से बहुत-से लोगों ने जीवन के अन्य अंगों को छोड़ दिया था। कष्ट दिये जाने पर उन्होंने प्रतिकार के अपने-अपने स्वतंत्र मार्ग ग्रहण कर लिये थे।

प्रहलाद और हरिश्चन्द्र का बचपन में ही गांधीजी के हृदय पर प्रभाव पड़ा था। उन्होंने अपने भाषणों में कई बार प्रहलाद का उल्लेख किया है और अपनी आत्मकथा में लिखा है कि हरिश्चन्द्र के नाटक का उनपर जबरदस्त प्रभाव पड़ा है।

प्रहलाद एक ईश्वर-भक्त बालक था। उसका पिता नास्तिक था। ईश्वर के अस्तित्व को न मानने के कारण उसने अपने बेटे से कहा कि— तुम ईश्वर का नाम मत लो। लेकिन बेटे ने नाम लेना नहीं छोड़ा। तब उसका पिता उसे तरह-तरह के कष्ट देने लगा। जितने ज्यादा उसे कष्ट दिए जाते थे वह उतनी ही दृढ़ता से ईश्वर का नाम लेता था। प्रहलाद हमेशा ईश्वर से प्रार्थना करता था कि प्रभो इनको अपने अस्तित्व का परिचय कराओ। अंत में पाप का घड़ा भर गया। ईश्वर ने अवतार लिया और वह उस निर्दयी पिता को दण्ड देने लगा। बेटे ने बीच में पड़कर पिता को छुड़ाया, फिर तो बाप भी बेटे की ही भांति ईश्वर-भक्त बन गया।

राजा हरिश्चन्द्र की कथा इससे भी अधिक हृदयस्पर्शी है। राजा ने एक बार स्वप्न में विश्वामित्र ऋषि को अपना राज्य दान कर दिया। दूसरे दिन राजा अपने कुछ लोगों से स्वप्न की बात कह रहा था कि इतने में ही विश्वामित्र ऋषि वहां आ पहुंचे और कहा—‘लाओ मेरा राज्य! राजा इतना सत्यनिष्ठ था कि उसने अपना सारा राज्य उन्हें दे डाला और अपनी पत्नी व बच्चे के साथ केवल शरीर पर पहिने हुए कपड़ों को लेकर ही निकल पड़ा। राजा के कष्ट और कसौटी की शुरुआत हुई। परीक्षा लेने के लिए विश्वामित्र ने राजा से दक्षिणा मांगी। लेकिन राजा के पास तो कुछ बचा नहीं था। उसने रानी से दासी का काम करने के लिए कहा और स्वयं काशी नरेश के यहां नौकर बन गया। इसके बाद उस

राजपरिवार ने प्रसन्नता से अनेक यातनाएं सहन कीं और ऐसी अनेक घटनाएं घटीं जिससे उनकी अत्यधिक सत्यनिष्ठा का परिचय मिला। अंत में काशी नरेश की आज्ञा से हरिश्चन्द्र अपनी रानी का सिर काटने ही वाला था कि विश्वामित्र प्रकट हुए। हरिश्चन्द्र का हाथ पकड़कर कहने लगे—‘हे राजा! तुम्हारे बराबर सत्यनिष्ठ त्रिभुवन में कोई नहीं है। मनुष्यमात्र में अकेला तू ही सत्यवादी है।’ नाटक देखने के बाद गांधीजी के मन में विचार आया कि सब लोग राजा हरिश्चन्द्र की तरह क्यों नहीं हो जाते।

ऐतिहासिक काल की ओर दृष्टि डालने पर बुद्ध और महावीर की भूमिका स्पष्ट है। इन दोनों ही ने धार्मिक सिद्धान्त के रूप में अहिंसा की शिक्षा दी है। इस कड़ी में महात्मा ईसा और सुकरात भी हैं। हाफिज और सरभद नामक महान् सूफी संतों के नाम भी प्रमुख हैं। नन्दनार, तुकाराम, कनकदास आदि के जीवन में सत्याग्रही वृत्ति के व्यक्तिगत उदाहरण मिलते हैं। कष्ट देने वालों के प्रति किसी भी प्रकार की कटुता न दिखा कर सुकरात ने विष का प्याला पी लिया था। एथेन्स के नवयुवकों को बहकाने का इल्जाम उसके ऊपर लगाया गया था। तुकाराम को तो उनके निकट के लोगों ने ही तरह-तरह के कष्ट दिये गए। लेकिन उन्होंने उनके खिलाफ कुछ नहीं किया। एकनाथ के सम्बन्ध में कहा जाता है कि उनपर लोगों ने बीस बार थूका; लेकिन प्रत्येक बार बिना क्रोध किये ही वह वापिस नदी पर जाकर स्नान कर आते थे। अंत में थूकने वाले थक गये और इक्कीसवीं बार उन्हें किसी ने नहीं छेड़ा। जब अछूत होने के कारण कनकदास को उड़पी देवालय के गर्भगृह में प्रवेश नहीं करने दिया गया तो मंदिर के एक किनारे पर बैठकर भगवान् का भजन करने लगे। कहा जाता है कि एक दिन भगवान् ने कनकदास की ओर अपना मुंह फेरा तो पुजारी यह देखकर चकित हो गये। बाद में लोगों ने उस दीवार में एक खिड़की बना दी और आज भी वह खिड़की ‘कनकाची खिड़’ के नाम से प्रसिद्ध है। महात्मा ईसा का बलिदान तो सर्वविदित है। इन सब उदाहरणों में बताया गया कि शरीर अमर आत्मा का एक नश्वर साधनमात्र है। आत्मा के व्यक्त स्वरूप रूपी सत्य की रक्षा के अतिरिक्त शरीर का और क्या उपयोग हो सकता है। हमारा अंतःकरण जो कुछ देखता है और जिसपर गहरी निष्ठा व निश्चय से विश्वास करता है उसके अलावा सत्य और क्या हो सकता है?

सभी धर्मों ने अहिंसा, जीवदया, निष्कपटता और प्रेम पर बल दिया है। ‘अहिंसा परमो धर्मः’ अर्थात् अहिंसा ही सबसे बड़ा धर्म या कर्तव्य है। यह जैन और बौद्ध धर्म का मूल सिद्धान्त है। उसको अक्षुण्ण रखकर हिन्दू धर्म आगे कहता है—‘सत्यान्नास्ति परो धर्मः।’ अर्थात् कोई भी धर्म या कर्तव्य सत्य से बढ़कर नहीं है। इस प्रकार सत्य और अहिंसा हिन्दू धर्म के प्रधान सूत्र हैं। जब एक बार गांधीजी से यह पूछा गया कि प्रेम या अहिंसा से सत्य को ज्यादा महत्त्व क्यों दिया गया है तो उन्होंने उत्तर दिया कि— अंत में सत्य ही सबसे श्रेष्ठ है। सत्य में सबका समावेश हो जाता है और वह सबसे परे है। इस्लाम शब्द का अर्थ भी शांति ही है। इस्लाम धर्म इस बात का प्रतिपादन करता है कि सबमें शांति छा जाय। बिना प्रेम-भावना के शांति असंभव है।

सुकरात की भांति ईसा का फांसी पर लटक जाना भी सत्य के लिए किये गये बलिदान का उदाहरण है। ईसा के जीवन में सत्याग्रह के सिद्धान्त ज्यादा स्पष्ट और निश्चित रूप में दिखाई देते हैं। ‘सरमन ऑन दी माउन्ट’ में ‘अन्याय का प्रतिकार (अन्याय से) मत करो’ जैसे वाक्य सत्याग्रह द्वारा सूचित जीवन-क्रम पर प्रकाश डालते हैं। यद्यपि आज सत्याग्रह को उससे भी ज्यादा व्यापक अर्थ प्राप्त हो गया है। शताब्दियों से यह शब्द विकास पाता आ रहा है। गांधीजी ने उसे अपने पूर्णरूप में प्रकट किया है। लेकिन राजनैतिक और आर्थिक समस्याओं को हल करने के लिए सत्याग्रह का आश्रय लेने का उदाहरण इतिहास में नहीं मिलता।

3. सत्याग्रह के सिद्धान्त—सत्याग्रह प्रेम का—सबसके प्रति प्रेम का—सिद्धान्त है। वह दूसरों को आत्मीयता की दृष्टि से देखता है। सत्याग्रही के लिए प्राणीमात्र समान हैं। दूसरों के साथ भी वह अपने जैसा ही व्यवहार करता है। दूसरों में वह अपना ही व्यक्तित्व देखता है। सत्याग्रही केवल प्रेम अथवा अहिंसा के द्वारा ही सत्य की साधना करता है। सेवा और त्याग के द्वारा वह सबका हित साधने का प्रयत्न करता है, जो प्रेम पर अधिष्ठित होता है। यदि किसी ने सत्याग्रही का रास्ता रोका अथवा उसके कर्तव्य में बाधा डाली अथवा उससे असंगत जीवन व्यतीत करने का प्रयत्न किया तो उसके प्रतिकार के लिए दूसरों को कष्ट देने के बजाय वह खुद उसे उठा लेता है। सत्य के लिए वह अपने प्राणों की भी बाजी लगा देता है। यदि उसे अपने विपथगामियों के आक्रमण से मृत्यु का सामना करना पड़ा तो वह उसे

आत्मा की, शरीर पर विजय समझता है। असत्य के सामने सिर झुकाने के बजाय वह शरीर—त्याग करके आत्मा को मुक्ति प्रदान कर देगा। वह मानता है कि प्रेम के द्वारा सत्य—साधना करने के लिए शरीर एक साधन मात्र है। सत्य या अहिंसा के मार्ग से वह थोड़ा भी विचलित नहीं होता। चाहे कैसी ही यातनाएं सहना पड़े उसके हृदय में विरोधियों के लिए थोड़ी—सी भी कटु भावना को स्थान नहीं मिलता।

सत्याग्रही अत्याचारी के साथ अपने शारीरिक बल से न लड़ता है न विरोध करता है। अपितु वह सब कुछ हंसते—हंसते सहन करता है। इतना ही नहीं मौका पड़ने पर उसके हाथों मरना भी पसंद करता है। शक्ति होते हुए भी उसमें बदला लेने की भावना नहीं होती। उसका इस अंतिम निष्ठा पर आधार रहता है कि मेरे कष्ट सहन से ही विरोधी का अज्ञान स्वार्थ और साहस टूट जायगा। विरोधी को उसकी गलती अनुभव कराने का एक भी उपाय वह बाकी नहीं छोड़ता। लेकिन इसके साथ विरोधी के द्वारा किया गया अपमान और कष्ट—सहन भी जारी रहता है और ऐसा करते हुए विरोधी के प्रति उसके हृदय में संदभाव रहता है।

सत्याग्रह जग और जीवन देखने की एक वृत्ति है। यह जीवन की एक रचना है। वह एक प्रेरणा है जो जीवन धारण करती है, उसे प्रगतिशील बनाती है और जो भिन्न—भिन्न उत्पादक कार्यों और निर्माणों के रूप में अभिव्यक्त होती है और विकासशील शक्तियों से सुसंगत जीवन व्यतीत करती है। जीवन की ओर देखने की यह वृत्ति सत्याग्रही को सत्य को फैलाने और न्याय को अबाधित रखने के हेतु लड़ने के लिए प्रवृत्त करती है। केवल युक्तियुक्तता और नैतिक मूल्य ही उसके जीवन की कसौटी होते हैं।

सत्याग्रही किसी को शत्रुभाव से नहीं देखता। हर व्यक्ति उसके लिए मित्र, साथी और भाई होता है। मनुष्य की सहज सद्वृत्ति पर उसका अटल विश्वास होता है और वह मानता है कि मेरे मानव बन्धुओं की नीतिभ्रष्टता हमेशा कायम रहने वाली नहीं है। सत्याग्रही अन्याय का प्रतिकार शारीरिक बल से नहीं करता। वह उसे धैर्य से हंसमुख रहकर सहन करता है और इस प्रकार अन्यायी के हृदय को स्पर्श करने की कोशिश करता है। सत्याग्रही अन्याय और अन्यायी दोनों में बड़ा अंतर मानता है। दुःख और कष्ट को मिटाने का प्रयत्न करते हुए वह अन्यायी को अन्याय का अनुभव कराने का प्रयत्न करता है। वह विरोधी के भी मन में अपने नैतिक बचाव का भाव जाग्रत करता है। वह विरोधियों को भी यह अनुभव करा देता है कि उसके मन में उनके लिए प्रेम और आदर है और वह उन्हें तकलीफ पहुंचाना नहीं चाहता। सत्याग्रही के सामने सबसे बड़ा प्रश्न यही होता है कि वह अन्यायी को नुकसान न पहुंचाते हुए अन्याय का अंत किस प्रकार करे। स्वयं कष्ट उठाकर और विरोधी को उसकी शारीरिक सुरक्षा का आश्वासन देता है और इस तरह उसे अपने अन्यायपूर्ण व्यवहार पर विचार करने के लिए मजबूर करता है। इस प्रकार सत्याग्रही का आक्रमण विरोधी के मन पर होता है और अन्याय को जड़ से उखाड़ने की कोशिश करता है।

अनुभवी सत्याग्रही के ये मुख्य गुण धर्म हैं। यदि सभी क्षेत्रों में सामूहिक रूप से ऐसा व्यवहार किया जाय तो सत्याग्रह के व्यक्तिगत गुण सामाजिक शक्ति में परिवर्तित हो जाते हैं। यदि हम प्राचीन काल पर दृष्टि डालें तो साधु—संतों में व्यक्तिगत सत्याग्रह के बहुत उदाहरण मिलते हैं। लेकिन सामाजिक—शक्ति के रूप में सत्याग्रह के अवलम्बन करने के उदाहरण शायद ही मिलेंगे। बड़े—बड़े साधु—संतों और धर्मोपदेशकों ने ही अपने निजी जीवन में इस प्रवृत्ति का अवलम्बन किया था। लेकिन धार्मिकता की छाप लगे हुए उनके जीवन से जन—साधारण का नाता टूट गया था। सम्पत्ति, सत्ता, महत्वाकांक्षा, स्वामित्वभाव और शासन आदि बातों से युक्त राजनीति तथा व्यापार—धंधे से उनमें से बहुत—से आदमी अलिप्त रहते थे और समाज से अलग रहकर अपना जीवन व्यतीत करते थे। इसलिए धर्म, राजनीति, वेदान्त और व्यवहार का एक—दूसरे से कोई सम्बन्ध ही नहीं रह गया था। इसी से धार्मिक जीवन, तथा दैनिक व्यवहार, व्यक्तिगत जीवन, राष्ट्रीय व सामाजिक जीवन आदि दोहरे नैतिक मूल्य समाज में प्रचलित हो गये। जीवन के एक क्षेत्र में जो सद्गुण था वही दूसरे क्षेत्र में दुर्गुण माना जाने लगा। व्यक्तिगत और निजी जीवन में सत्य भी एक गुण माना जाने लगा। परन्तु राजनीति और राजनीतिज्ञता में वह विपरीत हो गया। निजी जीवन में किसी का खून करना पाप माना गया तो देश—भक्ति के नाम पर युद्ध में खून करने वाले की जयजयकार होने लगी। जो सभ्यता, भलमनसाहत, स्पष्टवादिता पारिवारिक जीवन में सद्गुण कहे जाते हैं वहीं गुण अंतर्राष्ट्रीय अथवा भिन्न—भिन्न समूह के

पारस्परिक व्यवहार के समय दुर्गुण बन जाते हैं। इस दोहरी नीति को मिटा देना गांधीजी के जीवन का उद्देश्य था। वे चाहते थे कि केवल सत्य की कसौटी पर ही सभी बातों का मोल ठहराया जाए और उस सत्य की स्थापना कष्टसहनयुक्त प्रेम की भित्ति के ऊपर हो।

4. सत्याग्रह की उत्पत्ति—जीवन की ओर देखने की सत्याग्रह की इस वृत्ति का उद्गम कौटुम्बिक क्षेत्र में ढूँढना चाहिए जो कि माया, प्रेम और सतत सहवास के बंधन से बंधा है। कौटुम्बिक जीवन में द्वेष, विनाश और भय के लिए स्थान नहीं है। प्रेम, पारस्परिक सद्भावना और आदर कौटुम्बिक जीवन के आधारस्तम्भ हैं। प्रेम का अर्थ है— दूसरों को आत्मदृष्टि से देखना। हम स्वयं से अत्यन्त प्रेम करते हैं। यदि हम सब लोगों को आत्मीयता की दृष्टि से देखने लगे और अपनी अपेक्षा दूसरों को ज्यादा प्रेम करने लगे तो यह प्रेम का सर्वोच्च शिखर होगा। यदि सच्चे सेवाकार्य के द्वारा यह प्रेम प्रकट नहीं हुआ तो वह व्यर्थ है। प्रेम की सफलता कार्य से ही प्रकट होती है। हम जिससे प्रेम करते हैं उसके लिए सेवा और त्याग—भाव से अपने आपको समर्पित कर देने में ही प्रेम की सफलता है।

आदर्श कौटुम्बिक जीवन के इन सिद्धान्तों को मानवीय सम्बन्धों पर लागू करना ही सत्याग्रही के जीवन की प्रवृत्ति है। इसीलिए बाइबिल में कहा है—लोगों से तुम जैसे व्यवहार की अपेक्षा रखते हो, वैसा ही व्यवहार तुम उनके साथ करो—क्योंकि यही धर्म है और यही पैगम्बरों की शिक्षा है। गांधीजी का कहना था कि उन्होंने सत्याग्रह का पाठ कौटुम्बिक जीवन में ही सीखा। जैसे—जैसे वे बड़े हुए वैसे—वैसे वे संसार को एक बड़े कुटुम्ब के रूप में देखने लगे और अंत में 'वसुधैव कुटुम्बकम्' ही उनकी वृत्ति हो गई। वस्तुतः गांधीजी इससे भी आगे गये। केवल मनुष्य ही नहीं, उन्हें तो प्राणीमात्र पवित्र मालूम होता था और वे प्रत्येक प्राणी को अपना आत्मीय मानते थे।

प्रेम के आधार पर खड़े इस सम्बन्ध का जन्म सब जीवों के साथ एकरूप हो जाने की जन्मजात एवं गूढ़ अनुभूति में पाया जाता है। गांधीजी कहते थे कि 'जो अपने विरोधियों के साथ एकरूप हो सकता है वही उनके प्रहार पुष्पवृष्टि की भांति सहन कर सकता है।' आज भौतिक विज्ञान इस नतीजे पर पहुंच गया है कि सारे जड़-पदार्थों में एक ही आदि शक्ति निवास करती है और वही विविध रूपों में सजी हुई दिखाई देती है। एडोल्फ हक्सले के शब्दों में "एक ही पदार्थ के भिन्न-भिन्न रूपों से इस जड़ विश्व की रचना हुई है।" यदि सर्वसाधारण जड़ वस्तुओं पर यह नियम लागू होता है तो सूक्ष्म वस्तुओं पर तो और भी ज्यादा लागू होगा। जिसे यह विश्वास हो गया है कि सारे जीवमात्र, सारी चेतना और सारी चित्शक्ति एक ही है, उसके लिये यह बात पूर्णतः स्पष्ट है। उसका ध्यान इस बात की तरफ नहीं जाता कि लोग उसकी अनुभूति को किस दृष्टि से देखते हैं। इस अनुभूति में ही प्रेम का उद्गम है। जब किसी के प्रति आत्मीयता अनुभव होने लगती है तो उसके प्रति प्रेम अवश्य उत्पन्न होता है। ऐसा हुए बिना गति नहीं सकती है। सत्याग्रही इस बात को नहीं मानता कि केवल रिश्तेदार ही उसके कुटुम्बी हैं। जब गांधीजी यह कहते हैं कि सारा विश्व ही मेरा कुटुम्ब है तो वह उनकी सच्ची भावना है व उन्हें इसकी गहरी अनुभूति है।

प्रेम और उदारता के सिद्धान्त पर चलने वाले या सत्याग्रहियों की के प्रत्येक विरोध के सम्बन्ध में व्यक्तिगत प्रतिक्रिया एक ही होती है। गांधीजी की विशेषता यह है कि उन्होंने इस कौटुम्बिक शस्त्र को उठाकर जीवन की सम्पूर्ण समस्याओं के लिए उसका आलम्बन किया। वे कहते थे कि— "कौटुम्बिक क्षेत्र की भांति राजनैतिक क्षेत्र में भी उसका उपयोग किया जा सकता है।" गांधीजी ने यहां तक कहा कि 'जो कौटुम्बिक क्षेत्र में असफल सिद्ध हो जाता है यदि वह सामाजिक और राजनैतिक क्षेत्र में उसका अवलम्बन करता है तो वह कभी सफलता प्राप्त नहीं कर सकता। यदि एक क्षेत्र में हम असफल हो गए तो दूसरे क्षेत्र में सफलता प्राप्त करना संभव नहीं होगा।

गांधीजी का मानना था कि सत्याग्रह एक जीवन—मार्ग है। वे उसे केवल शस्त्र के रूप में नहीं देखते थे। वे उच्च—कोटि के कर्मयोगी थे और इसीलिए उन्होंने सत्य, प्रेम और अहिंसा— इन दिव्यतत्त्वों के द्वारा राजनैतिक, आर्थिक और सामाजिक प्रश्न हल करने के प्रयोग करने का प्रयत्न किया था। उन्होंने अपने इस अपूर्व प्रयत्न से इन सिद्धान्तों को सार्वभौमिक बनाया। उनके मतानुसार जीवन अविभाज्य है। व्यक्तिगत जीवन और सामाजिक जीवन, धर्म और राजनीति, व्यक्तिगत गुण और सार्वजनिक सद्गुण को भिन्न-भिन्न दृष्टिकोणों से देखना ठीक नहीं। यदि ईश्वर के साथ बेईमानी नहीं करनी है तो वह किसी के भी साथ नहीं की जा सकती। इस प्रकार उन्होंने अनेक प्रचलित विश्वासों को

जोर का धक्का देकर समाज को नई तरह से विचार करने के लिए प्रेरित किया। सत्य-सम्बन्धी अपने आग्रह के कारण ही वे ऐसा कर सके थे। उनका सम्पूर्ण जीवन सत्याग्रह (सत्य के लिए किये गये आग्रह) का एक प्रयोग था। अपने सत्य के लिए उनमें दुराग्रह नहीं था। वे नहीं चाहते थे कि उनके प्रयोग बाह्य नियमों में जकड़ दिये जाएं या वे एक सम्प्रदाय का रूप लें। गांधीजी चाहते थे कि प्रत्येक व्यक्ति अपना सत्य ढूँढ ले और बड़ी-से-बड़ी कीमत देकर भी उसी का अवलम्बन करे।

गांधीजी की सत्य-सम्बन्धी उत्कंठा नैसर्गिक थी। इसीलिए वे अनेक कठिन प्रसंगों पर बच गये और उन्हें सत्याग्रह का अनुपम मार्ग दिखाई दिया। वे लिखते हैं—“एक सिद्धान्त मेरे मन में बैठ गया है, वह यह कि नैतिकता सब बातों की जड़ है और सत्य नैतिकता का सार है। इस प्रकार सत्य मेरा एकमात्र उद्देश्य-ध्येय बन गया है।” उन्हें ऐसा भी अनुभव हुआ कि सत्य किसी भी हालत में हिंसा को स्वीकार नहीं कर सकता। सहानुभूति और सहनशीलता की सहायता से ही अपने विरोधी को जीतना चाहिए और सहनशीलता का नाम लेते ही कष्ट-सहन आ जाता है।

बाल्यावस्था में उनके सत्यप्रेम ने ही उन्हें मांसाहार से बचाया और पिता के सामने चोरी स्वीकार करने पर मजबूर कर दिया। इंग्लैण्ड में वे अपने सत्यप्रेम की कारण ही शराब और परस्त्री के चक्कर से बच सके। सत्याचरण करने की उन्होंने आजीवन प्रतिज्ञा ही कर ली थी।

इसी के साथ उनकी प्रेम-निष्ठा अर्थात् अहिंसा का योग हो गया। गांधीजी के प्रारंभिक चरित्र-लेखक जोसेफ डोक ने गांधीजी की इस प्रारंभिक काल की मनःस्थिति पर भी अच्छा प्रकाश डाला है। उन्होंने गांधीजी से प्रश्न पूछा—“अहिंसक प्रतिकार की कल्पना सबसे पहले आपको कैसे सूझी?” गांधीजी ने उत्तर दिया—“(श्यामल भट्टचरित) गुजराती कविता की एक कड़ी जिसे मैंने बचपन में पाठशाला में सीखा था, किस प्रकार मेरे मन में बस गई थी।” उस कविता का सारांश इस प्रकार है—‘यदि कोई तुम्हें पानी पिलाएँ और तुमने भी बदले में उसे पानी पिलाया तो उसका कोई महत्त्व नहीं है। अपकार के बदले उपकार करने में ही सच्ची खूबी है।’ बचपन में ही इस कविता ने उनके हृदय पर अधिकार कर लिया था और इस शिक्षा को उन्होंने अपने जीवन में ढालने के लिए आजीवन प्रयत्न किया। इसके बाद उन्होंने बाइबिल के ‘सरमन ऑन दी माउंट’ को देखा।” श्री डोक आगे लिखते हैं कि गांधीजी के मन पर काउन्ट टाल्स्टाय का प्रभाव निश्चित रूप से बहुत पड़ा है।

सत्याग्रह की ओर उनको आकर्षित करने में उनके प्रति कस्तूरबा का व्यवहार बहुत महत्त्व रखता है। गांधीजी कहते हैं—“मैंने अपनी पत्नी से अहिंसा का (सत्याग्रह का) पाठ पढ़ा। मैंने उसे अपनी इच्छा के सामने झुकाने का प्रयत्न किया। उसने एक ओर मेरी इच्छाओं का दृढ़तापूर्वक विरोध किया और दूसरी ओर मेरी मूर्खता के लिए मूक रहकर कष्ट सहन किया। मुझे अंत में इससे अपने आप पर ही शर्म आने लगी और अपने इस विचार का कि मेरा जन्म ही उसपर हुकुमत चलाने के लिए हुआ है, मुझे पागलपन दिखाई देने लगा। अंत में अहिंसा के मामले में वह मेरी गुरु बनी और अनजान में ही उसने अपने लिए जिस सत्याग्रह का अवलम्बन किया उसी के नियमों का विस्तारमात्र मैंने दक्षिण अफ्रीका में किया।” जब इन विचारों के बीज गांधीजी के मन में जम गये तो फिर उनमें अंकुर आने लगे। दक्षिण अफ्रीका में मारित्सबर्ग, पार्लेबर्ग, जोहान्सबर्ग, प्रिटोरिया और डरबन आदि स्थानों में उन्होंने स्वयं जो अनुभव प्राप्त किये उनसे सत्याग्रह मार्ग पर वे आगे बढ़ते चले गये और उस देश में सामूहिक आंदोलन चलाने में भी समर्थ हुए।

पार्लेबर्ग का 1893 का एक प्रसंग मनन करने योग्य है। सत्याग्रही विचारधारा के सारे तत्त्व उसमें समाविष्ट हो गये हैं। सन् 1896 में जब वे हिन्दुस्तान से दक्षिण अफ्रीका लौट रहे थे तब बंदरगाह पर उनको मारने के लिए कुछ यूरोपियनों का झुण्ड इकट्ठा हो गया था। गांधीजी जिस कूर्लेण्ड नामक जहाज से सफर कर रहे थे उसके कप्तान ने उनसे पूछा—‘अब आपकी अहिंसा का क्या होगा?’ इस पर उन्होंने उसी समय उत्तर दिया—‘मुझे आशा है, भगवान् मुझे धैर्य एवं क्षमा करने की शक्ति देगा और उन्हें अदालत ले जाने के विचार से दूर रखेगा। मुझे उन पर जरा भी रोष नहीं। मुझे तो केवल उनकी संकुचित भावना पर खेद होता है।’ यह उत्तर तो किसी भी आदर्श सत्याग्रही का ही हो सकता था। अन्याय का प्रतिकार, अहिंसा का बदला उपकार से देने की दृढ़ और कार्यक्षम प्रवृत्ति भी उसे साथ जुड़ी हुई थी। श्री डोक ने अपने चरित्र में गांधीजी के उद्गार इस प्रकार दिये हैं—“मुझे सत्याग्रह का ‘निःशस्त्र प्रतिकार’ नाम पसंद नहीं है। मेरा इच्छित अर्थ उससे अभिव्यक्त नहीं हो सकता; उससे मार्ग

का बोध जरूर होता है परन्तु जिस विचारधारा का वह एक भाग—मात्र है उसका पूरा चित्र हमारे दिमाग में उस नाम से नहीं खिंचता। वास्तविक सौन्दर्य, और वही मेरा ध्येय है—दुःख देने वाले का भी भला करने में ही है। इतने पर भी मैं उसी नाम का प्रयोग करता हूँ। (उस समय तक गांधीजी ने सत्याग्रह शब्द का प्रयोग करना आरंभ नहीं किया था।) क्योंकि प्रचलित होने से उसे सब लोग जानते हैं और वर्तमान समय में मेरे अनुयायियों में से बहुत लोगों की समझ में इतना ही आ सकेगा। मेरे अपने मत से (श्यामल भट्ट की) गुजराती कविता और 'सरमन आन दी माउन्ट' की मुख्य कल्पना सम्पूर्ण जीवन में क्रांति कर देने के लिए पर्याप्त है।"

यदि परिस्थितियाँ वैसी ही होतीं तो गांधीजी एक महान् संत के रूप में ही रह जाते। लेकिन उन्होंने सामूहिक रूप में बड़े पैमाने पर सत्याग्रह का प्रयोग किया। इसके आगे सत्याग्रह केवल अपवाद—रूप किसी व्यक्ति तक ही सीमित नहीं रहा। उन्होंने कहा कि प्रत्येक स्त्री—पुरुष के पास आध्यात्मिक शक्ति का खजाना भरा है। प्रत्येक के पास रहने वाली इस संपत्ति की कुंजी उन्होंने सबको दिखा दी। मनुष्य कोई ऐसा मांस—पिण्ड नहीं है जो किसी रास्ते अधिकारी के जूल्मों का शिकार होता रहे और जिसे किसी प्रकार का सुख—दुःख न होता हो; बल्कि उसके शरीर में आत्मा का निवास है। गांधीजी ने लिखा है—“जालिम अधिकारी सत्याग्रही के शरीर और भौतिक सम्पत्ति पर अपनी सत्ता चला सकता है। लेकिन उसकी आत्मा पर कदापि नहीं। इस मूलभूत सत्य की चेतना के आधार पर ही सत्याग्रह—शस्त्र का उदय हुआ है।” उन्होंने बताया कि प्रत्येक पुरुष, स्त्री और बच्चा सत्याग्रह का अवलम्बन कर सकता है। क्या वृद्ध और क्या युवक, क्या धनी और क्या गरीब सब सत्याग्रही हो सकते हैं। उन्हें केवल अपनी मानसिक तैयारी करने की आवश्यकता है। उन्हें अपनी शक्ति को पहचान लेना चाहिए। जहाँ उन्होंने ऐसा किया नहीं कि वे शैतान का भी सामना कर सकेंगे।”

इस सम्बन्ध में शिपक हेवर ने बहुत वर्षों पूर्व ही अपनी डायरी में लिख रखा था। धरना देकर बैठने का अर्थ है—‘जबतक हमारी बात न मान ली जाय तबतक उसी आसन पर स्थिर होकर भूखे बैठे रहना।’ और हिन्दुओं का यह विश्वास है कि इस तरह धरना देकर बैठने वाला यदि मर जाय तो वह भूत बनकर उस दुराग्रही प्रतपक्षी को पछाड़ता है और महान् कष्ट देता है। लेकिन श्री डोक कहते हैं कि इस कल्पना से परिचित होने के कारण हिन्दुस्तानी लोगों ने ट्रान्सवाल में अपेक्षाकृत अधिक तत्परता से उसी अंगीकार किया। गांधीजी इस सिद्धान्त की उत्पत्ति और प्रगति का खुलासा बिल्कुल भिन्न प्रकार से करते हैं।

सविनय प्रतिकार के दो तरीके हिन्दुस्तान में प्रचलित हैं। धरना अर्थात् जमकर बैठ जाना। इसका अवलम्बन व्यक्ति या छोटे समूह करते हैं। बड़े समूह इसका आश्रय नहीं ले सकते। यदि देनदार, लेनदार का रुपया देने से इन्कार कर दे तो लेनदार अक्सर इस मार्ग का आश्रय लेते हैं। भूखा—प्यासा देनदार के द्वार पर बैठकर वह यह सिद्ध करता है कि उसका कर्ज सच्चा है। देनदार के प्रति द्वेष या दुश्मनी न रखकर वह कष्ट उठाने के लिए तैयार होता है। जो मांग हमको तो न्यायोचित प्रतीत होती है लेकिन जो दूसरों को किसी भी प्रकार मंजूर नहीं हो उसे मंजूर करवाने के लिए नाते—रिश्तेदार भी इस मार्ग का अवलम्बन किया करते हैं।

दूसरा तरीका है—हड़ताल। किसी भी प्रकार का कष्ट या असंतोष होने पर हड़ताल करना प्रतिदिन की बात है। अधिकतर हड़तालें किसी बात का विरोध या प्रतिकार करने के लिए या यह दिखाने के लिए की जाती है कि राजा अनिष्ट मार्ग पर जा रहा है या उसका कोई काम निन्दा करने योग्य है। सारा व्यापार—धन्धा बन्द कर देने की अपेक्षा इसका सारा उद्देश्य राजा को ध्यान दिलाना ही होता है। उसे एक थोड़े समय की हड़ताल कह सकते हैं। सार्वजनिक हड़ताल जैसी लम्बी और व्यापक हड़ताल का उदाहरण इतिहास में नहीं मिलता है।

डोक के द्वारा यह प्रश्न पूछे जाने पर कि आपको सत्याग्रह आंदोलन प्रारंभ करने का विचार कैसे सूझा गांधीजी ने उत्तर दिया—“कुछ वर्षों के पूर्व नेटाल में मैंने सार्वजनिक कार्यों में प्रत्यक्ष रूप से भाग लेना प्रारंभ किया ही था कि अनुनय—विनय आदि के असफल सिद्ध होने पर मेरे मन में आया कि इस मार्ग का अवलम्बन सर्वोत्तम सिद्ध हो सकता है। लेकिन भारतीयों की तत्कालीन असंगठित स्थिति को देखते हुए ऐसा प्रयत्न कर देखना अनुपयोगी प्रतीत हुआ। आगे चलकर जब एशियाटिक एजिस्ट्रेशन बिल पेश हुआ तब जोहान्सबर्ग के हिन्दुस्तानियों में इतनी जबरदस्त खलबली मच गई और उसका

प्रतिकार करने के लिए वे इतने निश्चय से संगठित हो गये कि मुझे वह मौका उपयुक्त प्रतीत हुआ। वे कोई-न-कोई प्रत्यक्ष उपाय-सीधी-चोट-करते ही; लेकिन मैंने अनुभव किया कि यदि वह बिना लड़ाई-दंगे का रूप धारण किये सविनय प्रतिकार के रूप में हो तो वह उपनिवेशों की दृष्टि से सर्वोत्कृष्ट रहेगा और कुल मिलाकर भी वह उचित ही होगा। वहां हिन्दुस्तानियों को पार्लियामेण्ट में मताधिकार प्राप्त नहीं था। यह उम्मीद नहीं थी कि कोई सहूलियत मिलेगी या शिकायतों की सुनवाई ही होगी। ईसाई, पादरी लापरवाही दिखाते थे। इसलिए मैंने यह कष्ट सहन का मार्ग सुझाया और बहुत वादविवाद के बाद यह मंजूर हुआ।” दक्षिण अफ्रीका में सत्याग्रह प्रारम्भ का यह वर्णन ऐतिहासिक दृष्टि से महत्त्व का है क्योंकि यह सबसे पुराना उदाहरण है। दक्षिण अफ्रीका का सत्याग्रह अपने ढंग की पहली ही लड़ाई होने के कारण सत्याग्रह के इतिहास में वह सबसे ज्यादा महत्त्व रखता है और गांधीजी के नेतृत्व में लड़ी जाने वाली पहली ही लड़ाई होने पर भी यह सिद्ध करती है कि उनका उस साधन में पूर्ण विश्वास था और उन्हें निश्चय था कि अंत में उन्हें सफलता मिलेगी। 11.09.1906 को महात्मा गांधी ने जो भाषण दिया उसमें उन्होंने कहा-“मैं निःशंक होकर दृढ़ विश्वास के साथ यह कह सकता हूँ कि जब तक मुट्ठी भर लोग भी अपनी प्रतिज्ञा पर एकनिष्ठा से डटे रहेंगे तबतक इस लड़ाई का अंतिम परिणाम एक ही हो सकता है और वह है-विजय।” ‘दक्षिण अफ्रीका का सत्याग्रह’ नामक अपनी पुस्तक में गांधीजी ने लिखा-“आगे चलकर इस नाम से जो आंदोलन प्रसिद्ध हुआ उसके जन्म का इतिहास इस प्रकार है।”

प्रारंभिक काल में ही गांधीजी को सत्याग्रह के सम्पूर्ण स्वरूप का स्पष्ट दर्शन हो गया था। वह आंदोलन निःशस्त्र प्रतिकार से एकदम भिन्न था। आंदोलन के प्रारंभ में जर्मिस्टन के कुछ सहानुभूतिशील यूरोपियनों ने गांधीजी का भाषण सुनने की इच्छा प्रदर्शित की। अतः एक सभा का आयोजन किया गया। सभा के अध्यक्ष श्री होस्कन ने कहा-“अपनी मांगें मंजूर करवाने के दूसरे सारे उपाय असफल सिद्ध होने पर ही ट्रांसवाल के हिन्दुस्तानियों ने निःशस्त्र प्रतिकार का रास्ता अपनाया है। उन्हें मताधिकार प्राप्त नहीं है। वे संख्या में भी बहुत कम हैं। वे कमजोर हैं एवं उनके पास शस्त्रास्त्र भी नहीं हैं। इसलिए उन्होंने निःशस्त्र प्रतिकार का अवलम्बन किया है। वह कमजोरों का हथियार है।” उनकी यह बात सुनकर गांधीजी आश्चर्यचकित हो गये। श्री होस्कन के विचारों का खंडन करते हुए गांधीजी ने अपने अहिंसक प्रतिकार की व्याख्या-‘आत्मिक बल’ कहकर की। उन्होंने श्रोताओं से कहा-“पाशविक शक्ति का उपयोग करने की क्षमता या स्थिति होने पर भी इस अहिंसक प्रतिकार में उसके लिए कोई स्थान नहीं है। यदि हिन्दुस्तानियों के पास शस्त्रास्त्र होते और उन्हें मताधिकार भी प्राप्त होता तो भी मैं उन्हें केवल ‘आत्मिक बल’ का ही अवलम्बन करने की सलाह देता।” उन्होंने कहा-दक्षिण अफ्रीका के सत्याग्रह की रूप-रेखा बनाते समय किसी भी स्थिति में शारीरिक शक्ति का थोड़ा-सा भी प्रयोग करने का उड़ता हुआ विचार भी मेरे मन में नहीं आया।

अर्थात् जैसे-जैसे लड़ाई जोर पकड़ती गई वैसे-वैसे यूरोपियनों के ख्याल में सत्याग्रह और निःशस्त्र प्रतिकार का अंतर स्पष्ट होता गया। शुरू से लेकर अंत तक गांधीजी का व्यवहार बिल्कुल आदर्श था। यूरोपियनों की आवश्यकता के समय उनकी मदद के लिए दौड़ पड़ना, जुलू-विद्रोह के समय सरकार की सहायता करना और खासकर यूरोपियन रेलवे कर्मचारियों की हड़ताल पर उसका लाभ उठाने से उनका इंकार करना आदि बातों से यही सिद्ध होता है कि सत्याग्रह की भूमिका ही निःशस्त्र प्रतिकार की भूमिका से भिन्न है।

5. सत्याग्रह की मौलिकता-सत्याग्रह पद्धति का विकास करने में गांधीजी की मौलिकता निर्विवाद है व उसे बढ़ाने के लिए उन्होंने जो कार्य किये हैं वे भी महत्त्वपूर्ण हैं। अनेक अन्तर्राष्ट्रीय विद्वानों ने दृढ़तापूर्वक इस बात का समर्थन किया कि सत्याग्रह का अवलम्बन करने के काम में गांधीजी की अद्वितीय भूमिका रही है। यह कहना सत्य नहीं होगा कि पहले लड़ाई का कोई अहिंसक मार्ग नहीं था। एक स्वतंत्र तंत्र के रूप में कभी भी उसका विस्तार नहीं किया गया। अथवा गांधीजी की तरह उनकी ही भांति व्यापक रूप में राजनैतिक या किसी अन्य क्षेत्र में उसका अवलम्बन नहीं किया गया। गांधीजी ने उसे शक्तिशाली लोगों के तथा कई गुना श्रेष्ठ हथियार के रूप में उसका उपयोग किया। इसके अतिरिक्त गांधीजी ने उसे सैद्धान्तिक भूमिका का अधिष्ठान देकर उसे एक पूर्ण शास्त्र बना दिया है। अन्याय का विरोध करने वाली सत्याग्रह-पद्धति की यह विशेषता उसकी नवीनता को और भी बढ़ा देती है।

इसमें कोई संदेह नहीं कि महावीर, बुद्ध, ईसा, मुहम्मद और नानक जैसे असाधारण व्यक्तियों, पैगम्बरों और धर्माचार्यों ने अपने जीवन में सत्याग्रह सिद्धान्त को अपनाया है। उन्होंने उसकी शिक्षा भी सफलतापूर्वक दूसरों को दी है। गांधीजी ने ईसा के सम्बन्ध में कहा है कि ईसा अहिंसक प्रतिकार के ही प्रवक्ता थे। उन्होंने आगे कहा है कि उस अहिंसक प्रतिकार में सत्याग्रह ही अभिप्रेत होना चाहिए। बुद्ध और ईसा के प्रत्यक्ष प्रतिकार के बारे में उन्होंने कहा कि— “बुद्ध ने शत्रु के ठेठ दरवाजे तक लड़ाई ले जाकर उद्दण्ड भिक्षुओं का हृदय परिवर्तन किया। ईसा ने जेरुसेलम के मंदिर से दलालों को निकाल भगाया और ढोंगी तथा फारसी लोगों को ईश्वरी कोप का भाजन बनाया। दोनों ही प्रत्यक्ष प्रतिकार के जबरदस्त समर्थक थे और मैं तो केवल उनके पदचिन्हों पर चल रहा हूँ।” प्रत्येक देश के सुकरात जैसे अनेक साधु पुरुषों को तो जहांतक उनके वैयक्तिक जीवन से सम्बन्ध है सत्याग्रही ही कहना चाहिए। लेकिन यहां तक सत्याग्रह एक व्यक्तिगत एवं धार्मिक प्रवृत्ति ही समझी जाती थी। गांधीजी का उदय होने तक आर्थिक, सामाजिक और राजनैतिक क्षेत्र से अन्याय या असहायता को मिटाने के लिए सामाजिक हथियार के रूप में उसको विधिवत चलाने का विचार किसी के भी मन में नहीं आया। “अहिंसा केवल ऋषि मुनियों के लिए ही नहीं है साधारण जनता के लिये भी वह उतनी ही उपयोगी है— यह बात कहने की निर्भयता गांधीजी में थी। मुंशी के कथनानुसार “गांधीजी का जीवन मानो एक ऐसा पाठ है जो सिखाता है कि सामाजिक शक्ति के रूप में सत्याग्रह का किस प्रकार उपयोग किया गया। मर्यादित अथवा आमरण उपवास जैसे अहिंसक प्रतिकार के उच्च स्वरूप का अंगीकार करके उन्होंने अत्यन्त समृद्ध तंत्र निर्माण करने का प्रयत्न किया है। अहिंसक सत्याग्रह को सामाजिक शक्ति का रूप देकर स्वतंत्रता और स्वाधिकार की लड़ाई के लिए उन्होंने नया एवं शक्तिशाली हथियार मानवता को दिया है। गांधी-युग के पहिले हिंसात्मक लड़ाई के अतिरिक्त कोई दूसरा साधन ही नहीं था अथवा हिंसा का आश्रय लिये बिना सामुदायिक रूप से प्रतिकार करने का दूसरा कोई रास्ता खुला नहीं था।”

जब गांधीजी से यह कहा गया कि इतिहास में इस प्रकार के सामुदायिक सत्याग्रह का कोई उदाहरण नहीं मिलता तो उन्होंने कहा कि इस कारण धैर्य छोड़ने की आवश्यकता नहीं है। सन् 1932 के आंदोलन के प्रारंभ में जब गांधीजी बम्बई में थे तब कर्नाटक प्रांत के कार्यकर्ताओं ने उनसे कहा—“इतिहास में अहिंसा से स्वराज्य प्राप्त करने का एक भी उदाहरण नहीं मिलता।” इसपर गांधीजी मुस्कराये और कहने लगे कि हम इतिहास के नये पृष्ठ लिख रहे हैं। इससे यह सिद्ध होता है कि सामुदायिक झगड़ों के लिए सत्याग्रह का आश्रय लेना ही गांधीजी की विशेषता नहीं है बल्कि वे पूरी तरह से यह जानते थे कि उनका मार्ग एकदम नवीन था।

1930 ई. में लंदन के किंग्सवे हाल में अमेरिकन लोगों के लिए गांधीजी ने रेडियो पर जो भाषण दिया वह उल्लेखनीय है। उस समय उन्होंने भारतवर्ष के सत्याग्रह संग्राम का इस प्रकार वर्णन किया था—“आज सारे संसार का ध्यान हमारी लड़ाई की ओर आकर्षित हो गया है इसका कारण यह नहीं है बल्कि यह है कि हमने अपनी आजादी प्राप्त करने के लिए ऐसे रास्ते को अपनाया है जिसे आज तक के ज्ञात इतिहास में किसी ने भी नहीं अपनाया था। रक्तपात, हिंसा या जिसे आजकल राजनीतिज्ञता कहा जाता है उस तरह का दुतरफा व्यवहार करना हमारा ध्येय नहीं है। बल्कि शुद्ध और स्पष्ट रूप में सत्य एवं अहिंसा का अवलम्बन ही हमारा मार्ग है।”

इस प्रकार यह पुरानी धारणा टूटने लगी कि— यह सिद्धान्त केवल अपवादात्मक व्यक्तियों के लिए ही है उसका उपयोग समुदाय की ओर से जीवन के दैनिक प्रश्नों के सम्बन्ध में होने लगा।

गांधीजी के स्वभाव के सम्बन्ध में लिखते हुए रोम्यारोलॉ ने कहा है कि “इस अविराम योद्धा की भांति किसी दूसरे को निष्क्रियता से इतनी जबरदस्त चिढ़ नहीं होगी।” गांधीजी प्रतिकार करने वाले व्यक्तियों के एक अत्यन्त जगमगाते हुए प्रतीक थे। उनके आंदोलन की आत्मा हिंसा के द्वारा व्यक्त होने वाला प्रत्यक्ष प्रतिकार नहीं बल्कि प्रेम, विश्वास और त्याग की कर्मप्रवण शक्ति पर आधारित प्रत्यक्ष प्रतिकार है। उनकी छत्रछाया में किसी भी कायर-भगोड़े व्यक्ति को आश्रय नहीं मिल सकता। उन्होंने कहा कि— कायरता से तो हिंसा ही अच्छी है। ‘यदि कायरता और हिंसा में से किसी को चुनने का मौका आये तो मैं हिंसा को ही चुनने की सलाह दूंगा। मैं दूसरों को न मारकर आत्म-बलिदान का मूक धैर्य प्राप्त करने का प्रयत्न करता हूँ। लेकिन जिसमें यह धैर्य नहीं है उसे संकट के समय भाग जाने का

लज्जास्पद मार्ग अपनाने के बजाय मरने और मारने की सलाह दूंगा। क्योंकि जो भागता है वह मानसिक हिंसा करता है। दूसरों को मारते समय जब उसमें स्वयं मरने की हिम्मत नहीं रहती तो वह भाग जाता है।” गांधीजी कहते थे कि सत्याग्रह और अन्याय बिल्कुल परस्पर विरोधी हैं। इससे प्रतीत होता है कि गांधीजी के मन और प्रवृत्ति में कोई खास बात प्रधान रूप से थी तो वह यह कि जैसे भी हो अन्याय का प्रतिकार अवश्य किया जाय। उनके मतानुसार ‘अन्याय का प्रतिकार मत करो’; इसका अर्थ यह है कि अन्याय का प्रतिकार अन्याय से मत करो बल्कि अन्याय का प्रतिकार सदप्रवृत्ति से करो; लेकिन किसी भी तरह प्रतिकार किये बिना मत रहो। कायरों जैसी निष्क्रियता की अपेक्षा प्रतिकार बहुत अच्छा है।

वे अन्याय और अन्यायी में जो विभेद करते थे तथा अन्याय के साथ वे जो असहयोग करते थे वह दोनों तत्त्व बहुत उपयोगी हैं। फिर यदि रोम्यारोलों के शब्दों में कहें तो “जब कि मानव जाति को ईश्वर ने प्राणियों को पैदा करने की शक्ति नहीं दी है तो उसे जीवित क्षुद्र प्राणियों को मारने का भी अधिकार नहीं हो सकता।” किसी के प्रति प्रत्यक्ष अन्याय करने वाले के प्रति भी द्वेष-भावना नहीं रखनी चाहिए। गांधीजी के शब्दों में “लेकिन उससे असहयोग करके-फिर उसका परिणाम चाहे जो हो-उसका प्रतिकार अवश्य करना चाहिए। और जब वह पश्चाताप-दग्ध हो जाय तक उसे हृदय से लगा लेना चाहिए।”

6. सत्याग्रह का अधिष्ठान—सत्याग्रह जीवन के प्रति एक दृष्टिकोण ही नहीं, अपितु एक आचार धर्म भी है। प्रत्येक परिस्थिति में सत्य, प्रेम अथवा अहिंसा के द्वारा सत्य का ज्ञान, उपासना तथा तदनुरूप आचार इन तीनों बातों का आग्रह ही सत्याग्रह का अधिष्ठान है। सत्याग्रह का अंतिम ध्येय सत्य है। अतः अहिंसा या प्रेम ही उसका एकमात्र साधन है। एक ही सिक्के के ये दो पहलू हैं। सत्य का स्थान पहला है। लेकिन यदि किसी को सत्य का स्पष्ट दर्शन न हो तो वह अहिंसा, प्रेम और कष्ट-सहन का रास्ता अपना ले। इससे वह अंत में सत्य तक अवश्य पहुंच जाएगा।

लेकिन सत्य केवल सब धर्मों, तत्त्वज्ञानों और समस्त बड़ी-बड़ी विभूतियों का ही ध्येय हो ऐसी बात नहीं है। बल्कि नेपोलियन, सिकन्दर या हिटलर जैसे विजेता भी यही कहते हैं कि वे उसी का अवलम्बन कर रहे हैं, जो उन्हें सत्य प्रतीत होता है। फिर सत्याग्रह की क्या विशेषता है? जिसके कारण मनुष्य उसकी ओर खिंच जाता है। वह विशेषता है— प्रेम के द्वारा सत्य। यही मर्म उसका आधारस्तम्भ है। सत्याग्रह का अर्थ है— प्रेम, कष्टसहन और अहिंसा के द्वारा ही सत्य की खोज। यह अहिंसा या प्रेम के द्वारा सत्य तक पहुँचाने का सिद्धान्त है। इस स्थान पर अहिंसा और प्रेम दोनों समान अर्थ रखते हैं। यह भी कह सकते हैं कि क्रियाशील अहिंसा का अर्थ है— प्रेम, और अव्यक्त प्रेम का अर्थ है— अहिंसा। दूसरों का भला हो और उनका भला किया जाय, इस उद्देश्य से सत्याग्रही खुशी-खुशी त्याग करेगा। कम-से-कम प्रारंभ में वह किसी को कष्ट तो नहीं पहुँचायेगा।

गूढ़वाद या रहस्यवाद सत्य के प्रत्यक्ष और स्फूर्तज्ञान पर ही टिका है। केवल बुद्धि द्वारा गृहीत ज्ञान ही नहीं बल्कि आत्मा को प्रतीत हुआ सत्य का अंतःप्रेरित ज्ञान ही उसका आधार है। प्रारंभ में कुछ समय तक वह बुद्धि को जंचता नहीं है पर बाद में बुद्धि को उसका निश्चय हो जाएगा। बुद्धि निश्चित रूप से विवरणात्मक है। नई-नई घटनाओं की छानबीन करने, उनको अलग-अलग करने, उसमें प्रवीणता प्राप्त करने और एक ही मार्ग से जाने में बुद्धि को आनन्द अनुभव होता है। उसे बुद्धि की सहज प्रवृत्ति समझना चाहिए। लेकिन अंतःप्रेरणा समन्वयशील होती है और अविभाज्य एवं सम्पूर्ण रूप से सत्य को ग्रहण करती है। सर्वकाल में सभी देशों के रहस्यवादियों ने आत्मा, ज्ञान और जीवन की एकरूपता का अनुभव किया है। अनन्त से एकरूप होकर होकर उस अनुभूति को प्रत्यक्ष जीवन में उतारना ही उनका सर्वोच्च ध्येय है। इस ऐक्य भावना से सत्याग्रही पूरी तरह सहमत रहता है। सर्वोच्च अनुभव के समय उसे उस एकरूपता की अनुभूति होती है और वह उससे समरस होता है। अपने दैनिक जीवन में उस एकरूपता की अनुभूति करते रहने के लिये उसकी दौड़-धूप निरन्तर चलती रहती है। संसार में पराये जैसा कोई है ही नहीं। प्रेम का अर्थ है— तादात्म्य प्राप्त करना। यह सत्य का महत्त्वपूर्ण गुण-धर्म है। अतः यह कहा जा सकता है कि सबसे एकरूपता अनुभव करना, प्रेम का उपसिद्धान्त है। अल्दुस हक्सले ने कहा है “अहिंसा भूतमात्र की एकता के विश्वास का व्यावहारिक स्वरूप है।” ‘तुम दूसरों से जैसे व्यवहार की अपेक्षा करते हो वैसा ही व्यवहार दूसरों के साथ करो।’ इस प्रकार के वाक्य

मानों ऐक्यपूर्ण जीवन के दिव्य अनुभवों की अस्पष्ट प्रतिध्वनि है। इसीलिए गांधीजी कहते हैं—“सारे जीव पवित्र हैं किसी भी जीव को सताना स्वयं को ही सताने जैसा है—दूसरे शब्दों में ईश्वर को ही सताने जैसा है।”

यह अनुभूति सत्याग्रह की रहस्यवादात्मक बुनियाद है। इससे यह स्वयमेव सिद्ध हुआ कि सत्याग्रही को जो सत्य प्रतीत हुआ है उसका अनुभव वह आचरण द्वारा प्राप्त करने का प्रयत्न करें। जिन-जिन लोगों के साथ काम पड़े उनके साथ पृथक्ता की भावना धीरे-धीरे नष्ट करके एकरूपता अनुभव करने से ही यह बात साधी जा सकेगी। भावना के क्षेत्र में जहां वह सबसे प्रेम करता है, सारे विश्व के साथ एकरूपता अनुभव करता है वहां प्रत्यक्ष व्यवहार में उसका आरम्भ पास-पड़ोसियों से ही होगा। यह प्रेम की प्रवृत्ति है। प्रेम अपना सर्वस्व दान करने की, उनके लिए आत्मबलिदान करने की, स्फूर्ति देता है। दुखाना, सताना, तिरस्कार, क्रोध और इन सबसे भी बढ़कर अर्थात् इनकी कारणभूत स्वार्थी इच्छा के लिए प्रेम-राज्य में स्थान नहीं है। सत्याग्रही का जीवन सबका भला करने की अखण्ड प्रवृत्ति है। यदि उसके मार्ग में कठिनाइयां आए तो आवश्यकता पड़ने पर वह कष्टसहन का और आत्यन्तिक त्याग की मांग पसंद करता है। या तो वह प्रतिगामी शक्तियों को बदल देने या झुका देने में सफल होता है या प्रयत्न करते करते मृत्यु का आलिङ्गन कर लेता है। दोनों ही प्रकारों से जीव के एकतारूपी सत्य का समान रूप से समर्थन होता है। अतः दोनों में से कोई भी परिणाम निकलने पर वह उसमें अपनी विजय ही मानता है।

यदि सत्यानुभूति के लिए रहस्यवाद का जोर अंतःप्रेरणा पर है तो तत्त्वज्ञान का आधार बुद्धि और तर्कशास्त्र पर होता है। यदि तादात्म्य और चिन्तन में रहस्यज्ञान प्राप्त होता है तो दार्शनिक ज्ञान निरीक्षण, तर्क और अनुमान की पद्धति से प्राप्त होता है। एक ही चित्शक्ति सारे विश्व में व्याप्त है। भिन्न-भिन्न दिखाई देने वाली वस्तुओं के मूल में भी वही शक्ति निवास करती है। तत्त्वज्ञ लोग इस निर्णय पर पहुंच गये हैं और वैज्ञानिक लोग जड़ वस्तुओं के सम्बन्ध में भी इसी सिद्धान्त को मानने लगे हैं। यद्यपि देखने वाले को सृष्टि में भिन्नता दिखाई देती है तो भी इस भिन्नता के मूल में एकता ही है। भिन्नता भ्रम नहीं, सापेक्ष सत्य है। ज्ञान की ऊंची सीढ़ी पर इससे भी ज्यादा श्रेष्ठ सत्य निवास करता है और यह चुनाव करना हमारा काम है कि क्या हमें भिन्नता और पृथक्ता की सतह पर रहना है या ऐक्य और एकरूपता की सतह पर। पहला मार्ग पृथक्ता, एकाकीपन, अहंभाव, झगड़ा, तिरस्कार और विनाश की ओर ले जाता है—दूसरा मार्ग, एकरूपता, प्रेम, त्याग, आनन्द, ऐक्य, श्रेष्ठज्ञान, एकात्म जीवन और तदन्तर्गत दिव्यता की ओर ले जाता है। यह संभव है कि जबतक हमारा शरीर है और हम उसका भान है तबतक मुझे आत्मा की एकता की पूर्ण प्रतीति नहीं होगी। लेकिन पृथक्ता के अपेक्षा एकरूपता के, लड़ाई की अपेक्षा मेल-मिलाप के ओर द्वेष की अपेक्षा प्रेम के रास्ते पर मैं विश्वासपूर्वक अपने कदम मोड़ सकूंगा। मनुष्य इतना ही कर सकता है और यदि वह ऐसा नहीं करेगा तो वह अपने रास्ते का खतरा बचा नहीं सकेगा।

जो मार्ग हमें एकता के सर्वोच्च शिखर तक ले जाता हो वह सर्वदा सर्व हितकारी है। वहां दूसरी ओर उसकी बिलकुल विरुद्ध दिशा में जाने वाला मार्ग अहित का—अकल्याण की है। अतः हमें स्वभावतः सत्पथ का अवलम्बन करना चाहिए और कुपथ छोड़ना चाहिए। नीतिशास्त्र, सत्याग्रह और सत्याग्रही के दृष्टिकोण का सदैव ही पृष्ठपोषण करता है। व्यक्ति के लिए अलग तथा समूह और राष्ट्र के अलग— इस प्रकार रूढ़ व दुतरफे नैतिक मूल्यों के कारण ही कूटकपट, देशभक्ति के नाम पर हत्या, षडयंत्र और द्वन्द्व-फन्द को सद्गुण का महत्त्व प्राप्त होता है। सत्याग्रह को नीतिशास्त्र का दोहरापन मंजूर नहीं है इसीलिए उसका नैतिक आधार बहुत मजबूत है। प्रेम तथा सत्य से बढ़कर उत्तम अधिष्ठान कौनसा हो सकता है? इसी कारण यदि उससे किसी राष्ट्र के व्यक्ति या कुटुम्ब का हितसाधन होता हो तो वह सम्पूर्ण संसार तथा मनुष्यों के पारस्परिक सम्बन्धों के लिए भी हितकर होना ही चाहिए। लेकिन आज वस्तुस्थिति ऐसी नहीं दिखाई देती तो यह हमारी दुर्बलता और मूर्खता का परिणाम है।

संसार में नैतिकता की दिशा में होने वाली मानव प्रगति का सिंहावलोकन करते हुए गांधीजी ने कहा था—“जहांतक का इतिहास हमें ज्ञात है तबसे आज तक के काल पर यदि हम नजर डालें तो हमें मालूम होगा कि मानव जाति ने शनैःशनैः अहिंसा की ओर प्रगति की है। हमारे प्राचीन पूर्वज नरमांसभक्षी थे। बाद में एक ऐसा समय आया कि उन्हें नरमांस से घृणा हुई और वे पशु-पक्षी के शिकार द्वारा

निर्वाह करने लगे। इसके बाद की अवस्था में मनुष्य अपने भटकैये शिकारी जीवन से शर्मने लगा। तब उसने अपना ध्यान खेती में लगाया और अपनी खाद्य-सामग्री के लिए पृथ्वी पर अवलम्बित रहने लगा। इस प्रकार खानाबदोषी जीवन छोड़कर मनुष्य ग्रामों और शहरों पर आधारित सुसंस्कृत और स्थिर जीवन व्यतीत करने लगा और जो एक कुटुम्ब की इकाई था वह एक समूह और राष्ट्र की इकाई बन गया। यह सब प्रगतिशील अहिंसा एवं अस्ताचलगामी अहिंसा के नमूने हैं। लेकिन यदि इससे उल्टी बात होती तो जिस प्रकार अनेक निम्न प्राणियों की जातियां नष्ट हो गईं उसी प्रकार मानव-जाति भी नष्ट हो गई होती।”

मानव जाति का विकास हिंसा और विनाश का अनुसरण करने से नहीं हुआ है बल्कि इसके विपरीत आज मानवी विकास ने जो प्रगति तेजी से की है वह हिंसा और विनाश को यथासंभव टालकर या उनसे दूर रहकर ही की है। सुरक्षा, सहकारिता और पारस्परिक सहायता के ये सूत्र समाज के गृहीत कार्य हैं। संसार में अनेक भयंकर युद्ध हो चुके हैं और दुर्भाग्य से आगे भी बहुत-सी लड़ाइयां अनिवार्य दिखाई देती हैं लेकिन मानव-प्रगति इन युद्धों से नहीं हुई है। जो लोग युद्धों का समर्थन करते हैं वे भी केवल इस गलत धारणा से कि युद्ध से वीरोचित गुणों का विकास होता है। बहुत-से लोग युद्ध को एक अटल-अनिवार्य दुष्कर्म मानकर अनिच्छा से उसका अवलम्बन करते हैं। यदि अहिंसक मार्ग की कार्यक्षमता का उन्हें कोई विश्वास करा दे तो वे सबसे पहिले उस हिंसा-मार्ग को छोड़े देंगे। परिवार ही स्वभावतः मानव-समाज का घटक या इकाई होनी चाहिए और अहिंसा, प्रेम, पारस्परिक स्नेह, ममत्व एवं आदर की नींव पर ही उसकी रचना होनी चाहिए। शारीरिक शक्ति पर आधारित अनियंत्रित सत्ता से प्रारम्भ होकर न्याय तथा पारस्परिक आवश्यकता पर स्थित सम्पूर्ण समता में ही पारिवारिक जीवन का विकास हुआ है। इस प्रकार हिंसा की स्थिति से अहिंसा और प्रेम का विकास दिखाया जाता है। कानून, न्यायालय, समाज-संगठन तथा पागल और अपराधी के प्रति जो व्यवहार बदल रहा है वह अहिंसा और प्रेम के सिद्धान्त को मिलने वाली उत्तरोत्तर मान्यता का ही सूचक है। आज अपराधियों के साथ घृणा और तुच्छता का व्यवहार नहीं किया जाता। यह बात अब सर्वमान्य हो चुकी है कि सहृदयता और दयापूर्ण व्यवहार के द्वारा ही पागल और अपराधियों को सुधारा जा सकता है। बच्चों के प्रति व्यवहार में भी काफी परिवर्तन आया है। ये सारे परिवर्तन यही सिद्ध करते हैं कि हम अहिंसा के द्वारा ही अपना विकास कर रहे हैं और हिंसा, घृणा तथा जुल्म के मार्ग को निश्चित रूप से त्याग रहे हैं।

विभिन्न राष्ट्रों या राष्ट्रसमूहों के आर्थिक, सामाजिक और राजनैतिक सम्बन्धों के बारे में इस आशामय मार्ग की शक्यता-अशक्यता को अपनाने का अवसर आ गया है। यदि सामंजस्य और न्याय में हमारा विश्वास हो तो हमारे लिए इसके अलावा दूसरा मार्ग नहीं है। पाशविक शक्ति का अर्थ न्याय नहीं है। न्यायालय की परवाह न करने वाली पाशविक शक्ति को निष्प्रभावी कर देने वाले संगठन के बनाने का उत्तरदायित्व उन्हीं पर आ पड़ता है जो यह अनुभव करते हैं कि न्याय की विजय होनी चाहिए। ‘जिसकी लाठी उसकी भैंस’ ही यदि संसार का नियम बन जाए तो समझ लेना चाहिए कि समझदारी, न्याय, मनुष्यता तथा अन्य महान् सिद्धान्तों तथा स्थित नैतिक नियमों पर अंतिम परदा गिर जायगा। फिर वे सिद्धान्त केवल मृगमरीचिका या कविकल्पना ही रह जायेंगे। शक्ति या सामर्थ्य की तात्कालिक विजय से सत्याग्रही निराश नहीं होता। सत्याग्रह का विश्वास है कि मनुष्य का विकास प्रेम और अहिंसा पर ही अवलम्बित रहता है। सत्याग्रही मानता है कि बाहुबल के द्वारा नहीं बल्कि अपने अंगभूत नैतिक बल, प्रेम तथा कष्टसहन के साधनों के द्वारा ही अंत में न्याय की विजय होनी चाहिए। यह स्पष्ट है कि शांति और सुख की दिशा से ही मनुष्य का विकास हो रहा है। सत्याग्रह की प्रकृति विधायक है। अतः मानवीय प्रगति के मार्ग में अज्ञान, आलस्य, भीरुता, स्वामित्व की भावना, आक्रमण और शोषण की प्रवृत्ति, महत्वाकांक्षा, लालसा, सत्तालोभ तथा अन्य दूसरी कठिनाइयां दूर करने के लिए सत्याग्रह अविरत परिश्रम करता रहता है। मानवता को उच्च कोटि की एकरसता, श्रेष्ठ प्रकार की शांति और स्वर्गीय सुख की ओर ले जाने वाले विकास की नैसर्गिक प्रेरणा की एक अविभाज्य इकाई के रूप में ही सत्याग्रह का कार्य है।

मानवीय मन के सूक्ष्म अध्ययन तथा उसकी नैसर्गिक प्रवृत्ति व प्रेरणा के अवलोकन पर ही सत्याग्रह की रचना हुई है। इस प्रकार सत्याग्रह को एक मनोवैज्ञानिक अधिष्ठान भी प्राप्त हो गया है। शांतिकाल में शांति, ज्ञान और सुख के विकास व प्रगति के लिए आवश्यक स्नेह और वात्सल्यपूर्ण शक्ति के नाते सत्याग्रह का कार्य गतिशील रहता है। सत्य उसका आधार और प्रेम, स्फूर्ति-निधान है। लेकिन

विरोधी शक्ति से झगड़ा होने पर सत्याग्रह अपने ऐसे विशिष्ट मार्ग व रीति-नीतियों का अवलम्बन करता है जो हिंसा-मार्ग के लिए अपरिचित है। सत्याग्रह-संग्राम और फौजी युद्ध-तंत्र की विस्तृत तुलना रिचर्ड ग्रेग की 'पावर ऑफ नान वायलेन्स' नामक पुस्तक में की गई है।

ऊपर शांतिकालीन और युद्धकालीन सत्याग्रहों का उल्लेख किया गया है। सत्य का उपासक होने के कारण सत्याग्रही अपने जीवन का प्रत्येक क्षण में सत्य की खोज में करता है और प्रेममय जीवन होने के कारण वह दूसरों का हित करने में मग्न रहता है। यह सब करना मानो उसका स्वभाव धर्म ही हो जाता है। वह नहीं मानता कि ऐसा करते हुए वह कोई विशेष बात करता है या उदारता दिखला रहा है। वह विनम्र परोपकारी और मिलनसार होता है और वह जिस समाज में रहता है तथा जिनके साथ उसका सम्बन्ध होता है उनके हित के लिए सदैव प्रयत्नशील रहता है। वह सत्तालोभ से दूर रहता है। उसे दूसरों पर शासन करने की इच्छा नहीं होती, तथा अपने पर उसका पूरा शासन व नियंत्रण होता है। वह जिन लोगों में रहता है, उनपर, उसके आचार-विचार का प्रभाव रहता है और इससे उनका हित करने की उसकी शक्ति बढ़ती रहती है। वह लोगों के हृदय को स्पर्श करता है और उनके साथ उसके सम्बन्ध बड़े घनिष्ठ होते हैं। जहां-जहां विरोध उत्पन्न होता है वहां-वहां वह कष्टसहन और त्याग के द्वारा उसे मिटाने का प्रयत्न करता है। इस कारण उसका आसपास के लोगों पर स्थायी प्रभाव रहता है और उसे दूसरों को कष्ट देने की जरूरत नहीं होती। इस प्रकार वह उत्तरोत्तर समाज का अत्यन्त उपयुक्त सुधार करने वाला घटक बन जाता है।

जिस समय सत्याग्रही लड़ाई के मैदान में उतरता है तब सबसे पहले वह इस बात का विश्वास कर लेता है कि उसका कहना सत्य और नीतिसंगत है। पहले जनमत तैयार करके बाद में प्रतिपक्षी को चुनौती देता है। वह कभी अपने को कमजोर नहीं समझता। स्वयं कष्टसहन करता है परन्तु विरोधी को किसी भी प्रकार की हानि पहुंचाने की बात मन में नहीं लाता और इस तरह विरोधी पक्ष को कमजोर कर देता है। उसके द्वारा आविष्कृत विरोध की इस नई पद्धति से शत्रु चकित हो जाता है। यह देखकर कि सत्याग्रही थोड़ा भी प्रतिकार नहीं करता, विरोधी का बल कमजोर हो जाता है। अहिंसक लड़ाई में साहस, वीरता और रोमांचकता के लिए काफी अवकाश है। उदाहरणार्थ, आमरण अनशन के समय असीम शौर्य की आवश्यकता है। उसका सारा प्रयत्न विरोधी की हिंसक शक्ति को निरस्तेज करके उसका नैतिक तेज मंद करने के लिए ही होता है। इस प्रकार विरोधी को विश्वास हो जाता है कि उसकी शारीरिक शक्ति बेकार सिद्ध हो गई है और उसकी नैतिक भित्ति भी खिसक गई है। यह स्पष्ट है कि सत्याग्रही किसी भी अनैतिक उद्देश्य के लिए उदाहरणार्थ किसी राष्ट्र की स्वतंत्रता का अपहरण करने के लिए अपने या स्वार्थ के लिए कभी नहीं लड़ सकता। इससे सिद्ध होता है कि सत्याग्रही की कल्पना मानवीय मन की क्रिया और प्रतिक्रियाओं का विचार करके ही की गई है। सत्याग्रह शत्रु की नैतिक नींव कमजोर करता है, उसका मान-सम्मान कम करता है और उसे अनुभव करा देता है कि वह अपने शत्रु के सामने निस्सहाय है। दूसरी ओर वह अपना नैतिक अधिष्ठान मजबूत बनाता है। वह पराजय-वृत्ति को आश्रय नहीं देता, अत्यन्त उच्च गुण और समशीलता प्रदर्शित करता है और अपनी विजय एवं नैतिक श्रेष्ठता के लिए सदैव निःशंक रहता है।

किसी भी सिद्धान्त का महत्व उसके आचरण से आंका जाता है। यदि सिद्धान्त निष्क्रिय है तो वह व्यर्थ है। अल्डुस हक्सले ने कहा है कि अहिंसा की व्यावहारिकता सिद्ध होनी चाहिए। अपनी 'एन्ड्स एन्ड मीन्स' पुस्तक में सामूहिक रूप में किये गये भिन्न-भिन्न प्रकार के अहिंसक कृत्यों का वर्णन करते हुए उन्होंने लिखा—“अहिंसा अक्सर अव्यवहारिक या ज्यादा-से-ज्यादा हुआ तो अपवादात्मक लोगों का ही मार्ग माना जाता है।” अतः यह बताना आवश्यक हो गया है कि यद्यपि अहिंसापद्धति यद्यपि अव्यवस्थित व अनियमितता से काम में लाई गई है तथापि वह कार्यक्षम और फलदायी सिद्ध हुई है। आरम्भ से भले ही वह पद्धति अव्यवहारिक मानी गई, तो भी गांधीजी के तथा दूसरे लोगों के सत्याग्रह के प्रयोगों के द्वारा उसकी व्यावहारिकता सिद्ध हो गई है। सी.ई.एम. जोड ने लिखा— गांधीजी नैतिक क्षेत्र में एक असाधारण विभूति हैं और आगामी पीढ़ी का मार्गदर्शन कर रहे हैं। लड़ाई-झगड़े मिटाने के लिए उन्होंने ऐसा रास्ता दिखाया है जो हिंसा-मार्गों को पीछे डाल देगा। इतना ही नहीं जबकि मानव-विनाश के साधन बढ़ रहे हैं, अपनी संस्कृति की रक्षा करने का एकमात्र वही मार्ग कारगर हो सकेगा। अल्डुस हक्सले ने यह दिखा दिया है कि पुलिस के अत्यन्त प्रभावी संगठन से सुसज्जित

सरकार के मुकाबले यदि साधारण जनता को अपनी स्वतंत्रता की रक्षा करना हो तो उसके लिए अहिंसक प्रतिकार के अतिरिक्त दूसरा मार्ग नहीं है।

7. सत्याग्रह के विविध स्वरूप

प्रतिस्पर्धी को किसी भी प्रकार का कष्ट और हानि पहुंचाने देने का विचार तक मन में न लाने का निश्चय अहिंसक प्रतिकार का सार है। साधारणतः सारी धन-सम्पत्ति के सम्बन्ध में यही कहा जा सकता है, लेकिन यदि धन-सम्पत्ति सम्पूर्णतः समाज के लिए घातक हो तो इस नियम में अपवाद करना पड़ेगा। 'कांग्रेस रिस्पान्सिबिलिटी नामक पुस्तिका (175-43) का उत्तर देते हुए गांधीजी परिच्छेद 63 में कहते हैं—“हिन्दुस्तान में ब्रिटिश साम्राज्य के शासन की बागडोर संभालने वाले व्यक्ति अथवा उनकी सम्पत्ति को धक्का पहुंचाने के विचार से बढ़कर कोई दूसरी बात मेरी विचारधारा से दूर रही है। व्यक्ति तथा उसके द्वारा तैयार किये हुए यंत्र या बनाई हुई पद्धति में, मेरी अहिंसा मूलतः विभेद करती है। किसी भी तरह खटका मन में न लाते हुए खतरनाक यंत्र को निःशंक होकर नष्ट करूंगा। लेकिन मैं कभी भी व्यक्ति को हाथ नहीं लगाऊंगा। विरोधी को—खासकर उसे मुसीबत में देखकर—मुसीबत में न डालना प्रेम-तत्त्व का उपसिद्धान्त है। कष्टसहन और आत्मशुद्धि सत्याग्रह में अंतर्भूत है। अतः सत्याग्रह जो स्वरूप धारण करेगा उसके आधार कष्टसहन, शुद्धि, तपस्या, सेवा और त्याग ही होंगे। इसलिए सत्याग्रही से यह आशा की जाती है कि उसे अन्याय से असहयोग करना चाहिए। उसका दावा यह होता है कि उसका पक्ष समझदारी का है। इसलिए उसे शांति से विरोधी की बुद्धि को जाग्रत करने का अधिकार भी प्राप्त होता है। ऐसा करते हुए उसे कष्ट सहन करने की तैयारी रखनी चाहिए। स्वाभिमान, न्याय और विवेक का विरोध करने वाले नियमों को तोड़ने के लिए वह बाध्य है। सत्याग्रह का अर्थ है—अहिंसक प्रत्यक्ष प्रतिकार।”

किसी जगह पर जाने अथवा नमक जैसी वस्तु पर, जिसका कर नहीं दिया गया है, अपने अधिकार की रक्षा करते हुए उसके परिणाम भोगने की तैयारी करके, शांतिमय प्रत्यक्ष प्रतिकार अंगीकार करने के लिए सत्याग्रही स्वतंत्र रहता है। यदि सत्याग्रही के लिए अपना स्वाभिमान बनाये रखना अशक्य हो जाय तो उसे देश छोड़ देना चाहिए। लेकिन उसे डर से एक क्षण के लिए भी भाग नहीं जाना चाहिए। सत्याग्रही के लिए आमरण अनशन का रास्ता भी खुला रहता है। ऐसा कह सकते हैं कि वह सत्याग्रही के शस्त्रागार में ब्रह्मास्त्र है। रचनात्मक कार्य, सभा, जुलूस, हड़ताल, आत्मशुद्धि के लिए उपवास, सामूहिक प्रार्थना, करबंदी सहित असहयोग, बहिष्कार, निरोधन, सविनय अवज्ञा, शांतिमय व्यूह या मोर्चा, हिजरत अथवा देशत्याग और आमरण अनशन सत्याग्रह के कुछ सर्वमान्य स्वरूप हैं।

सत्याग्रह के तीन विधाय, विषयक तथा आक्रामक—ये तीन स्वरूप बताए जा सकते हैं। रचनात्मक कार्यक्रम सहित सभी प्रकार के रचनात्मक कार्य सत्याग्रह का विधायक स्वरूप है। जब सत्याग्रह संगठन और तैयारी की अवस्था में होता है तब उसका रूप इस प्रकार का रहता है और उस समय प्रेम, स्वार्थरहित सेवा और त्याग का स्वरूप धारण करता है। हड़ताल, उपवास, प्रार्थना तथा इसी प्रकार के अन्य त्यागपूर्ण स्वरूपों का परिणाम आत्मशुद्धि में होता है। अन्याय से दुःखी होकर सहयोग बंद करना भी एक प्रकार की आत्मशुद्धि ही है। सत्याग्रह के इन स्वरूपों का आचरण करने पर सत्याग्रही को अगला कदम उठाने का अधिकार प्राप्त होता है। जिस समय सत्याग्रही जान-बूझकर किसी कानून को भंग करने के लिए प्रत्यक्ष कृति के द्वारा अन्याय पर हमला करने लगता है तब उसे सत्याग्रह का आक्रमक स्वरूप कहा जाता है। इसके फलस्वरूप वह दमन और कष्टसहन को निमंत्रण देता है। इतना ही नहीं अन्याय का अंत करने के प्रयत्न में वह मरने तक के लिए तैयार रहता है।

सत्याग्रह का स्वरूप स्पष्ट करने के लिए उसके कुछ भेद ऊपर वर्णित किए गए हैं। हड़ताल से लेकर आमरण अनशन तक के सत्याग्रह के प्रकारों का वर्णन निम्नतः है—

- हड़ताल का अर्थ है— साधारणतः चौबीस घंटे तक सारे कामकाज बंद रखना।
- उपवास साधारणतः चौबीस घंटे का ही होता है। उपवास का समय आत्म-निरीक्षण और चिंतन में ही बिताया जाता है।
- प्रार्थना का अर्थ है— आत्मशुद्धि और बलिदान के लिए उच्च आध्यात्मिक शक्ति की पुकार।

- प्रतिज्ञा का अर्थ है— वह गंभीर घोषणा जो कोई व्यक्ति किसी विशेष बात को करने या न करने के लिए ईश्वर या सत्य को साक्षी रखकर करता है।
- असहयोग का अर्थ है— दुःखी होकर अन्याय से सहयोग न करना; उदाहरणार्थ, यदि कोई सरकार पूरी तरह अन्यायी हो तो उसे किसी भी प्रकार का शारीरिक और नैतिक बल न देना। यदि सरकार कोई अन्यायपूर्ण काम करे तो उसके उस काम में मदद न देना। अन्याय से असहयोग करते हुए जो लोग असहयोग करेंगे उनसे परस्पर सहकार्य की अपेक्षा रखी जाती है।
- करबंदी, असहयोग की अंतिम सीढ़ी है। यदि वैधानिक भाषा में कहें तो साधारण सभा में मतदान के द्वारा नहीं बल्कि प्रत्यक्षतः सरकारी कर देने से इंकार करना ही करबंदी है। उदाहरण के लिए जब जान हॅमडन ने चार्ल्स प्रथम को नौका-कर देने से इंकार कर दिया था। सन् 1776 में स्वातंत्र्य-संग्राम के समय अमेरिकन लोगों ने जो यह घोषणा की थी कि 'यदि प्रतिनिधि नहीं हो कर भी नहीं' उसमें भी यही तत्त्व निहित था। यहां असहयोग करने वाला अपनी स्वयं की इच्छा से सरकारी कर देने से इंकार करता है और उसका फल भोगने के लिए तैयार रहता है।
- निरोधन या धरना देने का अर्थ है— किसी बात को करने या न करने के लिए किया हुआ शांतिपूर्ण सविनय अनुरोध। उदाहरणार्थ, मद्यनिषेध के संदर्भ में इसका अर्थ है दूकान के पास बैठकर या खड़े होकर शराब वालों से उसे न लेने का अनुरोध करना।
- सविनय अवज्ञा या सविनय प्रतिकार को यदि हमें 'सविनय' कहना है तो वह पूरी तरह अहिंसक होना चाहिये। उसमें किसी भी प्रकार की दुर्भावना न रहनी चाहिये। सविनय अवज्ञा का अर्थ है— किसी विशेष कानून की प्रकट एवं अहिंसक अवज्ञा। यदि किसी नए भदे कानून का प्रतिकार करना पड़ा तो उसे रक्षात्मक सविनय अवज्ञा कहेंगे। लेकिन यदि अहिंसक प्रतिकार के समय स्थापित सरकार के विरुद्ध किये जाने वाले विद्रोह के प्रतीक के रूप में किन्हीं कानूनों का भंग किया जाए तो उसे आक्रामक सविनय अवज्ञा कहेंगे।
- अहिंसक धावे या मोर्चे सविनय प्रतिकार के ही प्रकार हैं। वे सन् 1930 में नमक के कारखानों पर अथवा 1942 में कोताई व तामलुक जैसे पुलिस थानों पर किए गए थे। वे पूरी तरह अहिंसक और खुले होने चाहिए।
- हिजरत का अर्थ है— अपनी इच्छा से सरकारी पद छोड़ना। अपने सब हितसम्बन्धों को छोड़कर सरकारी सीमा में से निकल जाना।
- आमरण अनशन का अर्थ है— स्वेच्छा से मृत्युपर्यन्त अन्न छोड़ देना। आमरण अनशन कभी भी बिना शर्त नहीं होता, वह सशर्त ही होना चाहिये, नहीं तो उसे आत्महत्या कहा जायगा। कभी यों ही उसका अवलम्बन नहीं करना चाहिए। उसमें थोड़ी-सी भी जबरदस्ती नहीं होनी चाहिए। जबरदस्ती दूसरों का मत बदलने के लिए य अपने खुद के विचार दूसरों पर लादने के लिए कभी भी उसका उपयोग नहीं करना चाहिए। अंतिम शस्त्र मानकर ही उसका प्रयोग करना चाहिए और उसका अवलम्बन करने के पहले जीवन बिलकुल असह्य हो जाना चाहिए। आमरण अनशन आत्मशुद्धि के लिए किये हुए उपवासों से भिन्न होता है।

8. हिन्दुस्तान में सामूहिक सत्याग्रह

एक व्यक्ति, दल अथवा समूह, सत्याग्रह करता है। जब सत्याग्रह के साथ सामूहिक शब्द जोड़ दिया जाता है तब उसका अर्थ होता है प्रत्यक्ष लड़ाई कर सकने वाले या न कर सकने वाले स्त्री, बच्चे आदि सभी लोगों का समूह। करबंदी की मुहीम को हम सामूहिक सत्याग्रह का उदाहरण कह सकते हैं। क्योंकि यदि करबंदी के क्षेत्र से हम उन लोगों को छोड़ दें जो कर नहीं देते तो बाकी सारे लोग उसमें आ जाते हैं। दक्षिण अफ्रीका की लड़ाई भी सामूहिक सत्याग्रह ही थी क्योंकि वहां के सारे हिन्दुस्तानी लोग उसमें सम्मिलित हुए थे।

यह प्रश्न करना बिलकुल निरर्थक है कि आज का अशिक्षित और असंगठित जनसमूह इतने कठिन नैतिक हथियार का उपयोग कर सकेगा या नहीं। यह बात तो अब सर्वविदित और इतिहासमान्य हो चुकी है। छोटे-से समूह के द्वारा और छोटे-से निश्चित क्षेत्र में ही नहीं बल्कि सारे राष्ट्र के प्रचण्ड जनसमूह के द्वारा भी उसका प्रयोग करना और बहुधा सफल कर दिखाना संभव है। यहां प्रयोग का मतलब दक्षिण अफ्रीका, बारडोली, सिद्दापुर, कोताई और तामलुक के सीमित तथा हिन्दुस्तान के

राष्ट्रव्यापी सत्याग्रह से है। इसके अलावा संसार में कहां की जनता हिन्दुस्तान की जनता के बराबर दरिद्र, अशक्त, अशिक्षित और आधापेट भूखी रहने वाली तथा दीनहीन और लाचार है? रीतिरिवाज, पहनावा, भाषा, धर्म और उपासना में यहां के 40 करोड़ लोगों में जितनी भिन्नता है क्या उतनी संसार के किसी भी एक देश में दिखाई देगी? और फिर भी विगत 25 वर्षों में हिन्दुस्तान में भिन्न-भिन्न मौकों पर सामूहिक सत्याग्रह हुए हैं। इस शस्त्र का प्रयोग अभूतपूर्व पैमाने पर करके देख लिया गया है। प्रत्येक बार गांधीजी ही लड़ाई के प्रणेता रहे हैं और प्रत्येक समय हृदयहीन विदेशी नौकरशाही से ही लड़ाई लड़नी पड़ी थी। यद्यपि आज भी सामुदायिक सत्याग्रह के द्वारा बहुत बड़ा काम हुआ है तथापि भविष्यकाल में इससे भी अधिक अच्छे संगठन एवं महत्तर विजय प्राप्त करने के लिए अभी बहुत गुंजाइश है।

जिस समय गांधीजी ने हिन्दुस्तान को एक शस्त्र के रूप में सत्याग्रह का साधन बताया उस समय उन्होंने कहा कि वह सशस्त्र विद्रोह का ही दूसरा नाम है। सविनय प्रतिकार वाले पहलू पर जोर देकर ही उन्होंने उसे देश के सामने रखने की हिम्मत की थी। लेकिन अभी देश की इतनी तैयारी नहीं हुई थी कि वह अहिंसा के ध्येय के रूप में स्वीकार ले। नीति अथवा तात्कालिक ध्येय के रूप में ही देश ने सत्याग्रह को अंगीकार किया था। इस सम्बन्ध में गांधीजी ने 7.5.31 के यंग इंडिया में लिखा है—“यद्यपि हमारी अहिंसा का खूब प्रचार हुआ है और हमारे उद्देश्यों की दृष्टि से वह वांछनीय है तो भी उसे सशस्त्र की अथवा जानकार की अहिंसा नहीं कह सकते। जीवित निष्ठा से उसका उद्गम नहीं हुआ। फिर 1940 में 20.4.40 के हरिजन में उन्होंने लिखा कि हम हिन्दुस्तानियों ने अहिंसा को आवश्यक मौका कभी नहीं दिया; फिर भी आश्चर्य की बात तो यह है कि अपनी अधकचरी सफलता से हमने अहिंसा की इतनी मंजिल तय कर ली है।” आचार्य कृपलानी ने कहा इस सबका इतना ही अर्थ होता है कि भारतीय राष्ट्र के लिए कांग्रेस ने जिस सत्याग्रह का अवलम्बन किया है वह आध्यात्मिक मुक्ति या आत्मानुभूति का साधन नहीं है। वह तो राजनैतिक एवं आर्थिक अन्याय को दूर करने के लिए अहिंसक तरीके का प्रत्यक्ष प्रतिकार है। यहां व्यावहारिकता की दृष्टि से राजनीति में हिंसा त्याज्य मानी जाती है।

6 अप्रैल सन् 1919 को हिन्दुस्तान में राष्ट्रव्यापी पैमाने पर सत्याग्रह प्रारम्भ हुआ। यदि स्थानीय प्रश्न को लेकर किये हुए छोटे-छोटे सत्याग्रह छोड़ दें तो विगत 25 वर्षों में कांग्रेस ने 6 अखिल भारतीय स्वरूप के सत्याग्रह किये। कुल मिलाकर सारे आंदोलन का समय 6 वर्ष 8 माह 2 दिन होता है। कई आंदोलन सामूहिक थे और उनमें लाखों स्त्री-पुरुषों तथा बच्चों ने भाग लिया था तथा अत्यन्त कठिन समय में भी अहिंसा के अनुशासन का पालन किया गया और हजारों लोगों ने कष्टसहन किया था। पुलिस एवं फौज ने पाशवी अत्याचारों ने हद पार कर दी थी; क्योंकि उनके शस्त्रागार में यही एक हथियार सदा तैयार रहता है। शांतिपूर्ण जुलूस को रोककर पुलिस उसके आसपास घेरा डाल देती और लाठीचार्ज से उसे तितरबितर कर देती। ऐसे प्रत्येक लाठीचार्ज में कई बार सैकड़ों लोग हताहत हुए और इतने पर भी 100 में 99 अवसरों पर लोगों के मन में बदला लेने की कल्पना तक नहीं आई। कुछ थोड़ी-सी जगह जनता द्वारा हिंसक कार्य भी हुए हैं; लेकिन वहां के कार्यकर्ताओं और नेताओं को अपने उत्तरदायित्व का ज्ञान था और यह हिंसाकाण्ड किसी पूर्वनियोजित कार्यक्रम के अनुसार नहीं हुआ था। अत्यन्त प्रक्षोभ एवं सरकार के अत्यन्त रोषोत्पादक कृत्यों के कारण कहीं-कहीं भीड़ द्वारा हिंसात्मक कार्य हो गये। लेकिन प्रत्येक समय नेताओं ने उसकी निन्दा की और जल्दी ही स्थिति को काबू में करने और उस घटना की पुनरावृत्ति न होने देने के लिए ज्यादा-से-ज्यादा सतर्कता दिखाई। लेकिन जनता के द्वारा होने वाले हिंसाकाण्डों की उपेक्षा करना या उनको ज्यादा महत्त्व देना सत्याग्रह का उद्देश्य नहीं है। सत्याग्रही तो तुरन्त हिंसा के कारणों का निरीक्षण करके उन्हें दूर करने का और लोगों को अहिंसा की शिक्षा देने का प्रयत्न करेगा। सन् 1919 और सन् 1922 में कुछ गंभीर हिंसाकाण्ड हो जाने पर गांधीजी ने आंदोलन को स्थगित कर दिया। लेकिन इसके साथ ही उन्होंने जोर देकर यह भी कहा कि इस हिंसा के लिए सत्याग्रह उत्तरदायी नहीं है। उल्टे सत्याग्रह से जनता की हिंसाभावना पर पाबंदी लगाने में सहायता मिलती है। यदि देश में सत्याग्रह का वातावरण न होता तो खास तौर पर और न जाने कितनी हिंसा होती। गांधीजी इस बात को पहिले से ही अच्छी तरह जानते हैं कि हिंसा पूर्णतः अहितकर है। अतः चाहे वह अपने पक्ष वालों की ओर से हो चाहे विपक्षियों की ओर से हो हमें उसपर नियंत्रण रखना ही चाहिये। वे बार-बार शारीरिक सामर्थ्य की अपेक्षा नैतिक सामर्थ्य, हिंसा के बजाय समझदारी,

द्वेष और क्रोध के बजाय प्रेम, रणक्षेत्र के बजाय चर्चा और तलवार के बजाय कलम व वाणी का प्रयोग करने की सलाह देते हैं।

शांतिपूर्ण साधनों में सत्याग्रह सबसे अंतिम किन्तु शक्तिशाली साधन है। सारे वैध आंदोलन जैसे उपाय कर लेने के बाद ही सत्याग्रह अंगीकार किया जाता है। उसका स्थान हिंसापूर्ण प्रत्यक्ष प्रतिकार के बराबर ही है। नेताओं को प्रतिकार के और संग्राम के मार्ग का अवलम्बन करना हो तो आमतौर पर जिस समय शस्त्र-प्रहार करना हो उसी अवस्था में सत्याग्रह करने का अवसर उपस्थित होता है। असंतोष, संताप की तीव्रता, निराशा का परिणाम और अंतिम उपाय करने की अनिवार्यता ये सब बातें सत्याग्रह और हिंसा-मार्ग दोनों में एक जैसी होती हैं। गांधीजी का दावा था कि उन्होंने जनता के पराकाष्ठा पर पहुंचे हुए क्रोध का झुकाव शत्रु की ओर से हटाकर उसका व्यक्तिकरण ऐसे कृत्यों के द्वारा किया जिससे स्वतः हमको कष्ट सहना पड़ता है। इस नये शस्त्र का प्रयोग करने पर दक्षिण अफ्रीका में जब उनपर दोषारोपण किया गया और आलोचनाएं की गईं तब उन्होंने अपना समर्थन निम्नलिखित शब्दों में किया—“यदि अपने प्रति होने वाले अन्याय के प्रतिकार के साधन के रूप में किसी भी अवसर पर स्थानिक लोग इसका अवलम्बन करें तो उसके लिए उनका ऋणी होना चाहिए। क्योंकि उसका यह अर्थ होगा कि बंदूक और असेगाय (एक आयुध) का स्थान शांतिपूर्ण साधन ने ले लिया है। रौलट एक्ट सम्बन्धी आंदोलन के समय गांधीजी को लगा कि यदि कोई निर्णायक सूचनाएं नहीं दी गईं तो यह आंदोलन हिंसक प्रवृत्तियों में परिणत हो जायगा। उन्होंने कहा—“हम उस (क्रांतिकारी) दल को हिंसा के आत्मघाती रास्ते से हटा लेने की आशा रखते हैं।” हंटर कमेटी को सम्बोधित करके उन्होंने कहा—“इस आंदोलन का उद्देश्य है हिंसक साधनों के बजाय अहिंसक साधनों का उपयोग और वह पूरी तरह सत्य पर आधारित है।” कानून की ओट में जनता का दमन करने के लिए बेलगाम हो जाने वाली सरकार के विरुद्ध काम में लाये जाने वाले उपायों की चर्चा करते हुए गांधीजी ने कहा कि ऐसे मौकों पर सविनय अवज्ञा एक पवित्र कर्तव्य हो जाता है। उसका एक दूसरा उपाय भी अवश्य है और वह है सशस्त्र विद्रोह। सविनय-प्रतिकार एक पूर्णतः प्रभावी एवं रक्तहीन प्रत्युपाय है।

यदि गांधीजी का नेतृत्व और मार्गदर्शन प्राप्त न होता तो हिन्दुस्तान में पूरी जाग्रति हो जाने के कारण सचमुच ही विदेशी शासकों के विरुद्ध सशस्त्र बगावत का प्रयोग निश्चित रूप से किया गया होता। वह मार्ग जंगली और रक्तरंजित ही हो सकता था और उसके लिए अपार जनबल और पैसा खर्च करना पड़ता। यद्यपि वह मार्ग मुसीबतों से भरा हुआ होता तथापि हमें उसे ग्रहण करना ही पड़ता। क्योंकि जो देश अत्यन्त तेजस्वी इतिहास-परम्परा देता है और जो इतना विस्तृत शौर्यशाली है वह गुलामी तथा घृणापूर्ण एवं निर्लज्ज शोषण असीम समय तक कैसे सहन करता? निश्चित है कि ऐसा देश जागकर अपनी स्वतंत्रता प्राप्ति के लिए बाजी लगाता और ठीक ऐसी ही अनुकूल मानसिक स्थिति में गांधीजी ने इस अद्वितीय सत्याग्रह शस्त्र को देश के सामने रखा। सन् 1931 की गोलमेज परिषद् में भाषण देते हुए गांधीजी ने कहा—इस समय राजनीति में पदार्पण करके कांग्रेस ने सविनय प्रतिकार की ऐसी पद्धति ढूंढ निकाली है जो आज तक इतिहास में दिखाई नहीं देती। अभी तक कांग्रेस उसी का अवलम्बन करती चली आ रही है लेकिन आज फिर वही चट्टान मेरे सामने आ खड़ी हुई है और मुझ से यह कहा जाता है कि संसार की कोई भी सरकार इस तरीके को सहन नहीं कर सकती। सरकार के लिए उसे सहना संभव नहीं है; क्योंकि आज तक किसी भी सरकार ने खुले विद्रोह को सहन नहीं किया है।

इस प्रकार सामूहिक सत्याग्रह न तो कोई नई बात रह गई और न यह शस्त्र लोगों के लिए अज्ञात रहा है। सन् 1919 में गांधीजी ने कहा है—“मेरे विचार से अब सत्याग्रह का सौन्दर्य एवं प्रभाव इतना विशाल है और उसकी तत्त्वप्रणाली इतनी सरल है कि वह साधारण बालक को भी समझाया जा सकता है। साधारणतः हजारों हिन्दुस्तानी गिरमिटिया स्त्री-पुरुषों और बालकों को मैंने उसे सिखाया है और वह प्रयोग सफल हुआ है।”

विगत वर्षों में जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में सत्याग्रह का जो जागरूकता के साथ शास्त्रशुद्ध और सफल अवलम्बन किया उससे गांधीजी का यह विचार दृढ़ हो गया था कि उसके द्वारा जनता में अनुशासन लाया जा सकता है। जनता सत्याग्रह शस्त्र को बखूबी चला सकेगी। गांधीजी ऐसा प्रतिपादन करते हैं कि “साधारणतः लड़ने वाली सेनाएं संगठित युद्ध में जिस तरह अनुशासन रखती हैं उसकी

उचित शिक्षा दी गई तो अहिंसक लड़ाई के समय उसका पालन नहीं होगा। यह मानने का कोई कारण नहीं।” इसमें कोई संदेह नहीं कि जनता ने जितनी अहिंसा आत्मसात की है उससे गांधीजी को पूरा समाधान नहीं है। लेकिन इसका मतलब इतना ही है कि अब भी जनता के लिए प्रगति की और भी गुंजाइश बाकी है और जनता को इस दिशा में शिक्षा देना आवश्यक है। सामूहिक सत्याग्रह की व्यवहार्यता, उपयुक्तता और कार्यक्षमता के बारे में अब कोई संदेह नहीं रहा है। केवल स्थानीय शिकायतों को ही दूर करवाने के लिए नहीं बल्कि समूचे राष्ट्र को गुलामी और अधःपतन से मुक्त कराने के लिए भी उसका उपयोग किया जा सकता है। यदि सशस्त्र विद्रोह का अवलम्बन न किया जाय तो केवल सामूहिक सत्याग्रह ही ऐसा शस्त्र है जिसे हम काम में ला सकते हैं।

9. सत्याग्रहकासंगठन एवं शिक्षण

जीवनपथ की दृष्टि से सत्याग्रह एक स्वतंत्र तत्त्वप्रणाली है। सत्याग्रह का कठोर आचारधर्म भी है जो आत्मसंयम और निस्वार्थ प्रेममय सेवा पर आधारित है। सत्य और अहिंसा या प्रेम सत्याग्रही के लिए मार्गदर्शक हैं। शारीरिक, मानसिक, नैतिक एवं आध्यात्मिक शक्ति को पवित्र बनाने के लिए सत्याग्रह प्रयत्न करता रहता है। आत्मसंयम के द्वारा वह उस शक्ति का संग्रह करता है। सत्य में चित्त एकाग्र करके सबको सुख और शांति प्राप्त कराने के लिए प्रेममय सेवा के द्वारा वह पूर्वोक्त सब शक्तियों का प्रयोग करता है। यह सत्याग्रही की साधना है। इस प्रकार शिक्षण प्राप्त करते-करते ही वह तैयारी भी करता रहता है। सत्याग्रही से यह अपेक्षा की जाती है कि वह अनुशासनबद्ध रहेगा और किसी भी कठिन प्रसंग के लिए हमेशा तैयार रहेगा।

सेना, उसका शिक्षण, गोला-बारूद तथा अन्य साधन-सामग्री के बिना लड़ना पागलपन है। यदि सेना को कवायद नहीं सिखाई गई, उसे शस्त्रास्त्र नहीं दिये गये और उसे युद्धकला की शिक्षा नहीं दी गई तो वह कोई काम नहीं आ सकती। इसी प्रकार प्राणार्पण करने को तैयार रहने वाले लोगों को साथ लिये बिना सत्याग्रह की लड़ाई शुरू करना भी उतना ही पागलपन होगा। यद्यपि सत्याग्रह का शिक्षण दिए बिना अथवा संगठन किये बिना ही यह सोचना कि जनता से बड़े-बड़े काम कराये जा सकेंगे, महज मूर्खता है। तथापि सत्याग्रह में एक बहुत बड़ी विशेषता है। उसके केवल संख्याबल के लिए रुके रहने की जरूरत नहीं है। यदि अपना पक्ष न्यायसंगत हो और प्रतिकार के साधन शुद्ध हों तो एक अकेला व्यक्ति भी सत्याग्रह की लड़ाई को शुरू करके चालू रख सकता है। दूसरी बड़ी विशेषता यह है कि उसे किसी भी जड़ साधन की जरूरत नहीं पड़ती। जो कुछ भी तैयारी करनी पड़ती है वह सारी नैतिक और मानसिक ही होती है।

जैसे-जैसे सत्याग्रह की शक्ति बढ़ाती जाती है वैसे-वैसे उसके लिए विशेष तैयारी की आवश्यकता भी कम होती जाती है। तैयारी के दिनों में लड़ाई का मौका आ जाने पर स्वभावतः ही लड़ाई के एकमात्र मार्ग के रूप में सत्याग्रह का अवलम्बन किया जाता है। सत्याग्रह में साध्य और साधन का अबाधित सम्बन्ध होता है। सत्याग्रही को समय आने पर कष्ट और यातना सहने की तैयारी रखकर भी अपने मार्ग पर डटे रहने के अलावा और कुछ नहीं करना पड़ता। कष्ट व यातना भोगने के लिए तो वह सदैव तैयार रहता है। हिंसक मार्ग का अवलम्बन करने वाले के लिए यद्यपि विशेष तैयारी की आवश्यकता होती है। क्योंकि उसमें साध्य-साधन सम्बन्ध बिलकुल असंगत रहता है। दूसरे के अन्याय को मिटाने का प्रयत्न करते हुए उसे अपना अन्याय भी चालू रखना पड़ता है। स्वयं कष्ट से बचने का प्रयत्न करते हुए उसे दूसरों के ऊपर भी कष्ट लादना पड़ता है। लेकिन सत्याग्रही जिन साधनों का उपयोग करता है वे ही निश्चित रूप से उसके साध्य भी होते हैं। उनके सम्बन्ध में किसी भी प्रकार का ज्ञात या अज्ञात आंतरिक झगड़ा नहीं होता।

किसी विशेष उद्देश्य की सिद्धि के लिए अपनी शक्ति को अनुशासन में बांधकर खड़ा करना ही संगठन है। कुशल संगठनकर्त्ता नवीन शक्ति का भी निर्माण करता है और जो शक्ति उसके पास पहले से रहती है उसका उपयोग वह आशा से अधिक बड़े-बड़े कामों के लिए कर लेता है। लेकिन प्रत्येक संगठनकर्त्ता को अपने प्रस्तुत साधनों की शक्ति का अचूक अंदाज करके उसका उपयोग हाथ खींचकर और आवश्यकतानुसार करना चाहिए। जहां एक से काम हो जाता है वहां उसे दो का उपयोग नहीं करना चाहिए और जहां कम तैयारी वाले सत्याग्रहियों के हाथ से काम चल जाय वहां काफी तैयारी वाले सत्याग्रही नहीं भेजने चाहिए।

यद्यपि मानवी जीवन और व्यवहार में अंतःप्रेरणा और स्फूर्ति का काफी ऊंचा स्थान है तथापि किसी भी ध्येय की सिद्धि के लिए संगठन और अनुशासन की भी उतनी ही आवश्यकता है। सभी प्रकार के काव्य और कलाओं का निर्माण स्फूर्ति से ही होता है लेकिन उनकी परिपूर्णता और प्रभाव सोद्देश्य प्रयत्न और अनुशासन पर ही अवलम्बित रहते हैं। महत्त्वपूर्ण निर्णय करने के पहले गांधीजी बहुत बार अंतःस्फूर्ति और अंतर्नाद की राह देखते थे। वे अपने जीवन के प्रत्येक क्षण को मूल्यवान मानते और घड़ी के कांटे की तरह प्रत्येक बात को नियमित करते। यह कहना बिलकुल सत्य है कि उन्हें ठीक समय पर स्फूर्ति प्राप्त होती और वह उनको कभी धोखा नहीं देती। फिर प्रत्यक्ष अनुभूति, संगठन और अनुशासन का तिरस्कार नहीं करती। यदि संगठन और अनुशासन यंत्रवत् एवं निर्जीव है तो ठीक समय पर अनुपयोगी तथा परिस्थिति के अनुकूल न पड़ने वाले सिद्ध होंगे। ऐसी स्थिति में यद्यपि स्फूर्ति उसका उपहास करेगी। एक अर्थ में स्फूर्ति भी संगठनकुशल ही होती है।

सत्याग्रह के सम्बन्ध में यदि गांधीजी ने कोई सबसे ज्यादा महत्त्वपूर्ण कार्य किया है तो वह है संगठन। उन्होंने उसे एक व्यवस्थित महत्त्वपूर्ण अंगों-पहलुओं से सम्बन्ध किया। उसका तंत्र उन्होंने बहुत अंश तक पूर्णता तक पहुंचा दिया है। उन्होंने अपने प्रयोगों से सिद्ध कर दिया है कि सत्याग्रह अव्यवहारिक अग्निपरीक्षा नहीं है। सत्याग्रह संगठित किया जा सकता है। उसके लिए जनता को तैयार किया जा सकता है और प्रभावशाली शस्त्र के रूप में उसे चलाने के लिए लोगों को अनुशासन में लाया जा सकता है।

अनुशासित एवं विशुद्ध हृदय वाले कार्यकर्ताओं के दल का निर्माण सत्याग्रह के संगठन और पूर्व तैयारी की पहली सीढ़ी कही जा सकता है। सत्याग्रह पर उन कार्यकर्ताओं का विश्वास तो होना ही चाहिए। जब यह दिखाई देता है कि हम हिंसा का अवलम्बन करके आगे नहीं बढ़ सकते तब जो लोग हताश होकर प्रतिपक्षी की हिंसा के सामने सिर झुका देते हैं उन भीरु लोगों का सत्याग्रह में कभी उपयोग नहीं हो सकता। हिंसा के अलावा प्रतिकार का दूसरा उपाय भी है और वह लड़ाई का ज्यादा अच्छा तरीका है। उसके लिए पाशवी शक्ति अथवा दूसरे साधनों की आवश्यकता नहीं रहती। इस प्रकार की निष्ठा और विश्वास वाले कार्यकर्ता सत्याग्रह के लिए होने चाहिए। ऐसे लोगों की ही जरूरत है जो भीषण हिंसा देख कर भी ऐसा मानते हैं कि उसका मुकाबला अहिंसा से कर सकते हैं। यदि ऐसे लोगों के हाथ में लड़ाई का नेतृत्व न हुआ तो संभव है कि जनता अहिंसक लड़ाई छोड़कर हिंसा का मार्ग अपना ले। अतः जो लोग सत्य और अहिंसा में एक सिद्धान्त के रूप में विश्वास रखते हैं उन्हीं का सदा नेतृत्व करना सर्वोत्तम है।

अल्डुस हक्सले ने अहिंसक प्रतिकार के लिए आवश्यक शिक्षण और समाज में उनके कार्य के सम्बन्ध में जो कुछ कहा है उसे समझ लेना लाभदायक होगा। अपनी 'एन्ड्स एन्ड मीन्स' पुस्तक में उसने कहा है कि व्यक्तिगत, आर्थिक, समूह-समूह के तथा समूह और सरकार के पारस्परिक सम्बन्धों में अहिंसक व्यवहार बनाने के लिए निष्ठावान व्यक्तियों के संघ की ओर विधिवत प्रयत्न होने चाहिए। इस संघ की रचना इस प्रकार की जानी चाहिए कि किसी को सत्ता प्राप्त करने, जुल्म ढाने और शोषण करने का मोह ही न हो। केवल भय ही नहीं बल्कि व्यक्ति के क्रोध और द्वेष को नष्ट करने के लिए भी अधिक शिक्षण की आवश्यकता होगी। हिंसा का अवलम्बन न करते हुए और भय अथवा शिकायत को स्थान न देते हुए संघ के सदस्यों को हिंसा का प्रतिकार करना चाहिए।

संघ के कार्य के सम्बन्ध में उन्होंने आगे कहा कि संघ को ऐसा स्वरूप देने का प्रयत्न करना चाहिए जो उच्च प्रकार के कार्य का आदर्श हो सके। जहां कहीं भी हिंसा का उद्भव हुआ हो वहां उसे निर्मूल करने के लिए तथा कौटुम्बिक अन्याय और अंतर्राष्ट्रीय युद्ध की तैयारी अथवा प्रारंभ आदि के अहिंसक प्रतिकार के लिए अपनी शक्ति का उपयोग दिखाई दे तो उन्हें उसके लिए अग्रसर होना चाहिए।

जनता में रचनात्मक कार्य, जिसमें पंद्रह सूत्री कार्यक्रम निहित है, करना ही सत्याग्रह की सबसे अच्छी तैयारी है। यदि सत्य और अहिंसा में विश्वास रखने वाले चरित्रवान कार्यकर्ता जनता में मिलजुलकर उसकी निरसल सेवा करें तो वे निश्चित रूप से जनता को निष्ठावान एवं निर्भय बना सकते हैं। जिसे सत्य और अहिंसा की साधना तो करना है लेकिन रचनात्मक कार्य पसन्द नहीं आता उसकी स्थिति उस व्यक्ति की तरह है जिसे युद्ध क्षेत्र में जाने की आकांक्षा तो है लेकिन जिसको हाथ में बंदूक

लेने से घृणा है। जिन्हें रचनात्मक कार्यक्रम अरुचिकर लगे वे सत्याग्रह के योग्य नहीं हैं। अथवा निस्वार्थ त्याग और सेवा से जिस मूक शक्ति का निर्माण होता है उसके सौन्दर्य को उन्होंने पहचाना नहीं है।

रचनात्मक कार्यक्रम के द्वारा अनेक बातें सिद्ध होती हैं। उससे सम्पूर्ण राष्ट्र में नवीन चैतन्य का निर्माण हो सकता है। सत्य और अहिंसा पर विश्वास रखने वाले एवं किसी-न-किसी क्षेत्र में रचनात्मक कार्य करने वाले सार्वजनिक कार्यकर्त्ताओं की सेवा सारी जाति का स्वरूप बदल कर उसमें आत्म विश्वास, स्वाभिमान एवं साहस का संचार कर देगी। समूह की प्रत्यक्ष आवश्यकता को ही ध्यान में रखकर विधायक प्रवृत्ति की योजना करनी चाहिए इससे वे वहां के लोगों को उच्च जीवन का लाभ कराएंगे। लेकिन उस सेवा का मार्ग ऐसा होगा कि जिससे लोग स्वतंत्र एवं स्वावलंबी होते जायेंगे। वहां के लोगों से उनका सम्बन्ध न तो यंत्रवत होगा न व्यापारी जैसा बल्कि प्रेममय सेवा के सूत्र में बंधकर वह उदात्त एवं आत्मिक हो जाएगा। उनके सम्बन्ध के द्वारा लोगों में आत्मविश्वास पैदा होगा और सत्याग्रही कार्यकर्त्ताओं में उनकी निष्ठा बढ़ती जायगी। मानव-जाति की सेवा में अपना जीवन खपाने वाले निर्भय एवं सच्चरित्र कार्यकर्त्ताओं का आदर्श हमेशा जनता के सामने रहेगा। यदि रचनात्मक कार्य संगठित रीति से चालू रहा तो जब सत्याग्रह के लिए लोगों के संगठन का प्रश्न खड़ा होगा तब हमें ऐसा मालूम होगा कि बहुत-सा काम तो पहले ही हो चुका है। रचनात्मक कार्य के द्वारा जिस तरह जनता के रहन-सहन का मान और दर्जा ऊंचा होगा उसी तरह कार्य का मार्ग, पद्धति तथा उसके पीछे छिपे हुए पवित्र उद्देश्य के द्वारा जनता में पारस्परिक सहयोग, एक्य भाव, सत्य, प्रेम तथा अन्याय से घृणा रखने के बीज भी बोए जाएंगे। जनता के इस संगठन एवं उससे मिले शिक्षण के बदौलत सत्याग्रह के तरीके से लड़ी जाने वाली किसी भी लड़ाई के लिए जनता की काफी तैयारी हो सकेगी। अथवा यदि गुलाम देशों की भांति शुरू से ही लड़ाई लड़नी पड़ी तो इस कार्य के द्वारा लोगों को अपनी दीनता का अनुभव बड़ी तीव्रता से होगा और उनमें प्रतिकार की इच्छा एवं गुलामी दूर करने की उत्कण्ठा बढ़ती जायगी। रचनात्मक कार्य के स्वरूप एवं प्रत्यक्ष रचनात्मक प्रवृत्ति में अंतर हो सकता है लेकिन उसे व्यवहार में लाने के मार्ग और तरीके में, उसके मूल में स्थित निःस्वार्थ के असली उद्देश्य में और सत्य व अहिंसा के अटल विश्वास में थोड़ा भी अंतर नहीं होना चाहिए। वही सत्याग्रह की इमारत का सच्चा मजबूत पाया है।

यद्यपि सन् 1922 में किया जाने वाला आंदोलन स्थगित किया गया तो भी सन् 1928 में उसी ताल्लुके में सत्याग्रह करने का प्रसंग आ गया। गांधीजी की प्रेरणा से उन्हीं के नेतृत्व में किये गये सत्याग्रहों में बारडोली का सत्याग्रह अत्यन्त सफल और आदर्श माना जाता है। यद्यपि सन् 1922 में बारडोली सत्याग्रह प्रारंभ नहीं हुआ तथापि वहां जो रचनात्मक कार्य एक बार शुरू हुआ वह चालू ही रहा। लगभग एक लाख की जनसंख्या वाले ताल्लुके में रचनात्मक कार्य के लिए संगठन हो रहा था। वास्तविक और दृढ़ आधार पर खड़े किये गये विधायक कार्य का संगठन समुदाय के अहिंसक प्रत्यक्ष प्रतिकार के संगठन में भी काम आता है। उस ताल्लुके में सन् 1921 से लगातार गांधी-मार्ग से रचनात्मक कार्यक्रम चलाने वाले चार केन्द्र आश्रम के रूप में काम कर रहे थे। उसी प्रकार वहां अनेक त्यागी कार्यकर्त्ता भी थे। जिस समय करबंदी आंदोलन शुरू करने का निश्चय हुआ उसी समय उसका सारा सूत्र-संचालन सरदार पटेल को सौंपा गया। उन्होंने और भी कई सुविधाजनक केन्द्रों में सुयोग्य नायकों के नेतृत्व में किसान-जनता के स्वयंसेवक पथकों का संगठन किया। इन केन्द्रों और स्वयंसेवक दलों का जो जाल सारे प्रांत भर में फैला हुआ था वह रक्त-वाहिनी नसों की तरह उपयोगी हुआ। इससे प्रत्येक गांव के कोने-कुचरे में होने वाली घटना की भी अथ से इति तक सारी जानकारी प्रतिक्षण सरदार को मिल सकती थी। इसी प्रकार बुलेटिन की प्रणाली भी शुरू हो गई थी। एक समय ऐसा आया था कि ताल्लुके में बुलेटिन की दस हजार प्रतियां एवं ताल्लुके के बाहर चार हजार प्रतियां बांटी जाती थीं। इससे प्रत्येक ग्राम को सारी खबर और सूचना मिल जाती थी। स्वयं सरदार प्रत्येक गांव और कैम्प का दौरा करके लोगों को बढ़ा हुआ लगान न देने की शपथ पालने के लिए स्फूर्ति और प्रोत्साहन देते थे और मार्गदर्शन करते थे। 12.2.28 को बारडोली में जो विराट् परिषद् हुई उसमें सत्याग्रह आंदोलन प्रारंभ करने का निर्णय लिया गया। इसके बाद सरदार ने ग्रामों की अनेक सभाओं में भाषण दिये। सारे ताल्लुकों में वे ही अकेले भाषण देते। अनुशासन की दृष्टि से और किसी को भाषण नहीं देने दिया जाता था। जब गांधीजी उस ताल्लुके में गये तो उन्होंने भी इस अनुशासन का पालन किया। जब

सरकार ने दमन चक्र चलाया और कार्यकर्ता गिरफ्तार होने लगे तब उनकी जगह तुरन्त दूसरे कार्यकर्ता रवाना करके सारे संगठन को अंत तक अखण्ड बनाये रखा। स्थानीय स्वयंसेवकों ने आगे बढ़कर लोकगीतों और शूरवीरता एवं कष्ट की कहानियों के द्वारा लोगों के नैतिक धैर्य और अंतिम विजय के विश्वास को टिकाए रखा। ताल्लुकों से सम्पर्क रखना, ताल्लुकों में और बाहर प्रचार करना, समय-समय पर सरकार द्वारा नियोजित उपायों के सम्बन्ध में आवश्यक सूचना देना, किसानों के नैतिक धैर्य को टिकाये रखना, पटेल पटवारियों से त्यागपत्र दिलवाना, सरकारी नीलाम पर धरना लगवाना, सरकारी नौकरों से असहयोग जारी रखना आदि काम मुख्यतः संगठन के द्वारा किये जाते थे। ये सारे काम सैनिक युद्ध की ही भांति दिखाई देते। इससे यह स्पष्ट है कि सत्याग्रह आंदोलन सफलतापूर्वक चलाने के लिए सैनिक सेनापति की तरह चतुरता और प्रसंगावधान की आवश्यकता होती है।

सत्याग्रह की मुख्य तैयारी का अर्थ है— लोगों के मन में सत्य और उसकी अंतिम विजय पर निष्ठा अंकित कर देना। वस्तुतः जिसका अस्तित्व है, जो कार्य करता है और जिसकी विजय होती है वही सत्य है। सत्याग्रह आंदोलन से सम्बन्धित लोगों का यह विश्वास होना चाहिए कि उनकी धारणा के अनुसार सत्य उनके पक्ष में है। इतना होने पर ही उसके लिए सर्वस्व की बाजी लगाने की दृढ़ता और नैतिक धैर्य उनमें उत्पन्न होगा। इसके बाद की सीढ़ी है प्रेम और अहिंसा के द्वारा सत्य का अनुकरण। हमें जो लड़ाई लड़नी है वह अन्याय करने वाले से नहीं बल्कि अन्याय और असत्य से है क्योंकि अन्यायी व्यक्ति भिन्न दिखाई दें तो भी वे हमारे ही स्वरूप हैं। इसलिए सत्याग्रही दूसरों को कष्ट देने की कल्पना भी मन में नहीं लाता।

यदि रचनात्मक कार्य चालू रहे और सत्याग्रह के मूलतत्त्व जनता को सिखा दिये जायं तो उसके बाद की तैयारी की सीढ़ी है— आत्मशुद्धि। रचनात्मक कार्य के अनुसार ही आत्मशुद्धि का क्रम भी अखण्ड होना चाहिए। लोगों को अन्याय तथा मद्य-सेवन जैसी सारी बुरी आदतें निकाल देनी चाहिए। उन्हें अपने आस-पास होने वाले अन्याय के साथ खुद होकर असहयोग करना बंद करना चाहिए। उसके लिए आवश्यक हो तो वे उपवास का भी अवलम्बन कर सकेंगे। भावी सत्याग्रही का सामर्थ्य जितना इससे बढ़ेगा उतना और किसी तरह नहीं। इसके बाद ही अपनी सारी शक्ति की बाजी लगाकर उन्हें अन्याय का प्रतिकार करने की प्रतिज्ञा करनी चाहिए।

10. सत्याग्रह के लिए अनुशासन

सत्याग्रह के लिए काफी तैयारी की जरूरत तो होती है लेकिन इससे अधिक जरूरत होती है कड़े अनुशासन की। अनुशासन भंग करने पर सत्याग्रह में किसी प्रकार का शारीरिक या हिंसक उपाय काम में नहीं लिया जाता। अतः कार्यकर्ता और जनता दोनों के लिए यह और भी अधिक आवश्यक हो जाता है कि वे खुद ही अनुशासन और वरिष्ठों के आज्ञापालन के महत्त्व को समझें। सत्याग्रह-संग्राम की एक और विशेषता यह है कि उसमें सबसे पहले नेता को बलिदान देना पड़ता है। और यदि वे फांसी पर नहीं चढ़ाये गये तो कम-से-कम जेल तो भेज ही दिये जाते हैं। उनके बाद पीछे बचे हुए साधारण सैनिकों को लड़ाई चलानी पड़ती है। अतः जब नेता दूर कर दिया जाता है तब अनुशासन की आवश्यकता और भी बढ़ जाती है। कई दफा तो नया कार्यक्रम बनाकर उसे जिम्मेदारी के साथ पूरा करना पड़ता है। ऐसे समय एक ध्येय के प्रति निष्ठा रखने एवं अनुशासन पालन करने से ही सत्याग्रह के सैनिक एकत्र रह सकते हैं। सर्वसाधारण का मार्गदर्शन करते हुए सत्याग्रह के जो नियम गांधीजी ने बनाए हैं वे सबके लिए निश्चित रूप से ठीक सिद्ध होंगे।

अनुशासन के महत्त्व और आवश्यकता पर गांधीजी ने जो विचार व्यक्त किये हैं वे मननीय हैं। वे कहते हैं—“त्याग, अनुशासन और आत्मसंयम के बिना उद्धार की कोई आशा नहीं है। बिना अनुशासन के कोरा त्याग उपयोगी नहीं हो सकता।” अहमदाबाद में विद्यार्थियों की एक परिषद् में भाषण देते हुए गांधीजी ने कहा—“हम जो पशुओं से अलग समझे जाते हैं, उसका कारण है आत्मसंयम और अनुशासन।” खुद उनका जीवन अत्यन्त कड़े और कठोर अनुशासन का नमूना है। महान् व्यक्तियों के जीवन में भी इतना अनुशासन कम ही मिलेगा। चाहे वे बीमार हों चाहे स्वस्थ हों, चाहे जेल में हों चाहे बाहर, प्रातः सायं की प्रार्थना, सूत-कताई और मौन से कभी भी नहीं चूकते। रात को दो बजे सोने पर भी फिर वे प्रातः चार बजे प्रार्थना के लिए अवश्य उठते और प्रतिदिन का निश्चित सूत काते बिना वे भोजन भी नहीं करते।

अनुशासन की आवश्यकता है—यह बात तो सिद्ध है। लेकिन यह कहना ज्यादा महत्वपूर्ण है कि सत्याग्रही को किस प्रकार के अनुशासन का पालन करना चाहिए। इसी प्रकार हमें यह भी देख लेना चाहिए कि अहिंसा और हिंसा के अनुशासन में क्या अंतर है।

मूलतः अनुशासन का अर्थ है—आज्ञापालन या आज्ञा को व्यवहार में लाना। संगठन में अनुशासन गृहीत होता है। अनुशासन के बिना किसी भी प्रकार का संगठन होना असंभव है। नेपोलियन ने बिलकुल ठीक ही कहा है कि युद्ध की सफलता का 75 प्रतिशत श्रेय अनुशासन को ही होता है। फॉक के मतानुसार अनुशासन ही सेना की मुख्य शक्ति होती है।

आत्मोन्नति के लिए स्वेच्छा से स्वीकृत अनुशासन, अनुशासन का ही एक प्रकार है। इस प्रकार का अनुशासन हमारे जीवन में व्याप्त हो, इसके लिए मनुष्य खुद ही ऐसी आदतें डाल लेता है जिससे चेतना अथवा सूचना मिलते ही वह एक विशेष प्रकार की क्रिया करे। इस प्रकार के अनुशासन से मनुष्य अपने जीवन को एक विशेष सांचे में ढालता है और अपनी शक्ति का नियमन करता है। आत्मसंयम एवं अपनी शक्ति के ज्यादा-से-ज्यादा उपयोग करने की दृष्टि से इस प्रकार के अनुशासन का बहुत महत्व है।

सैनिक अनुशासन लगभग यांत्रिक आज्ञापालन की आदत डालता है। उससे मनुष्य केवल कठपुतली बन जाता है। हुक्म मिलते ही गोली चलाने और लाशें बिछा देने की शिक्षा लाखों लोगों को दी जाती है। सेना में अनुशासन ही सबसे बड़ा गुण माना जाता है और अनुशासन भंग ही सबसे बड़ा जुर्म इस जुर्म में तत्काल गोली से उड़ा देने का दण्ड दे दिया जाता है।

हिंसक सैनिकों के लिए आवश्यक अनुशासन की अपेक्षा अहिंसक सैनिकों के लिये आवश्यक अनुशासन सहज ही भिन्न प्रकार का होता है। एक को मारना पड़ता है, दूसरे को मरना पड़ता है। एक को द्वेष रखना पड़ता है, दूसरे को प्रेम करना पड़ता है। एक को क्रोध करना पड़ता है, दूसरे को शांत रहना पड़ता है। एक को डराना पड़ता है, दूसरे को मृत्यु सामने देखकर भी निर्भयता से उसका मुकाबला करना पड़ता है। एक को दूसरों पर यातना लादनी पड़ती है और दूसरे को उसे स्वयं सहन करनी पड़ती है। इस प्रकार हिंसक सैनिक की शिक्षा का उद्देश्य भी भिन्न होता है। लेकिन दोनों मामलों में शिक्षा पद्धति मानवी मन और उसके सिद्धान्तों के निरीक्षण पर ही आधारित रहती है।

रिचर्ड ग्रेग ने अपनी 'पावर ऑफ नानवायलेन्स' और 'डिसिप्लीन फॉर नानवायलेन्स' नामक पुस्तकों में इसकी शास्त्रीय चर्चा की है। यह कहना पर्याप्त है कि यद्यपि सत्याग्रही के लिए अधिकांश में सैनिक अनुशासन का अभ्यास जरूरी है तथापि उसका वास्तविक आधार आंतरिक अनुशासन पर ही रहना चाहिए। सबसे प्रेम करने, गुस्सा न आने देने और द्वेषभावना से दूर रहकर कष्ट सहने की आदत डालना कोई सीधा-सा काम नहीं है। चिंतन, प्रार्थना और जीवन-मूल्यों की नई रचना के द्वारा ही मनुष्य ऐसे जीवन के लिये नये दृष्टिकोण की नींव डाल सकेगा। लेकिन इसमें कोई संदेह नहीं कि नवीन संस्कृति के उदय में इससे मदद मिलेगी, अतः यह प्रयोग करने जैसा है।

इससे एक आदर्श सत्याग्रही के लिए जिस अनुशासन की तैयारी की जरूरत होती है उसकी ठीक-ठीक कल्पना हो जायगी। आध्यात्मिक दृष्टि से उसे सत्य एवं ईश्वरी शक्ति पर विश्वास रखना चाहिए। इसी प्रकार उसे इस बात में भी विश्वास रखना चाहिए कि वह केवल शरीर नहीं है। वह इससे कुछ अधिक है और अन्यायी या अत्याचारी की पाशवी शक्ति की पहुंच से परे है। उसे मनुष्य जाति और प्राणीमात्र को समदृष्टि से देखना चाहिए। उसे सबसे प्रेम करना चाहिए और अपने मन में विरोधी के प्रति भी सद्भावना रखनी चाहिए। उसे अपनी ओर सत्य अथवा सबके मार्गदर्शक परमेश्वर के हाथ का एक साधन समझकर देखना चाहिए और अपने सर्वस्व तक को त्याग करने के लिये तैयार रहना चाहिए। उसे पवित्रता अपनानी चाहिए और प्रत्येक प्रकार के गंदे विचार मन से हटा देने चाहिए। जिस सत्य का वह आचरण कर रहा है उसका अत्यन्त स्पष्ट दर्शन उसे होना चाहिए।

नैतिक दृष्टि से उसे निर्भय, धैर्यवान, विनयी, परोपकारी, सत्यशील एवं हमेशा योग्यायोग्य व गुणगुण परखने में कुशल तथा उदारमना होना चाहिए। चाहे कितनी ही कीमत क्यों न देना पड़े, उसे सत्य का अनुसरण करना चाहिए और किसी भी रूप में क्यों न हो, हिंसा से बचना चाहिए। उसे हमेशा आशावादी और आनन्दी होना चाहिए।

बौद्धिक दृष्टि से अपने काम की स्पष्ट तस्वीर उसके सामने होनी चाहिए। उसे विश्वास होना चाहिए कि उसका पक्ष सत्य पर आधारित है और उसे उस मार्ग की पूरी जानकारी होनी चाहिए जिस पर कि वह चल रहा है। अपने व्यवहार व निष्ठा के सम्बन्ध में दूसरों को विश्वास करा देने की क्षमता उसमें होनी चाहिए।

शारीरिक दृष्टि से वह तन्दुरुस्त व कष्टसहिष्णु होना चाहिए। उसे शारीरिक श्रम की आदत होनी चाहिए और यातना एवं कष्ट सहने की तैयारी होनी चाहिए। सादे भोजन और मोटे वस्त्र पर ही संतोष होना चाहिए। बीमार हो जाने पर भी उसे विनाश नहीं होना चाहिए। उसे क्रियाशील और कार्यप्रवण होना चाहिए और गांव-गांव पैदल घूमने की आदत होनी चाहिए।

11. सत्याग्रह तन्त्र

किसी भी काम को करने के सर्वमान्य एवं शास्त्र-शुद्ध तरीके को ही तंत्र कहते हैं। यह नहीं कह सकते कि सामाजिक शास्त्र के रूप में सत्याग्रह का मार्ग बहुत पुराना है अथवा उसे पूर्णावस्था में पहुंच जाने वाले शास्त्र का स्वरूप प्राप्त हो गया है। सत्याग्रह तंत्र अब भी प्रयोगावस्था में ही है और कितने ही वर्षों तक उसके इस अवस्था में रहने की संभावना है। तथापि उसके अबतक के विकास का श्रेय गांधीजी को ही है; क्योंकि उन्होंने अंतःस्फूर्ति और अनुभव के बल पर उसकी एक विशेष पद्धति बना दी है। यह पद्धति ही उसका तंत्र है। अभी सत्याग्रहशास्त्र प्रकट अवस्था में है। अतः उसका तंत्र भी अपूर्णावस्था में ही है। लेकिन साधारणतः प्रतिदिन के उपयोग की दृष्टि से वह काफी दिनों और अनुभवों की कसौटी पर कसा जा चुका है।

किसी भी परिस्थिति में सत्याग्रह में असत्य, जानमाल की हिंसा, गुप्तता, अन्याय, कष्ट देना, धोखा, अप्रामाणिकता, कपट, आक्रमण अथवा शोषण के लिए किसी भी प्रकार का स्थान नहीं है। अतः सत्याग्रही को इस बात का विश्वास कर लेना चाहिए कि किसी प्रश्न के उठ खड़े होने पर उपर्युक्त कोई भी बात कारणभूत न बने।

सत्याग्रही को सामाजिक, आर्थिक, राजनैतिक, राष्ट्रीय, अंतर्राष्ट्रीय किसी भी क्षेत्र को वर्जित नहीं मानना चाहिए। क्षेत्र का चुनाव करते समय अपने निकटवर्ती लोगों की सेवा एवं जिन लोगों में वह रहता है उनके महत्वपूर्ण प्रश्नों को हाथ में लेने की दृष्टि वह रखेगा।

किसी झगड़े, शिकायत या अन्याय के होने पर व्यक्तिगत या सामूहिक सत्याग्रह के द्वारा उसे मिटाने की अवस्था उत्पन्न होने पर सत्याग्रही को अन्याय की सत्यता का अपने मन में निश्चय कर लेना चाहिए। निष्पक्ष होकर चिंतापूर्वक जांच कर लेने के बाद यदि उसे विश्वास हो कि शिकायत सत्य है तो फिर उसे जो काम करना है वह यह है कि जिन लोगों पर उस अन्याय का असर पड़ने वाला है वे उससे बचने के लिए छटपटा रहे हैं या नहीं। शिकायत की गंभीरता की जानकारी होते ही सत्याग्रही को उन लोगों के ऊपर जो उसके लिए उत्तरदायी हो जहां तक हो सके सम्य भाषा में शिकायत का सत्यस्वरूप प्रकट करके उन्हें समझा देना चाहिए कि उनपर शिकायत की जुम्मेदारी किस तरह है। इसके बाद बिना किसी अतिशयोक्ति के वस्तुस्थिति की पूरी जानकारी प्रकट कर देनी चाहिए। समाचारपत्र एवं सभा आदि के नित्य साधनों के द्वारा उनका विवेक जाग्रत हो सके इस प्रकार का प्रचार चालू रखना चाहिए। अलबत्ता यह सब करते हुए उसे हमेशा सत्य, संयम तथा विचार, उच्चार, एवं आचार में विनम्रता रखने का ध्यान रखना चाहिए। साथ ही उसे उन लोगों में भी ज्यादा-से-ज्यादा जागृति होनी चाहिए जो अन्याय सहन कर रहे हैं और इस बात की आजमाइश कर लेना चाहिए कि वे लोग मुसीबतों का मुकाबला करने या सत्याग्रह का अवलम्बन करने के लिए तैयार हैं या नहीं। यदि बहुसंख्यक लोग सत्याग्रह के लिए तैयार हों तो उनके निश्चय को और भी दृढ़ बनाना चाहिए। यदि बहुसंख्यक लोग सत्याग्रह के लिए तैयार न हों तो भी व्यक्तिगत सत्याग्रह शुरू करके अन्याय सहन करने वालों में जागृति पैदा करने और उनके सामने उदाहरण पेश करने में किसी प्रकार का प्रतिबंध नहीं है। इस बीच जो लोग अन्याय के लिए जवाबदेह हैं उन्हें परिस्थिति से परिचित कराकर उस अन्याय को दूर करने की प्रार्थना करना चाहिए। यदि इसका कोई परिणाम न हो तो लड़ाई का निर्णय करके उसके लिए सत्याग्रह के उपयुक्त स्वरूप का निश्चय कर लेना चाहिए। सत्याग्रह प्रारंभ करने के पहले दूसरे सब साधनों का उपयोग कर लेना चाहिए। यदि सत्याग्रह अहिंसक है तो वह युद्ध की ही

भांति गंभीर और अंतिम होगा। अन्याय करने वालों को पूरी तरह पूर्व सूचना देकर काफी संगठन और तैयारी से सत्याग्रह शुरू करना चाहिए।

जिन लोगों को सत्याग्रह शुरू करना है उन्हें सदा आत्मशुद्धि और प्रतिज्ञा से शुरू करना चाहिए। प्रतिज्ञा की गंभीरता अथवा लड़ाई की भीषणता के कारण लोगों को बिना वजह किसी भी प्रकार भयभीत या अधीर होने की जरूरत नहीं है। बल्कि लोगों का निश्चय अधिक दृढ़ बनना चाहिए। वे जिस शस्त्र का प्रयोग कर रहे हैं उसकी नैतिक श्रेष्ठता तथा अविचल रहने पर उसकी सफलता की सुनिश्चितता पर उन्हें अटल विश्वास होना चाहिए।

लड़ाई के गंभीर रूप धारण करने पर बीच-बीच में कुछ शिथिलता या निराशा फैलने की भी संभावना रहती है। ऐसे मौके पर जनता को श्रेष्ठ जीवन-मूल्यों का ज्ञान कराकर परिस्थिति का मुकाबला करना चाहिए। किसी भी समय संगठन में शिथिलता नहीं आने देनी चाहिए और न संगठनकर्त्ताओं के आशावाद को डिगने देना चाहिए। यदि हमें अपनी आत्मिक शक्ति पर एवं अपने पक्ष की न्याय्यता पर पूरा विश्वास हो और दूसरों के प्रति किसी भी प्रकार की दुर्भावना न रखकर अंत तक कष्ट सहने की तैयारी हो तो ऐन मौके पर भी जनता निश्चित रूप से अपने नेता का निर्माण कर लेगी और लड़ाई का अंत सफलता में ही होगा। जब विरोधी में काफी परिवर्तन हो जाय तो ऐसे मुद्दों पर जिनमें तत्त्वहानि न होती हो, तो हठ न ठान कर समझौते के लिए भी तैयार रहना चाहिए।

हमारे मनोनिग्रह और दृढ़ता का विरोधी पर तीव्र असर होता है और उसे विश्वास हो जाता है कि हम भले ही टूट जाए लेकिन झुकेंगे नहीं और उसे यह भी मालूम हो जाय कि नैतिक दृष्टि से भूल उसकी है तो उसके पैर उखड़ जायेंगे। कुछ समय बाद वह अपनी भूमिका को छोड़कर नीचे झुकने के लिए भी संभवतः तैयार हो जायगा। समय पाकर उसका समझौते के लिए तैयार हो जाना भी निश्चित ही समझना चाहिए। विरोधी के हृदय-परिवर्तन की भी संभावना है; क्योंकि विरोधी का अपनी भूल अनुभव करना और समझौते के लिए तैयार होना ही सत्याग्रह-संग्राम की परिपूर्णता है। जब विरोधी को यह अनुभव होने लगता है कि उसका नैतिक दबाव अथवा अनुचित व्यवहार इसी प्रकार चालू रहा तो उसे अपना सब कुछ गंवा देना पड़ेगा तो उसमें अवश्य परिवर्तन होगा। कुछ भी हो अंत में सत्याग्रही की विजय निश्चित है।

जहां तक हो सके सत्याग्रह-संग्राम में धन पर कम-से-कम अवलम्बित रहना चाहिए। थोड़ा-बहुत जितना पैसा जरूरी हो उसे वहीं से इकट्ठा करना और उसे बड़ी मितव्ययिता से खर्च करना चाहिए। जमा और खर्च की जाने वाली एक-एक पैसे का हिसाब रखा जाना चाहिए। सत्याग्रह की मुख्य शक्ति नैतिक धैर्य पर अधिष्ठित होनी चाहिये। वह किसी भी प्रकार के बाह्य उत्तेजन अथवा आर्थिक सहायता पर अवलम्बित नहीं होनी चाहिए। सत्य एवं ईश्वर पर दृढ़ निष्ठा तथा आत्मविश्वास के द्वारा ही सत्याग्रही का मार्गदर्शन होना चाहिए।

यदि सरकारी अधिकारी गिरफ्तार करने आए तो उन्हें स्वयं गिरफ्तार हो जाना चाहिए। जेल में रहते हुए जिन नियमों से धर्म या स्वाभिमान को धक्का न लगे उनका पालन करना चाहिए। जबतक जेल में सुधार करवाने के लिए लड़ाई न करनी पड़े तब तक जेल के नियमों का उल्लंघन नहीं करना चाहिए। यदि लोग गिरफ्तार होते हों तो दुःखी न होना चाहिए, बल्कि यह समझना चाहिए कि यह गौरव करने की बात है। सैनिकों में किसी भी प्रकार का अनुशासन-भंग सहन नहीं करना चाहिए। चूंकि सत्याग्रह का शारीरिक शिक्षण में विश्वास नहीं होता, संगठनकर्त्ताओं को अपने अनुयायियों के अनुचित व्यवहार को समूल नष्ट करने के लिए उपवास अथवा उसके जैसे अन्य साधनों का अवलम्बन करना चाहिए।

जब किसी नागरिक के अधिकारों पर प्रतिबंध लगा दिया जाता है अथवा 1919, 1933 और 1940 की तरह सामूहिक नहीं बल्कि व्यक्तिगत रूप में कानून तोड़ने का निर्णय किया जाता है अथवा किसी विशेष परिस्थिति में वैसा करना हमारा कर्त्तव्य हो जाता है तो व्यक्तिगत सत्याग्रह का अवसर आ जाता है।

जब नागरिक अधिकारों पर प्रतिबंध लगाया जाए तो उस आज्ञा को भंग करने के लए तंत्र की विशेष आवश्यकता नहीं होती। सत्याग्रही को अपना कानून तोड़ने का इरादा पहले ही प्रकट कर देना

चाहिए और उसके लिए जो सजा मिले उसे खुशी-खुशी भुगतने के लिए तैयार रहना चाहिए। इस संबंध में सबसे ज्यादा महत्व की बात यह है कि उसे प्रारंभ से अंत तक विनम्र रहना चाहिए। विनम्रता का अर्थ केवल बोलचाल की नम्रता ही नहीं बल्कि उसमें वे सारी बातें आ जाती हैं जो अहिंसा के अंतर्गत होती हैं। गांधीजी ने कहा—“यदि सत्याग्रह, निष्ठा, आदर, संयम व विनम्रतापूर्वक किया गया और वह किन्हीं समझे-बूझे मुद्दों पर आधारित हो तो ही उसे ‘सविनय’ कह सकते हैं। वह केवल लहरमहर का सौदा नहीं होना चाहिए। और खास बात तो यह है कि उसमें किसी भी प्रकार का द्वेष या दुर्भाव नहीं होना चाहिए। जब किसी भी विशेष अवसर पर किसी व्यक्ति के लिए व्यक्तिगत रूप से सविनय अवज्ञा करने का अवसर आए तो उसे इसी तंत्र का अवलम्बन करना चाहिए।

सन् 1919 में रोलट एक्ट सत्याग्रह के समय जिस तंत्र का अवलम्बन किया गया वह एक सत्याग्रह कमेटी के रूप में था। प्रतिज्ञा-पत्र तैयार किये गये और जिन लोगों को सत्याग्रह में भाग लेना था उनसे वह भरवाया गया। इसके बाद सत्याग्रह कमेटी ने जब साहित्य को प्रकाशित करने तथा समाचार पत्रों के रजिस्ट्रेशन के कानून को भंग करने की सलाह दी। 6 अप्रैल के बाद प्रतिज्ञापत्र पर हस्ताक्षर करने वाले सत्याग्रहियों को सविनय कानून भंग करना था। साधारण जनता के लिए हड़ताल, उपवास, प्रार्थना और सभा का कार्यक्रम रखा गया था। आम जनता को सविनय अवज्ञा आंदोलन में भाग नहीं लेना था।

1940-41 के व्यक्तिगत सत्याग्रह आंदोलन में युद्ध-सम्बन्धी मत-स्वातंत्र्य और भाषण-स्वातंत्र्य के लिए सविनय अवज्ञा आंदोलन करना तय हुआ था। गांधीजी ने सारे प्रांतों से प्रतिज्ञाबद्ध सत्याग्रहियों की सूची मांगी। सत्याग्रह करने की इजाजत देने के पूर्व गांधीजी ने उनकी जांच की। इसमें नियमित कताई और अहिंसा के बारे में बड़ी कड़ी प्रतिज्ञा की गयी थी। ‘सारे युद्ध-अन्याय हैं। अतः किसी भी युद्धकार्य में मदद मत करो। इसके विरुद्ध सारे युद्धों का प्रतिकार अहिंसा से करना ही उत्तम है।’ इस आशय का भाषण देने का सत्याग्रही को अधिकार है और वह यह भाषण कहां देगा इसकी लिखित सूचना प्रत्येक प्रतिज्ञाबद्ध सत्याग्रही को जिला मजिस्ट्रेट को देनी पड़ती थी और फिर उसी के अनुसार व्यवहार करना पड़ता था। प्रारंभ में गांधीजी ने भाषण देने की छुट्टी रखी थी। कुछ लोगों को इस आशय के पत्र-भेजने की इजाजत दे दी गई थी कि युद्ध-कमेटी के सदस्यों की युद्ध-प्रयत्नों में मदद मत करो। लेकिन शीघ्र ही यह निश्चय किया गया कि सत्याग्रह करते हुए उपर्युक्त आशय की लगभग 20 शब्दों की एक घोषणा की जाय और अंत तक यही क्रम चालू रखा गया। सत्याग्रह करने के बाद भी जिन्हें गिरफ्तार नहीं किया गया उन्हें पैदल दिल्ली तक प्रचार करते हुए जाने की आज्ञा दी गई। सजा समाप्त होने पर जिनका स्वास्थ्य अच्छा हो उन्हें फिर से सत्याग्रह करने के लिए कहा गया। यह भी तय किया कि—

- सत्याग्रह के कारण न्यायोचित और सच्चे होने चाहिए।
- विरोधी को अपनी भूल सुधारने का ज्यादा-से-ज्यादा मौका दिया जाना चाहिए।
- सत्य या ईश्वर पर पूरा भरोसा रखकर कष्ट-सहनात्मक अहिंसा-मार्ग से प्रतिकार करना चाहिए।
- कष्ट-सहन, खुशी से तथा कष्ट देने वाले के प्रति भी मन में सद्भाव रखकर करना चाहिए।
- अंत तक विनम्रतापूर्वक और अपने सिद्धान्त को बिना छोड़े समझौता करने की तैयारी रखनी चाहिए।

सत्याग्रह-संग्राम का तंत्र यद्यपि बताया गया है पर सत्याग्रह के भिन्न-भिन्न प्रकार और कार्यक्रम के सम्बन्ध में कोई एक ही निश्चित तंत्र नहीं बताया जा सकता। जैसे प्रतिबंध लगी हुई परिषद् भरने और उसके काम-काज चलाने का तंत्र शांतिपूर्ण धरने या करबंदी आंदोलन के तंत्र से भिन्न रहता है। यद्यपि सत्याग्रह के अनेकविध मार्गों के तंत्रों का सविस्तार विवेचन करना संभव नहीं है।

सन् 1930 के आंदोलन का अंत उस तात्कालिक संधि के रूप में हुआ जो गांधी-इरविन पैक्ट के नाम से मशहूर है। समझौते की बातचीत और प्रत्यक्ष ठहराव की जानकारी प्राप्त कर लेने से सत्याग्रही को इस बात की पूरी कल्पना हो सकती है कि ऐसे मामलों में सत्याग्रही का व्यवहार किस प्रकार का होना चाहिए।

12. सत्याग्रह और उपवास

सत्याग्रह में उपवास का क्या स्थान है और उसका अवलम्बन कब और कैसे करना चाहिए इसका वर्णन अपेक्षित है। उपवास का अर्थ है—स्वेच्छा से शरीर को अन्न देना बंद कर देना। यदि उपवास आमरण अनशन के रूप में हो तो भी आत्मशुद्धि के ही रूप में होता है। लेकिन तात्त्विक अधिष्ठान अथवा आत्मसंयम, या पाप के प्रायश्चित्त करने के लिए आत्मशुद्धि के हेतु से किये हुए उपवास व्यक्तिगत होते हैं जो विरोधी पर प्रभाव नहीं डालते।

यदि उपवास अपने मित्र या सहयोगी की गलती के विरुद्ध किया गया हो और उसकी एक निश्चित अवधि हो तो भी उसमें एक विशिष्ट तंत्र का अवलम्बन किया जाना चाहिए। जिस व्यक्ति के लिए उपवास किया जाता है उससे निकटता का सम्बन्ध हुए बिना और उसकी भूल उतनी ही बड़ी हुए बिना इस प्रकार के उपवास का अवलम्बन नहीं करना चाहिए और पूर्णतः विचार करके ही उसकी अवधि निश्चित की जानी चाहिए। उपवास की शुरुआत से ही उसकी अवधि निश्चित की जानी चाहिए। उपवास की शुरुआत गुस्से या अविचार से नहीं की जानी चाहिए। उपवास के दिनों में न तो शरीर की उपेक्षा करनी चाहिए न किसी प्रकार की हिंसा करनी चाहिए। शरीर को शुद्ध रखने का उद्देश्य सामने रखकर मृदु व्यवहार करना चाहिए। जिसके लिए उपवास करना हो उसे अपना उद्देश्य बता देना चाहिए। लेकिन यहां भी उपवास को अंतिम शस्त्र मानकर ही चलना चाहिए। उपवास का बहुत-सा समय प्रार्थना, आत्मनिरीक्षण, चिन्तन आदि मन को उदात्त बनाने वाली बातों में बिताना चाहिए। उपवास एक बड़ा शस्त्र और महान् अग्निपरीक्षा है, अतः इसका अवलम्बन करने के पहले अपने उद्देश्य की जांच कर लेनी चाहिए। उद्देश्य में थोड़ी-सी भी अशुद्धि नहीं होनी चाहिए। वह एक शस्त्र है अतः अपने शरीर और मन को उसकी कसौटी पर कसने के पहले उसका अच्छी तरह अभ्यास कर लेना चाहिए। जिसने अहिंसा-मार्ग को नहीं समझा और इस बात का अध्ययन नहीं किया कि उपवास किस प्रकार किया जाय तो उसे एकदम प्रारंभ नहीं करना चाहिए। सबसे पहले उपवास करने का अधिकार प्राप्त करना चाहिए। स्वार्थ, क्रोध, चंचलता, अविश्वास अथवा जल्दबाजी के लिए उसमें कोई स्थान नहीं होना चाहिए।

आमरण अनशन वह कदम है जिसे सत्याग्रही को आखिर अंत में उठाना चाहिए। हिंसक युद्ध में सैनिक या उसके समूहों को मार डालना ही अंतिम काम समझा जाता है और एक उसी उद्देश्य के लिए उन्हें शिक्षा दी जाती है। जहां हिंसक युद्धों का उद्देश्य विरोधी को यातनाओं का भय और मृत्यु की दहशत दिखाकर दबाव डाला जाता है वहां अहिंसक युद्ध का उद्देश्य होता है—स्वयं मरणप्राय यातना भुगतकर विरोधी की सद्-असद् विवेक-बुद्धि को जाग्रत करना। कष्ट-सहन की सर्वोच्च सीमा है—आमरण अनशन। जब सत्याग्रह के अन्य सारे मार्ग विफल सिद्ध हो जाय और आसपास का सारा वातावरण निराशा के अंधकार से भर जाय, तब इस विश्वास से कि, अंतिम त्याग के द्वारा सत्य की प्रतिष्ठा स्थापित की जा सकेगी सत्याग्रही उपवास का अवलम्बन करे। लेकिन यह बिल्कुल अंतिम मार्ग है। इसका अत्यन्त भीषण और शायद प्राणघातक परिणाम भी हो सकता है। अतः इस सम्बन्ध में लापरवाही से बात नहीं करनी चाहिए। अथवा इनकी आंतरिक आवश्यकता अनुभव हुए बिना उसका उपयोग नहीं करना चाहिए। साधारणतः अपने सार्वजनिक उपवासों के सम्बन्ध में और खासकर आमरण अनशन के सम्बन्ध में बोलते हुए गांधीजी कहा कि उन्हें इनकी स्फूर्ति अंतर्नाद से हुई थी। वह ईश्वर का आह्वान ही था। सारी साधना कर लेने के बाद भी उन्हें प्रतीत हुआ कि राजकोट के उपवास में दोष पैदा हो गया था। यद्यपि शुरू से उपवास का स्वरूप अत्यन्त शुद्ध था तथापि जब उन्होंने वारसराय की मध्यस्थता की सम्मति दी उस समय उसमें अशुद्धता और स्वार्थ आ गया था। इससे यह सिद्ध होता है कि उपवास के शस्त्र का उपयोग करना अत्यन्त कठिन है, अतः उपयोग करने से पहले अच्छी तरह उसका अभ्यास कर लेना चाहिए।

13. सत्याग्रहयुद्ध का नैतिक पर्याय

नेपोलियन ने कहा था कि युद्ध विनाश का शास्त्र है और यह ठीक भी है। यदि हम महायुद्ध के किसी भी पहलू पर नजर डालें तो इस कथन की सत्यता प्रकट होती है। एक पक्ष दूसरे धन-जन की जितनी अधिक हानि पहुंचाता है, उसे उतनी ही अधिक सफलता मिलने की संभावना रहती है! फिर भी आज कितने ही ऐसे युद्ध के समर्थक हैं जो यह मानते हैं कि युद्ध मानव जाति के हित और प्रगति की साधक एक संस्था है।

युद्ध एक अनिवार्य संकट है— यह कहना दूसरी बात है और यह आग्रह रखना दूसरी बात है कि वह मानवता के लिये वरदान है अथवा उसके बिना मानवता की प्रगति संभव नहीं है। इन लोगों का कहना यह है कि मानव जाति की प्रगति के लिए बीच-बीच में कत्ल और लूटपाट होना संभव है। प्राचीन काल में युद्ध कितना ही रम्य क्यों न हो, आज तो महा भयंकर विस्फोटक-द्रव्यों के अनुसंधान और युद्ध लड़ने के नये संगठन के कारण उसकी विनाशक शक्ति कई गुना बढ़ गई है।

एक अंग्रेजी कवि ने कहा था कि प्रकृति हिंसा से ओतप्रोत है। 'ओरिजिन ऑफ दी स्पेसिस' नामक पुस्तक के लेखक डार्विन ने जीवन-संग्राम का सिद्धान्त संसार के सामने रखा। उससे सहज ही यह बात स्पष्ट होती है कि जो शारीरिक दृष्टि से समर्थ हों उन्हें कमजोरों को मिटा देना चाहिए। और इससे इस विचारधारा को बल मिला है कि इस नैसर्गिक नियम के विरुद्ध कमजोरों का बचाव करने का प्रयत्न करना व्यर्थ है। जी. तार्दे और जे. नोहिको जैसे पदार्थ-विज्ञानियों ने यह स्पष्ट किया है कि अणु-परमाणु तथा आकाश में भ्रमण करने वाली ग्रह-मालाओं में भी सतत जीवन-संग्राम चल रहा है। इसी प्रकार जर्मनी के तत्त्वज्ञानियों को लड़ाई में कई सदगुण दिखाई दिये हैं और उन्होंने यह प्रतिपादन किया है कि समाज की प्रगति और प्रभुत्व के लिए जिन मूलभूत गुणों की आवश्यकता होती है वे केवल युद्ध से ही प्रकट हुए हैं। इटली के तानाशाह मुसोलिनी कहा है—“केवल युद्ध के द्वारा ही सारी मानवीय शक्तियों का अधिक-से-अधिक विकास होता है और जो युद्ध का मुकाबला करने में शूरवीर होते हैं उनकी श्रेष्ठता युद्ध से ही सिद्ध होती है। जिस समय जीवन-मरण जैसा महत्त्वपूर्ण निर्णय करना पड़ता है उस समय युद्ध के जैसा दूसरा कोई प्रभावकारी उपाय नहीं बचता।”

यह ठीक है कि युद्ध भी मानव जाति जितना ही पुराना है लेकिन साथ ही यह बात भी उतनी ही सत्य है कि मानव युद्ध टालने का प्रयत्न करता आ रहा है और आज भी वह नियन्त्रित होकर ही युद्ध का अवलम्बन करता है। युद्ध के इतिहास को देखने से स्पष्ट होता है कि युद्ध, कितने ही क्रूर क्यों न हो फिर भी समाज भिन्न-भिन्न समय युद्ध-नीति के अलग-अलग नियम बनाकर उसमें थोड़ी-बहुत मानवता लाने का लगातार प्रयत्न करता आ रहा है। यद्यपि यह कहावत प्रसिद्ध है कि—“प्रेम और युद्ध में सब कुछ जायज है” तथापि युद्ध के अंतर्राष्ट्रीय नियम बनाकर मनुष्य जाति ने उसमें उदारता तथा कुछ अंशों में न्याय्यता लाने का प्रयत्न किया है। यह भी सत्य है कि युद्धकाल में त्याग, धैर्य, कष्टसहन की तैयारी आदि कुछ गुणों का उत्कर्ष होता है। इसीलिए रस्किन ने कुछ अतिशयोक्तिपूर्ण उद्गार प्रकट किये हैं कि “मनुष्य के सारे सदगुण और कार्य-सिद्धि का आधार युद्ध है।” इसी आधार पर तत्त्वज्ञानी विलियम जेम्स ने कहा कि—“मानवीय जीवन और दृढ़ता का आदर्श टिकाये रखने का कार्य सेनावाद के द्वारा ही हुआ है और बिना दृढ़ता के मानव जीवन तिरस्करणीय हो जायगा।” लेकिन इसका यह अर्थ नहीं कि युद्धक्षेत्र के बाहर इन मानवीय गुणों के लिए कोई स्थान नहीं है और इन गुणों को प्रकट करने के लिए सरेआम कत्ल और विनाश की ही जरूरत है। स्वभावतः ऐसी आपत्ति और मौके कितनी ही बार आ जाते हैं कि उस समय मनुष्य के अत्युत्तम गुण व्यक्त होते हैं। यदि सदगुणों का प्रदर्शन दुर्गुण, पाप, अतिमानवता और विनाश के ताण्डव में ही हो तो इस प्रदर्शन से दूर रहना ही अच्छा है। मनुष्य की कुछ प्रबल प्रवृत्तियाँ उसे किंतु विनाश की ओर ले जा रही हैं।

इस बात से इंकार नहीं किया जा सकता कि शारीरिक, मानसिक, आध्यात्मिक सभी क्षेत्रों में संघर्ष है। प्रश्न यह है कि इस संघर्ष का निर्णय करने के लिए एकमात्र मार्ग शक्ति और हिंसा का अवलम्बन करना ही है या और कुछ? इससे भी अधिक महत्त्व का प्रश्न यह है कि मनुष्य जो युद्ध का अवलम्बन करता है वह इसलिए कि वह अनिवार्य है या वांछनीय अथवा झगड़े मिटाने का यही एकमात्र साधन है? आकर्षण और संसक्ति की प्रधानता पर ही प्रकृति का अस्तित्व टिक सकता है। यदि यह मान लिया जाय कि प्रकृति का अस्तित्व परस्पर विकर्षण पर ही टिका हुआ है और "Survival of the fittest" के सिद्धान्तानुसार प्राणिमात्र और जगत् चल रहा है। किंतु यहां यह प्रश्न तो रह ही जाता है कि उच्च समझे जाने वाले मानव प्राणी को अपनी श्रेष्ठ कार्यशक्ति का उपयोग किस तरह करना चाहिए। मानवीय व्यवहार में भी क्या पाशवी शक्ति ही की अंतिम विजय होनी चाहिए?

गांधीजी ने लिखा था—“मनुष्य एक-दूसरे का विनाश करके जीवित नहीं रह सकता। आत्मप्रेम के कारण हमें एक-दूसरे का आदर करना पड़ता है। राष्ट्र एक-दूसरे के नजदीक आते हैं, इसलिए कि एक राष्ट्र के नागरिकों में दूसरे राष्ट्र के नागरिकों के लिए आदर होता है। जिस प्रकार हम कौटुम्बिक

नियम का क्षेत्र बढ़ाकर सारे राष्ट्र को ही अपना कुटुम्ब मान लेने लगे हैं उसी प्रकार कभी-न-कभी हमें राष्ट्र के नियम का क्षेत्र भी बढ़ाकर उसकी सीमा को सारे विश्व तक ले जानी पड़ेगी। लेकिन इस बात पर विचार कर लेना चाहिये कि क्या वास्तव में युद्ध, झगड़े मिटाने का संतोषजनक रास्ता है? 'योग्यतम ही जीवित' के सिद्धान्त के अनुसार तो मानवीय व्यवहार में शारीरिक शक्ति ही निर्णायक मानी जानी चाहिए। इस वृत्ति से सहमत हुए बिना कोई भी यह नहीं कह सकता कि युद्ध ही संतोषजनक एवं एकमात्र रास्ता है। यदि कोई ऐसा कहे तो उसे नैतिक मूल्य, न्याय, निष्पक्षता आदि को हमेशा के लिये तिलांजलि दे देनी चाहिये। प्रेम, सद्भाव, न्याय और निष्पक्षता पर आधारित नये मूल्यों की प्रस्थापना करने के लिये इतिहास के प्रारंभ से आज तक मनुष्य प्रयत्न करता आ रहा है। कौटुम्बिक जीवन, सामाजिक संस्थाएं और हमारे समाज की रचना भ्रातृत्व और न्याय के आधार पर ही की गयी है। अपनी क्षुद्र प्रवृत्तियों पर अब तक भले ही हम हावी न हुए हों लेकिन नियति का कदम निश्चित रूप से प्रेम और न्यायानुसार चलने वाले समाज की ओर ही बढ़ रहा है।

पाशवी शक्ति हमेशा ही न्याय का पक्ष लेती हो, ऐसी बात नहीं है। इस विषय में यदि एकमत हो जायें तो फिर बिल्कुल आदर्श पद्धति में भी स्वार्थों को लेकर जो झगड़े अपरिहार्य हो जाते हैं उन्हें दूर करने के लिए युद्धमार्ग का अवलम्बन करना कितना वीभत्स, जंगली और असमाधानकारक है, यह बात फौरन ध्यान में आ जायगी। जिसके पक्ष में न्याय है उसके पास उसे प्रस्थापित करने के लिए आवश्यक बाहुबल होगा ही, यह नहीं कहा जा सकता। इसी प्रकार हिंसा के प्रयोग से द्वेष और बदले की भावना पैदा होती है। इसके अतिरिक्त युद्ध के द्वारा ऐसा प्रक्षोभ पैदा हो जाता है कि दोनों पक्षों का संतुलन छूट जाता है और उस प्रश्न पर शांतिपूर्वक विचार करने की मनस्थिति में कोई नहीं रहता। जिन हितों की रक्षा के लिए दोनों पक्ष लड़ाई के लिए तैयार होते हैं, लड़ाई में उन हितों के नष्ट हो जाने की संभावना अधिक हो जाती है। 'वार्स आफ्टर पथ' नामक पुस्तक में डी.एस. जार्डन और एन.ई. जार्डन ने गृहयुद्ध के बाद संयुक्त राज्य अमेरिका के व्हर्जीनिया नामक राज्य में उन्होंने परिस्थिति का अध्ययन किया और वे इस नतीजे पर पहुंचे कि राज्य का जनबल कम हो गया है। हिंसा का अर्थ दूसरे पक्ष पर जबरदस्ती करना होता है और इस जबरदस्ती से कभी भी स्थाई जीत नहीं होती और उसके द्वारा कभी भी सच्चे उद्देश्यों की सफलता नहीं होती। यदि विजय होती है तो वह कई बार नाममात्र की ही होती है।

आजकल की लड़ाइयों में दोनों ओर बरबादी इतनी प्रचुर मात्रा में होती है कि विजेता और विजित, दोनों की स्थिति समान रूप से दयनीय हो जाती है। आर्थिक सम्बन्ध इतने परस्परवलम्बी और गुथे हुए होते हैं कि दोनों पक्षों को पारस्परिक लाभ के लिए एक-दूसरे के साथ सहयोग करना ही पड़ता है। पहले महायुद्ध के बाद इंग्लैण्ड ने जर्मनी के साथ जैसा किया उसी के अनुसार राष्ट्रों में परस्पर शक्ति-संतुलन बनाए रखने के लिए विजेता राष्ट्रों को ही कई बार विजित राष्ट्रों को सत्ता देनी पड़ी। कई बार महायुद्ध भी जिन कारणों से शुरू होते हैं उनका निर्णय होने के पहले ही समाप्त हो जाते हैं। पहला महायुद्ध इसके उदाहरण के रूप में स्पष्ट किया जा सकता है। और लगभग उन्हीं प्रश्नों को हल करने के लिए दूसरा संसारव्यापी महायुद्ध फिर से प्रारंभ हुआ।

अल्डुस हक्सले ने अपनी 'एन्ड्स एण्ड मीन्स' नामक पुस्तक में हिंसा के प्रयोगों में रहने वाली अर्निणीतता और प्रतिक्रिया पर काफी प्रकाश डाला है। उन्होंने लिखा—“यदि हिंसा का जवाब हिंसा से दिया जाता है तो उसकी परिणति पाशवी झगड़े में हो जाती है और उससे उसमें प्रत्यक्ष रूप से ही नहीं, अप्रत्यक्ष रूप से भाग लेने वालों के मन में भी द्वेष, भय, क्रोध और संताप आदि भावनाएं जागृत हो जाती हैं। लड़ाई के आवेश में न्यायान्याय का ही ख्याल नहीं रहता और पीड़ियों से परिश्रमपूर्वक अपने सुसंस्कृत जीवन में जो मानवता की क्रमशः साधना की गई है उसे भी भुला दिया जाता है। दोनों ही पक्षों को विजय के अलावा और किसी भी बात का ख्याल नहीं रहता। इस पाशवी झगड़े के अंतिम परिणाम के रूप में जब दोनों पक्ष में से कोई एक पक्ष विजयी होता है तब योग्यता-अयोग्यता अथवा न्याय-अन्याय से उनका किसी प्रकार का सम्बन्ध नहीं रहता और स्थायी रूप से वह झगड़ा मिटता भी नहीं है।”

यदि यह मान भी लिया जाए कि युद्ध के द्वारा लोगों के कुछ अच्छे गुण प्रकट होते हैं और उनकी शक्ति की परीक्षा होती है तो भी हितविरोधों का संतोषजनक रीति से अथवा सदा के लिए युद्ध

का रास्ता सुझाना उचित नहीं होता। भिन्न-भिन्न समूहों के स्वार्थों में समझौता कराने के लिए दूसरे रास्ते ढूँढना उचित होगा। यदि युद्ध के घृणित एवं विनाशक पक्ष को एक ओर रख दें तो भी विलियम जेम्स ने सन् 1910 में ही यह सूचित कर दिया था कि युद्ध का नैतिक पर्याय ढूँढ निकालना चाहिए। झगड़ों को निपटाने के लिए वह युद्ध से भी ज्यादा समाधानकारक पर्याय चाहता था और साथ ही वह चाहता था कि वह युद्ध की ही भाँति उत्तेजक और उत्साहवर्द्धक हो और युद्ध की ही तरह महान गुण प्रकट करने वाला भी हो। हक्सले ने आगे लिखा है—“संसार में आज तक किसी एक संपूर्ण जाति को अनुशासन में बांधने वाली शक्ति युद्ध ही है और मेरा दृढ़ विश्वास है कि जब तक युद्ध के पर्याय के रूप में कोई दूसरा संगठन नहीं बनता तबतक युद्ध का यही स्थान रहेगा।”

दो मानव समूहों में हितविरोध या मतभेद पैदा होते हैं तब कई बार चर्चा, समझौता, पंच फैसला आदि सारे उपाय विफल हो जाते हैं। एक पक्ष दूसरे पक्ष को आत्मसमर्पण कर देने के लिए अंतिम सूचना दे देता है। उसका भी कोई परिणाम नहीं होता तो फिर सीधे-सीधे अपने सामर्थ्य की ओर दौड़ लगाई जाती है और सारे संभव उपायों से एक-दूसरे का विनाश करना प्रारंभ कर दिया जाता है। लेकिन ऐसा करने के भी कुछ नियम और मार्ग निश्चित होते हैं और दोनों पक्ष इनका पालन भी करते हैं। इससे कटुता एवं दोनों पक्षों का कष्ट थोड़ा-बहुत कम हो जाता है। लेकिन विनाश में कोई कमी नहीं होती। शत्रु को पूरी तरह मिटा देने, अथवा मृत्यु या घोर यातनाओं का डर दिखाकर आत्मसमर्पण करवा लेने के लिए ही सारे प्रयत्न होते हैं। यह दूसरों पर शारीरिक शक्ति या जबरदस्ती से निर्णय लादने का एक प्रयत्न है। विलियम जेम्स का कहना है कि इस प्रकार की शारीरिक शक्ति के बजाय नैतिक शक्ति का प्रयोग करना चाहिए। अर्थात् हिंसा का अवलम्बन करना अथवा भय या धमकी देने का समावेश इसमें नहीं हो सकता। बल्कि उसकी यह कल्पना है कि मानवीय प्रयत्नों की पराकाष्ठा-स्वरूप ईमानदारी, परस्पर एकता, दृढ़ता, उदारता, शोधक बुद्धि, शारीरिक दृढ़ता और तेज आदि मनुष्य स्वभाव के सर्वोत्तम गुणों का विकास होना चाहिए।

जब किसी दूसरे रास्ते से अपने अधिकारों की प्राप्ति न की जा सके तब उसे जबरदस्ती मंजूर करवाने के प्रयत्न को ही युद्ध कहते हैं। पाशविक होने के कारण इस अनैतिक मार्ग का सत्याग्रह के अतिरिक्त दूसरा पर्याय क्या हो सकता है जो कि पूर्णतः अहिंसक होने के साथ ही नैतिक और हृदय-परिवर्तन के द्वारा विचार परिवर्तनकारी है। यदि पक्ष सत्य और न्यायोचित है तो पारस्परिक हितविरोध को मिटाने का दावा सत्याग्रह करता है। इस अर्थ में सत्याग्रह युद्ध का पर्याय कहा जाता है। वह थोड़े-बहुत अंशों में अंतिम निर्णय करवाने के लिए युद्ध का स्थान ले लेता है। और चूंकि उसमें शारीरिक शक्ति का प्रयोग नहीं किया जाता, हिंसा का आश्रय नहीं लिया जाता, सद्भावना के द्वारा समझदारी लाने का प्रयत्न किया जाता है और नैतिक दृष्टि से जाग्रत किया जाता है इसीलिए इसे नैतिक पर्याय कहा जाता है।

यद्यपि शांतिवादी, नैतिक विरोधक, अंतर्राष्ट्रीयतावादी और सत्याग्रही सभी युद्धविरोधी हैं। लेकिन केवल युद्धविरोधी होने से कुछ नहीं चलता। वाल्टर लिपमेन के कथानुसार “... झगड़ों का निर्णय होना ही चाहिए और इसके लिए युद्ध के अलावा कोई दूसरा पर्याय ढूँढ निकालना चाहिए।” मानवीय स्वभाव का विकास इस प्रकार हो कि कभी झगड़े पैदा ही न हों लेकिन यदि कभी भूले-भटके झगड़ा हो ही जाय तो बातचीत समझौते या पंच फैसले के द्वारा उसका निर्णय कर लिया जाय। यद्यपि यह अभीष्ट है तथापि उस शुभ दिवस के आने तक झगड़े तो होंगे ही, ऐसी स्थिति में पाशवी शक्ति का आश्रय लेने के बजाय यदि लोगों ने सत्याग्रह का आश्रय लिया तो वह उचित है।

‘युद्ध का राजनैतिक पर्याय’ नामक लेख में वाल्टर लिपमेन ने लिखा है—“केवल सैनिक गुणों के लिए ही पर्याय ढूँढने से काम नहीं चलेगा। इसकी अपेक्षा युद्ध के मार्ग और उद्देश्य के सम्बन्ध में कोई पर्याय, प्रत्यक्ष कार्यरूप में दिखना ज्यादा महत्वपूर्ण है। क्योंकि युद्ध केवल वृत्ति प्रकट करने का साधन नहीं है और न वह अभिव्यक्ति के लिए अधीर हो जाने वाली व्यक्तिनिष्ठ भावनाओं का उद्गार है। वह तो महान प्रश्नों को हल करने का एक मार्ग है और मेरे विचार में वही युद्ध का प्रधान अंग है। यदि यह ठीक है तो आज तक युद्ध के द्वारा जिन प्रश्नों का निर्णय किया जाता था उन्हें हल करने का रास्ता ढूँढकर उसे संगठित करने पर ही मुख्यतः युद्धों का बन्द होना अवलम्बित है।” यह निश्चित रूप से कहा

जा सकता है कि सत्याग्रह का मार्ग, जो कि एक अर्थ में हिंसक युद्ध की अपेक्षा श्रेष्ठ है, महत्त्वपूर्ण निर्णय करने में विशेष रूप से उपयोगी होता है।

युद्ध और सत्याग्रह दोनों का ही अवलम्बन अंतिम उपाय के रूप में किया जाता है। दोनों का समावेश प्रत्यक्ष प्रतिकार के प्रकारों में होता है। गांधीजी ने लिखा है कि—“आज तक संसार में सारी बातों का निर्णय प्रत्यक्ष प्रतिकार के द्वारा हुआ है।” दक्षिण अफ्रीका में प्रत्यक्ष प्रतिकार के द्वारा ही जनरल स्मट्स को समझ में आया। चम्पारन में भी प्रत्यक्ष प्रतिकार द्वारा ही सैकड़ों वर्षों की शिकायतें दूर हुईं। लड़ाई चालू रखने के लिए युद्ध और सत्याग्रह दोनों में ही सर्वस्व की बाजी लगानी पड़ती है। दोनों में ही वीरता, मर्दानगी, साहसी वृत्ति और रोमांचकता, सहनशीलता, संयम, त्याग, उदारता, चपलता की आवश्यकता होती है। दोनों ही बड़े-बड़े झगड़े दूर करने के रास्ते हैं। अंतः दोनों में ही निर्णायक शक्ति है।

यदि पाशविक शक्ति के बल पर जुल्म और जबरदस्ती करना युद्ध का उद्देश्य है तो सत्याग्रह का उद्देश्य है—हृदयपरिवर्तन के बल पर दूसरे को अपने पक्ष में लाना। लेकिन यदि वह सफल न हो सके तो नैतिक दबाव का उपयोग किया जाता है। दोनों ही मार्ग अपने-अपने ढंग से शत्रु के नैतिक बल को नष्ट करने का प्रयत्न करते हैं। यदि दूसरों पर कष्ट लादकर उनके मन में भय पैदा करना युद्ध का रास्ता है तो कष्टसहन के द्वारा प्रतिपक्षी को यह अनुभव कराना कि उसकी ही भूल है, सत्याग्रह का तरीका है। दोनों में ही कड़े अनुशासन और काफी तैयारी की आवश्यकता है। दोनों के ही द्वारा उच्च ध्येय के लिए त्याग करने की वृत्ति जाग्रत होती है और उसके द्वारा यशसम्पादन का रास्ता सुगम बनता है। युद्ध पाशविक शक्ति का उपयोग करता है, सत्याग्रह नैतिक बल पर अवलम्बित रहता है। युद्ध—हिंसा, धन-जन के विनाश और विरोधियों के समूल नाश अथवा अपमानजनक व्यवहार के द्वारा उन्हें अपनी शरण में लाने का समर्थन करना है। धन-जन को हानि न पहुंचाना, ‘जियो और जीने दो’ के सिद्धान्त का समर्थन करना और विरोधी का अपमान न करके उससे समानता का व्यवहार करना—सत्याग्रह की शिक्षा है। युद्ध दूसरों पर ज्यादा-से-ज्यादा कष्ट लादता है। सत्याग्रह खुद अपने ऊपर की अपार क्लेश को निमंत्रण देता है। युद्ध प्रतिपक्षी की शक्ति को चुनौती देता है तो दूसरों की समझदारी को जागृत करना सत्याग्रह की आत्मा है। युद्ध में बहुधा महाभयंकर नुकसान उठाना पड़ता है। उसके मुकाबले सत्याग्रह—आंदोलन में धन-जन की जो क्षति होती है, वह नगण्य है। गांधीजी ने हरिजन में लिखा है—“हमें सत्याग्रहियों की एक छोटी-सी सेना पर्याप्त होगी और उसका खर्च भी बहुत कम होगा।” युद्ध में समझौते का कोई स्थान नहीं है। सैद्धान्तिक मुद्दे के अलावा दूसरे मुद्दों पर सत्याग्रही सदैव ही समझौते के लिए तैयार रहता है। युद्ध से द्वेष, क्रोध, दया, सहानुभूति आदि गुणों का विकास होता है। युद्ध अन्याय का पक्ष भी ग्रहण कर लेता है; लेकिन सत्याग्रह त्रिकाल में भी ऐसा नहीं करेगा। युद्ध में गुप्तता, अविश्वास, झूठ, छल-कपट और षड्यंत्र सब कुछ क्षम्य है। सत्याग्रह का आधार सत्य है, अतः वह सदैव प्रकट और सरल मार्ग का ही उपयोग करता है। युद्ध में क्रोध और आवेश की भवना उद्दीप्त की जाती हैं तथा सत्याग्रह लोगों को शांत, संयमी और किसी के प्रति द्वेषभावना न रखते हुए सहनशील रहने का अनुरोध करता है। युद्ध एक जंगली तरीका है, लेकिन सत्याग्रह संस्कृत और ईसा का तरीका कहा जा सकता है। युद्ध के संगठन और सत्याग्रह के संगठन के समाज पर भिन्न-भिन्न परिणाम होते हैं। युद्ध के लिए तैयारी करने वाले राष्ट्र अपना सारा खजाना गोला-बारूद तैयार करने में ही खाली कर देते हैं और अपने नागरिकों को पड़ोसी राष्ट्रों के भाइयों को कत्ल करने के लिए तैयार रहने की आज्ञा देते हैं। तो सत्याग्रह की तैयारी करने वाले राष्ट्र ज्यादा-से-ज्यादा सद्भावना फैलाते हैं और दूसरों को मौत की खाई में धकेलने के बजाय खुद कष्टसहन करने के लिए तैयार रहते हैं।

युद्ध में साधन-साध्य सम्बन्धी किसी भी प्रकार की सुसंगति नहीं रहती। लेकिन सत्याग्रह में साधन-साध्य का सम्बन्ध सुसंगत, स्थिर और अखण्ड रहता है। जो लड़ाई की विशेषतः आक्रमक लड़ाई की शुरुआत करते हैं वे अपने पक्ष के सम्बन्ध में दृढ़तावादी होते हैं; लेकिन इसके विपरीत सत्याग्रही कभी भी दृढ़वाद का आश्रय नहीं लेता। वह सदैव यह सोचता है कि संभव है दूसरे का भी मत ठीक हो और इसीलिए वह दूसरों पर कष्ट लादने के लिए तैयार नहीं होता बल्कि स्वयं ही उन्हें भोगने को तैयार रहता है। युद्ध अपने पीछे क्रोध, कटुता, द्वेष एवं भावी युद्ध के बीज की विरासत छोड़ जाता है; लेकिन सत्याग्रह का यह आग्रह रहता है कि इस प्रकार की कोई भी दुःखद स्मृति पीछे न रहे। सत्याग्रह कभी

भी ऐसी बातों का उपयोग नहीं करता। 12 मई 1920 के यंग इंडिया में गांधीजी ने लिखा था कि—“आठ वर्षों तक प्रत्यक्ष लड़ाई लड़कर भी किस प्रकार की कटुता शेष नहीं रही। इतना ही नहीं जिन हिन्दुस्तानियों ने जनरल स्मट्स से इतनी जबरदस्त लड़ाई की वे ही सन् 1915 में झण्डे के नीचे इकट्ठे होकर उन्हीं के नेतृत्व में पूर्वी अफ्रीका से लड़े।”

‘डॉन ऑफ फ्रीडम इन इंडिया’ नामक पुस्तक के लेखक ने नैतिक पर्याय के रूप में सत्याग्रह के सम्बन्ध में लिखा है—“युद्ध की अपेक्षा सत्याग्रह में सबसे स्पष्ट लाभ यह है कि सत्याग्रह में अपेक्षाकृत बहुत कम नुकसान होता है। असत्य का स्थान सत्य ले लेता है और श्रेष्ठ सामर्थ्य की जगह सत्याग्रह अपने पक्ष की न्याय के बल पर अपना उद्देश्य पूरा कर लेने की आशा रखता है। इसके अतिरिक्त सत्याग्रह से और भी कई स्पष्ट लाभ हैं लेकिन वे इतने महत्वपूर्ण नहीं हैं।”

“युद्ध की सारी रम्यता एवं साहस सत्याग्रह में भी अंतर्भूत है ही। उसमें भी खतरा रहता है और बहुतों को बलिदान भी देना पड़ता है। सत्याग्रह की वीरता में उदात्तता है। सत्याग्रही से आत्मिक वीरता की अपेक्षा की जाती है।” “सत्याग्रह कम खर्चीला है। शस्त्रास्त्र सेनागार तथा पेंशन जैसे जबरदस्त खर्चे उसमें नहीं होते। वह तपस्वियों की युद्धनीति है और चूंकि हिन्दुस्तान ने अनेक तपस्वियों को जन्म दिया है अतः इस युद्ध-नीति की शुरुआत हिन्दुस्तान से होना उचित ही है। सत्याग्रह जन-तंत्री वृत्ति का व्यक्त-स्वरूप है। सत्याग्रह युद्ध में किसी को भी किसी प्रकार की उपाधि या तमगे नहीं दिये जाते और सब प्रकार की वर्ग-भावना मिटाई जाती है। सत्याग्रही सैनिकों की भरती सभी क्षेत्रों से की जाती है। स्त्रियों के लिए उसमें विशेष स्थान है और छोटे-छोटे बच्चे भी उसमें भाग ले सकते हैं। सत्याग्रह की संभावनाएं असीम हैं। ऐसी एक भी परिस्थिति दिखाई नहीं देती जिसमें सत्याग्रह का अवलम्बन नहीं किया जा सकता।

सत्याग्रह एक ऐसा हथियार है जो कभी भी चलाया जा सकता है। जो उसे चलाता है और जिसके ऊपर वह चलाया जाता है उन दोनों का उससे भला ही होता है। एक भी बूंद रक्त बहाये बिना सत्याग्रह से बड़े दूरगामी परिणाम लाये जा सकते हैं।

सशस्त्र विदेशी आक्रमणों के विरुद्ध लगभग सभी क्षेत्रों और सभी अवसरों पर सत्याग्रह का उपयोग किया जा चुका है। और इन सभी क्षेत्रों में वह अच्छी तरह युद्ध का स्थान प्राप्त कर लेने में सफल हुआ है। शस्त्रास्त्रों से पूरित विदेशी शक्ति से हिन्दुस्तान की सत्याग्रह की लड़ाई एक महान प्रयोग है। उसमें सफलता की बहुत बड़ी आशा है और उसने इस दिशा में बहुत बड़ी मंजिल तय कर ली है। आक्रमण सेनाओं की बाढ़ को रोककर चढ़ाई करने वाले शत्रु का सफलतापूर्वक प्रतिकार करने के लिए एक बहुत बड़े पैमाने पर तैयारी की जरूरत है और उस तरह की तैयारी करने के लिए स्वतंत्रता भी मिलनी चाहिए। लेकिन जिन लोगों का यह विश्वास है कि युद्ध का स्थान सत्याग्रह ले लेगा वे यह नहीं कह सकते कि यह सत्याग्रह के सीमाक्षेत्र के बाहर की बात है।

जो अपने को शांतिवादी कहते हैं वे भी युद्ध का विरोध करते हैं; लेकिन उनके सामने युद्ध के विरोध करने का अपना खुद का कोई रास्ता न होने के कारण कठिनाई के समय या तो वे निष्क्रिय बन जाते हैं या युद्ध का समर्थन करने लग जाते हैं। काम करने के समय निष्क्रियता के उपदेश से कभी काम नहीं चल सकता। जो युद्ध का नैतिक विरोध करने वाले हैं उनका उपाय इस संबंध में व्यक्तिगत ही होता है। उससे उतने समय के लिए तो उनकी बुद्धि का समाधान हो जाता है लेकिन उनके मार्ग की मंजिल इसके आगे नहीं जाती। अंतर्राष्ट्रीयता-वादियों का विश्वास किसी-न-किसी रूप में संयुक्त राज्य के संगठन एवं राष्ट्रसंघ पर होता है। लेकिन उस सम्बन्ध में जो प्रयत्न हुए हैं, वे असफल हो चुके हैं। इस सम्बन्ध में टाल्सटॉय ने यह कहा है कि हिंसा एवं उदार मतवाद असफल सिद्ध हो गये हैं और उन्होंने रशियन सरकार की सत्ता और अनुत्तरदायित्व को बढ़ा दिया है। स्वयं टाल्सटॉय भी युद्ध के अलावा किसी ऐसी प्रणाली की खोज में थे जो उतनी ही कार्यक्षम हो। इसलिए उन्होंने सन् 1910 में गांधीजी को जो पत्र लिखा उसमें उनके उस काम की प्रशंसा की? जो गांधीजी ट्रान्सवाल में कर रहे थे।

एक अर्थ में ये सब विचारधाराएं ठीक हैं और निश्चित रूप से इनके द्वारा शांतिमार्ग के समर्थन को प्रोत्साहन मिला है। मानवता को लड़ाई के मार्ग से वापिस लौटाकर शांति के मार्ग पर ले जाने का रास्ता ही वे विशेष रूप से अपना रहे हैं। किंतु जब मूलभूत परिवर्तन करने की आवश्यकता होती है तब

हिंसक या अहिंसक प्रत्यक्ष प्रतिकार के अलावा दूसरा कोई उपाय नहीं रहता। इसी तरह जब दो राष्ट्रों में झगड़ा होता है तब प्रत्यक्ष रूप से हिंसक या अहिंसक प्रतिकार करने के अलावा कोई रास्ता नहीं रहता। इस तरह प्रत्यक्ष प्रतिकार करने के अलावा कोई रास्ता नहीं रहता। इस तरह प्रत्यक्ष प्रतिकार करना और कानून को अपने हाथ में ले लेना आवश्यक हो जाता है। प्रश्न तो इतना ही है कि यह हिंसा से किया जाय या अहिंसा से। समाज, सरकार या राष्ट्रों के पारस्परिक सम्बन्धों में कोई भी मूलभूत फर्क कानून को ताक में रखे बिना करना किसी प्रकार संभव ही नहीं है। गांधीजी को इसका सच्चा बोध हो गया था। जो बात लोगों को अत्यन्त महत्वपूर्ण लगती है वह केवल समझदारी से ही प्राप्त नहीं होती उसके लिए भी कष्टसहन के रूप में कीमत देनी पड़ती है। सन् 1932 में अपने उपवास के सम्बन्ध में उन्होंने कहा था कि एक जबरदस्त खलबली के बिना समाज में मूलभूत परिवर्तन होना असंभव है और वह हिंसा या अहिंसा से ही हो सकता है। लेकिन चूंकि हिंसा का रास्ता पतन और निराशा का रास्ता है अतः उसे छोड़ ही देना चाहिए। अहिंसा का रास्ता उदात्त है। जिसके विरुद्ध उसका उपयोग किया जाता है वह उनके नैतिक अधिष्ठान से टक्कर लेता है और उसे मजबूत बनाता है।”

इस प्रकार यदि ऐसा वास्तविक मार्ग ढूंढना है जो युद्धों को टाल सके और सामाजिक झगड़े को मिटा सके तो समाज का सत्याग्रह की दिशा में संगठन किये बिना कोई दूसरा रास्ता नहीं है। हक्सले ने ठीक ही कहा है कि सब लोग शांति चाहते हैं, लेकिन जिन बातों से शांति की स्थापना होती है उन्हें करने के लिए कोई तैयार नहीं होता। युद्ध के लिए उद्योग चालू रखकर शांति प्रस्थापित नहीं हो सकती और न शस्त्रास्त्रों की बाढ़, आक्रमक राष्ट्रवाद एवं द्वेषमूलक देशभक्ति से ही शांति प्राप्त हो सकती है। उसी प्रकार व्यक्तिगत रूप से अप्रतिकार का सिद्धान्त आत्मसात कर लेने और उसके लिए केवल अकेले के लिए ही उसका मार्ग ढूंढ लेने से और शांति कायम नहीं होगी। निःशस्त्र प्रतिकार से भी शांति नहीं मिल सकती क्योंकि जब कोई दूसरे पर आक्रमण करता है तभी उसका अवलम्बन किया जाता है, लेकिन यदि किसी बात की सच्ची आवश्यकता है तो वह अन्याय के ऊपर चारों ओर से आक्रमण करने की—आक्रमक अहिंसक प्रत्यक्ष प्रतिकार की। अंतिम उद्देश्य की दृष्टि से यही सत्याग्रह का कार्य है। उसमें अप्रतिकार और निःशस्त्र प्रतिकार तो निहित है ही लेकिन सत्याग्रह की सीढ़ी इससे भी बहुत आगे की है।

गांधीजी हमेशा यह कहते थे कि उनके सत्याग्रह की पद्धति हिंसामार्ग का स्थान ले सकेगी। आगे उनके लेखों से कुछ वाक्य उद्धृत किये जाते हैं—“सविनय कानून भंग सशस्त्र क्रांति का सम्पूर्ण प्रभावी और रक्तहीन पर्याय है।” (17.11.21) “शस्त्र संभार जो कि हिंसा की दर्शनी की प्रतीक है उसका एक ही उतार है—सत्याग्रह जो कि अहिंसा का दर्शनी प्रतीक है।” (6.8.31) “हिंसा अथवा सशस्त्र विद्रोह के बदले सत्याग्रह उतना ही प्रभावी प्रत्युपाय है।” (1.6.32) “हिंसा की सोलहों आना स्थानपूर्ति करने के लिए ही यह (सत्याग्रह की) कल्पना पेश की गई है।” (15.4.33)

रवीन्द्रनाथ टैगोर ने भी ऐसे ही उद्गार व्यक्त किये हैं—“हिन्दुस्तान ने क्रांति के इतिहास में एक नया तंत्र निर्माण किया है। यह तंत्र हमारे देश की आध्यात्मिक परम्परा के अनुकूल है और यदि उसकी शुद्धता पूरी तरह कायम रखी गई तो संस्कृति को वह हमारी बहुत बड़ी देन साबित होगी। हिन्दुस्तान को अपनी मातृभूमि मानने वाले आदर्श मिशनरी सी.एफ. एन्ड्रूज ने कहा था कि—“गांधीजी की सत्याग्रह साधना के द्वारा उस नैतिक पर्याय की प्राप्ति हो गई है जिसे विलियम जेम्स ढूंढ रहा था।” दक्षिण अफ्रीका में सविनय प्रतिकार की लड़ाई बिना हाथ ऊंचे उठाये ही जीत ली गई। मैंने अपने सारे जीवन में जो घटनाएं देखी उनमें यही एक सचमुच ‘ईसाई’ घटना थी। मैं उसे कभी भी भूल नहीं सकता।”

14. सत्याग्रह का भविष्य

सत्याग्रह के भविष्य के सम्बन्ध में कहना भविष्यवाणी करने जैसा है। लेकिन वह अर्थहीन और निरुपयोगी नहीं है। जो लोग मनुष्य के भविष्य के सम्बन्ध में विचार करते हैं उन्हें उस रास्ते पर भी विचार करना पड़ता है जिसके द्वारा मानवता अपने झगड़ों का निपटारा करेगी। मनुष्य जाति के उद्धार की आशा युद्धविहीन समाज के निर्माण में ही है।

महावीर, बुद्ध, ईसा तथा अन्य संतों ने प्रेम और अहिंसा की शिक्षा दी। आदर्श उपस्थित करके इन्होंने मानवता को बहुत प्रभावित किया। इसमें कोई संदेह नहीं कि प्रेम और उदारता जैसे उदात्त आदर्शों से भरे लोग इधर—उधर दिखाई जरूर देते हैं लेकिन अपने व्यक्तिगत जीवन से परे सामाजिक

अथवा सामूहिक जीवन को मुख्यतः बनाने में वे प्रायः असमर्थ सिद्ध हुए हैं। आज भी हमारे सामाजिक जीवन तथा सामाजिक झगड़ों का निपटारा करने में हिंसा ही निर्णायक शक्ति बनी हुई है। यद्यपि कई बार समझौता और पंच-फैसला सफल होता हुआ दिखाई देता है तथापि वह समझदारी और शांतिप्रियता के कारण नहीं होता बल्कि युद्ध और विनाश के भय से ही होता है। यह एक प्रकार की दुमुखी नीति है।

गांधीजी ने दृढ़ता से कहा कि यदि सत्य और अहिंसा व्यक्ति के लिए लाभदायक है तो वे समूह के लिए भी लाभदायक होनी चाहिए। टाल्सटॉय की तरह वे केवल शिक्षा देकर ही नहीं रुके बल्कि उन्होंने उनकी शिक्षा के अनुसार सत्य के प्रयोग प्रारम्भ किये। उन्हें सत्य की अनुभूति हुई, उन्होंने सत्य का विचार किया, वे सत्य ही बोले। उन्होंने सत्य के अनुसार ही आचरण किया और उसे अनुभव किया। सत्य ही उनके प्रेम का सर्वोच्च केन्द्र था। सत्य को ही उन्होंने ईश्वर माना। अहिंसा और प्रेम के अतिरिक्त सत्यसाधना का कोई दूसरा निर्विघ्न मार्ग उन्हें दिखाई नहीं दिया। सारे प्राणीमात्र एक ही हैं और उनमें परस्पर प्रेम के अलावा कोई दूसरा नैसर्गिक एवं योग्य सम्बन्ध नहीं हो सकता। सत्य के इसी दर्शन में से इस मार्ग का जन्म हुआ है। इसके अतिरिक्त वे यह भी कहते थे कि मनुष्य नश्वर है और भूल करना उसका स्वभाव है अतः अपने सत्य के दर्शन के सम्बन्ध में उसे आग्रह नहीं करना चाहिए। सत्य हमें जिस स्वरूप में दिखाई देता है यदि वह दूसरों को भी उसी स्वरूप में दिखाई दे तो उसके द्वारा जो प्रेमभाव पैदा होगा उससे हमारे पारस्परिक सम्बन्धों में मधुरता आ जाएगी। लेकिन यदि ऐसा न हो और यहां तक कि दूसरे लोग उससे एकमत भी न हो तो ऐसी स्थिति में भी एक सत्यप्रेमी मनुष्य यदि प्रेम और कष्टसहन का मार्ग अपना लेगा और उसे सत्य का दर्शन जिस स्वरूप में हुआ है उसे दूसरों पर जबरदस्ती लादने के झगड़े में नहीं पड़ेगा तो अंत में वह अवश्य विजयी होगा। सबके प्रति सद्भावना रखकर प्रेममय सेवा और कष्टसहन के द्वारा सत्य की साधना करने के लिए ही सत्याग्रही का जीवन अर्पित रहा है।

दूसरों पर मुसीबत डालने की अपेक्षा स्वयं ही मुसीबत उठा लेने और उसके द्वारा सामाजिक झगड़े मिटाने के लिए ही सत्याग्रह तत्त्व उदित हुआ है। यूरोपीय लेखक जिसे 'ईसाई नीतिशास्त्र' के नाम से पुकारते हैं उसका उपयोग सबसे पहले गांधीजी ने ही सार्वजनिक व्यवहार तथा राजनैतिक झगड़ों के लिए किया है। चाहे अफ्रीका और हिन्दुस्तान के ईसाई राज्याधिकारी उनकी महत्ता को मानें या न मानें लेकिन वे अंत तक अपने मार्ग पर दृढ़ रहे हैं। अपनी 'केस फार इण्डिया' नामक पुस्तक में विल्टुण्ड ने लिखा है—“हिन्दुस्तान का स्वतंत्रता संग्राम ईसाई विचारधारा की व्यावहारिकता को आजमाने के लिए किए हुए एक विशाल प्रयत्न का ही द्योतक है। यदि हिन्दुस्तान विजयी हुआ तो ईसाई विचारधारा को सारे संसार में आदर का स्थान प्राप्त हो जायगा और सौजन्य तथा शांति का यश सारे संसार में इस प्रकार फैल जायगा कि 'न भूतो न भविष्यति'।”

हिन्दुस्तान ने स्वराज्य के अपने तात्कालिक ध्येय पथ में एक बहुत बड़ी मंजिल तय कर ली। तो भी उसे इस कार्य में पूर्ण सफलता प्राप्त नहीं हुई है। स्थान-स्थान पर पुराने एवं दुराग्रही अन्यायों का भी परिमार्जन कराने में सत्याग्रह ने अभूतपूर्व सफलता प्राप्त कर ली है। लेकिन आक्रमण अथवा साम्प्रदायिक दंगों के प्रतिकार के लिए अभी तक इस साधन का प्रयोग नहीं किया गया है। उसके तथा उसके जैसे अन्य मामलों के सम्बन्ध में अभी इस तंत्र का विकास होना बाकी है। सत्याग्रह के शस्त्रागार में उपवास भी एक शस्त्र है। आज तक व्यक्तिगत मामलों में उसका प्रयोग किया गया है और उस कसौटी पर वह खरा भी उतरा है। लेकिन अभी सामूहिक रूप में उसका प्रयोग होना बाकी है। यदि शस्त्र के रूप में उपवास का और विकास होता है तो अवश्य ही सामूहिक उपवास उसकी एक मंजिल होगी। दूसरे सारे उपाय असफल सिद्ध होने पर ही सत्याग्रही आत्मसमर्पण करने को तैयार होता है और परिणाम की जुम्मेदारी ईश्वर पर छोड़कर ईश्वर अथवा सत्य में पूरी तरह तन्मय हो जाता है। उपवास करने वाला जिस समाज की इकाई है यदि उस समाज को उसकी आवश्यकता होगी तो उस उपवास से कोई-न-कोई रास्ता निकलना ही चाहिए। यदि जनता, अपने को अत्यन्त प्रिय लगने वाले किसी सत्य के लिए जिसके लिए कि वह प्राणों तक की कीमत देने को तैयार है, उपवास करने लगेगी तो उसका परिणाम भी उपर्युक्त व्यक्तिगत उपवास की तरह ही होगा। जिस सत्य को लोग पवित्र मानते हैं जब वह खतरे में हो तो जीवित रहने में भी सार नहीं मालूम होगा। किसी खास अन्याय के लिए जिम्मेदार व्यक्ति पर और साधारण दुनिया पर ऐसे सामूहिक उपवास का जो परिणाम होगा उसी पर

ऐसे उपायों की सफलता का अनुपात अवलम्बित रहेगा। इसके साथ ही उपवास के मूल में रहने वाली न्यायोचितता, शुद्ध हेतु एवं उसका अवलम्बन करने वाले व्यक्ति की विशुद्धता पर भी वह अवलम्बित रहेगा। यदि जेल के कैदियों को छोड़ दें तो किसी विशेष अन्याय के विरुद्ध लड़ने के लिए एक बड़ी संस्था में इस प्रकार के उपवास का मार्ग अपना लेने का उदाहरण सामान्यतः नहीं दिखाई देता।

इसमें कोई संदेह नहीं कि सत्याग्रह गांधीजी के व्यक्तित्व पर ही टिका था लेकिन यह बात भी उतनी ही सत्य है कि उनके व्यक्तित्व का महत्त्व इसी बात में था कि वे कट्टर सत्याग्रही थे। गांधीजी की वजह से सत्याग्रह आगे नहीं आया है बल्कि सत्याग्रह की वजह से गांधीजी आगे आये हैं। उनका व्यक्तित्व सत्याग्रह से पृथक् अथवा भिन्न नहीं था। वे सत्याग्रह के प्रणेता थे फिर भी यह बात नहीं कि उनके जाते ही सत्याग्रह समाप्त हो गया। सत्याग्रह की व्याप्ति आचरण और लोकप्रियता समय-समय पर भिन्न-भिन्न व्यक्तियों पर ही अवलम्बित रहेगी। मुख्य प्रश्न तो यह है कि लोगों को जिस बात की महत्वपूर्ण आवश्यकता है वह इससे पूरी होती है या नहीं। यदि वह पूरी होती है तो सत्याग्रह का टिके रहना और उसका विकास होना अनिवार्य है। सत्याग्रह शाश्वत है। लेकिन जिस मात्रा में गांधीजी ने सत्याग्रह का दर्शन कराके उसे अपने जीवन में उतारा है उसी मात्रा में वह शाश्वत है, ऐसा कहा जा सकता है।

सत्याग्रह के सम्बन्ध में दूसरी शंका यह होती है कि सत्याग्रह का अवलम्बन केवल असहाय और दुर्बल व्यक्ति ही करते हैं। संसार के शक्तिशाली लोग कभी उसका अवलम्बन नहीं करते। आलोचकों का कहना है कि जहां तक सशक्त और समर्थ लोगों का सम्बन्ध है सत्याग्रह का भविष्य उज्ज्वल नहीं है। किंतु जब वे निःसहाय लोग सत्याग्रह के द्वारा वे यह अनुभव करें कि वे अपनी परिस्थिति सुधारने के लिए और अपने स्वाभिमान को बढ़ाने के लिए कुछ कर सकेंगे, तो एक बड़ा काम होगा। असहायता मनुष्य की हिम्मत को कम करने वाली एक मानसिक बीमारी है। आशा और विश्वास ये दो इस रोग की शक्तिवर्धक औषधियां हैं। यह नहीं कहा जा सकता कि जिन सशक्त और सामर्थवान लोगों के पास शस्त्रास्त्र हैं और जिन्हें तेज करने की शक्ति भी उनके पास है वे सत्याग्रह का अवलम्बन कभी भी नहीं करेंगे। सत्याग्रह का अवलम्बन सदैव ही शरीर या मन की शक्ति अथवा कमजोरी पर अवलम्बित नहीं रहना चाहिए और वह ऐसा रहता भी नहीं है। अंतिम सुपरिणाम, साध्य-साधन सम्बन्ध, उच्च संस्कृति, मानवी विचार-प्रवाह व्यावहारिकता तथा हानि-लाभ से ही उसके प्रयोग की अच्छाई-बुराई निश्चित की जाती है। यदि पूरी तरह विचार करने के बाद कोई इस नतीजे पर पहुंचे कि हिंसा-मार्ग ही अच्छा है तो उसे ग्रहण करने के लिए वह स्वतंत्र है। इतना ही नहीं, वही उसका कर्तव्य होगा। लेकिन यदि उनकी समझ में यह बात आ जाए कि अहिंसा मार्ग ही अच्छा है तो चाहे वह कमजोर हो चाहे बलवान, चाहे सशस्त्र हो चाहे निःशस्त्र, उन्हें उसके लिए अपनी तैयारी करनी चाहिए।

जब तक संसार युद्ध से ऊब नहीं जाएगा तब तक उसे एक-दूसरे को कतल करने के निष्फल प्रयत्नों से घृणा नहीं होगी और लोगों के दिल से लड़ाई का मोह कम नहीं होगा। तब तक प्रेम और अहिंसा का मार्ग आकर्षक नहीं प्रतीत होगा। लेकिन जब तक शांति एवं शांतिपूर्ण मार्ग के लिए लोगों के दिल में तड़प न होगी, इस आकर्षण के विफल होने की भी संभावना है। इसमें कोई संदेह नहीं कि बड़े-बड़े विचारशील दार्शनिक और धर्मोपदेशक शांतिपूर्ण मार्ग की प्रस्थापना के लिए प्रयत्न कर रहे हैं; लेकिन अभी तक उनका प्रयत्न भावनात्मक और सुधारवादी ही है। उनमें हिंसा की शक्ति के सामने खड़े रहने की ताकत नहीं है। उनके देशों में जो लोग युद्ध के लिए जिम्मेदार हैं उनके विरुद्ध उनका प्रयत्न ढीला-ढाला है। यह निश्चित है कि जबतक ऐसे लोग अपना संगठन करके सीधी कार्रवाई करने के लिए तैयार नहीं होंगे तब तक वे सत्ताधारियों को नष्ट नहीं कर सकेंगे।

एक बार शांतिपूर्ण प्रत्यक्ष प्रतिकार की सच्ची मांग होने पर उस सिद्धान्त के प्रसार में कठिनाई नहीं होगी। दुनिया भर के लोग इस प्रदर्शन से परिचित हो चुके हैं। पर उसके और भी प्रसार की आवश्यकता है। इस तंत्र का आज इतना विकास हो चुका है कि साधारण बुद्धि का व्यक्ति इसे समझ सकता है।

पाश्चात्य देशों का जीवन तेज एवं क्रियाशील है। अतः यह संभव है कि वहां सत्याग्रह शास्त्र की प्रगति भारत की अपेक्षा ज्यादा तेजी से हो। हो सकता है कि आध्यात्मिक परम्परा और प्राचीन संस्कृति के कारण हिन्दुस्तान इस महान् सिद्धान्त के जन्म और रूप ग्रहण करने के लिए अनुकूल सिद्ध

हो। लेकिन एक बार इस पद्धति के प्रचलित हो जाने पर जिनको इस मार्ग से जाने की इच्छा होगी वे सब इसका उपयोग कर सकेंगे और दूसरों के मार्ग में भी बाधा पड़ने का कोई कारण नहीं रहेगा। क्योंकि मानव मनोविज्ञान के आधार पर ही सत्याग्रह की रचना हुई और सभी जगह मानवीय मन लगभग एक-सा ही होता है।

मानव और मानवरचित संस्थाओं के विकास पर दृष्टि डालने से स्पष्ट होता है कि मानवीय प्रवृत्ति हिंसा के विरुद्ध है और मानव धीरे-धीरे अहिंसा की ओर बढ़ रहा है। यदि यही क्रम चालू रहा तो कोई कारण नहीं कि भविष्य में मानवीय झगड़ों को मिटाने वाली संस्थाओं में सत्याग्रह को अत्यन्त आदरणीय स्थान प्राप्त न हो। अनेक शताब्दियों से मानवीय जीवन-क्रम के रूप में सत्याग्रह को एक शाश्वत एवं प्रभावशाली स्थान प्राप्त है। किंतु सामाजिक हथियार के रूप में सत्याग्रह का प्रयोग अधिक महत्वपूर्ण है। यदि राष्ट्र के सामाजिक झगड़ों को मिटाने के लिए सत्याग्रह एक हथियार के रूप में पाश्चात्य समाज में स्थान प्राप्त कर ले तो अधिक सफलता मिलेगी। यदि सुधारवादी लोग उचित तैयारी के बाद अहिंसक प्रत्यक्ष प्रतिकार का मार्ग अपना लें तो किसी भी मानव-समूह, संस्था या सरकार के ऊपर उसका काफी नैतिक प्रभाव पड़ेगा। यह संतोष का विषय है कि रोम्या रोलाँ, आइन्स्टाइन, अल्दुस हक्सले, जरोल्ड हर्ड जैसे बड़े-बड़े विचारक अहिंसक प्रतिकार की दिशा में विचार करने लगे हैं। अल्दुस हक्सले की 'एन्ड्स एन्ड मीन्स' गांधीवादी सत्याग्रह पद्धति के स्पष्टीकरण से पूर्ण हैं। रिचर्ड ग्रेग की 'पावर ऑफ नान वायलेन्स' सत्याग्रह, उसकी व्याप्ति, तंत्र तथा उसके अनुशासन के ऊपर एक प्रबन्ध ही है। ऐसी पुस्तकों से यह स्पष्ट होता है कि पाश्चात्य विचारक इस महत्वपूर्ण विषय के अध्ययन की ओर झुके हैं।

15. सत्याग्रह आंदोलन

संघर्ष निराकरण की एक तकनीक के रूप में सत्याग्रह का प्रयोग गांधी के द्वारा विश्व प्रसिद्ध है। अनेक राष्ट्रीय, सामाजिक, आर्थिक एवं अन्य समस्याओं के समाधान के लिए गांधी ने तथा अन्य लोगों ने सत्याग्रह का प्रयोग किया तथा आशातीत सफलता भी प्राप्त की। प्रमुख सत्याग्रह आंदोलनों का विवेचन निम्नतः है—

15.1 दक्षिण अफ्रीका का सत्याग्रह—गांधी का पहला और सबसे महत्वपूर्ण सत्याग्रह आंदोलन दक्षिण अफ्रीका का था जो लगभग आठ वर्षों तक चला। उससे केवल ब्रिटिश साम्राज्य का ही नहीं बल्कि संसार का ध्यान सत्याग्रह की ओर गया। इस आंदोलन की प्रेरणा गांधीजी की थी और अंत तक उन्हीं के नेतृत्व में वह चलता भी रहा था। इस सत्याग्रह आंदोलन में ही उन्होंने अपनी सत्याग्रहपद्धति का लगभग विकास किया था।

गांधीजी का पहला सामूहिक सत्याग्रह दक्षिण अफ्रीका के अंग्रेजी उपनिवेश में हुआ। सन् 1894 के बाद साधारणतः एशियावासियों का और खासकर हिन्दुस्तानियों का यह व्यवस्थित आंदोलन अपनी शिकायतें दूर करवाने के लिए हुआ। नेटाल की धारासभा में एक इस आशय का कानून विचारार्थ उपस्थित किया गया कि एशियावासी होने के कारण एशियावालों को मतदान का अधिकार नहीं दिया जाय। उसका विरोध करने के लिए एक बड़े सामूहिक प्रार्थना-पत्र पर 10 हजार लोगों के हस्ताक्षर करवाकर उपनिवेश मंत्री के सम्मुख पेश किया गया। नेटाल धारासभा में प्रस्ताव पास हो गया; लेकिन उपनिवेश मंत्री की स्वीकृति न मिलने के कारण वह कानून नहीं बन सका।

लेकिन इसके अलावा और भी सामाजिक तथा कानून-सम्बन्धी शिकायतें थी। इनमें से बहुत-सी शिकायतें जातिद्वेष, वर्णद्वेष, अथवा एशियावासियों के प्रति यूरोपियन लोगों की ईर्ष्या के आधार पर टिकी हुई थी। मुसलमानों ने तो अपने को अरब कहलाना पसंद कर लिया; लेकिन उनके अलावा और सब हिन्दुस्तानियों को 'कुली' अथवा 'हम्माल' कहा जाता था। क्योंकि ये ही पहले हिन्दुस्तानी थे जो गिरमिट में बंधकर वहां गये थे। स्वयं गांधीजी को भी कुली बैरिस्टर कहा जाता था। नेटाल की सोसायटी ने वस्तुतः वर्ण के आधार पर ही एक बैरिस्टर के मुख्य द्वार से प्रवेश करने की बंदी थी। उनको उंचे दजे के टिकिट लेने में भी कठिनाई होती थी। यदि टिकिट मिल भी जाता तो उंचे दजे के डिब्बों में जगह मिलना कठिन हो जाता था; क्योंकि उनको अपने बराबरी के प्रवासी मानकर डिब्बे में बिठाने के लिए थोड़े यूरोपियन ही तैयार होते थे। उन्हें किसी भी समय डिब्बे से बाहर निकाल दिया जा सकता था या तीसरे दर्जे के डिब्बे में बैठने के लिए कहा जा सकता था। इस बात पर विचार ही नहीं किया जाता था

कि उन्होंने ऊंचे दर्जे का किराया दिया है। सन् 1893 में मॅरिटजबर्ग में स्वयं गांधीजी को भी यही कटु अनुभव हुआ था। उसी प्रवास में पांडेवर्ग में अपनी जगह न छोड़ने के कारण उन्हें एक डच कन्डक्टर की मार खानी पड़ी थी। उस समय का अनुभव तो और भी कटु था। एक बार गांधीजी जोहान्सबर्ग में ग्रेण्ड नेशनल होटल में गये। जहां काले होने के कारण उन्हें ठहराने से इंकार कर दिया गया। जब वे प्रिटोरिया में थे तब प्रेसीडेंट क्रूगर के बंगले के सामने फुटपाथ पर से जाते हुए पहरेदार ने उन्हें ठोकर मारकर गिरा दिया था; क्योंकि किसी भी काले आदमी के लिए उस फुटपाथ पर चलना मना था। 13 जनवरी सन् 1897 के दिन जब गांधीजी हिन्दुस्तान से डरबन लौटे तो यूरोपियन भीड़ ने उन्हें मारा। उनके ऊपर यह आरोप लगाया था कि उन्होंने हिन्दुस्तान में दक्षिण अफ्रीका के यूरोपियनों की बदनामी की है और वे दक्षिण अफ्रीका में अपने हिन्दुस्तानी लोगों को भर देना चाहते हैं। ऐसा हुआ कि उसी दिन 'कुलैड' तथा 'नादेरी' नामक जहाजों से लगभग 800 हिन्दुस्तानी बंदरगाह पर उतरने वाले थे।

जातीय वैमनस्य के अतिरिक्त वहां पक्षपातपूर्ण काल कानून भी थे। एक बार जो गिरमिटिया नागरिक होना चाहता था उसे 3 पौण्ड 'पॉल टेक्स' देना पड़ता था। इसी तरह उसे अपनी पत्नी तथा 16 वर्ष से ज्यादा आयु के हर एक बच्चे के लिए भी यह देना पड़ता था। बिना परवाने के कोई व्यापार नहीं कर सकता था। यूरोपियनों को बात करते ही परवाना मिल जाता था; लेकिन हिन्दुस्तानियों के रास्ते में नित्य अनेक कठिनाइयां आती रहती थी। इसी प्रकार वहां शिक्षा की जांच का भी एक कानून था। इस कानून के अनुसार वहां बसने की इच्छा रखने वालों के लिए किसी एक यूरोपीय भाषा की परीक्षा में पास होना अनिवार्य था। तीन वर्ष तक जो लोग वहां रह चुके थे उन पर यह कानून लागू नहीं किया जाता था। सन् 1906 का एशियाटिक इमिग्रेशन एक्ट विरोधी आंदोलन जब जोर-शोर पर था तभी सन् 1907 में ट्रान्सवाल इमिग्रेशन एक्ट पास किया गया। उसके अनुसार तो किसी भी नये बसने वाले हिन्दुस्तानी को भाषा की परीक्षा पास कर लेने पर भी प्रवेश मिलना लगभग बंद ही हो गया।

नेटाल कांग्रेस और ट्रान्सवाल तथा केपटाउन की इसी प्रकार की अन्य संस्थाओं तथा 'इण्डियन ओपीनियन' नामक पत्र के द्वारा यह आंदोलन चल रहा था। इसके साथ ही गांधीजी द्वारा चलाये हुए हिन्दुस्तानी लोगों के आंतरिक सुधार का कार्यक्रम भी चल रहा था। वही उनका उस समय का रचनात्मक कार्यक्रम था। इस कार्यक्रम में घरेलू स्वास्थ्य, रहने के लिये मकान-दुकान और शिक्षा आदि के लिए स्वतंत्र इमारतों का होना आदि बातें शामिल थीं। इसके साथ ही अपने व्यक्तिगत और सार्वजनिक जीवन में अत्यन्त ऊंचे नैतिक आदर्श को अपनाने के कारण गांधीजी का व्यक्तित्व सब लोगों के प्रेम और गौरव का पात्र बन गया था।

ब्रिटिश उपनिवेशों में हिन्दुस्तानियों को जो अपमान सहना पड़ता था उसका अनुभव उन्होंने स्वयं किया था, और उसका धैर्य के साथ मुकाबला किया तथा इस प्रकार के शारीरिक कष्ट और संकट भी सहन किये थे। फिर भी उनके मन में वहां के यूरोपियन लोगों के प्रति किसी प्रकार का वैर भाव नहीं था। वहां की राजनैतिक, सामाजिक आदि पद्धति से उन्हें घृणा थी। लेकिन जो लोग उसके लिए जिम्मेदार थे उनके प्रति उनके मन में प्रेमभाव ही था। उनमें से कितने ही यूरोपियनों को वे अपने सच्चे मित्र मानते थे। वहां के अन्यायों को मिटाने का उन्होंने निश्चय कर लिया था; लेकिन उसकी शुरुआत किस प्रकार की जाय इसकी स्पष्ट कल्पना उन्हें नहीं थी।

अंत में 'एशियाटिक लॉ अमेन्डमेन्ट आर्डिनेन्स' के प्रश्न पर तूफान खड़ा हो गया। 22.08.1906 के ट्रान्सवाल सरकार के खास गजट में गांधीजी ने उस आर्डिनेन्स को पढ़ा। गांधीजी के चरित्र-लेखक और जोहान्सबर्ग के बैरिस्टर मिशनरी जोसफ ढोक ने इस प्रसंग पर लिखा है—“ट्रान्सवाल के लगभग दस हजार एशियावासी जो स्वभावतः राज्यभक्त और न्यायप्रिय हैं वे लगभग अठारह महीनों से सरकार के विरुद्ध विद्रोह कर रहे हैं। 'एशियाटिक लॉ अमेन्डमेन्ट' का आधार यह सिद्धान्त था कि एशिया निवासियों ने 'परमिट' का दुरुपयोग करके छलकपट से अपना व्यापार खूब फैला लिया है। अतः यह एक जरायम-पेशा जाति है और उसके साथ जरायम-पेशा लोगों की भांति ही व्यवहार करना चाहिये।” इससे लोगों में तीव्र संताप उत्पन्न हुआ। उन्होंने इस आरोप को सिद्ध कर देने की जबरदस्त मांग की, लेकिन इंकार कर दिया गया। उनकी इस प्रार्थना पर भी ध्यान नहीं दिया गया कि उपर्युक्त मामले की जांच सुप्रीम कोर्ट के न्यायाधीश से करवाई जाय। धारासभा के लिए न तो उन्हें मताधिकार प्राप्त था

और न पार्लियामेन्ट में उनका कोई प्रतिनिधि था। ऐसी स्थिति में अंगूठे का निशान देकर उस कानून का विरोध करने के अलावा कोई चारा नहीं था। उन्होंने प्रतिकार करने का निश्चय किया।

इस कानून की स्वयं गांधीजी ने इस प्रकार आलोचना की है—“जहां तक मुझे मालूम है संसार के किसी भी भाग में स्वतंत्र मनुष्यों के विरुद्ध इस प्रकार का कानून नहीं है ... हिन्दुस्तान में (तथाकथित) जरायमपेशा जातियों के सम्बन्ध में इस तरह के कानून हैं जिनके साथ इस आर्डीनेन्स की तुलना की जा सकती है। ... कानून के अनुसार केवल जुर्म करने वाले लोगों के अंगूठे के निशान ही लिये जाते हैं। इसलिए अंगूठे के निशान लेने के सम्बन्ध में सख्ती देखकर मैं दंग रह गया।”

काफी सोच-विचार के बाद जोहान्सबर्ग में 19.09.1906 को 3000 प्रतिनिधियों की बैठक में इस अपमानजनक काले कानून का विरोध करने का निर्णय किया गया। प्रत्येक प्रतिनिधि ने यह शपथ ली कि चाहे कुछ हो इस कानून का प्रतिकार करना ही है। यह शपथ सेठ हबीब नामक एक सच्चे योद्धा के सुझाव से ली गई थी। प्रत्यक्ष प्रतिकार करने के पहिले शिष्टमण्डल, मुलाकातें, पत्र-व्यवहार आदि सब बातें प्रतिदिन की गई थीं। लेकिन उपनिवेश मंत्री मिस्टर डंकन ने स्पष्ट कह दिया कि वहां के यूरोपियनों के अस्तित्व के लिए सरकार उस आर्डीनेन्स को आवश्यक समझती है।

इस प्रकार सत्याग्रह की पृष्ठभूमि तैयार हुई। नाम दर्ज करवाना, उंगलियों के निशान देना तथा परवाना लेना—इन तीनों बातों से इंकार करना ही सत्याग्रह का स्वरूप तय किया गया। नाम दर्ज न करवाने पर जो कुछ परिणाम हों, उन्हें भुगतने के लिए सत्याग्रहियों को तैयार रहना था।

नये आर्डीनेन्स के अनुसार 1 जुलाई सन् 1907 को सरकारी परवाना कार्यालय खुला। गांधीजी की प्रेरणा से कार्यालय के ऊपर शांतिपूर्ण ढंग से धरना दिया गया। उस समय इतना उत्साह था कि 12-12 वर्ष के लड़कों ने भी धरना देने वालों में अपना नाम लिखा लिया। लेकिन धरने तथा तीव्र जनमत की परवाह न करके लगभग 5000 व्यक्तियों ने अपने नाम दर्ज करवाकर परवाने ले लिये। लेकिन सरकार इससे आगे अपना काम बढ़ा नहीं सकी इसलिए उसे कार्यकर्ताओं को गिरफ्तार करने का निश्चय करना पड़ा।

सन् 1907 के दिसम्बर मास में प्रमुख व्यक्तियों को नोटिस दिया गया कि वे अदालत में हाजिर होकर यह बताएं कि उन्होंने अभी तक रजिस्टर में अपना नाम दर्ज क्यों नहीं करवाया। उस समय एक पेचीदा हालत पैदा हो गई। कानून भंग करने के कारण गांधीजी के साथ और कई लोगों को अलग-अलग अवधि की सजा दी गई। लेकिन 30 जनवरी 1908 को जनरल स्मट्स ने आश्वासन दिया तथा उनके और गांधीजी के बीच जो समझौता हुआ उसके अनुसार गांधीजी मुक्त कर दिये गये। दूसरे दिन अन्य प्रमुख लोग भी छोड़ दिये गये। लेकिन बाद में जनरल स्मट्स ने अपना वचन भंग कर दिया। जनरल स्मट्स ने आश्वासन दिया था कि आर्डीनेन्स वापिस ले लिया जाएगा और हिन्दुस्तानी लोगों द्वारा स्वेच्छा से लिखवाये हुए नाम कानून सम्मत मान लिए जाएंगे। हिन्दुस्तानियों ने अपना कर्तव्य पूरा कर दिया। अनुयायियों को गलतफहमी होने का खतरा उठाकर भी नेताओं ने अपने नाम दर्ज करवा दिये। आर्डीनेन्स वापिस लेना तो दूर उन्होंने गांधीजी के पत्रों का संतोषजनक उत्तर तक नहीं दिया। उल्टे हिन्दुस्तानियों के प्रवेश को कड़ाई से बंद करने वाला एक और बिल उपस्थित किया और आगे चलकर वह कानून बन गया।

इससे फिर से लड़ाई शुरू करना अनिवार्य हो गया। 16.06.1908 के दिन जोहान्सबर्ग में प्रतिनिधियों की एक बड़ी बैठक बुलाई गई। उस जगह समझौते के अनुसार स्वेच्छा से हुए परवानों की होली जलाकर 2000 परवाने स्वाहा कर दिये गये। तब से एक लम्बी और भयंकर लड़ाई शुरू हुई। जिसमें जुर्माने, जेल, कठिन परिश्रम, मुसीबतें, अपमान और बेंत की सजा ही नहीं बल्कि गोलियां भी चलाई गई। इस लड़ाई में कई उतार-चढ़ाव आए। लेकिन सत्याग्रहियों के लिए लड़ाई ही सर्वस्व थी। उन्हें अंतिम परिणाम की चिंता नहीं थी। बीच-बीच में वातावरण निराशाजनक हो जाता था लेकिन फिर एकदम किसी-न-किसी तरह आग भड़क उठती थी। फिर सफलता की आशा होने लगती और जीवन दिखाई देने लगते। सन् 1913 में हाईकोर्ट के एक फैसले के अनुसार सारे हिन्दुस्तानी विवाह यह कहकर रद्द कर दिये गये कि वे स्थानीय कानून के अनुसार नहीं है। हिन्दुस्तानी स्त्रियों पर इसका असर अच्छा ही हुआ और वे सब लड़ाई में शामिल हो गईं। फिनिक्स पार्क आश्रम के 16 व्यक्तियों की टुकड़ी ने, ट्रान्सवाल की सीमा में प्रवेश किया। उन सबको सजा दी गई। कुछ तामिल स्त्रियां जिनको कि

गिरफ्तार नहीं किया गया था खदानों तक गई और वहां के मजदूरों को 3 पौण्ड वाले अन्यायपूर्ण कर के विरुद्ध सचेत किया। अंत में इस सारे आंदोलन की परिणति 2037 पुरुष, 127 स्त्रियां व 57 बच्चों के जबरदस्त मोर्चे में हो गई, जिन्होंने 6.11.1913 को सुबह ट्रान्सवाल की सीमा को पार करने के लिए कूच किया। इसके बाद गांधीजी, पोलक तथा अन्य लोगों को गिरफ्तार कर लिया गया। ट्रान्सवाल पर आक्रमण करने वाले सारे लोगों को गिरफ्तार करके उनसे खानों में काम करवाया गया। इस बीच हड़ताल की लहर दूसरी खानों में भी पहुंच गई और सत्याग्रहियों को अपरिमित कष्ट उठाने पड़े।

अंत में यूनियन सरकार के लिए स्थिति असह्य हो गई और हिन्दुस्तानियों को सुविधाएं देने के लिए एक कमीशन बैठाने की घोषणा की गई। 18.12.1913 के दिन गांधीजी, कालेन्बाक और पोलक को छोड़ दिया गया। जुलाई 1914 के अंत में इण्डियन रिलीफ बिल पास हुआ। उसके अनुसार तीन पौण्ड का कर रद्द कर दिया गया। हिन्दू और मुसलमान के विधिपूर्वक हुए विवाह कानूनी मान लिये गये। केवल एकपत्नीत्व ही कानूनी माना गया। इसी प्रकार निवास प्रमाण पत्र नागरिकता का अंतिम प्रमाण मान लिया गया।

निश्चित रूप से कमजोरों के शस्त्र कहे जाने वाले निःशस्त्र प्रतिकार एवं प्रत्यक्ष सत्याग्रह में जो महत्वपूर्ण अंतर है वह दक्षिण अफ्रीका के सत्याग्रह से स्पष्ट हो जाता है।

गांधीजी ने सत्याग्रह का अवलम्बन कमजोर के हथियार के रूप में नहीं किया। उनका यह दावा था कि चाहे शारीरिक दृष्टि से दुर्बल हो, लेकिन जो लोग आत्मिक बल रखते हैं, सत्याग्रह उन्हीं का हथियार बन सकता है। उनके मन में किसी भी अवस्था में हिंसा का विचार नहीं आया। उन्हें अपने विरोधी की कठिनाई से भी फायदा नहीं उठाना था। विरोधी के लिए भी उनके मन में उच्च कोटि की कल्याण-भावना थी और अपने त्याग के बल से दूसरों को जीत लेने पर ही उनका जोर था। सत्य और न्याय उनके पक्ष में थे और वे जोर देकर कहते थे कि कष्टसहन के द्वारा ही हम उनकी प्रस्थापना करेंगे। शत्रु को परेशान करने का विचार भी उनके मन में नहीं आया। लेकिन केवल निःशस्त्र प्रतिकार करने वाला इससे भिन्न प्रकार का व्यवहार करता। आठ वर्षों तक चलते रहने वाले इस (सन् 1906 से 1914 तक) दीर्घकालीन युद्ध का इस प्रकार अंत हुआ। सामाजिक अन्याय से लड़ने की पद्धति में क्रांति करके इस लड़ाई ने एक नया इतिहास लिख दिया।

15.2 वीरगांव का सत्याग्रह—बिरमगांव में कस्टम विभाग की ज्यादाती, एक स्थानिक प्रश्न था। उनकी ज्यादाती मानों प्रत्यक्ष अन्याय का नमूना ही थी। अन्यायी प्रथा को तथा उसके साथ होने वाली दूसरी कठिनाइयों को दूर करने में केवल सत्याग्रह की भाषा मुख्य रूप से कार्यकारी हुई। सन् 1915 में जब गांधीजी काठियावाड़ जा रहे थे तब बड़वान में उन्होंने श्रीमोतीलाल दर्जी, जो वहां के सार्वजनिक कार्यकर्ता थे से सारी स्थिति सुनी। उनकी बेचैनी का गांधीजी के मन पर काफी असर हुआ और उन्होंने उनसे पूछा कि—“क्या लोग जेल जाने के लिए तैयार हैं?” उन्होंने तपाक से उत्तर दिया कि “हम फांसी पर चढ़ने के लिए भी तैयार हैं।”

राजकोट पहुंचने पर गांधीजी ने तत्सम्बन्धी आवश्यक जानकारी एकत्र की और उस रास्ते से जाने वाले रेल के मुसाफिरों की करुण कहानी भी समझ ली। इस झगड़े में एक पक्ष में जनता और दूसरे पक्ष में कस्टम के अधिकारी तथा हिन्दुस्तान की सरकार थी। झगड़े का मुद्दा था कस्टम की अर्थशून्य पद्धति को बंद करना। प्रचार, आदरपूर्वक शिकायतें पेश करना और सत्याग्रह की पृष्ठभूमि पर जनता की ओर से मांगे प्रस्तुत करना इस क्रम से आंदोलन शुरू किया गया। काठियावाड़ के बागस्ट्रा आदि स्थानों का दौरा करके गांधीजी ने अपने भाषणों में स्पष्टरूप से कह दिया कि लोगों को तैयार रहना चाहिए। अंत में तत्कालीन वारसराय लार्ड चेम्सफोर्ड की गांधीजी से बातचीत हुई। वाइसराय ने इस बात को बंद करने का आश्वासन दिया और अपने शब्दों को सत्य करके दिखाया।

यहां तो न किसी प्रकार का प्रत्यक्ष सत्याग्रह किया गया और न उसके लिए किसी प्रकार की तैयारी की गई। गांधीजी केवल अपने भाषणों में असंदिग्ध रूप से उसका उल्लेख करते रहे। यह बिना लड़े और बिना त्याग किये ही जीती हुई लड़ाई थी।

यह बात ध्यान में रखने योग्य है कि इसी सम्बन्ध में बम्बई गवर्नर के सेक्रेटरी से गांधीजी की झड़प हो गई। उस समय लार्ड बिलिंगटन बम्बई के गवर्नर थे। जब गांधीजी ने अपने भाषणों में

सत्याग्रह का उल्लेख किया तो इससे सेक्रेटरी साहब चिढ़ गए। उन्होंने इसका अर्थ धमकी समझा। गांधीजी ने बड़ी नम्रता से बताया कि धमकी का तो कोई सवाल ही पैदा नहीं होता। इसके बाद सेक्रेटरी साहब ने गांधीजी को चेतावनी दी कि इस प्रकार के किसी भी आंदोलन करे कुचलने की शक्ति सरकार रखती है। अत्यन्त सौम्यता से लेकिन साथ ही उतनी ही गंभीरता और दृढ़ता से गांधीजी ने उत्तर दिया—“मुझे इस बात में कोई संदेह नहीं कि ब्रिटिश सरकार शक्तिशाली है लेकिन इस बात पर भी मेरा उतना ही विश्वास है कि सत्याग्रह सर्वश्रेष्ठ उपाय है।”

15.3 चम्पारन सत्याग्रह—हिन्दुस्तान के सत्याग्रह के इतिहास में चम्पारन का नाम सदा के लिए अंकित हो गया है। इस मौके पर पहली बार गांधीजी ने अधिकारियों की आज्ञा भंग की और कहा कि—कम-से-कम मेरे अपने देश में तो मैं चाहे जैसी आज्ञाओं को अपने ऊपर नहीं लादने दूंगा। वह उनकी लड़ाई की नई पद्धति का प्रारम्भ था। उस समय उन्होंने कोर्ट में जो वक्तव्य दिया वह आज भी उचित है और आगे भी सदा के लिए स्फूर्तिदायक रहेगा। गांधीजी कहते हैं—“मैं अपने जीवन में उस दिन को कभी भी नहीं भूलूंगा। मेरी और किसानों की दृष्टि से वह स्वर्णदिवस था।” हिन्दुस्तान के लिए सविनय अवज्ञा आंदोलन का वह पहला पाठ था।

सन् 1906 की लखनऊ कांग्रेस अधिवेशन में गांधीजी गये थे। वहां बिहार के किशोर बाबू नामक एक सज्जन मिले और उन्होंने चम्पारन के किसानों की वर्षों से चली आती रहने वाली शिकायतें सुनाई और उनसे प्रार्थना की कि वे वहां आकर उनकी शिकायतें दूर करने की कृपा करें। गांधीजी ने उनको आने का आश्वासन दिया। अप्रैल सन् 1917 में वे कलकत्ता से बिहार गये। चम्पारन एक शताब्दी से गोरों द्वारा वहां के सीधे-सादे किसानों का शोषण और उत्पीड़न का काम चल रहा था। कानून और रूढ़ी के द्वारा वहां मालिकों की एक असाधारण सरकारी सत्ता ही स्थापित हो गई थी। स्थानीय नेताओं ने सारे कानूनी उपाय करके देख लिये लेकिन अधिकारी और सरकार दोनों ही मालिकों के पक्षपाती होने के कारण कोई भी उपाय नहीं चला। बंगाल टेनेन्सी ऐक्ट तथा अन्य ऐसे कानूनों का आश्रय मालिकों ने ले रखा था जिनसे कि वे किसानों का शोषण कर सकें। और कितने ही गैरकानूनी करों के लिए यदि कानून से मदद नहीं मिलती तो वे पुरानी रूढ़ियों और रिवाजों का आश्रय लेते रहे। और जब ये दोनों ही काम न आते तो वे पाशवी शक्ति का आश्रय लेते थे। उनकी अपनी स्टेटों में उनका व्यवहार किसी निरंकुश शासक से किसी प्रकार कम न था।

मुख्य तथा तत्कालीन आर्थिक शिकायत ‘तिनकटिया’ प्रथा के सम्बन्ध में थी। तिन कटिया का अर्थ है— बीघे में तीन कट्टे। इसका मतलब यह था कि जमीन के प्रत्येक बीघे का 3/20 भाग प्रत्येक किसान के लिए उसकी जमीन के 3/20 में नील की खेती करना जरूरी था। फिर चाहे वह उसके लिए लाभदायक हो चाहे न हो। कभी-कभी यह सीमा 5/20 तक हो जाती थी। बंगाल टेनेन्सी ऐक्ट के द्वारा मालिकों का यह अधिकार स्वीकार कर लिया गया था। बाद में जब बनावटी नील बाजार में आने लगी तब गोरों ने यह अनुभव किया कि नील के धन्धे में कोई फायदा नहीं है। अब वे किसानों से एक नया सौदा करने लगे कि यदि वे पहले से ज्यादा लगान दें, तो उन्हें नील की खेती से मुक्त किया जा सकता है। इस मामले में भी उन्हें टेनेन्सी ऐक्ट की कुछ धाराओं से मदद मिली। इस प्रकार नील के व्यापार में निलहों को जो नुकसान हुआ वह सब किसानों के सिर मढ़ दिया गया।

निलहों का सरकार और अफसरों पर इतना असर था कि किसान धन-जन को नुकसान पहुंचने के भय से सरकारी अफसरों के पास जाने का साहस तक नहीं करते थे। उच्च वर्ग के लोगों के साथ भी मार-पीट ही नहीं, उनको हवालात में रख देना, उनके जानवरों को पकड़कर कांजी हौज में भेज देना, घर-बार लूट लेना, चमार, धोबी, नाई आदि बंद कर देना और तो ठीक, उनको घर से बाहर निकलने के लिए भी मना करना और उनके घरों पर बिठाने के लिए अस्पृश्यों को इकट्ठा करना आदि हजारों तरीकों से वहां के लोगों को नित नई पीड़ा पहुंचाई जाती थी। भिन्न-भिन्न अवसरों पर निलहे कानूनी लगान वसूल करते थे। शादियों पर प्रत्येक घर के पीछे तथा प्रत्येक तेल की धानी पर लागू लगी हुई थी। किसान इस आशा में थे कि ये सब शिकायतें दूर हों और अन्याय का पूरी तरह परिमार्जन हो। प्रभावशाली सार्वजनिक व्यक्तियों ने जो कुछ स्थानीय प्रयत्न किये उनका कुछ भी असर नहीं हुआ। निलहों की ओर से कानूनी, सामाजिक या नैतिक किसी भी प्रकार की छूट नहीं मिल रही थी। ऐसी परिस्थिति में गांधीजी को चम्पारन आने का निमंत्रण मिला।

10 अप्रैल 1917 को वे मोतीहारी जिले के गांव में पहुंचे। उन्होंने वहां जो जांच की, वह सत्याग्रह की पद्धति में एक आदर्श पाठ है। वहां पहुंचने पर वे सीधे हाकिमों के पास गये और उन्होंने बताया कि वे क्या करना चाहते हैं। जिलहे गोरों के संघ के सेक्रेटरी से भी उन्होंने बातचीत की। उन दोनों का व्यवहार गांधीजी के प्रति सहानुभूतिशून्य ही था। लेकिन गांधीजी को तो अपने नियम के अनुसार उस जगह रहकर प्रत्यक्ष रूप से अन्याय का सूक्ष्म अवलोकन करना था। किसानों के ऊपर लगाये हुए आरोप इन सब की सत्यता पर गांधीजी को खुद अपना विश्वास और निश्चय करना था।

इसके बाद उन्होंने अपना तहकीकात का काम शुरू कर दिया। कितनी ही बार बयान लेते समय सी.आई.डी. के अधिकारी भी उपस्थित रहते थे। बीस हजार बयान लिये गये और उसके आधार पर मामला तैयार किया गया। किसानों की मांगें तैयार की गईं। बाद में प्रांत के गवर्नर ने सारे मामले पर ध्यान रखकर सरकार की ओर से एक जांच-कमेटी की नियुक्ति की और उसमें गांधीजी को किसानों के प्रतिनिधि के रूप में रखा गया। जांच-कमेटी ने एक मत से फैसला दिया कि तिनकटिया प्रथा तथा गैरकानूनी लागवाग रद्द कर दिये जाए और किसानों से जो रकम वसूल की गई है उसका कुछ अंश उन्हें लौटा दिया जाय।

तहकीकात के प्रारंभ में निलहे खुलेआम विरोध करते थे और सरकार भी उनका पक्ष लेती थी लेकिन गांधीजी ने मजिस्ट्रेट की आज्ञा न मानने की जो तैयारी दिखाई और अपने ही रास्ते चलने का जो उत्साह रखा उससे गोरे मालिकों को बड़ा आश्चर्य हुआ और वे बहुत मुश्किल में पड़ गये। किसानों को सत्याग्रह करने की आवश्यकता नहीं पड़ी।

वहां अकेले गांधीजी का सत्याग्रह इस विषमता के विरुद्ध हिन्दुस्तान का जनमत जाग्रत करने और प्रांतीय सरकार की आंखें खोलने के लिए पर्याप्त सिद्ध हुआ। किसानों ने भी काफी संयम से काम लिया। वे धैर्य के साथ सबूत पेश करने के लिये आगे आये और खासकर गांधीजी जिधर ले जाए उधर जाने की मानसिक तैयारी उन्होंने प्रदर्शित की।

गांधीजी ने चम्पारन के आपद्रुस्त किसानों की शिकायतों की जांच करने के साधारण अधिकार पर जोर दिया। इस साधारण से अधिकार से सरकार उनको वंचित नहीं रख सकती थी और जब एक बार जांच शुरू हुई तो उसकी ओर से आंख भी मूंद नहीं सकती थी। सरकार को इन शिकायतों की जानकारी पहले से ही थी। लेकिन मालिकों के मुनाफे से उनका जो ममत्व था उससे उन्होंने यह सब चलने दिया। अब गांधीजी के आगमन और निर्भय तहकीकात के कारण सरकार की इस शिथिलता की धज्जियां उड़ गईं।

इस प्रकरण के प्रारंभ से ही उन्होंने बड़ी सावधानी रखी। सबसे पहले वे एकाएक जाने के लिए तैयार नहीं हुए। लेकिन जाने का निश्चय कर लेने पर फिर उन्होंने आगा-पीछा नहीं देखा। उन्होंने इस बात की भी तैयारी शुरू से ही रखी कि यदि उनकी स्वतंत्रता पर आघात किया गया तो वे उसका मुकाबला करेंगे। जब कुछ लोगों ने उन्हें मालिकों के विरुद्ध कानूनी कार्रवाई करने की बात सुझाई तो उन्होंने उनके इस सुझाव को यह कहकर रद्द कर दिया कि अदालत का आश्रय लेने से कोई भी परिणाम नहीं निकलेगा। मालिकों से दूर रहने के बजाय उलटे वे सीधे उनके संघ के सेक्रेटरी से मिले और अपना उद्देश्य उन्हें स्पष्ट कर दिया। उन्होंने नम्रतापूर्व मजिस्ट्रेट की आज्ञा का उल्लंघन करके अपना काम इस प्रकार शुरू रखा मानों कुछ हुआ ही न हो। जब उन्होंने परिस्थिति का अध्ययन कर लिया और यह देख लिया कि इस काम में उन्हें काफी समय देना पड़ेगा तो उन्होंने उस भाग में लगभग 6 प्राइमरी स्कूल शुरू करवाये और डाक्टरी सहायता की व्यवस्था की। वे लोगों को अच्छी तरह से और आरोग्यपूर्ण जीवन व्यतीत करने की शिक्षा देना चाहते थे। स्थानीय शिक्षक और डाक्टर-वैद्य के न मिलने पर उन्होंने उन्हें बाहर से बुलाया और रचनात्मक कार्य और निरपेक्ष ग्राम-सेवा की नींव डाली। लेकिन उन्होंने डाक्टरों और शिक्षकों को चेतावनी दी कि वे राजनैतिक व आर्थिक मामलों में न पड़ें। उन्होंने शिक्षकों के बौद्धिक मान की अपेक्षा नैतिक मूल्यों को ज्यादा महत्त्व दिया। उदाहरणार्थ उन्होंने कस्तूरबा को एक स्त्री-शिक्षक के रूप में भर्ती किया। जब कस्तूरबा ने यह कहा कि मैं पढ़ा नहीं सकूंगी तो लिखना, पढ़ना, गणित आदि सिखाने के बजाय उनसे स्वच्छता एवं अच्छे रीति-रिवाज सिखाने पर जोर दिया। उनके मतानुसार लिखना, पढ़ना और गणित ही सबसे ज्यादा महत्त्व के विषय

नहीं थे। उन्हें इस बात का पूरा विश्वास हो गया था कि ग्राम-शिक्षा के बिना स्थायी काम होना असंभव है।

15.4 खेड़ा सत्याग्रह—बिरमगांव के कस्टम और गिरमिटिया कुलियों के मामले में तो केवल सत्याग्रह की भाषा से ही सफलता मिल गई और चम्पारन में केवल गांधीजी को ही सविनय कानून भंग करना पड़ा। लेकिन खेड़ा जिले में कई लोगों को मुसीबत और कष्ट उठाने पड़े। सन् 1918 के प्रारंभ में गुजरात प्रांत का खेड़ा जिला सत्याग्रह भूमि बना। वहां करबंदी के रूप में सत्याग्रह हुआ। अनाज पैदा न होने से जिले में करीब-करीब अकाल की स्थिति हो गई और किसानों के लिए लगान देना असंभव हो गया था। नियम के अनुसार उन्होंने लगान स्थगित करने की प्रार्थना की। लेकिन सरकार ने इस पर विचार करने से इंकार किया।

लेण्ड रेवेन्यू कोड में यह कहा गया है कि “जब आने वाली के हिसाब से फसल रुपये में चार आने आई हो तब सरकार को उस वर्ष का लगान माफ कर देना चाहिए। लेकिन हिन्दुस्तान के हमेशा के रिवाज के अनुसार सरकार ने जिद्द पकड़ी कि फसल चार आने से ज्यादा आई है। अतः किसानों को पूरा लगान देना चाहिए। कुछ समय तक यह झगड़ा चलता रहा। प्रार्थनाएं, प्रांतीय कौंसिल के प्रस्ताव सब कुछ व्यर्थ हो गये।

इन सब के बाद गांधीजी ने इस विषय पर ध्यान दिया। उन्होंने सारे मामले का अध्ययन करके लोगों को लगान न देने की सलाह दी। लोगों ने शपथ ली कि भले ही हमारी जमीन चली जाय हम अनुचित लगान नहीं देंगे। जो धनवान् लोग सारा लगान दे सकते थे उन्होंने भी अपने गरीब भाइयों की सहानुभूति में एक साल तक लगान न देने की शपथ ले ली।

गांधीजी ने जनता और सरकार दोनों के ही सामने न्याय का पक्ष रखा। उन्होंने जिले में प्रचार-कार्य के लिये स्वयं सेवक बुलाये और उनके जरिये किसानों में नैतिक धर्म बनाये रखा। उस समय अहमदाबाद के बैरिस्टर वल्लभभाई पटेल उनसे आकर मिले। इसके बार किसानों की शिक्षा प्रारंभ हुई। उन्हें सिखाया गया कि अधिकारी उनके मालिक नहीं बल्कि नौकर हैं, अतः सारा डर छोड़कर उनके समने तनकर खड़े रहना चाहिये। उनकी जुल्म-जबरदस्ती करने की धमकियों का प्रतिकार करना चाहिए। चाहे कोई उन्हें कितना ही क्यों न भड़काये उन्हें अपनी शांति न डिगने देनी चाहिये। उन्हें यह भी सिखाया गया कि यदि उनकी जमीन पर सरकारी कब्जा करने का नोटिस उनके पास आये या उनसे जब्ती का हुकुम तामील करवा लिया जाय तब भी उन्हें उसका मुकाबला शांति से करना चाहिए। किसानों ने बड़े धैर्य के साथ नेताओं की सूचना के अनुसार ही चलने का निश्चय किया। अनेक जब्तियां हुईं और जमीन सरकार के कब्जे में करने के नोटिस भी आए लेकिन किसानों ने प्रसन्नतापूर्वक सब का स्वागत किया।

इसके बाद वहां सविनय अवज्ञा आंदोलन करने का मौका आया। सरकार ने एक प्याज के खेत को कुर्क कर लिया। चूंकि यह कुर्की बेकायदा थी, गांधीजी ने मोहनलाल पण्डया तथा अन्य अपने साथ अनुयायियों को सीधे खेत में जाकर फसल काट लेने की सलाह दी। उन्होंने फसल काट ली। उन्हें गिरफ्तार किया गया और सजा दी गई। इससे लोगों का नैतिक धैर्य अधिक बढ़ गया और जेल का डर जाता रहा।

जब सरकार ने यह देखा कि लोग मान नहीं रहे हैं तब उसने बिना किसी प्रकार की घोषणा किये और न किसानों से न उनके प्रतिनिधियों से समझौते की कोई बातचीत किये, पीछे हटना शुरू कर दिया। जो लगान नहीं दे सकते थे उनसे तकादा करना बंद कर दिया गया। जब्तियां और कुर्कियां बंद कर दी गईं। इस प्रकार कार्य रूप में सरकार ने यह मान लिया कि जो लोग लगान देने में असमर्थ हैं, उन्हें उससे मुक्त कर दिया जाय। लेकिन लोगों के इस अधिकार को स्पष्ट रूप से शब्दों में स्वीकार नहीं किया। सिद्धान्त रूप में तो यहां सत्याग्रह सफल हुआ लेकिन सम्पूर्ण विजय की दृष्टि से उसमें काफी कमी रह गई। विजय प्राप्त करके भी न लोगों में उत्साह बढ़ा और न उनको पर्याप्त फायदा ही हुआ। इस सत्याग्रह के सम्बन्ध में गांधीजी ने कहा है कि जब सत्याग्रही प्रारंभ की अपेक्षा अंत में ज्यादा शक्ति और उत्साह संपादन कर लें तभी यह कहा जा सकता है कि सत्याग्रह सफल हो गया। उन्हें प्रतीत हुआ कि लोग निराश हो गये हैं और अधिकारियों के प्रति उनका व्यवहार पूरी तरह विनयशील नहीं है। इसके अलावा पूरा लगान वसूल करने के सिलसिले में पक्षपात करके सरकार लोगों में फूट

डालने में सफल हो गई थी। सत्याग्रहियों को किसी प्रकार का दखल देने का मौका न देते हुए उनके प्रयत्न को बिलकुल असफल करने की कार्यवाही चालू थी।

लेकिन अप्रत्यक्ष रूप से इसके परिणाम महत्वपूर्ण निकले। गुजरात प्रांत के सारे किसानों में जागृति हुई। इससे सारे किसानों जीवन पर बहुत बड़ा प्रभाव पड़ा। उन्होंने स्वावलम्बन का पाठ पढ़ा और उनमें आत्मविश्वास पैदा हुआ। यह मालूम हुआ कि हमारे भी कुछ अधिकार हैं और सामूहिक प्रयत्नों के बल पर हम उन्हें प्राप्त कर सकते हैं।

अपनी आत्मकथा में गांधीजी ने इस लड़ाई के सम्बन्ध में लिखा है—“जनमत पर इस बात की पूरी छाप पड़ गई कि हमारी गुलामी का अंत हमारे अपने ही हाथ में है और वह अपने ही कष्ट, त्याग और सहनशीलता पर निर्भर है। खेड़ा सत्याग्रह के द्वारा गुजरात में सत्याग्रह की जड़ें गहरी चली गईं।

आंदोलन के बाद गांधीजी ने यह अनुभव किया कि जनता को सत्याग्रह की शिक्षा देने के लिये स्वयंसेवक तैयार करना आवश्यक है। लेकिन उन्हें यह दिखाई दिया कि सत्याग्रह के रचनात्मक पक्ष या शांतिपूर्ण अंग के प्रति लोगों में आकर्षण नहीं है। चम्पारन में उन्होंने अपने स्थान पर जो रचनात्मक कार्य शुरू किया था उसे आगे बढ़ाने की उनकी तीव्र इच्छा थी लेकिन कार्यकर्ताओं की कमी तथा अन्य कामों के कारण वह रूक गया।

हिन्दुस्तान की साधारण जनता को सत्याग्रह प्रणाली के अनुसार त्याग और कष्टसहन के लिए तैयार करने और उन्हें उस तरह की शिक्षा देने का प्रयोग सबसे पहले गांधीजी ने खेड़ा जिले की लड़ाई के समय किया और उन्हें उसमें काफी सफलता मिली।

15.5 मजदूरों का सत्याग्रह—गांधीजी जब खेड़ा जिले के प्रश्नों में उलझे हुए थे तभी अहमदाबाद की कपड़े की मिलों के मालिक और मजदूरों में झगड़ा शुरू हो गया था। सन् 1918 में फरवरी मास के प्रारंभ में श्री अम्बालाल साराभाई मिल मालिकों की ओर से तथा उनकी बहिन अनुसूया मजदूरों की ओर से गांधीजी से मिले। गांधीजी का विश्वास था कि सत्याग्रही के पास मौका अपने आप ही आ जाता है। कार्यक्षम अहिंसा और अन्याय परस्पर विरोधी हैं। अतः गांधीजी किसी भी अन्याय की उपेक्षा करके चुपचाप नहीं रह सकते। इस प्रकरण में गांधीजी की कार्यक्षम अहिंसा का अर्थ यह है कि अहमदाबाद के मजदूरों की शिकायतों के प्रति उनकी सहानुभूति इतनी ज्यादा थी कि उसके लिए उन्होंने अपने प्राणों को भी खतरे में डाल दिया। लगभग 15 दिनों के झगड़े के बाद उन्होंने उपवास प्रारंभ किया और इस प्रकार से मजदूरों का नैतिक धैर्य बनाये रखा और जल्दी ही समझौता करवा लिया। इस मौके पर डेनिश विदुषी कुमारी फेरिंग ने गांधीजी को निम्न आशय का तार भेजा—‘अपने भाइयों के लिए अपने स्वयं के प्राण खतरे में डाल देने से ज्यादा सच्चे प्रेम का और क्या सबूत हो सकता है।’

उसी समय लड़ाई समाप्त होने पर गांधीजी ने कहा कि इस लड़ाई में द्वेष या वैर—भाव के लिए थोड़ा—सा भी स्थान नहीं था। वे जितने मजदूरों के सेवक थे उतने ही मिल मालिकों के भी थे। इस लड़ाई के बारे में लिखी हुई ‘धर्म—युद्ध’ नामक गुजराती पुस्तक में महादेवभाई ने इस हड़ताल का वर्णन अत्यन्त शुद्ध साधनों से, दृढ़ निश्चय के बल पर लड़ाई के रूप में किया है। लड़ाई का परिणाम भी दोनों पक्ष के लिए लाभदायक हुआ।

शुरू में तो दोनों पक्षों का मतभेद, कितना बोनस दिया जाय— इस बात को लेकर आरंभ हुआ, लेकिन अंत में महंगाई भत्ते के प्रमाण का सवाल पैदा हो गया। जब दोनों पक्ष गांधीजी के पास पहुंचे तब उन्होंने सारे मामले का अध्ययन करके उनको समझाया कि दोनों पक्ष पंच—फैसला मान लें। इसके बाद थोड़े ही दिनों में दुर्भाग्य से कुछ मिल मजदूरों में गलतफहमी हुई जिससे उन्होंने हड़ताल कर दी। मालिक तो मुआवजे को तोड़ने का रास्ता ही देख रहे थे अतः वे इस पर बिगड़ पड़े। 22.02.18 को उन्होंने तालेबंदी की घोषणा कर दी। गांधीजी ने दोनों को समझाकर देखा लेकिन कोई नतीजा नहीं निकला। कुल मिलाकर उन्हें यह लगा कि मजदूरों का पक्ष ठीक है। जब उन्हें यह निश्चित रूप से मालूम हो गया कि तालेबंदी होगी ही तो उन्होंने मजदूरों को अपनी 35 टके बढ़ाने की मांग पर अड़े रहने की सलाह दी। उनका विश्वास था कि मजदूरों की यह मांग न्यायोचित है। लेकिन मिल मालिकों ने यह बात तय कर ली थी कि 20 टके से ऊपर नहीं बढ़ना चाहिए। अतः 26 फरवरी 1918 को हजारों मजदूरों की हड़ताल शुरू हो गई।

उस समय मजदूरों ने जो शपथ ली वह बड़ी सीधी थी। वह निम्न प्रकार थी—“जुलाई महीने की तनखाह में 35 टके ज्यादा लिए बिना हम मिलों में काम करने नहीं जायेंगे। तालेबंदी के समय किसी भी प्रकार का झगड़ा नहीं करेंगे और पूरी तरह अहिंसा का पालन करेंगे। किसी भी प्रकार का दंगा या लूटमार नहीं करेंगे। मिल मालिकों की सम्पत्ति को किसी भी प्रकार का नुकसान नहीं पहुंचायेंगे। अपने मुंह से भी किसी प्रकार के असम्बन्धपूर्ण शब्द नहीं निकालेंगे और हर दर्जे तक शांति का पालन करेंगे।

तालेबंदी के दिनों में गांधीजी और उनके साथी निरन्तर काम में लगे रहे। उनके साथियों ने मजदूरों के मुहल्लों में जाकर उन्हें स्वच्छ और स्वस्थ जीवन का पाठ पढ़ाया। आवश्यक चिकित्सा सहायता भी पहुंचाई जाती थी। मजदूरों में बांटने के लिए प्रतिदिन शिक्षात्मक पत्रिका प्रकाशित की जाती थी। इसी प्रकार प्रतिदिन सभाएं भी की जाती और उनमें प्रतिदिन के प्रश्न हल किये जाते थे।

आर्थिक सहायता के सम्बन्ध में गांधीजी ने कड़ी नीति अपना रखी थी। पैसे के बल चलने वाले आंदोलन पर उनका विश्वास नहीं है। वे उनको यह उपदेश देते थे कि प्रत्येक आदमी को अपने लिए काम ढूंढ लेना चाहिए और पसीने की कमाई का ही भरोसा रखना चाहिए। उस समय आश्रम बन रहा था, अतः उस काम में बहुत से लोग लगा लिये गये। इसके साथ ही वे मजदूरों को यह आश्वासन भी देते थे कि यदि भूखों मरने का ही मौका आया तो उसमें पहला नम्बर उनका होगा मजदूरों का नहीं।

पन्द्रह दिन तक मजदूरों का नैतिक धैर्य बिलकुल अड़िग रहा। परन्तु कुछ मिल मालिक अपने कुचक्र चला ही रहे थे। गांधीजी के सम्बन्ध में अनेक अफवाहें उड़ाई गईं। जिससे बाद में मजदूरों का नैतिक धैर्य छूटता दिखाई देने लगा। गांधीजी ने इस अवसर पर एक ऐसा निर्णय किया जो अपनी एक विशेषता रखता था और जो अभिनव एवं अनपेक्षित भी था। उन्होंने यह बात प्रकट की कि जब तक इन सब बातों का अंत नहीं होगा तब तक न तो वे अन्न ग्रहण करेंगे न मोटर पर चढ़ेंगे। इससे सारी परिस्थिति बदल गई, मजदूर फिर दृढ़ हो गये। मिल मालिकों पर भी इससे अप्रत्यक्ष दबाव पड़ा। गांधीजी ने इस सम्बन्ध में स्वीकार किया कि कुछ हद तक उनके उपवास में हिंसा का अंश था। लेकिन मजदूरों की टूटती हुई ताकत को रोकने का वे यह एक ही उपाय वे कर सकते थे। इससे वे निरुपाय हो गये।

अंत में यह तय हुआ कि प्रोफेसर ध्रुव एकमात्र पंच बनाये जायें। तीन महीनों के बाद प्रोफेसर ध्रुव ने यह फैसला किया कि जुलाई के वेतन में मजदूरों को 35 टके ज्यादा दिये जाए। इस प्रकार अहमदाबाद में शुरू हुआ यह काम अखण्ड रूप से चलता आ रहा है और अहमदाबाद की मजदूर महाजन यूनियन देश की एक अत्यन्त संगठित संस्था बन गई हैं। गांधीजी के द्वारा बताये मार्ग पर ही उसका कामकाज चल रहा है।

15.6 वायकोम सत्याग्रह—यह एक ऐसे सत्याग्रह का उदाहरण है जो एक बड़े सामाजिक अन्याय को दूर करवाने के लिए किया गया था। वायकोम एक प्रसिद्ध तीर्थ है। भारत के पश्चिमी किनारे पर केरल प्रांत में त्रावणकोर रियासत की सीमाएं हैं। यहां शंकरजी का एक प्राचीन मंदिर है। उसी के कारण इस गांव का महत्त्व बढ़ गया है। मंदिर गांव के बीचोंबीच जो सनातनियों का केन्द्र है। सन् 1924 के प्रारंभ में यह सत्याग्रह शुरू हुआ। माधवन, कृष्णस्वामी तथा केलप्पन ने उसका प्रारंभ किया। ब्राह्मण बस्ती तथा मंदिर के पास से जाने वाले आम रास्तों से एक दिन उन्होंने कुछ हरिजनों को साथ लेकर दूसरी ओर जाने का प्रयत्न किया। भिक्षुओं और ब्राह्मणों ने अपनी पीढ़ियों से उस रास्ते से अस्पृश्यों को नहीं जाने दिया था। अपने भाइयों पर लगे हुए इस अमानवीय प्रतिबंध को समाप्त करने का निश्चय करके सत्याग्रह के द्वारा मनुष्यमात्र के लिए वह रास्ता खुलवाने के उद्देश्य से उपर्युक्त तीनों सज्जनों ने अपना प्रयत्न आरंभ किया।

गांधीजी उस समय जेल से छूटकर बाहर आये ही थे। उनका स्वास्थ्य ठीक नहीं था। कार्यकर्त्ताओं ने उनसे सलाह ली, गांधीजी ने उन्हें आशीर्वाद दिया और समय-समय पर मार्गदर्शन का लाभ भी उन्हें मिला। त्रावणकोर सरकार ने सनातनियों का पक्ष लिया और रास्ते की रक्षा के लिए पुलिस की मदद भेजी। इस सत्याग्रह के मूल में, मुख्य प्रश्न यह था कि सार्वजनिक रास्ते का उपयोग करने का अधिकार प्रत्येक नागरिक को है।

जब पहले जत्थे ने उस रास्ते से जाने का प्रयत्न किया तो ब्राह्मणों और पुजारियों ने उन्हें बुरी तरह पीटा। जत्थे के एक व्यक्ति को गहरी चोट आई। जत्थे में कुछ तो सुधारक थे और कुछ अछूत थे। लेकिन इस मार-पीट के बावजूद भी सुधारक लोग अपने निश्चय पर डटे रहे। वे न तो घबराए और न उन्होंने बदले या हिंसा की कल्पना को आने दिया। प्रतिदिन नियमित रूप से उन्होंने अपना कार्यक्रम चालू रखा। उनमें से कितने ही व्यक्तियों को अनधिकार प्रवेश करने के अपराध में गिरफ्तार किया गया और सजा दी गई।

सत्याग्रह की कल्पना जन-समाज के मन में गहरी उतर गई और गिरफ्तार व्यक्तियों का स्थान लेने के लिए दूर-दूर के प्रांतों से स्वयंसेवकों के जत्थे आने लगे। परिणामतः सत्याग्रहियों को गिरफ्तार करना बंद करना पड़ा। रास्ते को रोककर उसके आस-पास कुण्डल बनाने की आज्ञा पुलिस को दी गई। रुकावटों को दूर करने के बजाय गांधीजी ने उनको उसके सामने रात-दिन नम्रतापूर्वक खड़े रहने की सलाह दी। स्वयंसेवकों ने पास ही एक छोटी-सी झोंपड़ी बना ली और छः-छः घण्टों की बारी लगाकर बड़ी धार्मिक भावना के साथ अपना काम जारी रखा। अथवा खाली समय में वे चर्खा चलाते थे। इस प्रकार सब बातें सुचारु रूप से चल रही थी। रास्ते की रुकावट पहरेदार, सरकारी अफसर अथवा ब्राह्मण या भिक्षुओं के विरुद्ध हिंसा का अवलम्बन करने का विचार भी स्वयंसेवकों के मन में नहीं आया।

एक लम्बे अरसे तक यह घटनाक्रम ऐसे ही चलता रहा। बाद में जब बरसात शुरू हो गई तो रास्ते का वह हिस्सा नीचा था; अतः वहां पानी भर गया। इस पर भी स्वयंसेवक विचलित नहीं हुए। कितनी ही बार वे कन्धे-कन्धे पानी में खड़े रहे। उन्होंने तीन-तीन घण्टे की बारी शुरू की, लेकिन अपना पहरा सतत चालू रखा। पुलिस को नाव पर अपनी छावनी बनानी पड़ी।

सत्याग्रह की अखण्डता और स्वयंसेवकों के मूक कष्ट-सहन के कारण यह एक समूचे भारत का प्रश्न बन गया। चारों ओर उसका बोलबाला हो गया। सन् 1925 के अप्रैल मास में गांधीजी स्वयं वहां गये। त्रावणकोर के अधिकारियों से उनकी बातचीत हुई। गांधीजी ने उनसे आग्रह किया कि केवल पाशविक बल के ऊपर सनातन धर्म की परम्परा मिटाने का प्रयत्न न करें। रास्ते की रुकावट और पुलिस का पहरा हटाने के लिए आखिर उन्होंने अधिकारियों को तैयार किया। सत्याग्रह शुरू होने के एक वर्ष चार महीने बाद सन् 1925 की वर्षा ऋतु में रास्ता खोल दिया गया और ब्राह्मणों का विरोध भी समाप्त हो गया। अगर सरकारी अधिकारी पुजारियों की मदद करने न दौड़ते तो संभव था कि यह प्रश्न पहले ही हल हो जाता।

इसके बाद त्रावणकोर के महाराज ने 1937 में एक राजाज्ञा निकालकर राज्य के सारे मंदिरों को जाति, सम्प्रदाय का भेद किये बिना हिन्दूमात्र के लिए खोल दिया। इस समय गांधीजी वायकोम गये थे। वहां 18 जनवरी, 1937 को अपने भाषण में उन्होंने इस सत्याग्रह का उल्लेख करते हुए कहा—“अभी कुछ ही वर्ष पहले अवर्ण हिन्दुओं को इस रास्ते से जाने देने के लिए एक विकट लड़ाई लड़नी पड़ी थी। लेकिन आज तो खुद मंदिर ही सब लोगों के लिए खोल दिये गये हैं।”

15.7 नील सत्याग्रह—यह सत्याग्रह सन् 1927 के अंत में हुआ। विगत शताब्दी के मध्य में मद्रास में नील साहब की स्मृति में एक पुतला खड़ा किया गया था। सन् 1857 के भारतीय स्वातंत्र्य-संग्राम में लखनऊ में घिरी हुई सरकारी फौजों को छुड़ाने के लिए बाहर से जो सेना आई थी उसी में नील आया था और वह वहीं मारा गया था। अंग्रेजी प्रमाणों के आधार पर भी यह सिद्ध हो गया है कि वह एक अत्यन्त क्रूर सिपाही था और अनेक अत्याचारों के लिए जिम्मेदार था। उसके सम्मान में पुतले की स्थापना होने से लोगों को उसके द्वारा उनपर लादी गई अनन्त अवहेलनाएं और अपमानों का बारबार स्मरण होता था। इस दुःखपूर्ण स्मृति के प्रतीक को मिटाने के लिए आंदोलन करना स्वाभाविक ही था।

कई लोग अपने हाथों में छेनी और हथौड़े लेकर सत्याग्रह करने के लिए पुतले की ओर चले। पुलिस ने पुतले पर पहरा बिठला दिया और जो सत्याग्रही उसके पास जाते उनको गिरफ्तार करना शुरू किया। गांधीजी ने इस आंदोलन को अपना आशीर्वाद दिया और साप्ताहिक यंग इंडिया में स्वयंसेवकों का मार्गदर्शन करने वाले कई लेख लिखे। इनमें से एक लेख में उन्होंने लिखा—“स्वयंसेवकों को जल्दबाजी नहीं करनी चाहिए। जल्दबाजी हिंसा की ही एक अवस्था है। सत्याग्रही को सफलता की तनिक भी चिंता नहीं होती। उसके लिए सफलता तो निश्चित है; लेकिन उसे यह भी जानना चाहिए कि

वह ईश्वर की ओर से मिलती है। उसका कर्तव्य तो केवल कष्ट-सहन करते रहना ही है।” उन्होंने उन स्वयंसेवकों की हिंसक प्रवृत्ति की आलोचना की जिन्होंने कुछ विज्ञप्तियों में हिंसक प्रवृत्ति प्रकट की थी। वे कहते हैं—“यहां रोष एवं घृणापूर्ण भाषा के लिए कोई स्थान नहीं है। हमें तो उस सिद्धान्त को मिटाना है जिसे लेकर इस पुतले को खड़ा किया गया है। हम किसी भी व्यक्ति को नुकसान पहुंचाना नहीं चाहते।”

अनेक स्वयंसेवकों को सजाएं दी गईं। लेकिन वह सत्याग्रह ज्यादा दिनों तक चला नहीं। यह कहा जा सकता है कि तात्कालिक उद्देश्यों की दृष्टि से वह असफल हो गया। बाद में जब कांग्रेस के मंत्रिमण्डल ने शासन संभाला तब श्रीराजगोपालाचारी ने सबसे पहला काम यही किया कि उस पुतले को उस सम्माननीय स्थान से हटाकर अजायबघर के एक ऐसे कोने में रखवा दिया जहां किसी का ध्यान नहीं जाए।

15.8 बारडोली सत्याग्रह—बारडोली की महान लड़ाई के समय किसानों ने जो अग्निपरीक्षा दी उसके मुकाबले में हिन्दुस्तान के उपर्युक्त सत्याग्रह बहुत छोटे थे। बारडोली की लड़ाई में जो प्रश्न निहित थे वे सम्पूर्ण रैयतवार पद्धति के लिए महत्त्वपूर्ण हैं। आंदोलन को समाप्त करने के लिए सरकार ने अपनी सारी ताकत लगा दी और वह उसी समय झुकी जब उसने यह जान लिया कि लोगों को हटाना बिलकुल असंभव है।

सन् 1922 में पहले असहयोग आंदोलन के समय यदि सब बातें अच्छी तरह होती रहतीं तो बारडोली में बहुत बड़ी लड़ाई हुई होती और असहयोग आंदोलन के कार्यक्रम के सारे अंग कार्य रूप में परिणत हुए होते। लेकिन चौरा-चौरी के हिंसा काण्ड ने बारडोली को इस सौभाग्य से वंचित कर दिया। करबंदी आंदोलन एक अनिश्चित समय के लिए स्थगित कर दिया गया। इस ऐतिहासिक लड़ाई के अंत में श्रीमती सरोजिनी नायडू ने गांधीजी को लिखा “बारडोली में आदर्श सत्याग्रह करना आपका एक स्वप्न था। अपने एक विशेष रास्ते से उसे पूर्णता तक पहुंचा कर बारडोली ने विशेष अर्थ में आपका स्वप्न सच्चा कर दिया है।”

उस समय प्रत्येक तीस वर्ष के बाद बम्बई सरकार प्रत्येक ताल्लुके में नई व्यवस्था करती थी और प्रायः व्यवस्था का अर्थ होता था— लगान में वृद्धि। बारडोली और चौरासी ताल्लुके में 30 प्रतिशत वृद्धि कर दी गई। लोगों के विरोध के परिणामस्वरूप घटाकर यह वृद्धि 22 प्रतिशत कर दी गई। लेकिन किसानों ने सरकार के निर्णय पर भी एतराज किया और उन्होंने यह मांग की कि लगान में किसी भी प्रकार की वृद्धि करने के पहले खुली जांच होनी चाहिए। लेकिन सरकार ने इस विरोध की कुछ परवाह नहीं की।

किसानों ने तब शांतिपूर्वक विचार करके आखिरी फैसला कर लिया। उन्होंने एक सम्मेलन का आयोजन किया और उसमें उसका विरोध करने का प्रस्ताव पास करके सरकार को इस आशय का नोटिस दे दिया कि यदि सरकार अपनी जिद पर अड़ी रही तो हम कर देना बंद कर देंगे। वहां की कुल जनसंख्या 88,000 थी। और इस नये हिसाब से कुछ 627000 लगान देना होता था। गांधीजी ने सारी स्थिति का अध्ययन किया और लड़ाई को आशीर्वाद दिया। बारडोली के किसानों की प्रार्थना पर, वल्लभभाई ने लड़ाई का नेतृत्व करना मंजूर कर लिया। वल्लभभाई के कारण किसानों का अंत तक त्याग करने का निश्चय दृढ़ हो गया और बड़े उत्साह के साथ लड़ाई प्रारंभ हो गई।

सरदार वल्लभभाई पटेल ने ताल्लुके का विधिवत संगठन किया। अनेक वर्षों से ताल्लुके के विभिन्न भागों में समाज सेवा के चार-पांच केन्द्र चलाये जाते थे। लड़ाई के समय सुविधाजनक स्थानों पर प्रबन्ध किया गया। प्रत्येक स्वयंसेवक को एक निश्चित काम सौंप दिया गया। ताल्लुके का सारा वातावरण एक फौजी छावनी के रूप में बदल गया। लड़ाई, त्याग, निर्भयता, प्रतिकार आदि शब्द ही लोगों की जबान पर थे। प्रतिदिन खबरें और सूचना देने वाली— दोनों प्रकार की पत्रिकाएं निकाली जाने लगीं। किसानों ने यह कठोर प्रतिज्ञा कर ली थी कि वे पूरी तरह अहिंसक रहेंगे, हर तरह का कष्ट-सहन करेंगे और हंसते-हंसते सर्वस्व बलिदान करने की तैयारी रखेंगे। बारडोली में प्रतिनिधियों का एक सम्मेलन हुआ और उसमें यह अंतिम निर्णय लिया गया कि सरकार ने लगान की जो दुबारा जांच की है वह मनमानी, अन्यायक और जुल्मी है। उसमें सारे किसानों को यह आदेश दिया गया कि जब तक सरकार पुराने हिसाब से लगान लेने के लिए तैयार नहीं होती अथवा जब तक मौके पर जाकर

के लगान के प्रश्न का निर्णय करने के लिए एक निष्पक्ष जांच कमेटी नहीं बैठाई जाती वे लगान देने से मना कर दें।

सरदार वल्लभभाई पटेल द्वारा बुलाई हुई सभाओं में उन स्त्री, पुरुषों और बच्चों की भीड़ इकट्ठी होने लगी जो किसी भी प्रकार का त्याग करने के लिए तैयार थे। थोड़े-से ही समय में सारे ताल्लुके में विरोध की लहर दौड़ गई।

लगान वसूल करने के लिए सरकार ने हद दर्जे की सख्ती करने का प्रयत्न किया। उसने कुछ भी बाकी नहीं छोड़ा। खुशामद, रिश्वत, धमकी, जुर्माना, कैद, जब्ती और लाठी-चार्ज आदि सारे उपाय करके देख लिये। उसने जातियों में फूट डालने का प्रयत्न किया। बड़ी-बड़ी जमीनें जब्त कर लीं गईं और जब कोई स्थानीय उन्हें लेने वाला नहीं मिला तो वे पानी के मोल बाहर वालों को बेच दी गईं। लगभग 1400 एकड़ जमीन पर कब्जा करके उसे नीलाम किया गया। लोगों को डराने-धमकाने के लिये चालीस पठान रखे गये और एक भय का वातावरण बना दिया गया। लेकिन इस सबका यही नतीजा निकला कि सारा ताल्लुका और भी ज्यादा संगठित हो गया, जाति-संस्थाएं मजबूत बन गईं। सभी सरकारी नौकरों तथा नीलाम में जब्तशुदा माल खरीदने वालों का कड़ा सामाजिक बहिष्कार किया गया।

सम्पूर्ण भारतवर्ष ने इस लड़ाई के प्रति अपनी सहानुभूति प्रदर्शित की और बारडोली के योद्धाओं की प्रशंसा की; क्योंकि स्त्रियों ने भी पुरुषों की ही भांति लड़ाई का भार उठाया था। सरकार की दमन-नीति के विरोध में असेम्बली के कई सदस्यों ने इस्तीफे दे दिये। पार्लियामेंट में भी इस मामले की चर्चा हुई। किसान बिल्कुल दृढ़ और अहिंसक बने रहे। साढ़े पांच महीनों की लड़ाई के बाद सरकार झुकी। गवर्नर ने एक जांच कमेटी बैठाई। जब्तशुदा चीजें लौटा दी गईं और गांव के जिन कर्मचारियों ने इस्तीफा दे दिया था उन सब लोगों को फिर से नौकरियां दी गईं। कमेटी ने बहुत-से अंशों में किसानों की शिकायतें स्वीकार कीं और 22 प्रतिशत के बजाय केवल 6 प्रतिशत वृद्धि करने की सिफारिश की।

इन रिपोर्ट के द्वारा किसानों की बात पूरी तरह सच्ची सिद्ध हुई और सत्याग्रह शस्त्र की कार्यक्षमता निर्विवाद रूप से सिद्ध हो गई। उनकी शिकायत न्यायोचित थी। उनका कहना विवादरहित था और उनकी कार्य-पद्धति अहिंसक थी।

15.9 पहाड़ी जाति के लोगों का सत्याग्रह—शिमला के उत्तर में कोटगिरी या कोटगढ़ नामक एक पहाड़ी जिला है। वह हिन्दुस्तान से तिब्बत जाने वाले रास्ते पर पड़ता। वहां बेगार या जबरदस्ती मजदूरी करवाने की कुप्रथा प्रचलित थी। केवल सरकारी अधिकारी ही नहीं बल्कि शिकार या सैर के लिए जाने वाले यूरोपियन भी उस अधिकार के नाम पर वहां के ग्रामीणों को परेशान करते थे। बेगार का अर्थ है—किसी भी समय कम-से-कम दर पर जबरदस्ती काम करवा लेने की प्रथा। कई बार किसानों को नाममात्र की मजदूरी पर बुला लिया जाता था जिससे उनकी खेती को बहुत नुकसान होता था। इतना ही नहीं उनको साहबों के बंगलों पर अपनी गाएं ले जानी पड़ती थीं और वहां उन्हें दुह कर उनको सस्से दाम में दूध देना पड़ता था।

यह प्रथा प्राचीन काल से चली आ रही थी। लेकिन इधर कुछ दिनों में गरीब किसानों में जागृति हुई और उन्होंने इस कुप्रथा का विरोध करके अधिकारियों से फरियाद की परन्तु उनकी शिकायत मिटाना तो दूर उलटे उनके कपूरसिंह नामक स्थानीय नेता को जेल में डाल दिया गया। जनता पर दमन का दौरा प्रारंभ हो गया। शिमला से पुलिस बुलाई गई। दूसरे और लोगों को पकड़ा गया या मशीनगन, काला पानी, या आजीवन कैद आदि का भय दिखाकर छोड़ दिया गया। ऐसी परिस्थिति में कपूरसिंह के खिलाफ कुछ सबूत इकट्ठे किए गए और उसे सजा दे दी गई। यह 1921 की घटना थी जब सारे देश में असहयोग की गूंज हो रही थी।

कुछ समय के बाद श्री ई.एस. स्टोक्स नामक एक यूरोपियन ने इस मुद्दे को अपने हाथों में लिया और इस पुराने अन्याय का प्रतिकार करने के एक आवश्यक संगठन खड़ा किया। उन्होंने एक कमेटी बनाई और लोगों से यह प्रतिज्ञा करवाई कि वे शब्दशः कमेटी की आज्ञा पालन करेंगे और कमेटी के द्वारा ही अपनी बात कहेंगे।

इसके बाद अपनी मांग का एक प्रारूप अत्यन्त नपे-तुले शब्दों में तैयार करके जिला कमिश्नर के पास भेजा गया। उसने इसके ऊपर कोई ध्यान नहीं दिया। दूसरे अधिकारियों से भी मिला गया;

लेकिन उसका भी कोई परिणाम नहीं निकला। वहां के ब्रिटिश अधिकारियों की सुख-सुविधा और ऐशा-आराम इसी प्रथा पर अवलम्बित थे, यही कारण था कि वे इस प्रश्न पर ध्यान देना नहीं चाहते थे। इसके बाद पंचायत ने यह प्रकट किया कि यदि एक निश्चित समय में बेगार बंद नहीं की गई तो हजारों की बस्ती वाला यह जिला किसी भी प्रकार का काम करने से इंकार कर देगा।

नतीजा यह हुआ कि शिमला के कमिश्नर को वहां तक आना पड़ा। उसने गांव और लोगों में फूट डालने का पुराना रास्ता अख्तियार किया। कड़ी कार्रवाई करने की धमकी दी। उसने कई लोगों को बुलाया। लेकिन कोई भी इस सम्बन्ध में स्वतंत्र रूप से बोलने के लिए तैयार नहीं हुआ। सभी ने पंचायत की ओर संकेत किया। लोगों ने पूरी तरह अहिंसक वातावरण बनाये रखा। उन्होंने किसी भी सरकारी अफसर अथवा उस भाग में प्रवास करने वाले यूरोपियन को अनाज देने या किसी भी प्रकार का काम करने से इंकार कर दिया। उन्होंने एक स्वर में कहा कि “सबसे पहिले इस अन्यायपूर्ण प्रथा का अंत हो जाना चाहिए।” कुछ महीनों तक लड़ाई चलती रही। कमिश्नर के आ जाने पर थोड़े दिन में ग्रामीणों की मांगें मंजूर कर ली गईं। सारे मुख्य-मुख्य रास्तों पर छपे हुए सरकारी परिपत्र लगाये गये। ग्रामीणों से करवाये जाने वाले काम काफी मर्यादित कर दिये गये और उनकी ठीक-ठीक मजदूरी भी निश्चित कर दी गई। इस प्रकार ग्रामीणों को उनकी सहनशीलता, ऐक्यता, त्याग करने की तैयारी और विशेषकर अहिंसक वृत्ति के कारण सफलता प्राप्त हो गई।

15.10 बोरसद सत्याग्रह—गुजरात प्रांत के सूरत जिले में बोरसद एक ताल्लुका है। सन् 1922 में जब गांधीजी को सजा हुई तब कुछ विचित्र परिस्थिति में सत्याग्रह की यह छोटी-सी लड़ाई चलाने के लिए सरदार वल्लभभाई पटेल को वहां बुलाया गया। देवर बाबा नाम के डाकू की लूट में गुप्त रूप से सम्मिलित होने का झुठा आरोप लगाकर बोरसद ताल्लुके के निवासियों पर सरकार ने उन्हें सजा देने के लिए दण्ड कर लगा दिया। शासन करने के लिए ताल्लुके में बड़ौदा तथा अंग्रेजी इलाके की पुलिस बिठा दी गई और उसका खर्च भी बेचारे निरपराध किसानों पर लाद दिया गया।

कुछ समय तक देवर बाबा ने डाका डालने, धनवानों को उड़ा ले जाने और बदले में उनसे भारी रकम वसूल करने का तांता लगा दिया था। यह सिलसिला लगभग एक महीने तक चलता रहा। इसके बाद एक प्रतिस्पर्धी मुसलमान डाकू उठ खड़ा हुआ और उसने उसी ताल्लुके में वे ही सब बातें शुरू कर दीं। बोरसद ताल्लुका बड़ौदा की सीमा से लगा हुआ था अतः वहां की पुलिस का भी इस मामले पर उतना ही ध्यान था लेकिन दोनों के संयुक्त प्रयत्न भी असफल सिद्ध हुए।

देवर बाबा को पकड़ने के लिए उस मुसलमान डाकू की सहायता ली गई। उसने यह स्वीकार कर लिया कि यदि उसे काफी शस्त्र और थोड़े पुलिस के सिपाही भी दिये जाए तो वह जरूर मदद करेगा। योजना तो अत्यन्त आकर्षक थी। लेकिन उस चतुर डाकू ने पुलिस की सुविधा और संरक्षण से लाभ उठाकर अपना ही मतलब साधा। उसने पुलिस को खूब धूल झाँकी। डाके बढ़ने लगे। ऐसी स्थिति में सरकार ने उलटे ग्रामीणों पर ही यह आरोप लगाया कि वे डाकुओं की मदद कर रहे हैं और इस वजह से ताल्लुके में अतिरिक्त पुलिस बैठा दी गई।

इस बीच सरदार वल्लभभाई पटेल को पुलिस और मुसलमान डाकू के इस समझौते की खबर लग गई। सारी स्थिति का अध्ययन करके उन्होंने लोगों को आज्ञा दी कि वे ज्यादा कर न दें। ग्रामों में गश्त लगाने के लिए उन्होंने 200 स्वयंसेवकों के जत्थों का संगठन किया। उन्होंने लोगों को निर्भय होकर मकान के दरवाजे खुले रखने के लिए तैयार करने में काफी सफलता प्राप्त की।

फोटो की सहायता से इस प्रकार के प्रमाण एकत्र किये गये कि ताल्लुके में नियुक्त किये हुए पुलिस के सिपाही ही, डाकुओं के डर से अपने घर के दरवाजे भीतर बाहर ताले लगाकर बंद रखते थे। इसी प्रकार एक आदमी के गोली लगने से यह भी सिद्ध हो गया कि वह पुलिस की ही गोली है। अतः इससे यह निर्विवाद रूप से सिद्ध हो गया कि डाकू अपने काम के लिए पुलिस के ही दास गोले का प्रयोग कर रहे थे। इस बात के प्रकट होते ही बड़ौदा की पुलिस ने बड़ी जल्दी अपना हाथ वहां से हटा लिया। लेकिन लोगों के प्रतिकार की कोई परवाह न करके ब्रिटिश पुलिस ने और ज्यादा कर वसूल करना और उसके न देने पर सम्पत्ति जब्त करना चालू रखा।

बम्बई के तत्कालीन गवर्नर सर लेस्ली विल्सन ने जब ये सब बातें सुनी तो उन्होंने स्थिति की जांच के लिए गृहमंत्री को भेजा। जब उनके ध्यान में सही बात आई तो उन्होंने उसी समय वहां से ज्यादा पुलिस हटा दी और वह कर भी रद्द कर दिया। इस बीच सरदार पटेल द्वारा संगठित 200 स्वयंसेवकों के डर से देवर बाबा भी वहां से भाग गया।

15.11 झण्डा सत्याग्रह—यदि झण्डा राष्ट्र की इज्जत का प्रतीक न हो और जो लोग उसकी इज्जत करते हैं, वे यदि अपने त्याग और बलिदान के द्वारा उस पर पवित्रता का तेज न चढ़ाए तो उसकी कीमत एक साधारण कपड़े से ज्यादा नहीं हो सकती। हिन्दुस्तानियों की सर्वोच्च भावना एवं अपार त्याग के धागे तिरंगे के आस-पास गुथे हुए हैं।

नागपुर झण्डा सत्याग्रह के बहाने जब विदेशी सरकार ने झण्डे के ऊपर स्वेच्छाचारी एवं उद्दण्ड पाबन्दियां लगाईं तब राष्ट्रीय झण्डे की इज्जत की रक्षा करने का अवसर आया। आकस्मिक घटनाओं के कारण नागपुर में झण्डा सत्याग्रह हुआ। मध्यप्रांत की राजधानी नागपुर में तिरंगे झण्डे लिए हुए कांग्रेस का एक जुलूस सिविल लाइन्स की ओर जा रहा था।

जिन लोगों के ऊपर जुलूस की जिम्मेदारी थी, उन्होंने झण्डा लेकर आगे जाने का आग्रह किया। उन्हें पकड़ लिया गया और अलग-अलग अवधि की सजाएं दे दी गईं। इसपर सारे हिन्दुस्तान का ध्यान उस ओर आकर्षित हो गया। राष्ट्रीय झण्डे की इज्जत की रक्षा के लिए स्वयंसेवकों के दल नागपुर आने लगे। एक 'नागपुर सत्याग्रह समिति' बनवाई गई उसके द्वारा लड़ाई प्रारंभ कर दी गई। प्रतिदिन गिरफ्तार होने के लिए छोटी-छोटी टुकड़ियां भेजी जाने लगीं। कुछ दिनों तक कांग्रेस वर्किंग कमेटी के सदस्य सेठ जमनालाल बजाज लड़ाई के सूत्रधार रहे। कार्य समिति ने लड़ाई का समर्थन किया और जो लोग उसके लिए कष्टसहन कर रहे थे उनका अभिनन्दन किया। 8, 9, 10 जुलाई को अखिल भारतीय कांग्रेस कमेटी की जो बैठकें नागपुर में हुईं उनमें भी इस लड़ाई का समर्थन किया गया। जमनालालजी की गिरफ्तारी के बाद लड़ाई का नेतृत्व सरदार वल्लभभाई पटेल के सुपुर्द किया गया। यह घोषणा की गई कि 18 जुलाई के दिन सारे हिन्दुस्तान में झण्डा-दिवस मनाया जाए। उस दिन सारी प्रांतीय कांग्रेस कमेटियां अपने जिलों के प्रमुख शहरों में झण्डे के जुलूस निकालने वाली थी। उनसे यह भी अपेक्षा की गई थी कि वे नागपुर भी कुछ स्वयंसेवक भेजेंगी। उस समय तक लगभग 1000 से अधिक स्वयंसेवकों ने पहले ही वहां जाकर सत्याग्रह किया था और वे प्रांत की भिन्न-भिन्न जेलों में कष्ट उठा रहे थे।

दूसरे जगहों की भांति नागपुर में भी 18 जुलाई को झण्डे के जुलूस का बड़ा भारी कार्यक्रम बनाया गया था। जुलूसबंदी की आज्ञा लागू थी। फिर भी पुलिस ने 18 जुलाई के जुलूस में न कोई बाधा डाली न जुलूस निकालने वालों के विरुद्ध कोई कार्रवाई की। किसी तरह की इजाजत न लेने पर भी उन्होंने जुलूस निकलने दिया। आम रास्ते पर झण्डा लेकर चलने वाले हजारों व्यक्तियों को गिरफ्तार करने की मूर्खता सरकार के ध्यान में आ गई।

सितम्बर 1923 में दिल्ली में कांग्रेस का जो विशेष अधिवेशन हुआ उसमें अपने दिव्य त्याग के द्वारा राष्ट्रीय झण्डे की शान बनाये रखने वाले स्वयंसेवकों को बधाई दी गई।

15.12 सामाजिक अन्याय के विरुद्ध सत्याग्रह—गांधीजी ने सदैव इस बात का प्रतिपादन किया कि सत्याग्रह एक ऐसा शस्त्र है कि जीवन के किसी भी क्षेत्र में, मित्र और शत्रु, अपने और पराये, एक और अनेक व्यक्ति और संस्था सबके विरुद्ध चलाया जा सकता है। जिस प्रकार 'गुरु का बाग सत्याग्रह' सम्पूर्ण जाति के सुधारकों द्वारा अन्याय और रुढ़िवाद के विरुद्ध किये हुए सत्याग्रह का उदाहरण है उसी प्रकार जाति के छोटे-छोटे समूहों के द्वारा उनसे भी ज्यादा छोटे कारणों के लिए किये हुए सत्याग्रहों के उदाहरण मौजूद हैं।

गुजरात के खेड़ा जिले में धर्मज नामक एक छोटा-सा ग्राम है। वहां के नवयुवकों ने इसी प्रकार का एक सत्याग्रह किया। ग्राम के एक प्रमुख नागरिक ने अपनी मां की बारहवीं के दिन बड़ा जातिभोज देने का निर्णय किया। जाति के नवयुवक इस प्राचीन प्रथा के विरुद्ध थे। उन्होंने उसे समझाने का काफी प्रयत्न किया लेकिन कोई परिणाम नहीं निकला। उन्होंने इस बात की सौगन्ध खाई कि वे परोसे हुए अन्न का स्पर्श नहीं करेंगे, उस समारम्भ में भाग नहीं लेंगे, और विरोध रूप में उस

दिन उपवास रखेंगे और जाति के बड़े-बूढ़े इस सम्बन्ध में उन्हें जो कुछ सजा देंगे या बुरा व्यवहार करेंगे उस सबको वे खुशी-खुशी सहन करेंगे।

अतः उस दिन लगभग 284 विद्यार्थियों एवं छोटे-छोटे बालकों ने उपवास किया। बड़े-बूढ़े खूब नाराज हुए लेकिन अपने सिद्धान्तों के लिये खुशी-खुशी कष्ट सहन को तैयार रहने वाले अपने ही बच्चों के विरुद्ध वे क्या करते? उन नवयुवकों को पत्र लिखकर गांधीजी ने उनकी त्याग करने की तैयारी की प्रशंसा की और उनको प्रोत्साहन देकर आगे लिखा—“यदि वे इस प्रकार दृढ़ रहे तथा शुद्ध, सुन्दर और प्रेममय हथियार का प्रयोग करते रहे तो समाज की सारी कुप्रथाएं नष्ट हो जाएगी।”

15.13 हरिजन सत्याग्रह—बंगाल के मुंशीगंज में कालीदेवी के सामने हरिजनों ने जो सत्याग्रह किया उसमें बड़े ही विचित्र ढंग से सफलता मिली। अन्य हिन्दू उपासकों की भांति मंदिर में प्रवेश करने की इजाजत प्राप्त करने के लिए उन्होंने 9 महीनों से अधिक सत्याग्रह किया। अंत में कुछ व्यक्तियों ने उपवास शुरू किया। इतना होने पर भी केवल उच्चवर्ण की स्त्रियों से ही यह सहा नहीं गया। उनमें से 200 स्त्रियों ने अपने हाथों में करबत, कुल्हाड़ी, हथोड़े आदि लेकर मंदिर पर आक्रमण कर दिया और रास्ते की रुकावटें हटाकर देवदर्शन के लिए व्याकुल अपने हरिजन बन्धुओं के लिये मंदिर का मार्ग खोल दिया। इसपर सारा समाज चुप हो गया।

15.14 जेल सत्याग्रह—सन् 1925 के प्रारंभ में एक दिन यरवदा जेल में 1600 कैदियों ने भोजन करने से इंकार कर दिया क्योंकि जेल के सुपरिन्टेन्डेन्ट ने कुछ फूल के पौधे और तुलसी के रोप उखाड़ दिये तथा शंकर, गणपति, मारुति आदि हिन्दुओं के पवित्र देवों के भी छोटे-छोटे चबूतरों को खोद डाला। इन्हीं कारणों से कैदियों ने अन्नत्याग किया था। जेल के हिन्दू कैदियों में से कितने ही प्रतिदिन स्नान करने के बाद पौधों में पानी डालते थे और मूर्तियों की पूजा करते थे। उनका नियम था कि वे बिना पूजा किए अन्न ग्रहण नहीं करते थे। लेकिन जब उन पौधों, देवमूर्तियों और उनके चबूतरों को निष्ठुरतापूर्वक उखाड़ फेंका गया तो उनकी भावनाओं को जबरदस्त धक्का लगा और उन्होंने उपवास शुरू कर दिया। उन्होंने काम करने से ही इंकार नहीं किया अपितु केवल अन्न ग्रहण करने से इंकार किया।

यूरोपियन सुपरिन्टेन्डेन्ट को इस बात की कल्पना न थी कि इस बात से कैदियों की भावना को इतना जबरदस्त धक्का लगेगा। लेकिन इतना सब करने के बाद और कुछ करने की उनकी हिम्मत नहीं हुई। उसने थोड़े-से ही पौधे और चबूतरे उखड़ाये थे, लेकिन इतना बड़ा विक्षोभ देखकर उसने पीछे हट जाना ही ठीक समझा। उसने कैदियों के नेताओं को आश्वासन दिया कि देवमूर्तियां वापस दे दी जायगीं और चबूतरे फिर से बनवा दिये जायंगे। उसके इस आश्वासन पर कैदियों ने 24 घंटे के बाद अपना उपवास छोड़ दिया और जब उनकी मूर्तियां उन्हें वापस मिलीं और चबूतरे भी फिर से तैयार हो गये तो उन्हें बहुत खुशी हुई। इस सम्बन्ध में सुपरिन्टेन्डेन्ट का यह कहना था कि वहां इस प्रकार के पौधे, चबूतरे और मूर्तियां बड़ी संख्या में बढ़ते जा रहे थे। यह बढ़ती किसी के भी ख्याल में नहीं आई थी। इस तरह से दूसरे धर्म के लोग भी अपनी-अपनी मूर्तियां लाकर सब दूर उनकी प्रतिष्ठा कर देंगे और इसका अंत भी नहीं होगा। यह बात सत्य है कि लगभग जेल खुलने के समय से ही तुलसी लगाना तथा चबूतरे बनाकर उन पर मूर्तियों की प्रतिष्ठा करना, कुछ अनुचित ढंग से हो रहा था। लेकिन सुपरिन्टेन्डेन्ट का यह भय बिलकुल निराधार था कि मुसलमान, सिक्ख और ईसाई भी इसी प्रकार की बातें करेंगे।

सुपरिन्टेन्डेन्ट को यह सब बातें अच्छी नहीं लगीं। वह किसी-न-किसी प्रकार इन मूर्तियों को हटा देना चाहता था। कुछ सप्ताह इसी प्रकार बीत गये। इसके बाद सुपरिन्टेन्डेन्ट ने जेल के भिन्न-भिन्न विभागों के हवलदारों को यह आज्ञा दी कि वे चौबीस घंटे के अंदर जेल के सारे चबूतरे, मूर्तियां और पौधे उखाड़ फेंकें। आज्ञा मिलते ही उन्होंने मूर्तियां हटाने का काम शुरू कर दिया। इस बीच जो कुछ सप्ताह का समय गया उसमें कैदियों को पिछली बार जो तात्कालिक विजय मिली थी उससे उनका भावावेश कम नहीं हुआ था। यह बात सुनते ही उन्होंने इसे सारी जेल में फैला दिया और एक ऐसी गंभीरता और उदासीनता सारी जेल में फैल गई जो इससे पहिले कभी नहीं देखी गई थी। सैंकड़ों कैदियों ने इस बात का निश्चय किया कि जब तक फिर से उनकी मूर्तियों की स्थापना न हो

जायगी तबतक वे अन्न ग्रहण नहीं करेंगे। उन्होंने अपना काम चालू रखा। केवल जेल अधिकारियों से बोलना और अन्न ग्रहण करना बंद कर दिया।

लगभग 48 घंटों तक उपवास चालू रहा। सारी जेल में एक प्रकार की उदासीनता फैल गई थी। जेल के एक भाग में जिसे 'सेपरेट' जहा जाता था वहां हवलदार कुदाली लेकर आया और उसने कैदियों से चबूतरा खोद डालने के लिये कहा तो वहां के एक प्रमुख हिन्दू कैदी ने कैदियों को समझाया कि हमारे ही दूसरे हिन्दू भाइयों को जो बात पवित्र लगती है उसे खोद डालना तुम्हारा कर्तव्य नहीं है। इस बात का असर उनके ऊपर हुआ और उन्होंने चबूतरे खोदने से इंकार कर दिया। इसपर हवलदार ने स्वयं ही वह काम करने का निश्चय किया। लेकिन उस कैदी ने उससे भी इसी प्रकार की प्रार्थना की। "अपनी धर्मभावना के विरुद्ध काम करने के लिये ही तुमको सरकार से तनख्वाह नहीं मिलती है। मान लो कि यदि सुपरिन्टेन्डेन्ट ने कल तुमसे अपने बच्चों को मारने के लिए कहा तो क्या तुम उसका कहना मान लोगे? यदि मैं तुम्हारी जगह होता तो भूखों मरना पसंद करता, भीख मांग लेता या कुछ करता लेकिन दिन भर उपवास करने वाले और अपने प्राणों को भी छोड़ने के लिए तैयार रहने वाले अपने ही सैंकड़ों भाइयों की धर्मभावना को ठेस न पहुंचाता।" ये उद्गार सुनते ही हवलदार का मन विचलित हो गया। फिर भी कुदाली को एक ओर रखने के लिए वह तैयार नहीं हुआ। यह देखकर वही कैदी फिर बोला—"यदि मेरी बात तुम्हारी समझ में न आती हो तो यह देखो मैं तुम्हारे और चबूतरे के बीच में खड़ा होता हूँ। तुम अपनी कुदाली की पहली चोट मेरे सिर पर पड़ने दो। मेरी लाश यहां बिछाकर ही तुम इस हीन काम को कर सकोगे।" हवलदार पर इस बात का बहुत असर पड़ा। दस-बारह कैदी यह सब देख रहे थे। अंत में हवलदार काम छोड़कर चला गया।

तीसरा दिन आया। अपना-अपना काम करने से परिश्रम के कारण बेहोश हो जाने वाले कितने ही कैदियों को दवाखाने में ले जाया गया। किसी ने एक भी शब्द नहीं कहा और न ही किसी प्रकार की शिकायत की। निश्चित समय पर उनको भोजन दिया जाता था लेकिन वे इंकार कर देते थे। अन्न त्याग करने वालों की संख्या 1100 और 1200 के बीच में थी। जो कुछ उन्हें कहना होता था वह वे अपने नेता के द्वारा ही कहते थे।

उसी समय 'सेपरेट' के जिस कैदी ने हवलदार का हृदयपरिवर्तन किया था उसने सुपरिन्टेन्डेन्ट को एक स्लेट पर लिखकर यह सूचना भेजी की वह दूसरे कैदियों की सहानुभूति में उपवास कर रहा है। लेकिन यदि यह सब समाप्त करके शांति स्थापित करने का मौका मिले तो उससे मुझे बहुत खुशी होगी। लगभग दस बजे प्रातःकाल सुपरिन्टेन्डेन्ट उस कैदी के पास गया और उसे सारी परिस्थिति समझाने का प्रयत्न किया। सुपरिन्टेन्डेन्ट ने उसे बताया कि उसने प्रत्येक स्नानघर के नये चबूतरे बनाने का हुक्म दे दिया है और उसके ऊपर मूर्ति की प्रतिष्ठा करने या तुलसी के रोप लगाने की कैदियों को स्वतंत्रता होगी। उस कैदी को अपने साथ ले जाकर सुपरिन्टेन्डेन्ट ने कुछ बनते हुए चबूतरे भी दिखाये और उससे पूछा कि इस प्रकार की व्यवस्था हो जाने पर उपवास छोड़ने में क्या कठिनाई है? इसपर उस कैदी ने कहा कि कुछ सप्ताह पूर्व सुपरिन्टेन्डेन्ट ने जो आश्वासन दिया था उसे पीछे से भंग कर दिया। अतः अब उसी अवस्था में उपवास छोड़ा जा सकता है जब कि सुपरिन्टेन्डेन्ट इस प्रकार की लिखित आज्ञा दे कि अब जो नई व्यवस्था की जा रही है वह कायम रहेगी।

चबूतरे बनाने का काम चालू था। दोपहर के समय लगभग 2 बजे लिखित आज्ञा भी सुना दी गई। इन्स्पेक्टर जनरल ऑफ प्रिजन्स अहमदाबाद गया था। वह जल्दी ही वहां से लौटा और लगभग 4 बजे सायंकाल जेल में आया। कैदियों से यह कहा गया कि जब तक चबूतरे तैयार नहीं हो जाते और उनपर मूर्ति की प्रतिष्ठा नहीं होती तथा फूल, धूप, केले, नारियल आदि से पूरी तरह पूजा न हो तबतक वे उपवास न छोड़ें। अतः जब आई.जी.पी. ने कैदियों से पूछा तो उन्होंने यही जवाब उसे दे दिया। अंत में कैदियों की इच्छानुसार सब बातें हो गईं। जो कैदी नियमित रूप से पूजा करते थे उन्होंने दूसरे दिन सुबह स्नान करके लगभग 11 बजे सदैव की तरह पूजा की। प्रायः सभी जगह के चबूतरे तैयार हो गये थे और मूर्ति तथा पौधे फिर से लगा दिये गये थे। प्राणप्रतिष्ठा कराने के लिये बाहर से ब्राह्मण बुलाया गया था। कैदियों को आधे दिन की छुट्टी दी गई। इस प्रकार कैदियों को अपनी शिकायतों में विजय मिली और यह घटनाक्रम समाप्त हुआ। कुछ दिनों के बाद एक जेलर ने कहा कि मैंने अब तक जितने सत्याग्रह सुने और देखे हैं उनमें यह सबसे ज्यादा नियमबद्ध, बिल्कुल शुद्ध और आदर्श सत्याग्रह था।

15.15 पेक्स की खानों के मजदूरों की हड़ताल—1926 की इंग्लैण्ड की आम हड़ताल अहिंसक प्रतिकार में विशेषतः नेताओं में मूलभूत कमियां रह जाने के कारण असफल हुई लेकिन हंगरी में पेक्स की हड़ताल ने तथा उसे अंत में जो सफलता मिली उसने एक बात सिद्ध कर दी कि यदि कुछ इने-गिने दृढ़निश्चयी लोग सही स्थिति ग्रहण कर लें और अंत तक उसपर डटे रहें तो जो चाहें वही करके दिखा सकते हैं।

हड़ताल का कारण था। सन् 1934 में पेक्स के 1200 मजदूरों ने ज्यादा काम और एक सप्ताह के 14 शिलिंग के कम वेतन के लिए हड़ताल कर दी। मंदी के कारण उनको सप्ताह में केवल तीन दिन काम मिलता था। मजदूरी बिल्कुल अपर्याप्त होती थी। उसमें भी उनकी तनखाह में से आठ प्रतिशत काट लिया जाता था।

जब मजदूर लोग खानों में थे तभी हड़ताल की घोषणा कर दी गई। वे वहीं बैठ गये और जबतक उनकी मांग मंजूर न हो तब तक ऊपर आने से इंकार कर दिया। दो दिन के बाद उनमें से 44 व्यक्तियों की हालत खराब हो जाने से उनको ऊपर लाना पड़ा। भूख-प्यास और थकावट से वे बेहाल हो गये थे। उनमें से कुछ लोग तो बेहोश हो गये थे। कितने ही बड़बड़ा रहे थे और कितने ही मृत्यु के नजदीक पहुंच गये थे। हंगरियन सरकार ने यह जाहिर किया कि पेक्स के आसपास के क्षेत्र में खतरा पैदा हो गया है और वहां सेनाएं तैनात कर दीं। खान के मजदूरों से जो समझौते की बातचीत हुई उससे कोई नतीजा नहीं निकला।

खान के अंदर से मजदूरों ने संदेशा भेज दिया कि “जबतक आप हमारी सारे मांगें अभी मंजूर करने का वचन नहीं देते तबतक आगे बातचीत करना व्यर्थ है। ऊपर आकर भूखों मरने के बजाय हम यहीं दम घुटकर मर जाना पसन्द करेंगे। हम हंगरियन हैं और हमें आशा है कि खान के गर्त में से और हमारे पीड़ित हृदय में से जो करुण चीत्कार उठ रही है वह हमारे देशवासियों तक अवश्य पहुंचेगी। जब हम युद्ध के सैनिक थे तब हमें संरक्षण प्राप्त था। आज हम उत्पादन के सैनिक हैं। अतः हमारा दावा है कि हमें अब भी उसी प्रकार का संरक्षण मिलना चाहिए।” इसके बाद उन्होंने 345 शव-पेटियां भेजने की प्रार्थना की और संदेशा दिया— कि हमने मृत्यु को अपना लेने का निश्चय कर लिया है। हमारी याद भुला दीजिये। बाल-बच्चों को हमारा अंतिम आशीर्वाद।

तीसरे दिन खानों के मालिकों ने दूसरे 3000 मजदूरों के लिए तालेबंदी कर दी। इससे खान विभाग के 40000 लोगों में और कटुता फैल गई। रास्तों पर सेना की गश्त शुरू हो गई। हड़ताल से सहानुभूति रखने वाले और ये सब बातें अपने सामने देखने वाले दो व्यक्ति समझौते का प्रयत्न करने के लिए मजदूरों के पास गये। सोशल डेमोक्रेटिक दल को पार्लियामेन्ट का सदस्य चार्ल्सपेअर ने कहा—“मैंने कई उग्र हड़तालें देखी हैं, लेकिन पेक्स की हड़ताल में मैंने जितना जबरदस्त दृढ़ निश्चय देखा है, उसका मुकाबला किसी से भी नहीं किया जा सकता। इसी प्रकार हंगरियन पार्लियामेन्ट के डेमोक्रेटिक-सोशलिस्ट सदस्य जनरल जेमास ने खानों के गर्भ में ऐसे मजदूरों को देखा जिनको उनके मित्रों ने, इसलिए खम्भों से बांध दिया था कि कहीं वे आत्महत्या न कर लें। वहां उसे भूख, थकावट, सामूहिक उन्माद साकार रूप में दिखाई दिये। उसने इस घटना का—“मेरे जीवन का एक भयंकर दृश्य” कहकर वर्णन किया है।

चार दिनों के बाद समझौता करने के लिए उनको तैयार किया गया। सरकारी रेलों ने कम्पनी से ज्यादा कोयला खरीदना स्वीकार कर लिया। सरकार ने यह जाहिर किया कि वह वेतन काटने के बारे में जांच करेगी। कम्पनी ने वादा किया कि वह किसी भी मजदूर को हड़ताल करने के लिए परेशान नहीं करेगी और उसने थोड़ा-सा बोनस भी दिया।

लेकिन जब हड़तालियों की हालत सुधरी तब उनके समाधान का कोई कारण नहीं दिखाई दिया। उनका कहना था कि जब उन्होंने शर्तें मंजूर कीं तब उनका मन अत्यन्त दुर्बल हो गया और वे अच्छी तरह नहीं जानते थे कि, वे क्या कर रहे हैं। चार दिनों तक खानों में रहने के कारण वे इतने थक गये थे कि उनका अपने दिमाग पर कोई काबू नहीं रहा।

साढ़े तीन महीनों के बाद पेक्स के 698 खान के मजदूरों ने दस फीसदी मजदूरी बढ़ाने के लिए फिर हड़ताल कर दी। तालेबंदी और सेनाओं का प्रदर्शन हमेशा की तरह हुआ ही; परन्तु 29 घंटों में ही

व्यवस्थापकों ने उनकी मांग मंजूर कर ली और हड़ताल करने के लिये मजदूरों को कोई तकलीफ न देना भी मंजूर कर लिया।

इस हड़ताल के बारे में ग्रेग ने कहा—“हड़ताल के कुछ काम और उसके कुछ मजदूरों की अंतःप्रवृत्ति यद्यपि हिंसक थी, फिर भी उनकी तीव्र निराशा, कष्टसहन, एक्यता और सहनशीलता, अन्याय के सम्बन्ध में स्पष्टता— ये सब बातें इतनी विचित्र थीं कि संसार की लापरवाही और अज्ञान एकदम नष्ट हो गया। दूसरी हड़ताल में मालिकों को मजदूरों की सब मांगें मंजूर करनी पड़ीं।

15.16 रौलट एक्ट सत्याग्रह—चंपारन (1917) और खेड़ा (1918) के छोटे-छोटे सत्याग्रह के बाद जब रौलट बिल पर कानून की मुहर लग गई तो गांधीजी को राष्ट्रव्यापी आंदोलन करने का मौका अचानक मिल गया।

प्रथम महायुद्ध का अंत नवम्बर 1918 में हुआ और विजय का दायित्व मित्रराष्ट्रों को मिला। विजय प्राप्ति के युद्ध में हिन्दुस्तान ने स्वेच्छापूर्वक अपना रक्त बहाया था और तिजोरियां खाली कर दी थीं। हिन्दुस्तान को यह आशा थी कि यदि पूर्ण स्वराज्य नहीं तो कम-से-कम स्वराज्य का अधिकांश भाग तो उसे मिलेगा ही। लेकिन उनके नागरिक अधिकारों को कुचल देने वाला रौलट एक्ट पास कर दिया गया। सरकार ने राजद्रोह का नाम-निशान तक मिटा देना तय किया और इस कानून के द्वारा भारत रक्षा कानून अथवा आर्डिनेन्सों के समान सरकारी जांच करने के अधिकार सरकार ने इस कानून के द्वारा अपने हाथ में ले लिये।

हिन्दुस्तान के क्रांतिकारी अपराध और राजद्रोह रौलट रिपोर्ट 19.1.1919 को प्रकाशित की गई। 6.2.1919 को गांधीजी ने यह घोषित किया कि यदि यह बिल कानून बन गया तो वे इसके विरुद्ध सत्याग्रह करेंगे। दूसरा बिल तो रोक दिया गया था किंतु ‘क्रिमिनल लॉ अमेन्डमेन्ट एक्ट’ पास हो गया। 18 मार्च 1919 को उन्होंने सत्याग्रह के लिए एक प्रतिज्ञापत्र प्रकाशित करवाया। यह सब अभी नई स्थापित की हुई सत्याग्रह समिति के नाम से ही किया गया। मद्रास से यह सूचना भेजी गई कि 30 मार्च सत्याग्रह के पहले दिन के रूप में मनाया जाय। लेकिन बाद में इसे बदलकर 6 अप्रैल कर दिया गया। यह नई सूचना दिल्ली तथा अन्य कुछ स्थानों पर न पहुंच सकी और वहां 30 मार्च को ही सत्याग्रह दिवस मनाया गया।

प्रतिज्ञापत्र में रौलट एक्ट का वर्णन “अन्यायपूर्ण तथा न्याय और स्वाधीनता के सिद्धान्तों के लिए घातक और व्यक्ति के उन मौलिक अधिकारों को हानि पहुंचाने वाला, जिनपर भारत और स्वयं राज्य की रक्षा अवलम्बित है” कहकर किया गया था।

28 फरवरी 1919 को, जो घोषणापत्र प्रकाशित किया गया उसमें गांधीजी ने कहा—“आज हम जो कदम उठा रहे हैं वह हिन्दुस्तान के इतिहास में सबसे ज्यादा महत्वपूर्ण गिना जायगा। ज्यादा-से-ज्यादा कष्टसहन करने का निश्चय करके तथा सरकार के प्रति किसी भी प्रकार की द्वेषभावना मन में न आने देते हुए प्रतिज्ञाबद्ध सत्याग्रही सरकार से अंतिम प्रार्थना करता है। अपनी शिकायतों को दूर करवाने के साधन के रूप में जो हिंसा की क्रियाशीलता में श्रद्धा रखते हैं उन्हें सत्याग्रह एक अमोघ उपाय बताता है। इसके अलावा जो इस उपाय को अपनाता है और जिसके विरुद्ध इसे अपनाया जाता है उन दोनों के ही लिए यह कल्याणकारी है। यह अन्याय अत्यन्त भयंकर है और इसे मिटाने के सारे सौम्य उपाय असफल सिद्ध हो गये हैं। सत्याग्रही इस बात का निश्चय पहिले ही कर लेता है।”

सम्पूर्ण हिन्दुस्तान में सत्याग्रह दिवस किस प्रकार मनाया जाय इस सम्बन्ध में गांधीजी ने कहा—“सत्याग्रह खासकर एक धार्मिक आंदोलन है। वह तपस्या और आत्मशुद्धि का ही एक मार्ग है। सत्याग्रह कष्टसहन के द्वारा अन्याय को मिटाने का सुधार करने का प्रयत्न करता है। 6 अप्रैल का दिन हमारे अपमान और उसके निवारण के लिए प्रार्थना दिवस के रूप में मनाया जाना चाहिए। सत्याग्रह दिवस के लिए उन्होंने निम्नलिखित कार्यक्रम सुझाए—

1. चौबीस घंटों का उपवास किया जाय। लेकिन वह भूख हड़ताल की तरह सरकार पर दबाव डालने के लिए न हो। बल्कि सविनय कानून भंग के लिए एक योग्य सत्याग्रही बनाने वाले आवश्यक अनुशासन

के साधन के रूप में हो। जिसने सत्याग्रह की प्रतिज्ञा नहीं की है उन्हें भी अपनी जख्मी भावनाओं की तीव्रता के प्रतीक के रूप में उपवास करना चाहिए।

2. उस दिन सब जगह हड़ताल रखी जाय।

3. आम सभाओं का आयोजन करके उनमें रौलट एक्ट वापस ले लेने का प्रस्ताव पास किया जाय।

यह कार्यक्रम आम जनता के लिए था। लेकिन प्रतिज्ञाबद्ध सत्याग्रही के लिए एक विशेष कार्यक्रम बनाया गया था। अकेले बम्बई में ही प्रतिज्ञाबद्ध सत्याग्रहियों की संख्या 600 थी। उन्हें सत्याग्रह समिति की ओर से जब्त साहित्य तथा अखबारों के रजिस्ट्रेशन के कानून को सविनय भंग करने की सूचना दी गई थी। दूसरी बातों के साथ ही उन्हें इस बात की भी सविस्तार सूचना दी गई थी कि सजा जुर्माना, तख्ती आदि के लिए कोर्ट में कोई बचाव न करते हुए किस प्रकार निर्भयपूर्वक उनका मुकाबला किया जाय।

सारे हिन्दुस्तान से इस आंदोलन का बहुत जोरदार समर्थन किया गया। बहुत-से स्थानों पर शांतिपूर्ण हड़ताल, उपवास, प्रार्थना और विशाल आम सभाएं आदि कार्यक्रम हुए। उनमें लाखों लोगों ने भाग लिया। लेकिन दुर्भाग्य से कहीं-कहीं जनता ने जरूरत से ज्यादा उत्साह दिखाया। पुलिस ने भी परिस्थिति को सहानुभूति और चतुरता से संभालने का प्रयत्न नहीं किया। दिल्ली में 30 मार्च को ही यह दिन मनाया गया। वहां पुलिस ने गोली चलाई। जिसमें 5 व्यक्ति मारे गये और कितने ही जख्मी हो गये। दूसरे स्थानों पर भी सरकार ने दमन-चक्र चलाया। कांग्रेस के आगामी अधिवेशन की तैयारी करने के लिए डॉ. किचलू और डॉ. सत्यपाल अमृतसर गये थे। वहां उनको गिरफ्तार करके अज्ञात स्थान में ले जाया गया। सरकारी अफसर के प्रक्षोभजनक व्यवहार के कारण गुजरानवाला व कसूर के लोगों ने हिंसा का अवलम्बन किया। इस प्रकार पंजाब की स्थिति भी अत्यन्त गंभीर हो गई। गांधीजी को जल्दी ही वहां बुलाया गया। अतः वे वहां जाने के लिए रवाना हो गये। लेकिन पंजाब सरकार ने उनको रास्ते में ही रोककर पुलिस के पहरे में वापस बम्बई पहुंचा दिया। इस बात से अहमदाबाद और बीरमगांव की जनता ने हिंसा का अवलम्बन करके जानमाल पर आक्रमण कर दिया।

इसके बाद जलियानवाला बाग ने तो दुर्भाग्यपूर्ण घटनाओं की हर हद पार कर दी। वहां जनरल डायर ने जो गोली चलवाई उससे ही सरकारी रिपोर्ट के अनुसार 400 निःशस्त्र और असहाय लोग उसके शिकार हुए और लगभग 1000 व्यक्ति घायल हुए। इसके साथ फौजी कानून लगा दिया गया जिसके द्वारा मुल्की और फौजी अधिकारियों ने जनता पर मनमाने अत्याचार किये। खुलेआम कोड़े लगाना, कतार बांधकर चलाना, जल्दी ही मुकदमा चलाकर सजा देना आदि बातें चालू रहीं। कितने ही महीनों तक पंजाब पर मानो शैतान के राज्य की काली छाया फैली रही। वे कृत्य ब्रिटिश शासन पर ऐसे कलंक हैं जो कभी भी मिट नहीं सकेंगे। अकेले पंजाब में ही 51 व्यक्तियों को फांसी की सजा दी गई और लगभग 200 व्यक्तियों को लम्बी-लम्बी सजाएं दी गईं। कई लोगों को देश-निकाला दिया गया। इनमें से कुछ घटनाओं से तो गांधीजी बौखला उठे। किसी को सत्याग्रह के नाम पर कलंक लगाने का मौका न मिले यह विचारकर उन्होंने 18 अप्रैल 1919 को आंदोलन स्थगित कर दिया। उन्होंने यह अनुभव कर लिया था कि लोग सामुदायिक हिंसा करने पर आमादा हो जाते हैं। जनता द्वारा किये हुए हिंसक कार्यों की आड़ लेकर सरकार ने जो क्रूर दमनचक्र चलाया था वे उसे रोक देना चाहते थे। उस समय के एक वक्तव्य में वे कहते हैं—‘आज सत्याग्रह पर मेरी श्रद्धा पहले से भी ज्यादा दृढ़ हो गई है। यह मेरा सत्याग्रह-शास्त्र का दर्शन ही है जिसके कारण मुझे यह आंदोलन बंद करना पड़ रहा है। ... मैं हिंसक प्रवृत्ति के अस्तित्व से परिचित हूं अहमदाबाद और बीरम गांव में जो हिंसा हुई है उसका सत्याग्रह से तनिक भी सम्बन्ध नहीं है उस हिंसा से सत्याग्रह का थोड़ा-सा भी कार्यकरण-सम्बन्ध नहीं है। यदि कुछ है तो सत्याग्रह ने उसे रोकने में ही मदद की है। पंजाब की घटनाओं से सत्याग्रह का सम्बन्ध नहीं जोड़ा जा सकता। हमें इस अपराध करने की प्रवृत्ति का अंत करके शांति प्रस्थापित करने के मार्ग में सरकार की जितनी भी हो सके मदद करनी चाहिए। एक सत्याग्रह के नाते आज हमारा यही कर्तव्य है। हमें निर्भयता से सत्य और अहिंसा के सिद्धान्तों का समर्थन करते रहना चाहिए। जब ऐसा होगा तभी हम सामुहिक सत्याग्रह के मार्ग पर चलने के योग्य हो सकेंगे।’

गांधीजी ने यह बात स्पष्ट कर दी थी कि सरकारी नीति में वांछनीय परिवर्तन के चिन्ह दिखाई देने के कारण अनेक मित्रों और हितचिंतकों की सलाह के अनुसार वे सविनय कानून भंग प्रारम्भ नहीं

करेंगे। क्योंकि वे सरकार को परेशान नहीं करना चाहते। उन्होंने सारे सत्याग्रहियों को शुद्ध स्वदेशी तथा हिन्दू-मुस्लिम ऐक्य का प्रचार करने की आज्ञा दी।

किंतु जिस रौलट एक्ट हो वापस लेने के लिए सत्याग्रह प्रारंभ किया गया था उसका भविष्य निश्चित हो गया था। एक भी बिल कानून नहीं बन सका और जिसपर कानून की मुहर लगी वह कभी भी लागू नहीं किया जा सका। वह कानून कागजों में ही रहा।

जितने राष्ट्रव्यापी सत्याग्रह हुए उनमें यह पहली राष्ट्रव्यापी लड़ाई थी। यह सत्याग्रह केवल 6 अप्रैल से 18 अप्रैल तक ही चालू रहा। इस युद्ध में एक ओर हिन्दुस्तान की सरकार और दूसरी ओर आम जनता थी। लड़ाई का कारण था नागरिकों की स्वतंत्रता पर आघात करने वाले अन्यायपूर्ण और प्रक्षोभक कानूनों का जनता पर लादा जाना और सत्याग्रह का स्वरूप था— सत्याग्रह समिति द्वारा चुने हुए कुछ अनुचित कानूनों का सविनय भंग करना। शांतिपूर्ण हड़ताल, उपवास, प्रार्थना तथा आम सभा का कार्यक्रम जनता के सामने रखा गया। दुर्भाग्य से कई जगह सामूहिक हिंसाकाण्ड शुरू हो गये और सरकार ने भी अत्यन्त निर्दयतापूर्वक उसका दमन करना शुरू कर दिया। अंत में सत्याग्रह का मूल उद्देश्य रौलट एक्ट को बेजान बना देना, सफल हो गया।

15.17 अहिंसात्मक असहयोग—यदि यह मान लिया जाए कि रौलट एक्ट जैसे किसी विशेष अन्याय के विरुद्ध चुने हुए सत्याग्रहियों द्वारा किसी विशेष कानून को सविनय भंग करना पहिले राष्ट्रव्यापी सत्याग्रह का मुख्य लक्षण था तो यह मानना पड़ेगा कि खासकर पंजाब और खिलाफत के मामलों के विरुद्ध तथा उसी सिलसिले में स्वराज्य के लिये सारे सरकारी तंत्र से असहयोग करना दूसरे राष्ट्रव्यापी सत्याग्रह का प्रमुख और महत्वपूर्ण अंग है।

सरकारी दमन एवं हिन्दुस्तान में राजनैतिक सुधार न करने में सरकार ने जिस निर्लज्ज नीति को अपनाया उससे दूसरे राष्ट्रव्यापी सत्याग्रह के लिए जनता में अधिकाधिक उत्साह पैदा हो रहा था। पंजाब के जलियावाला बाग तथा दूसरी जगहों के काले कारनामों के लिए जो अधिकारी उत्तरदायी थे उन्होंने गोली चलाने में समझदारी से काम नहीं लिया। इस बात को स्वीकार करके भी सरकार ने उन्हें उनकी ईमानदारी के लिए प्रमाणपत्र दिये और उनके अपराधों पर पर्दा डाल दिया। यूरोपीय जाति ने जनरल डायर को विभूति का स्थान दिया और 20000 पौंड की एक तलवार उसे भेंट की। पंजाब के अत्याचार की जांच करने के लिए सरकार ने हंटर-कमेटी बैठाई। लेकिन उसने वहां के कारनामों पर लीपा-पोती करने का ही काम किया। कमेटी के सामने महत्वपूर्ण राजबंदियों को गवाही देने की इजाजत नहीं दी गई। इसपर कांग्रेस ने कमेटी से असहयोग किया। कमेटी के हिन्दुस्तानी सदस्यों ने अपना भिन्न मत लिखा। लेकिन सरकार ने इसकी परवाह न करके मई 1920 के अंत में कमेटी के बहुमत की रिपोर्ट मंजूर कर ली। इसी बीच कांग्रेस ने अपनी गैरसरकारी कमेटी बैठाई। इस कमेटी ने 25.3.1920 को अपनी रिपोर्ट प्रकाशित की। लेकिन सरकार ने उसे उसी समय जब्त कर लिया।

इस सारे अन्याय के साथ खिलाफत-सम्बन्धी अन्याय भी जुड़ गया जिससे हिन्दुस्तान का सारा मुसलमान-समाज बिगड़ गया। लड़ाई के समय ब्रिटेन के प्रधानमंत्री ने तुर्किस्तान के सामने सहानुभूतिपूर्ण संधि की शर्तें रखने का अभिवचन दिया था। तदनुसार यह बात स्वीकार की गई थी कि अरबस्तान और मध्य पूर्व के मुसलमानी प्रदेश गैरमुसलमानों की सत्ता में न जाने दिये जायेंगे और खिलाफत को धक्का न लगने दिया जायगा। तुर्की की गैर मुस्लिम जनता को आवश्यक संरक्षण देना स्वीकार करके मुसलमानों ने यह मांग की थी कि तुर्किस्तान में खलीफा की सत्ता अबाधित रूप में कायम रहे और यदि अरबों की इच्छा हो तो अरबस्तान तथा अन्य धार्मिक क्षेत्रों पर खिलाफत की हुकूमत इस प्रकार कायम कर दी जाय जिससे उनकी स्वतंत्रता पर कोई आघात न हो। और जब तुर्किस्तान पर लादी हुई संधि की शर्तें प्रकाशित की गईं तब दिखाई देने लगा कि पहले जो वादे किये गये थे उन सबको धूल में मिला दिया गया है। लेकिन वाइसराय ने हिन्दुस्तान के मुसलमानों से एक विज्ञप्ति निकालकर अपील की वे अब इन बातों पर कोई ध्यान न दें। लेकिन मुसलमान जनता में उत्तरोत्तर असंतोष बढ़ता जा रहा था। जब मुसलमानों को यह अनुभव हुआ कि ब्रिटिश सरकार से प्रार्थना करना व्यर्थ है तो उन्होंने सशस्त्र बगावत करने के बजाय गांधीजी के नेतृत्व में असहयोग का एकमात्र मार्ग स्वीकार किया।

इस प्रकार पंजाब के अत्याचार, खिलाफत-सम्बन्धी अन्याय तथा इसके साथ ही सत्ता त्याग करने की सरकार की अनिच्छा आदि बातों से लोगों का असंतोष बढ़ता जा रहा था और वे उन्हें भीतर-ही-भीतर उकसा रही थी।

इसके साथ ही जनता के हृदय पर गांधीजी का प्रभाव बढ़ता जा रहा था। जब उनपर से पंजाब-प्रवेश का प्रतिबंध उठा लिया गया तो 17 अक्टूबर 1919 को वे पंजाब गये। उनके आगमन से भयभीत पंजाबी जनता को बड़ा धीरज बंधा। इसके बाद अमृतसर में कांग्रेस का अधिवेशन हुआ। वहां गांधीजी ने जनता को प्रतियोगी सहयोग का मार्ग बताया। उस समय वे आज जितने उग्र नहीं थे। कांग्रेस ने उनकी अधिकांश बातें स्वीकार कर लीं। उन्होंने सरकारी अत्याचार की उतनी ही निंदा की जितनी जनता की हिंसक वृत्ति की। उन्होंने कहा—“यदि आप पागलपन का मुकाबला पागलपन से न करके विवेक से करेंगे तो परिस्थिति पर विजय प्राप्त कर लेंगे।”

10 मार्च 1920 तक खिलाफत के सम्बन्ध में सरकार का जो रुख रहा उससे गांधीजी बिलकुल निराश हो चुके थे। उस दिन उन्होंने जो घोषणापत्र प्रकाशित किया उससे स्पष्टतः असहयोग की सूचना मिलती है।

6 अप्रैल से 13 अप्रैल तक सारे भारतवर्ष में राष्ट्रीय सप्ताह मनाया गया। सप्ताह का प्रारंभ उपवास और प्रार्थना से हुआ। इस सप्ताह में तीन सभाएं करनी थीं। पहली रौलट एक्ट को वापस लेने के लिए प्रार्थना करने के लिए, दूसरी पंजाब के अत्याचारों को दूर करने के लिए और तीसरी खिलाफत के अन्याय का निवारण करने के लिए। यह सूचित कर दिया गया था कि हड़तालें न की जाएं। जनता को सत्य और अहिंसा का यथार्थ अर्थ समझाकर आगामी संघर्ष की तैयारी करने का आदेश दिया गया था।

इस बीच गांधीजी अखिल भारतीय होमरूल लीग के अध्यक्ष बन गये थे। लीग का नाम बदलकर ‘स्वराज्य सभा’ कर दिया गया था। इस सभा की ओर से रचनात्मक कार्यक्रम की चतुःसुत्री का जनता में प्रसार किया गया। हिन्दू-मुस्लिम ऐक्य, चरखे के साथ-साथ स्वदेशी प्रचार, राष्ट्रभाषा के रूप में हिन्दुस्तानी का प्रसार तथा भाषाओं के आधार पर प्रांतों की रचना यही चतुःसुत्री कार्यक्रम था।

इन्हीं दिनों गांधीजी ने निर्भयतापूर्वक घोषित किया—“मेरा दृढ़ विश्वास है कि देश के राजनैतिक जीवन में विशुद्ध सत्य और प्रामाणिकता लाना बिलकुल संभवनीय है। उन्होंने यह भी कहा कि— जब तक मेरी शिरा में रक्त का एक भी बूंद रहेगा तबतक मैं सत्य और अहिंसा को राष्ट्र के सारे आंदोलनों का आधार बनाने का प्रयत्न करता रहूंगा।

मुसलमानों का जो शिष्टमण्डल इंग्लैण्ड के तत्कालीन प्रधान मंत्री लॉयड जार्ज के पास गया वह निराश ही लौटा। उन्होंने इस बात पर जोर देना शुरू किया कि गांधीजी द्वारा प्रणीत अहिंसक असहयोग जैसे कड़े रास्ते का ही अवलम्बन करना चाहिए। 14 मई 1920 को वे संधि-शर्तें प्रकाशित हुईं जो तुर्किस्तान पर लादी गई थीं। 28 मई 1920 को खिलाफत समिति की बैठक हुई और उसमें यह निश्चय किया गया कि असहयोग का अवलम्बन किया जाय।

पंजाब के अत्याचारों पर लीपापोती करने वाली हंटर-कमेटी की रिपोर्ट 28 मई को प्रकाशित हुई। उसी महीने की 30 तारीख को अखिल भारतीय कांग्रेस कमेटी की बैठक हुई और उसमें यह निश्चय किया गया सितम्बर के मध्य में कांग्रेस का एक विशेष अधिवेशन बुलाया जाए।

गांधीजी ने घोषणा की कि 1 अगस्त 1920 को अहिंसात्मक असहयोग आंदोलन प्रारंभ किया जाय। खिलाफत कमेटी ने तो इस सम्बन्ध में जून में ही प्रस्ताव पास कर लिया था।

4 सितम्बर 1920 को कलकत्ता में कांग्रेस के विशेष अधिवेशन में असहयोग का प्रस्ताव 1886 के विरुद्ध 884 मतों से पास हो गया। इस प्रस्ताव का मुख्य उद्देश्य था पंजाब के अत्याचार और खिलाफत सम्बन्धी अन्याय के लिए न्याय प्राप्त करना तथा स्वराज्य की स्थापना करना। दिसम्बर 1920 में नागपुर में कांग्रेस का विशाल अधिवेशन हुआ। उसमें 14582 प्रतिनिधि उपस्थित थे। इनमें से 1050 मुसलमान और 169 स्त्रियां थीं। अतीव उत्साह के वातावरण में कांग्रेस ने असहयोग का प्रस्ताव पास किया।

कलकत्ता में जिन लोगों ने प्रस्ताव के विरुद्ध मत दिया था अब उनका मत—परिवर्तन हो गया था। श्री देशबन्धुदास ने प्रस्ताव उपस्थित किया और लाला लाजपतराय ने इसका समर्थन किया।

यह आंदोलन 'प्रगतिशील अहिंसात्मक असहयोग' के नाम से पुकारा जाने लगा। इस कार्यक्रम में पदवियों व उपाधियों, चुनाव व धारासभा, स्कूल व कॉलेज, कोर्ट व कचहरी तथा विदेशी वस्त्रों के बहिष्कार का पहला कार्यक्रम था। इसके साथ ही रचनात्मक कार्यक्रम भी जोड़ दिया गया था। वह था राष्ट्रीय स्कूल व कॉलेजों की स्थापना करना, न्याय पंचायत व ग्राम पंचायत कायम करना तथा चरखे के द्वारा स्वदेशी का प्रचार करना। इसी प्रकार दरबार तथा सरकारी व अर्धसरकारी समारंभों का बहिष्कार करना तथा शांतिपूर्ण धरने के द्वारा शराब आदि मादक द्रव्यों की बंदी करना भी इस कार्यक्रम में शामिल था। जनता से यह भी कहा गया कि वह मुल्की या फौजी नौकरी में भर्ती न हो।

सन् 1920-21 के महान् परिवर्तनशील वर्ष में हिन्दुस्तान में अभूतपूर्व जाग्रति, उत्साह, ऐक्यता और निश्चय दिखाई देने लगा। हिन्दू-मुस्लिम समाज मानों एकरूप हो गये। यह आंदोलन जो कि प्रार्थना व उपवास के कार्यक्रम से प्रारंभ हुआ दावानल की तरह चारों ओर फैल गया। जनता ने स्वयं स्फूर्ति से शराब-बंदी का काम अपने हाथ में लिया। कुछ अवसरों पर कहीं-कहीं भीड़ ने हिंसा का अवलम्बन भी कर डाला लेकिन यह कहा जा सकता है कि कुल मिलाकर यह आंदोलन जितना जोरदार और प्रभावशाली था उतना ही अहिंसक भी था। इन दिनों सैकड़ों राष्ट्रीय स्कूल खोले गये। कांग्रेस कमेटी की बेजवाड़ा की बैठक में कांग्रेस के सदस्यों की संख्या 50,00,000 तक बढ़ा लेने का संकल्प किया गया। तिलक स्वराज्य फण्ड की रकम भी जितनी निश्चित की गई थी उससे ज्यादा जमा हो गई और वह 1 करोड़ 15 लाख हो गई। हिन्दुस्तान में लगभग 2,00,000 चरखे चलने लगे।

देश में एक बड़ी संख्या में गिरफ्तारियां हो रही थीं। इसमें प्रमुख कार्यकर्ता बचे नहीं थे। हिन्दुस्तान की सरकार ने सन् 1920 के नवम्बर मास में यह बात प्रकट की कि जिन लोगों ने आंदोलन के मूल संगठन-कर्त्ताओं के आदेश से आगे बढ़कर अपने भाषण अथवा लेखों के द्वारा जनता को हिंसा के लिए उत्तेजित किया और फौज व पुलिस को भड़काने का प्रयत्न किया उन्हीं लोगों पर मुकदमे चलाने का आदेश प्रांतीय सरकार को दिया गया है।

लेकिन प्रांतीय सरकार ने इस तारतम्य का ध्यान नहीं रखा। अन्यथा धारवाड़ आदि स्थानों में गोली चलाने का मौका न आता। धारवाड़ की सामूहिक गिरफ्तारी और बनावटी मुकदमों में केन्द्रीय सरकार की हिदायतों से बेमेल थे। प्रायः सभी प्रांतों के प्रमुख कांग्रेस कार्यकर्त्ताओं को सजाएं दी गईं और अनेक की नागरिक स्वतंत्रता पर प्रतिबंध लगा दिये गये। बेजवाड़ा में स्वीकृत कार्यक्रम की सफलता, प्रिन्स ऑफ वेल्स के दौरे का सफल बहिष्कार आदि अनेक कारणों से सरकार आगबबूला हो गई थी। जिन कांग्रेसी कार्यकर्त्ताओं पर मुकदमों चल रहे थे उनमें से प्रायः सभी ने अपनी ओर से अदालत में पैरवी करवाने से इंकार कर दिया अतः उनमें से बहुतों को वर्ष के अंत तक जेल में जाना पड़ा। दिसम्बर तक क्रिमिनल अमेन्डमेन्ट लॉ जारी कर दिया जिसके अनुसार सरकार किसी भी कांग्रेसी कार्यकर्त्ता को पकड़ सकती थी। सरकार ने संयुक्त प्रांत और बंगाल के स्वयंसेवक संगठनों को गैर कानूनी ठहरा दिया। इससे इस सविनय अवज्ञा आंदोलन को प्रारंभ करने का घर बैठे मौका मिल गया जो अभी तक कांग्रेस के साधारण कार्यक्रम का अंग नहीं बन पाया था। सरकार ने दमनचक्र चलाकर वह रास्ता दिखा दिया। धीरे-धीरे राजबन्दियों की संख्या बढ़ते-बढ़ते दिसम्बर के अंत तक 30,000 तक पहुंच गई। हाँ, सरकार का लाठीराज उस समय तक अलबत्ता कहीं भी शुरू नहीं हुआ था।

अत्यन्त प्रक्षुब्ध वातावरण में कांग्रेस का अधिवेशन अहमदाबाद में शुरू हुआ। वहां उग्र कार्यक्रम की मांग की गई। नागपुर कांग्रेस से एकदम आगे बढ़कर यहां यह आदेश दिया गया कि जहां अनुकूल वातावरण हो व्यक्तिगत के साथ-साथ सामूहिक सविनय अवज्ञा आंदोलन भी शुरू कर दिया जाय। स्वयंसेवकों के ऊपर जो सामूहिक मुकदमे चल रहे थे उनका उत्तर देने के लिए कांग्रेस ने अहिंसा की शपथ लेने वाले 50,000 स्वयंसेवकों को भर्ती करने का निश्चय किया।

कांग्रेस के सामूहिक सविनय कानून भंग शुरू करने के निश्चय के अनुसार गांधीजी ने सूरत जिले के बारडोली ताल्लुके में करबंदी का जबरदस्त आंदोलन शुरू करने की योजना बनाई। 31 जनवरी 1922 को ताल्लुका कान्फ्रेंस ने एक प्रस्ताव पास किया जिसका आशय यह था कि वह आंदोलन के लिए तैयार है अतः अखिल भारतीय कांग्रेस कमेटी की ओर से उसे इसकी इजाजत दी जाय। गांधीजी

ने विस्तृत पत्र में वाइसराय को लिखा कि चूंकि शिकायतें दूर करवाने के दूसरे रास्ते असफल सिद्ध हो गये हैं अतः हम बारडोली ताल्लुके में करबंदी आंदोलन शुरू कर रहे हैं। वाइसराय ने जल्दी ही जवाब देकर अपनी दमन-नीति का समर्थन किया और गांधीजी को चेतावनी दी कि वे करबंदी आंदोलन शुरू न करें।

लेकिन एक ऐसी दुःखद घटना हुई जिससे कांग्रेस के विरुद्ध पासा पड़ गया। युक्तप्रांत में गोरखपुर जिले के एक कोने में बसे हुए चौराचौरी गांव में कुछ कांग्रेसी स्वयंसेवकों ने क्रोध में पागल होकर बीस सिपाहियों और एक सब-इन्स्पेक्टर को मार डाला। इस घटना से गांधीजी का सारा कार्यक्रम बिगड़ गया। नवम्बर 1921 के तीसरे सप्ताह में बम्बई में जो साम्प्रदायिक दंगा हुआ वैसा ही किन्तु, उससे छोटे पैमाने पर 13 जनवरी 1922 को मद्रास में उस समय हुआ जबकि प्रिंस ऑफ वेल्स वहां दौरा कर रहे थे। इस प्रकार के हिंसामय वातावरण में सविनय अवज्ञा आंदोलन चालू रखना गांधीजी को अनुचित लगा। अतः यद्यपि वर्किंग कमेटी तैयार नहीं थी तो भी गांधीजी ने सामूहिक अवज्ञा आंदोलन वापस लेने के लिए उसको राजी कर लिया। अवज्ञा आंदोलन के स्थान पर कमेटी ने रचनात्मक कार्यक्रम की एक विस्तृत योजना तैयार की। दिल्ली में इसी महीने की 24 तारीख को कांग्रेस कमेटी की बैठक हुई जिसमें वर्किंग कमेटी का निर्णय स्वीकार कर लिया गया। आवश्यकतानुसार व्यक्तिगत सत्याग्रह करने की स्वतंत्रता अवश्य दी गई।

10 मार्च को गांधीजी गिरफ्तार कर लिये गये और 18 मार्च को उन्हें 6 वर्ष की जेल की सजा दे दी गई। सविनय अवज्ञा आंदोलन कमेटी ने नवम्बर 1922 में अपनी रिपोर्ट दी। उसने इस रिपोर्ट में अपना यह अभिप्राय व्यक्त किया कि देश की वर्तमान स्थिति में सविनय अवज्ञा आंदोलन चालू रखना व्यावहारिक नहीं है। कौन्सिल-प्रवेश के कार्यक्रम की हवा उस समय भी बहने लगी थी। लेकिन कौन्सिल-वादी दल के यह कहने पर भी कि वे 'अंदर से असहयोग' करेंगे उन्हें एक वर्ष तक कांग्रेस का समर्थन प्राप्त नहीं हुआ। सविनय कानून भंग उस समय तक ठंडा हो गया था। इसी तरह अहिंसात्मक असहयोग भी ढीला पड़ता जा रहा था।

सत्याग्रह की दूसरी लड़ाई 1 अगस्त 1920 को खिलाफत समिति की ओर से शुरू की गई। 4 सितम्बर 1920 को कलकत्ता के विशेष अधिवेशन में उसका समर्थन किया गया और उसे विस्तृत कर दिया गया। दिसम्बर 1920 में नागपुर कांग्रेस ने उसे पूरी तरह स्वीकार किया और अखिल भारतीय आंदोलन शुरू कर दिया। दिसम्बर 1921 के अहमदाबाद अधिवेशन के बाद सविनय अवज्ञा आंदोलन, करबंदी और क्रिमिनल लॉ अमेन्डमेन्ट एक्ट का प्रतिकार आदि बातें कार्यक्रम में शामिल की गईं लेकिन 12.2.1922 को वर्किंग कमेटी ने अधिकृत रूप से सविनय अवज्ञा आंदोलन वापस ले लिया। संक्षेप में यह कह सकते हैं कि 1 अगस्त 1920 से 12 फरवरी 1922 तक सत्याग्रह आंदोलन पूरे जोर पर था।

इस आंदोलन ने समूचे देश की जड़ हिला दी। सब जातियों और जमातों ने इसमें भाग लिया। विद्यार्थियों ने इस समय बड़ा महत्त्वपूर्ण काम किया। उनमें अपूर्व जाग्रति थी। अनेक कांग्रेसी स्वयंसेवकों के हाथों बिना चाहे ही ऐसे काम हो गये जिनका अहिंसा से कोई मेल नहीं था और साधारणतः वातावरण लड़ाई के अनुकूल नहीं था। अतः आंदोलन वापस लेना पड़ा। इससे आंदोलन का तात्कालिक उद्देश्य पूरा न हो सका। लेकिन अप्रत्यक्ष रूप से कई फायदे भी हुए। सितम्बर 1922 में जब यरवदा जेल में इस आंदोलन की उपयोगिता पर प्रश्न किये गये तो गांधीजी ने कहा—“इस आंदोलन के द्वारा देश कम-से-कम 30 वर्ष आगे बढ़ गया है।” बम्बई के तत्कालीन गवर्नर ने इस आंदोलन के सम्बन्ध में अपना मत व्यक्त करते हुए कहा था—“यह आंदोलन करीब-करीब सफलता के द्वार तक पहुंच गया था।”

15.18 सविनय अवज्ञा—4 मार्च 1930 को गांधीजी ने वाइसराय को जो पत्र लिखा, उसमें सविनय कानून भंग का उद्देश्य हिन्दुस्तान के लिए पूर्ण स्वराज्य प्राप्त करना बताया गया था। मार्च 1922 में जब गांधीजी गिरफ्तार कर लिये गये तो सविनय कानून भंग आंदोलन का संचालन करने वाली कमेटी ने देश भर का दौरा किया और कुछ सिफारिशें कीं। नवम्बर 1922 के अंतिम सप्ताह में अखिल भारतीय कांग्रेस कमेटी ने उन सिफारिशों को पूरी तरह मंजूर कर लिया। सामूहिक कानून भंग स्थगित कर दिया। इस बैठक के सामने कौन्सिल प्रवेश का कार्यक्रम भी प्रस्तुत कर दिया गया फिर भी देश में धीरे-धीरे इस विचारधारा के अनुकूल वातावरण बन रहा था। 5 फरवरी 1922 को अपेन्डिसाइट्रीज के आपरेशन के

लिए गांधीजी जेल से छूटे। इस बीच स्वराज्य पार्टी की स्थापना हो चुकी थी। इतना ही नहीं कांग्रेस की अनुमति से उसका कामकाज भी शुरू हो गया था। गांधीजी को स्वराज्य पार्टी को कुचल देना अच्छा नहीं लगा। इसके बजाय उन्होंने उन्हें अपने रास्ते पर चलने की इजाजत दे दी और अपना कार्यक्षेत्र मर्यादित करके केवल बड़े पैमाने पर रचनात्मक कार्यक्रम को सफल बनाकर दिखाने का निश्चय किया। संक्षेप में यह कि सन् 1924 से सन् 1929 तक का समय दुहरे कार्यक्रम-रचनात्मक तथा कौंसिल के कार्यक्रम का था।

कांग्रेस के अधीर वृत्ति के लोग चुपचाप नहीं बैठ रहे। सन् 1927 तक आजादी की कल्पना हिन्दुस्तानी लोगों में-खासकर हिन्दुस्तानी युवकों में घर कर चुकी थी। औपनिवेशिक स्वराज्य तथा उससे मिलने वाले फायदों के जो गीत गाये जाते थे उनसे उनका जी ऊब उठा था। पं. जवाहरलाल नेहरू, सुभाषचन्द्र बोस, श्रीनिवास आयंगर, सांबमूर्ति आदि कुछ लोग इस नये विचार के प्रधान समर्थक थे। सन् 1927 के दिसम्बर में मद्रास में कांग्रेस का जो अधिवेशन हुआ उसमें यह प्रस्ताव पास हुआ कि-“हिन्दुस्तानी जनता का ध्येय पूर्ण स्वतंत्रता प्राप्त करना है।” सन् 1929 की लाहौर कांग्रेस में तो कांग्रेस का ध्येय ही पूर्ण स्वराज्य घोषित कर दिया गया। एक दूसरी महत्वपूर्ण घटना के कारण या ब्रिटिश सरकार की जबरदस्त भूल के कारण इस समय लोगों में इतनी ऐक्य भावना फैल गई थी जितनी सन् 1921 के बाद कभी भी नहीं हुई थी। वह घटना थी सायमन कमीशन, जिसे हिन्दुस्तान के राजनैतिक सुधारों की जांच करने के लिए नियुक्त किया गया था और जिसमें सब गोरे लोग ही थे। यह कमीशन जब बम्बई आया। तब देशव्यापी हड़ताल एवं विरोधी सभाओं के द्वारा इसका स्वागत किया गया। कमीशन का विरोध करने के मामले में हिन्दुस्तान के लगभग सभी पक्ष पूरी तरह एकमत थे। इतना ही नहीं सभी ने उसके साथ असहयोग किया। बहिष्कार के कारण अकेले ही अपना काम पूरा करके कमीशन वापस विलायत लौट गया। जिन दिनों वह यहां रहा उसने बड़े-बड़े शहरों का दौरा किया और लगभग सभी जगह जनता द्वारा जबरदस्त विरोधी प्रदर्शन किये गये। मद्रास, लाहौर, कलकत्ता आदि जगहों में प्रदर्शनकारियों पर लाठी-चार्ज किया गया। कहीं-कहीं तो पुलिस ने गोली भी चलाई।

इस कमीशन की नियुक्ति ने यह प्रकट कर दिया कि ब्रिटिश सरकार हिन्दुस्तानी लोकमत की उपेक्षा करती थी। जब हिन्दुस्तानियों की राजनैतिक आकांक्षाओं के सम्बन्ध में ब्रिटिश सरकार की इतनी उदासीनता प्रकट हो गई तो कांग्रेस ने सीधे हमले के कार्यक्रम को अपनाने का निश्चय किया। इस बीच कांग्रेस ने पं. मोतीलाल नेहरू के नेतृत्व में हिन्दुस्तान में औपनिवेशिक स्वराज्य के ढंग पर विधान तैयार करने के लिए एक कमेटी की नियुक्ति की। सप्रू और जयकर जैसे प्रसिद्ध उदारदली नेता भी इस कमेटी में थे। सन् 1928 के अंत में लखनऊ में जो सर्वदल सम्मेलन हुआ उसमें इस समिति की रिपोर्ट पास कर ली गई। इस वर्ष कलकत्ता में कांग्रेस का अधिवेशन हुआ। अधिवेशन में यह तय हुआ कि सर्वदल सम्मेलन द्वारा स्वीकृत विधान यदि पार्लियामेन्ट ने 31 दिसम्बर 1931 के पहिले ज्यों-का-त्यों मंजूर कर लिया तो कांग्रेस उसे मंजूर कर लेगी। इसके साथ ही यह भी घोषित किया गया कि यदि पार्लियामेन्ट ने इसे मंजूर नहीं किया तो असहयोग आंदोलन शुरू करने के लिए बल्कि करबंदी तक को अपनाने के लिए अथवा अन्य तरह से सविनय कानून भंग करने के लिए कांग्रेस स्वतंत्र रहेगी। सन् 1930 के आंदोलन के बीज बोने की शुरुआत इस प्रकार हुई।

सरकार ने इस प्रस्ताव पर कोई विशेष ध्यान नहीं दिया। इसी वर्ष सायमन कमीशन की रिपोर्ट प्रकाशित हुई। ब्रिटिश सरकार अपनी नीति पर कायम रही। लाहौर अधिवेशन के एक सप्ताह पहले वाइसराय ने गांधीजी और पं. मोतीलाल नेहरू को मिलने के लिए बुलाया। इस मुलाकात की बातचीत में गांधीजी की इच्छा औपनिवेशिक स्वराज्य के प्रश्न पर कोई समझौता कर लेने की थी। गांधीजी ने वाइसराय से स्पष्ट रूप से पूछा था कि क्या आगामी गोलमेज-परिषद् का उद्देश्य हिन्दुस्तान को निश्चित रूप से तुरन्त औपनिवेशिक स्वराज्य देना है? लेकिन वाइसराय गांधीजी को किसी प्रकार का भी वचन न दे सके। इस सम्बन्ध में सरकार ने जो गोलमेज घोषणा पहले की थी, वाइसराय उससे आगे नहीं जा सके। इससे यह स्पष्ट हो गया कि ब्रिटिश राजनेता इस प्रश्न के सम्बन्ध में टालमटोल कर रहे हैं। अतः स्वाभावतः लाहौर अधिवेशन में मुख्य प्रस्ताव पूर्ण स्वतंत्रता पर ही केन्द्रित हो गया था। 31 दिसम्बर 1929 को कांग्रेस के ध्येय में ‘स्वराज्य’ के स्थान पर ‘पूर्ण स्वराज्य’ रख दिया गया। स्वातंत्र्य संग्राम की पूर्व तैयारी करने के लिए धारा-सभाओं के कांग्रेसी सदस्यों को आदेश दिया गया

कि वे उसकी सदस्यता से त्यागपत्र दे दें और लोगों से कहा गया कि वे चुनावों में भाग न लें। इस प्रकार सन् 1930 के सविनय कानून भंग आंदोलन का विधिवत प्रारंभ हुआ।

नई वर्किंग कमेटी की बैठक 2 जनवरी 1930 को हुई। केन्द्रीय असेम्बली के 21 तथा कौन्सिल ऑफ स्टेट के 9 सदस्यों ने इस्तीफे दे दिये। प्रांतीय धारा सभाओं के 172 सदस्यों ने भी अपने स्तीफे दे दिये। समर्थन के रूप में यह प्रतिक्रिया संतोषजनक थी। वर्किंग कमेटी ने निश्चय किया 26 जनवरी 1930 को सारे देश में स्वतंत्रता दिवस मनाया जाए। उस दिन के लिए एक प्रतिज्ञा तैयार की गई और उसकी प्रतियां सब घर बांटी गईं।

25 जनवरी 1930 को वाइसराय ने केन्द्रीय धारासभा में जो भाषण दिया उसमें अनेक मुद्दों को स्पष्ट किया गया। उन्होंने बताया कि यद्यपि यह स्पष्ट कर दिया गया है कि औपनिवेशिक स्वराज्य हिन्दुस्तान का अंतिम ध्येय है लेकिन उसे आज ही अमल में लाने का सरकार का इरादा नहीं है। इससे कांग्रेस ने जो नीति अपनाई वह और भी समर्थनीय सिद्ध हो गई। गांधीजी ने अपनी 11 शर्तें पेश कीं और कहा कि ये शर्तें स्वतंत्रता का सार हैं। उन्होंने कहा कि यदि ये मांगें मंजूर कर ली जाती हैं तो अवज्ञा आंदोलन का प्रश्न ही नहीं उठेगा। लेकिन यदि ये साधारण-सी किन्तु महत्वपूर्ण मांगें मंजूर न की गईं तो कानून भंग का रास्ता पकड़ना पड़ेगा, यह बात भी उन्होंने कह दी। उन्होंने यह जाहिर किया कि दूसरे राष्ट्रों के लिए भिन्न-भिन्न मार्ग हो सकते हैं लेकिन हिन्दुस्तान के सामने तो केवल एक अहिंसात्मक असहयोग का ही मार्ग है।

अपार उत्साह के वातावरण में सारे हिन्दुस्तान में स्वतंत्रता-दिवस मनाया गया। इससे गांधीजी को देश की असीम सुप्त शक्ति की कल्पना हुई। 14 फरवरी 1930 को साबरमती में वर्किंग कमेटी की जो बैठक हुई उसमें गांधीजी को यह अधिकार दिया गया कि वे जो ठीक समझें उस रास्ते से सत्याग्रह आंदोलन शुरू कर दें। वर्किंग कमेटी ने इस समय एक महत्वपूर्ण सिद्धान्त सामने रखा। उन्होंने निश्चय किया कि अहिंसा जिसकी जीवन-निष्ठा बन गई है उन्हींके हाथ में पूर्ण स्वराज्य के लिए किये जाने वाले आंदोलन के सूत्र दिये जायें। थोड़े ही दिनों बाद मार्च 1930 में अहमदाबाद में कांग्रेस कमेटी की बैठक हुई और उसमें कानून भंग आंदोलन करने का प्रस्ताव पास हुआ। इस समय तक गांधीजी अपने चुने हुए आश्रमवासियों के साथ दाण्डी के आधे रास्ते पर पहुंच चुके थे।

फरवरी में जब वर्किंग कमेटी की बैठक हो रही थी तभी गांधीजी के मन में देश के लिए कलंक-रूप कानून को तोड़ने का विचार घूम रहा था। 2 मार्च को गांधीजी ने अपना ऐतिहासिक पत्र वाइसराय के पास भेजा। इसमें उन्होंने हिन्दुस्तान के स्वराज्य का पक्ष पूरी तरह उपस्थित किया था और आगामी युद्ध की पार्श्वभूमि पर विस्तारपूर्वक प्रकाश डाला था। वाइसराय की ओर से जल्दी ही गांधीजी को उत्तर भेजा गया लेकिन उसमें उन्होंने गांधीजी के रास्ते के प्रति अपनी नापसंदगी जाहिर की थी। किन्तु यह तो निश्चित-सा ही था। 79 चुने हुए अनुयायियों को लेकर सूरत जिले के दाण्डी स्थान में पैदल जाने के लिए गांधीजी 12.3.30 को साबरमती से निकले। साबरमती से दाण्डी 200 मील है। इस अंतर को 24 दिन में पूरा करके 6 अप्रैल के पहले वहां पहुंच जाना था। 6 अप्रैल को गांधीजी प्रदर्शन के साथ नमक-कानून तोड़ने वाले थे। इसके पहले किसी को भी उसे नहीं तोड़ना था लेकिन इसके बाद तो यह अपेक्षा की जाती थी कि उसे सभी को तोड़ना चाहिए।

जैसे-जैसे दिन बीतने लगे और गांधीजी अपने मुकाम के पास पहुंचने लगे वैसे-वैसे देश में जागृति बढ़ने लगी और हजारों लोग शीघ्र ही आने वाले कष्ट, संकट और त्याग की तैयारी करने लगे। 5 अप्रैल 1930 को गांधीजी दाण्डी पहुंचे। दूसरे दिन उन्होंने एक मुट्ठीभर नमक उठाया और नमक-कानून भंग किया। फिर तो हिन्दुस्तान में लाखों लोगों ने उस दिन से नमक-कानून तोड़ना आरंभ किया और उसके लिए उन्हें जो कुछ सजाएं मिलीं उसे उन्होंने हंसते-हंसते सहन किया। दमन तो पहिले ही शुरू हो चुका था। अब तो लाठी और आर्डीनेन्स का राज्य शुरू होने वाला था। मार्च के पहिले सप्ताह में सरदार वल्लभभाई पटेल को गिरफ्तार करके तीन मास की सजा दी गई। गांधीजी के दाण्डी पहुंचने के पहले बंगाल के सेनगुप्त पकड़ लिये गये। मेरठ-षडयंत्र का लम्बा मामला भी कई दिनों से लटकता आ रहा था। राजद्रोही भाषण और लेखों के लिए कितने ही लोग पकड़े जा चुके थे। स्वयं गांधीजी का भी यही ख्याल था कि वे भी न जाने कब पकड़ लिये जायेंगे। इसीलिए उन्होंने हमेशा की भांति 'मैं गिरफ्तार हो गया तो?' नामक लेख लिखकर लोगों को पहले ही सारी सूचना दे दी थी।

उन्होंने लोगों से प्रार्थना की थी कि सविनय अवज्ञा आंदोलन इसी प्रकार चालू रखा जाय और चाहे कुछ भी क्यों न हो अहिंसा को न छोड़ा जाय। उनकी यात्रा चालू रहते ही गांवों के लगभग 200 पटेलों ने अपने त्यागपत्र दे दिये।

सरकार का मानसिक संतुलन बिगड़ता जा रहा था। राष्ट्रीय सप्ताह के दिनों पेशावर, मद्रास तथा अन्य कुछ स्थानों पर गोली चलाई गई। रत्नागिनी, पटना, शिरोड़ा, कलकत्ता, सोलापुर तथा ओर भी कितनी ही जगह पुलिस ने पाशवी व्यवहार किया। मद्रास इलाके में तो उन्होंने लोगों को पीटा। इसका यह अर्थ था कि कायदे-कानून को ताक में रखकर, जो मन में आए वे पाशवी कृत्य लाठीचार्ज और बिना कायदे-कानून लोगों को सताने के काम में सरकार आगा-पीछा सोचने वाली नहीं थी। बंगाल आर्डीनेन्स निकालकर फिर से शुरू कर दिया गया। गांधीजी का पत्र 'यंग इंडिया' सायक्लोस्टाइल पर छपने लगा। गांधीजी ने लिखा कि आज सारे हिन्दुस्तान में एक तरह का फौजी शासन कायम हो गया है और सारा देश मानों एक बड़ा जेलखाना-सा बन गया है।

लेकिन गांधीजी काफी अर्से तक गिरफ्तार नहीं किये गये। अतः गांवों में खुलेआम नमक-कानून तोड़ने का प्रचार किया। इसके बाद उन्होंने वाइसराय को पत्र लिखकर यह बताया कि वे धारासना की नमक की खानों पर आक्रमण करके उसपर कब्जा करने वाले हैं। इस सम्बन्ध में उनका यह कहना था कि वह जनता की सम्पत्ति है। अतः नमक पर कर लगाने का सरकार को कोई अधिकार नहीं है। उनका विचार था कि लोगों को नमक मुफ्त में मिलना चाहिए। उन्होंने लोगों को ताड़ी के पेड़ काटने की भी इजाजत दी और उन्होंने स्वयं ताड़ी के पेड़ पर कुल्हाड़ी का पहला प्रहार किया। लोगों को यह कार्यक्रम काफी आकर्षक लगा। कर्नाटक जैसे कुछ भागों में तो आगे चलकर वह नित्य का कार्यक्रम हो गया।

4 मई 1930 को आधी रात के समय उन्हें अचानक ही यरवदा जेल में ले जाया गया। जबतक 5 तारीख को वे उसकी चार-दीवारी में सुरक्षित न पहुंचे तबतक बहुत कम लोगों को यह बात मालूम हुई। जाते-जाते उन्होंने यह संदेश दिया—“दूसरों को बिना मारे मरो” यही उनका अंतिम संदेश था। पूर्व योजना के अनुसार अब्बास तैयबजी ने लड़ाई का नेतृत्व स्वीकार किया और काम चालू रखा। लेकिन उन्हें भी पकड़ लिया गया और उनका स्थान सरोजिनी देवी ने लिया। गुजरात, बम्बई, महाराष्ट्र और कर्नाटक की क्रमशः धारासना, बड़ाला, शिरोड़ा, साणीकट्टा की नमक की खानों पर आक्रमण किये जा रहे थे। खासकर धारासना के आक्रमण तो विदेशी संवाददाताओं तथा निष्पक्ष हिन्दुस्तानी निरीक्षकों ने प्रत्यक्ष रूप से देखे हैं। वहां के स्वयंसेवकों ने अपने रक्त से इतिहास के नये पृष्ठ लिखे। धारासना और बड़ाला के अहिंसक आक्रमणों में स्वयंसेवकों ने जो अद्वितीय सहनशक्ति और अनुशासन दिखाया उसकी ब्रेल्सफोर्ड और स्लोकोब जैसे प्रसिद्ध विदेशियों ने भी मुक्तकंठ से प्रशंसा की है। 21 मई को 2500 स्वयंसेवकों ने धारासना की नमक की खानों पर आक्रमण किया। वहां लाठीचार्ज में 290 व्यक्ति घायल हुए। इनमें से दो व्यक्ति कुछ दिनों के बाद मर गये। स्वयंसेवक तथा अन्य लोगों ने मिलकर जिनकी संख्या 15000 थी बड़ाला पर आक्रमण किया। इसमें लाठीचार्ज से लगभग 150 व्यक्ति घायल हुए। साणीकट्टा में 10 से 15 हजार व्यक्तियों की भीड़ ने नमक की खानों पर आक्रमण किया और सैकड़ों मन नमक पर कब्जा कर लिया। लेकिन इस सत्याग्रही आक्रमणों में महत्त्व इस बात का नहीं है कि उन्होंने कितनी चीजें अपने कब्जे में कीं बल्कि सच्चा महत्त्व तो इस बात का है कि जनता ने हिंसा या प्रतिहिंसा का प्रयोग किये बिना यह जानते हुए कि इसमें अपार कष्ट सहन करने होंगे अपने अधिकारों को प्राप्त करने के लिए निर्भयतापूर्वक खुलेआम प्रतिकार किया।

यद्यपि लोगों ने आदर्श संयम का परिचय दिया और पूरी तरह अहिंसा का आचरण किया फिर भी त्याग करने और मातृभूमि के लिए अपना खून देने के लिए तैयार रहने वाले हजारों निश्चयी स्त्री-पुरुषों के साथ पुलिस और फौज ने बड़ा पाशवी व्यवहार किया। कितनी ही बार तो निरपराध दर्शकों के ऊपर भी जबरदस्त मार पड़ती थी और सैकड़ों लोग जखमी हो जाते थे। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि सरकारी तंत्र कितने हृदयहीन हो गये, पुलिस और फौजी कितने पाशविक बन गये; अपने ही हाड़-मांस से बने हुए लोगों को सरकार कितनी निष्ठुरता से कत्ल कर सकती है और यदि श्री स्लोकोब के शब्दों में कहें तो कितने 'हास्यास्पद' एवं ऊटपटांग व्यवहार में वह निर्दयतापूर्ण हो सकती है। इसके अलावा सरकार ने दस-बारह आर्डीनेन्स निकाले और उस वर्ष के अंत तक सैकड़ों कांग्रेस

कमेटियों को गैर-कानूनी करार दे दिया। इस प्रकार ब्रिटिश हुकूमत चल रही थी। सन् 1940 के आंदोलन की शुरुआत से उसने लाठी-चार्ज का एक नया शस्त्र काम में लाना शुरू कर दिया था। सविनय अवज्ञा करने वाले को कानूनी दृष्टि से यदि कोई सजा हो सकती है तो वह है—जेल में डाल देना। लेकिन कानून तोड़ने वालों की संख्या बहुत बड़ी होने के कारण सरकार को इस मार्ग का अवलम्बन करना अव्यावहारिक मालूम हुआ। अतः चूंकि दूसरी ओर से तनिक भी पाशवी शक्ति का प्रयोग नहीं किया जाता था, सरकार ने कम-से-कम शक्ति का प्रयोग करने के बहाने लाठी दूढ़ निकाली। लेकिन मजे की बात तो यह थी कि इस 'कम-से-कम' के प्रयोग से ही हर बार सैकड़ों आदमी जख्मी हो जाते थे और उनमें से कितने ही लोगों को तो कई बार इतनी जोर की चोट लगती थी कि वे बेहोश हो जाते थे। आंदोलनों में हर जगह लाठी-चार्ज पुलिस का रोज का काम हो गया था; अतः कुल लाठी-चार्ज कितने हुए, इसका कोई हिसाब रखना भी अशक्य हो गया था।

श्री स्लोकांब का प्रयत्न बिलकुल असफल सिद्ध हुआ। उन्हें गांधीजी से भेंट करने की इजाजत मिल गई और वे गांधीजी से कुछ मसविदा लेकर वाइसराय के पास गये लेकिन वाइसराय के रुख से स्लोकांब को बहुत निराशा हुई। इसके बाद श्रीसपू और श्रीजयकर ने जून और अगस्त महीनों में समझौतों के प्रयत्न किये। यह सिलसिला बहुत लम्बा चला। नेहरू (पिता पुत्र) तथा वर्किंग कमेटी के अन्य सदस्यों को गांधीजी से विचार विनिमय करने के लिए यरवडा लाया गया। लेकिन इस सबका कोई परिणाम नहीं निकला। श्रीसपू को लिखे हुए 23.2.30 के अपने अंतिम पत्र में वाइसराय ने कहा—“मुझे स्पष्ट रूप से यह कह देना चाहिए कि (कांग्रेसी नेताओं के) पत्रों की बातों के आधार पर चर्चा करना मुझे असंभव प्रतीत होता है।” इसके थोड़े ही दिन बाद श्रीहोरेस अलकजैण्डर ने वाइसराय और गांधीजी दोनों से मुलाकात की लेकिन उसका भी कोई नतीजा नहीं निकला।

लेकिन गोलमेज परिषद् की योजना जोर-शोर से कार्यान्वित की गई थी। उसकी पहली बैठक 12.11.30 को लंदन में हुई। 57 सरकार द्वारा नियुक्त, 16 देशी नरेशों द्वारा नियुक्त और 13 इंग्लैण्ड के अलग-अलग पक्षों के प्रतिनिधियों ने इकट्ठे होकर प्रारंभिक चर्चा की। यह चर्चा जनवरी के तीसरे सप्ताह तक चालू रही। गोलमेज परिषद् के अधिवेशन के समाप्त होने के एक सप्ताह के अंदर गांधीजी और उनके करीब 26 साथी एकाएक 26 जनवरी को मुक्त कर दिये गये। इसके बाद समझौते की बातचीत शुरू हुई जिसका अंत 5.3.31 को गांधी-इरविन पैक्ट के रूप में हुआ।

गांधीजी के मुक्त होने के थोड़े ही दिन पहिले राजेन्द्र बाबू के सभापतित्व में इलाहाबाद में वर्किंग कमेटी की बैठक हुई और उसमें 'अप्रकाशित प्रस्ताव' पास किया गया। उसमें अन्य बातों के साथ-साथ सरकार के लाठी-राज्य का संक्षेप में इस प्रकार वर्णन किया गया है—“लगभग 75000 निरपराध स्त्री-पुरुषों की गिरफ्तारी, गिरफ्तारी के बाद पुलिस-हवालात तक में दी गई अनेक यातनाएं, गोली-बारी से सैकड़ों लोगों की मृत्यु और अपंगपन, माल-असबाब की लूट, घरबार का जलाया जाना, सशस्त्र पुलिस और अंग्रेज घुड़सवार सैनिकों का ग्रामों में दौरा-दौरा, सभा-जुलूसों को बंद करके कांग्रेस तथा उसके जैसी अन्य संस्थाओं को गैरकानूनी करार देना तथा उनकी चल सम्पत्ति जब्त कर लेना तथा उनके दफ्तरों और घरों पर कब्जा करके उनके भाषण-स्वातन्त्र्य व संघ-स्वातंत्र्य के अधिकारों का अपहरण आदि बातें बताई जा सकती हैं।” यह बात ध्यान में रखनी चाहिये कि जब ये सब बातें हिन्दुस्तान में चल रही थीं तब इंग्लैण्ड में मजदूर-सरकार शासन कर रही थी और धीरे-धीरे मेकडानलड उसके प्रधानमंत्री थे।

इसमें कोई संदेह नहीं कि गांधीजी और इरविन की पारस्परिक प्रेम-भावना के कारण ही यह समझौता सफल हुआ; लेकिन बाद में यह स्पष्ट हो गया कि ब्रिटिश राजनीतिज्ञों को हिन्दुस्तान को और भी कष्टों में डाले बिना सीधे-साधे इस प्रश्न का सुलझाना मंजूर नहीं था। चाहे किसी दल का शासन क्यों न हो, ब्रिटिश सरकार वास्तविक सत्ता छोड़ना नहीं चाहती थी। गांधीजी-इरविन पैक्ट कांग्रेस तथा उसके अहिंसा सिद्धान्त की नैतिक विजय थी। इससे नमक-कानून तथा देश में कांग्रेस के स्थान के सम्बन्ध में कुछ कानून बने लेकिन उसके अलावा राजनैतिक क्षेत्र में हिन्दुस्तान को कोई लाभ नहीं मिलने दिया गया। उल्टे इससे ज्यादा प्रतिकूल परिस्थितियों में हिन्दुस्तान पर जल्दी ही एक और लड़ाई लाद दी गई।

सारी स्थिति का सिंहावलोकन करके मालूम होता है कि यह आंदोलन पूरे एक वर्ष चलता रहा। सारे हिन्दुस्तान ने यह जबरदस्त लड़ाई चालू रखी और बदले या प्रतिहिंसा की कल्पना स्वप्न में भी न करके अकथनीय मुसीबतें और हानियां हंसते-हंसते सहन की। दूसरी ओर आधुनिक शस्त्रास्त्रों से लैस ब्रिटिश सरकार ने हिन्दुस्तान की सारी हिम्मत ही कुचल देने का मंसूबा बांधा था। कितने ही मौकों पर पुलिस और फौजी सिपाहियों ने साधारण सौजन्य तक नहीं दिखाया, फिर उदारता की तो बात ही क्या? इस लड़ाई में पहिली बार स्त्रियों ने बड़ी निर्भयता से और दिल खोलकर भाग लिया, जिसमें हजारों गिरफ्तार की गईं; उनपर लाठी-चार्ज किया गया और उन्हें कठोर व्यवहार का मुकाबला करना पड़ा। उनमें से कई को तो जंगल में ले जाकर कुसमय में वहां छोड़ दिया गया।

नमक-कानून को सविनय भंग करना नमक की खानों पर अहिंसक आक्रमण करना, आर्डीनेन्सों का उल्लंघन करना, हिन्दुस्तान के कुछ हिस्सों में करबंदी, प्रेस-एक्ट को सविनय भंग करना, विदेशी कपड़े तथा अन्य चीजों का बहिष्कार सरकार से आम असहयोग, धारासभाओं का बहिष्कार—ये सब लड़ाई में प्रयुक्त सत्याग्रह के मुख्य स्वरूप थे। इस सम्बन्ध में सरकार की तथा सरकारी दमन के साधनों की जो प्रतिक्रिया हुई वह ऊपर बताई ही जा चुकी है। इन सबकी परिणति नैतिक विनय में हुई जिसके कारण लोगों के मन में अपने लिए तथा सत्याग्रह-शस्त्र के सम्बन्ध में विश्वास पैदा हुआ। आंदोलन के अंत में जो समझौता हुआ उससे कांग्रेस के लिए गोलमेज परिषद् में शामिल होने का रास्ता खुल गया।

15.19 कानून-भंग का पुनरुत्थान—यद्यपि यह चौथा अखिल भारतीय सत्याग्रह था तथापि वास्तव में तो इसे नौ मास की शांति के बाद पुनः शुरू होने वाला तीसरा सत्याग्रह ही कहना चाहिए। यदि हिन्दुस्तान की सरकार ने और लन्दन के ब्रिटिश राजनीतिज्ञों ने गांधी-इरविन पैक्ट का सच्चे हृदय से पालन किया होता तो उसे हिन्दुस्तान के इतिहास में ही नहीं बल्कि सत्याग्रह के इतिहास में एक महत्त्व का स्थान प्राप्त हुआ होता। लेकिन दुर्भाग्य से होनहार ऐसा नहीं था। अभी समझौते की स्याही सूखने भी न पाई थी कि उसे भंग करने की शुरुआत हो गई।

17 अप्रैल 1931 को लार्ड विलिंग्डन हिन्दुस्तान के वाइसराय होकर आये और 18 अप्रैल 1931 को लार्ड इरविन हिन्दुस्तान से विदा हुए और करीब-करीब उसी समय से जल्दी ही दोनों पक्षों की ओर से शिकायतें शुरू हो गईं। जहां सरकारी कर्मचारी समझौता भंग करते हुए दिखाई दिये वहां कांग्रेस के पास शिकायतें कीं। कभी-कभी थोड़ी-बहुत सुनवाई हुई; लेकिन जब स्थानीय अधिकारियों को एकसा लगा कि कांग्रेस के कार्यकर्त्ताओं की ओर से समझौता भंग किया जा रहा है तो उन्होंने उच्च अधिकारियों या कांग्रेसी नेताओं के पास जाने के बजाय सीधी कानूनी कार्रवाई करना शुरू कर दिया। यद्यपि कांग्रेस ने अपनी सविनय कानून भंग की तलवार म्यान में रख ली थी तथापि सरकार ने समझौते की कोई परवाह न करके कानूनी कार्रवाई करने का अधिकार जारी रखा। गन्तूर, वेदपल्ली और बड़ापल्ली आदि स्थानों पर लाठी-चार्ज, गोलीबारी आदि बातें भी चल ही रही थीं। विद्रोह या हिंसा की उत्तेजना न देने पर भी बीच-बीच में भाषण और लेखों के लिए मुकद्दमे चलाये जा रहे थे।

इन सब बातों के होने पर भी वाइसराय से गांधीजी की जो अंतिम मुलाकात 5.3.31 को हुई उसके बाद बारडोली में पुलिस की सहायता से जो ज्यादा कर वसूल करने का आरोप किया गया उसकी जांच का आश्वासन प्राप्त करके गांधीजी कांग्रेस के एकमात्र प्रतिनिधि के रूप में गोलमेज परिषद् में सम्मिलित होने के लिए 19.8.31 को इंग्लैण्ड रवाना हुए। लेकिन बारडोली के अतिरिक्त और कहीं के भी मामले की जांच करने से वाइसराय ने इंकार कर दिया। वस्तुतः गांधीजी ने समय-समय पर उपस्थित होने वाले प्रश्नों को सुलझाने तथा समझौतों का अर्थ लगाने के लिए एक समझौता समिति बना देने की सूचना कर दी थी। उन्होंने यह प्रतिपादित किया कि गांधी-इरविन पैक्ट एक समझौता है। अतः यदि उसकी किसी धारा का अर्थ लगाने में मतभेद हो जाय या कहीं समझौता भंग हो जाय तो इस प्रश्न को केवल पंच के सामने रखने का उपाय ही शेष रहता है। लेकिन सरकार ने इस भूमिका को मंजूर नहीं किया। कांग्रेस को बराबरी का दर्जा देने के लिए सरकार तैयार नहीं थी। और इस बात को भी स्वीकार करने के लिए तैयार नहीं थी कि कांग्रेस सरकार और जनता के बीच का माध्यम है। सारे प्रश्नों के मूल में यही बात थी। यदि पंच-फैसले की बात मूल समझौते में ही होती तो कितना अच्छा होता।

जांच करने का जो आश्वासन दिया था वह भी आखिर तक पूरा नहीं किया गया क्योंकि सरदार वल्लभभाई पटेल ने अपना सहयोग उससे हटा लिया। जांच करने के लिए जिस अधिकारी को नियुक्त किया गया था उससे तत्सम्बन्धी आवश्यक कागज-पत्र मंगावाने से इंकार कर दिया। अतः जांच से हट जाने के अलावा कोई रास्ता नहीं था। सरदार वल्लभभाई और भूलाभाई देसाई ने ऐसा ही किया।

कांग्रेस की दृष्टि से गोलमेज परिषद् पूरी तरह असफल हुई। परिषद् में न तो स्वतंत्रता की मांग मंजूर की गई और न कांग्रेस का सारे राष्ट्र की ओर से बोलने का अधिकार ही मान्य किया गया। इसी प्रकार गांधीजी हिन्दू-मुस्लिम प्रश्न का भी कोई हल नहीं निकाल सके। क्योंकि जब तक सरकार कांग्रेस की अपेक्षा ज्यादा देने का लालच दिखाने के लिए तैयार थी तबतक गांधीजी करते भी क्या? निराश होकर वे तारीख 28.12.31 को लौट आये।

हिन्दुस्तान में भी निराशा ही उनके स्वागत के लिए तैयार बैठी थी। बंगाल में तो आर्डीनेन्स का राज्य शुरू हो गया था। 24 दिसम्बर 1931 को संयुक्तराज्य और सीमाप्रान्त में भी आर्डीनेन्स जारी कर दिये गये। मानों यह बड़े दिन की भेंट हो। पं. जवाहरलाल नेहरू और खान अब्दुलगफ्फारखां को पकड़ लिया गया था। भिन्न-भिन्न प्रान्तों की सरकारों ने दमन करने के लिए जो-जो योजनाएं बनाई थी उनका तो यहां उल्लेख न करना ही अच्छा है।

जिस दिन गांधीजी ने हिन्दुस्तान में पैर रखा उसी दिन से वर्किंग कमेटी की बैठक शुरू हुई और वह 3 जनवरी 1932 तक चलती रही। तारीख 28.12.31 को गांधीजी ने वाइसराय को तार दिया और मिलकर बातचीत करने की इजाजत देने के लिए संक्षेप में प्रार्थना की। इस तार का जो उत्तर मिला वह ज्यादा आशाजनक नहीं था। 31.12.31 को वाइसराय ने जो उत्तर दिया उसका आशय यह था कि आर्डीनेन्स शुरू करने के प्रश्न पर पर्दा पड़ चुका है, ऐसा समझ लिया जाय। हां, दूसरी बातों के सम्बन्ध में बातचीत करने की इजाजत दे दी गई। पहिली जनवरी 1932 को गांधीजी ने वाइसराय को दुबारा तार देकर बताया कि भारत सरकार के वर्तमान मनमाने उच्छृंखल कृत्यों के सामने घटना-सम्बन्धी प्रश्नों को गौण स्थान प्राप्त हो रहा है। उस तार में उन्होंने यह भी चेताया था कि वाइसराय ने अपने तार पर पुनर्विचार करके आर्डीनेन्सों के कुछ कृत्यों के सम्बन्ध में उचित सहूलियत देने की तैयारी नहीं दिखाई और आगे समझौते के अवसर पर कांग्रेस को अपनी पूर्ण स्वतंत्रता की मांग रखने का पूरा मौका नहीं दिया गया। इसी प्रकार जबतक पूर्ण स्वतंत्रता नहीं मिलती और जब तक देश का शासन जनता के प्रतिनिधियों की सलाह से नहीं चलाया जाता तबतक उन्हें देश को फिर से सविनय कानून-भंग शुरू करने की सलाह देनी पड़ेगी।

31.12.31 की रात को कांग्रेस वर्किंग कमेटी की बैठक हुई जिसमें उपयुक्त आशय का प्रस्ताव पास किया गया और सरकार द्वारा कांग्रेस की मांगें ठुकराई जाने पर राष्ट्र को करबंदी सहित दूसरे प्रकार के सविनय कानून भंग करने का भी आदेश दिया गया। अहिंसा पर विशेष जोर दिया गया। प्रस्ताव इस प्रकार है—जब तक जनता को अहिंसा का महत्त्व मालूम नहीं होता और जब तक वह धन-जन एवं अन्य किसी प्रकार की मुसीबत उठाने के लिए तैयार नहीं होती तब तक कोई भी प्रान्त, जिला, ताल्लुका या गांव सविनय कानून-भंग शुरू नहीं कर सकता। हमारी लड़ाई बदला लेने या अपने ऊपर अत्याचार करने वालों को पीड़ा देने के लिए नहीं है, बल्कि कष्ट-सहन एवं आत्मशुद्धि के द्वारा उनका हृदय-परिवर्तन करने के उद्देश्य से शुरू हुई है। चाहे सरकार की ओर से भड़काने का कितना ही प्रयत्न क्यों न किया जाय हमें इस बात को समझकर मनसा-वाचा-कर्मणा से अहिंसा का पालन करना चाहिए। सरकारी अधिकारी, पुलिस या अराष्ट्रीय लोगों को परेशान करने के उद्देश्य से उनका सामाजिक बहिष्कार न किया जाय। वैसा करना अहिंस की कल्पना से बेमेल होगा।

वाइसराय ने 2 जनवरी 1932 को पत्र का जवाब देकर गांधीजी पर कानून-भंग आंदोलन शुरू करने की धमकी देने का आरोप लगाया। गांधीजी ने फिर 3 जनवरी को जो उत्तर दिया उसमें लिखा कि प्रामाणिक मत-प्रदर्शन को किसी भी प्रकार धमकी नहीं कहा जा सकता। अवज्ञा आंदोलन जारी रहते हुए भी दिल्ली में समझौते की बातचीत शुरू हो गई और जब समझौता हो गया तो सविनय अवज्ञा आंदोलन स्थगित कर दिया गया। लेकिन कभी भी वह पूरी तरह वापस नहीं लिया गया। उन्होंने आग्रहपूर्वक इस बात का प्रतिपादन किया कि अपने प्रस्थान के समय ही मैंने यह बात स्पष्ट कर दी थी

कि विशेष परिस्थितियों में अवज्ञा आंदोलन फिर से शुरू करना पड़ेगा। फिर भी बिना किसी प्रकार की रुकावट के मुझे इंग्लैण्ड जाने की इजाजत दे दी गई थी।

लेकिन गांधीजी की यह भूमिका नहीं मानी गई। दिल्ली में संभवतः पहिले से ही सब तैयारियां थीं। 4 जनवरी के दिन सुबह गांधीजी और सरदार वल्लभभाई पटेल को गिरफ्तार कर लिया गया। सैकड़ों कमेटियां, राष्ट्रीय पाठशालाएं, किसान कमेटियां, सेवादल तथा इसी प्रकार की अन्य संस्थाएं गैरकानूनी करार दे दी गईं; उनपर कब्जा कर लिया गया। उनकी चीजें और सम्पत्ति जब्त कर ली गई और बाद में नीलाम कर दी गई। अनुमान है कि सारे हिन्दुस्तान में लगभग 15000 कांग्रेसियों को नजरबंद कर दिया गया। उनके आर्डीनेन्स जारी किये गये। फिर लाठी-चार्ज और गैरकानूनी कानून, अर्थात् आर्डीनेन्स का राज्य चालू हो गया और थोड़े ही समय में देश की जेलें खचाखच भर गईं। एक लाख से भी ज्यादा लोग पकड़े गये। उनसे तिगुने या चौगुने लोगों को लाठियों और डण्डों का प्रसाद मिला होगा। इस प्रकार अहिंसक और संगठित प्रतिकार का प्रयत्न असफल करने का जी-जान से प्रयत्न किया गया। सन् 1930-31 की बातों की ही सन् 1932-33 में पुनरावृत्ति हुई। अंतर इतना ही था कि इस बार की लड़ाई अधिक तीव्र और गंभीर थी। लड़ाई अपने परमोच्च शिखर पर पहुंची भी जल्दी ही। गुजरात के रास और कर्नाटक के अंकोला और सिद्दापुर के भागों को जहां कि करबंदी-आंदोलन शुरू किया गया था काफी कष्ट सहन करना पड़ा। इस बार का दमन सन् 1930-31 की अपेक्षा अधिक क्रूर एवं संगठित था।

सन् 1930 में पकड़े जाने पर लड़ाई का नेतृत्व अब्बास तैय्यबजी को सौंपकर गांधीजी ने भावी सूत्र संचालक नियुक्त करने की जो पद्धति शुरू की वह अंत तक चलती रही। यह भी तय हो गया कि वर्किंग कमेटी के सदस्यों के जेल चले जाने पर वे यह बता दें कि उनकी जगह किसी को नियुक्त किया जाय। इस प्रकार गांधी-इरविन पैक्ट तक तीन बार बनी हुई वर्किंग कमेटी के सदस्यों को गिरफ्तार कर लिया गया था। सरकार ने कमेटियों को गैरकानूनी करार देकर, महत्वपूर्ण कार्यकर्ता एवं पदाधिकारियों को गिरफ्तार करके कांग्रेस के रुपये-पैसे एवं प्रान्त और जिले की ही नहीं ग्रामों की कांग्रेस कमेटियों के आफिस और इमारतों को भी अपने कब्जे में लेकर कांग्रेस के संगठन को नष्ट-भ्रष्ट करने का प्रयत्न करके देख लिया। वर्किंग कमेटी के उदाहरण का अनुकरण सीभ जगह के लोगों ने किया। जहां-तहां सर्वाधिकारियों के नाम पहिले ही निश्चित हो गये थे और एक के गिरफ्तार होते ही दूसरा उसका स्थान लेने के लिए आगे आ जाता था। कितने ही शहरों में तो सर्वाधिकारियों की श्रृंखला 90 तक पहुंच गई। लेकिन एक बात स्पष्ट थी कि नये व्यक्तियों को कांग्रेस की नीति में परिवर्तन करने का कोई अधिकार नहीं था। उन्हें तो केवल आंदोलन को चलाते रहना था। नीति निश्चित करने या समझौते की बातचीत चलाने का अधिकार केवल वास्तविक वर्किंग कमेटी को ही था।

यह सर्वाधिकारी नियुक्त करने का साधारण तरीका था। लेकिन उसका प्रत्यक्ष व्यवहार किस प्रकार होता था? आफिस के लिए स्थान तो था ही नहीं, अतः कितनी ही बार कांग्रेस का सारा दफ्तर व्यक्ति की जेब में रहता था और वह पुलिस के हाथ नहीं लगता था। अधिकृत खबरें ही प्रकाशित की जाती थीं और खतरा उठाने के लिए तैयार छापाखानों के द्वारा या बहुत हुआ तो सायक्लोस्टाइल के द्वारा सूचनाएं प्रकाशित की जाती थीं। पत्रों और तारों पर पुलिस की नजर रहने से व्यक्तियों के द्वारा संदेश भेजने का ही तरीका अधिक पसन्द किया जाता था। अतः कई छापाखाने, सायक्लोस्टाइल और संदेशवाहक रखने पड़ते थे। लेकिन यह सब अपरिहार्य था।

गांधीजी की गिरफ्तारी के बाद मई 1930 में वर्किंग कमेटी की बैठक हुई और आंदोलन का क्षेत्र अधिक व्यापक कर दिया गया। जनता को विदेशी कपड़ों के बहिष्कार का आंदोलन सफल बनाने का आदेश दिया गया। इसी प्रकार करबंदी और चौकीदारी कर न देने का आदेश भी दिया गया। जंगलों के आसपास रहने वाले लोगों के हित की दृष्टि से यह भी निश्चित हुआ कि जंगल-सम्बन्धी कानून तोड़े जाय। ब्रिटिश बैंक, नौकानयन व बीमा कम्पनियों का व्यावहारिक बहिष्कार प्रभावशाली ढंग से करने की भी हिदायत दी गई। इलाहाबाद में वर्किंग कमेटी की जो बैठक हुई उसमें सरकारी अधिकारियों एवं राष्ट्रीय आंदोलन को खुलेआम दबाने का प्रयत्न करने वाले लोगों का कड़ा सामाजिक बहिष्कार करने का आदेश दिया गया। लेकिन बाद में गांधीजी ने इसपर अपनी नापसन्दगी जाहिर की। जनता से कहा गया कि वह न तो सरकारी बॉन्ड बेचे, न नये खरीदे। इसी प्रकार कागजी नोट एवं चांदी के सिक्कों

को स्वीकार न करके जहां तक संभव हो सोने के द्वारा विनिमय चालू करने को कहा गया। कमेटी ने यह भी घोषित किया कि पुलिस और सैनिकों का यह कर्तव्य है कि वे जनता के विरुद्ध अन्यायपूर्ण नीति का अवलम्बन करने में सरकार की मदद न करें।

वर्किंग कमेटी का वह प्रस्ताव जिसके द्वारा सन् 1932-34 का सत्याग्रह शुरू किया गया उसमें अहिंसा पर इतना जोर दिया गया था जितना कि पहिले कभी भी नहीं दिया गया। विदेशी कपड़ों के बहिष्कार को बंधनकारक समझकर शराब तथा अन्य मादक पदार्थों के बहिष्कार पर जोर दिया गया था। खासकर स्त्रियों को इसे सफल करके दिखाना था। यह कहा गया कि केवल चुने हुए अथवा ऐसे ही व्यक्तियों को इसमें लिया जाय जो जुलूस अथवा सभा के रोक दिये जाने पर गोली या लाठी खाने को तैयार हों। जुल्मी कानूनों एवं आर्डिनेन्सों की अन्यायपूर्ण आज्ञा तो तोड़ने की सलाह दी गई।

इस प्रस्ताव के अनुसार सैकड़ों प्रकार से नमक-कानून तोड़ा गया। सारे आर्डिनेन्स खुलेआम भंग किये गये और उसके लिये जो भी सजा दी गई उसे खुशी-खुशी सहन किया गया। फौजदारी की 144 धारा जैसी स्थानीय अधिकारियों द्वारा लगाई हुई पाबन्दियां तोड़ दी गई। कुछ स्थानों में तो लगान बंदी के साथ आय-करबंदी का आंदोलन भी शुरू कर दिया गया। कुछ स्थानों में चौकीदारी-कर देने से भी इंकार कर दिया गया और उसके जुर्माने के रूप में लगाये गये कर देने से भी इंकार कर दिया गया। बड़े-बड़े समूहों ने जंगल के कानून तोड़कर झण्डा-दिवस, गांधी-दिवस, मोतीलाल-दिवस, गढ़वाल-दिवस तथा इसी प्रकार के अन्य दिवस मनाये गये। नमक-भण्डार तथा सरकार द्वारा कब्जे में ले लिये गए कांग्रेस भवनों पर भी आक्रमण किये गये। प्रतिबंध लगा दिये जाने पर भी अप्रैल सन् 1932 में दिल्ली में और अप्रैल 1933 में कलकत्ता में कांग्रेस के दो अधिवेशन हुए।

12.9.32 को अचानक यह खबर सारे देश भर में फैल गई कि गांधीजी साम्प्रदायिक निर्णय के प्रश्न पर आमरण अनशन कर रहे हैं। इस साम्प्रदायिक निर्णय के अनुसार हरिजनों को भी पृथक निर्वाचन का अधिकार देने की घोषणा की गई। इस खबर ने देश की हलचल की दिशा ही बदल दी। 20.9.32 को उपवास शुरू हुआ और पूरा पैक्ट पर हस्ताक्षर हो जाने के बाद फिर से हरिजनों को संयुक्त निर्वाचन में सम्मिलित करके 26 दिनों के बाद वह समाप्त हुआ।

सविनय कानून भंग चल ही रहा था; लेकिन उसके साथ-ही-साथ अस्पृश्यता-निवारण की ओर कांग्रेसियों का ध्यान अधिकाधिक आकर्षित होने लगा। एक विज्ञप्ति प्रकाशित होने के कारण कांग्रेस के अस्थायी अध्यक्ष बाबू राजेन्द्रप्रसाद को गिरफ्तार कर लिया गया। उस विज्ञप्ति में उन्होंने जनता से लड़ाई चालू रखने के लिए कहा था। इसके बाद बहुत समय तक श्री अणे अध्यक्ष के रूप में काम करते रहे।

इसके बाद मई मास में आत्मशुद्धि के लिए गांधीजी ने 21 दिन का उपवास शुरू किया। सरकार ने उसी समय उन्हें छोड़ दिया। तुरन्त ही छः सप्ताह तक आंदोलन स्थगित कर दिया गया। बाद में यह अवधि तीन सप्ताह तक और बढ़ा दी गई। अंत में पूना में प्रमुख कांग्रेसी कार्यकर्त्ताओं की बैठक हुई जिसमें निश्चित हुआ कि सामूहिक सविनय कानून भंग स्थगित कर दिया जाय और व्यक्तिगत कानून भंग ही शुरू रखा जाय।

ज्यादा-से-ज्यादा त्याग के प्रतीक के रूप में गांधीजी ने अपना आश्रम छोड़ दिया और व्यक्तिगत सत्याग्रह करने के लिए 34 चुने हुए आश्रमवासियों को साथ लेकर सस नामक ग्राम की ओर प्रस्थान करने का विचार प्रकट किया। उनको गिरफ्तार कर लिया गया और उस गांव को छोड़ देने की पाबन्दी लगाकर छोड़ दिया गया। लेकिन जब उन्होंने इस पाबन्दी को मानने से इंकार कर दिया तो उसी समय उन्हें फिर पकड़ लिया गया और एक वर्ष की सजा दे दी गई, जब जेल में हरिजन-काग्र चलाने के लिए उन्हें कुछ सहूलियतें देने से इंकार कर दिया गया तो उन्होंने उपवास शुरू कर दिया। इससे अगस्त के तीसरे सप्ताह में उन्हें छोड़ा गया। जैसे ही वे जेल से छुटे उन्होंने सजा की शेष अवधि में अपनी इच्छा से ही राजनीति में भाग न लेने का निश्चय किया और नवम्बर तक हरिजन-कार्य के लिए हिन्दुस्तान का दौरा किया।

अंत में 7 अप्रैल 1934 को गांधीजी ने व्यक्तिगत सविनय अवज्ञा आंदोलन भी स्थगित करने का निर्णय प्रकट किया। वह अधिकार उन्होंने सिर्फ अपने लिए ही सुरक्षित रखा। उस समय तक जनता में

किसी भी प्रकार के सविनय अवज्ञा आंदोलन के लिए उत्साह शेष नहीं रहा था। 18 मई 1934 को पटना में अखिल भारतीय कांग्रेस कमेटी की बैठक में गांधीजी के निर्णय को स्वीकार कर लिया गया। उसी समय स्वराज्यदल का पुनःसंगठन करके केन्द्रीय धारासभा के चुनाव लड़ने का निश्चय किया गया। इस प्रकार जबतक सन् 1940 में फिर से सविनय अवज्ञा आंदोलन शुरू नहीं हुआ तब तक कांग्रेस की शक्ति रचनात्मक कार्यक्रम एवं धारासभा के काम पर ही केन्द्रित रही।

15.20 भारत छोड़ो आंदोलन—इस समय तक जितने अखिल भारतीय अहिंसक आंदोलन हुए उनमें यह आंदोलन अंतिम है। जिन घटनाओं के कारण यह आंदोलन प्रारंभ हुआ वह इस प्रकार है—

दिसम्बर 1941 में पूर्व की ओर जो घटनाएं घटी उनमें सबसे ज्यादा महत्त्व है जापान की मित्रराष्ट्रों के साथ युद्ध—घोषणा। इसके बाद 1942 के प्रारंभ की महत्वपूर्ण घटना है जापान की अमेरिका और इंग्लैण्ड पर जल और स्थल के युद्धों में उत्तरोत्तर विजय। इससे जनता का नीतिधैर्य छूटने लगा और अंग्रेजों का पूर्वी साम्राज्य कैंची में फंस गया। ऐसे ही कठिन समय में 23.3.42 को सर स्ट्रेफर्ड क्रिप्स कुछ योजना लेकर हिन्दुस्तान आये।

इस सम्बन्ध में लुई फिशर ने लिखा है कि गांधीजी ने उस योजना को देखते ही क्रिप्स से पूछा—“आप पहिले ही वायुयान से इंग्लैण्ड क्यों नहीं जाते?” गांधीजी को वह योजना अत्यन्त निराशाजनक लगी और उन्होंने उसे मुद्दी हुण्डी कहा। उनका कहना था कि आज तो हिन्दुस्तान भूख से व्याकुल है। ऐसी स्थिति में उसे जल्दी ही मुद्दी भर अन्न ओर चुल्लू भर पानी न देते हुए भविष्य में पांचों पकवान परोस देने के आश्वासन देने से क्या लाभ है? क्रिप्स से बातचीत करने के लिए कांग्रेस की ओर से राष्ट्रपति मौलाना अबुलकलाम आजाद और पं. जवाहरलाल नेहरू को प्रतिनिधि के रूप में भेजा गया। उन्होंने काफी दिनों तक बातचीत की। अंत में उनको भी निराश होना पड़ा। ऐसा कहा जाता है कि प्रारंभ में क्रिप्स ने इंग्लैण्ड जैसा मंत्रीमण्डल बनाने की बात कही थी; लेकिन बाद में वह बदल गया और वाइसराय के विशेष अधिकारों पर ही उसने जोर दिया। इससे मौलाना साहब कुछ क्षुब्ध हुए और उन्होंने कहा कि यदि जनता के हाथ में तुरन्त वास्तविक सत्ता नहीं जाती तो इस योजना पर विचार करने की जरूरत नहीं।

करीब—करीब प्रक्षुब्ध मनःस्थिति में ही सर क्रिप्स अप्रैल के दूसरे सप्ताह में हिन्दुस्तान से रवाना हुए। केवल कांग्रेस ने ही उस योजना को नहीं ठुकराया बल्कि देश के किसी भी दल ने उसे मंजूर नहीं किया। गांधीजी कहते हैं कि क्रिप्स के प्रमाण के बाद थोड़े ही दिनों में उनके दिमाग में “भारत छोड़ो” आंदोलन का विचार आया। उन्हें ऐसा प्रतीत हुआ कि जबतक अंग्रेज हिन्दुस्तान से अपनी सारी सत्ता नहीं उठा लेते तबतक हिन्दुस्तान का किसी प्रकार हितसाधन नहीं हो सकता। यदि युद्धकाल में मित्र—सेनाएं भारतवर्ष में रहे और हिन्दुस्तान को युद्ध का अड़्डा बनाया जाय तो भी गांधीजी को कोई आपत्ति नहीं थी। लेकिन उनका यह आग्रह था कि यह सब स्वतंत्र हिन्दुस्तान की सम्मति से होना चाहिए। उन्होंने यह भी कहा कि जबतक हिन्दुस्तान से अंग्रेजी सत्ता का अंत नहीं होता तबतक हिन्दू—मुस्लिम ऐक्य होना असंभव है। उन्होंने यह भी कहा कि उन्हें जल्दी ही हिन्दुस्तान को आजाद करवाना है; क्योंकि रूस और चीन को मदद करने का वही एकमात्र रास्ता है। गुलामी के बंधन में जकड़ा हुआ हिन्दुस्तान न तो खुद अपनी रक्षा कर सकता है, न दूसरे राष्ट्रों की ही मदद कर सकता है।

इसके बाद तूफानी प्रचार शुरू हुआ और उसके परिणामस्वरूप 14.7.42 का वर्धा—प्रस्ताव पास हो गया। इस प्रस्ताव के अनुसार अंग्रेजों से भारत छोड़ने की प्रार्थना की गई। उसमें कहा गया था कि यदि यह प्रार्थना अस्वीकार की गई तो कांग्रेस को मजबूर होकर महात्मा गांधी के नेतृत्व में हिन्दुस्तान की आजादी एवं राजनैतिक अधिकारों की प्रस्थापना के लिए अपनी सारी अहिंसक शक्ति लगा देनी पड़ेगी। यह अत्यन्त ही गंभीर निर्णय था। अतः इसे 7 और 8 अगस्त वाली बम्बई की अखिल भारतीय कांग्रेस कमेटी की बैठक में रखा गया।

बम्बई की अखिल भारतीय कांग्रेस कमेटी की बैठक में सारी बातें स्पष्ट हो गईं। उस प्रस्ताव का एक अवतरण नीचे रखा गया है—“अतः भारतवर्ष की स्वतंत्रता के जन्मसिद्ध अधिकारों को स्थापित करने के लिए विगत 22 वर्षों से शांतिपूर्ण लड़ाइयों में जो अहिंसक शक्ति प्राप्त की गई है उसका

उपयोग ज्यादा-से-ज्यादा बड़े पैमाने पर करके अहिंसक सामूहिक लड़ाई शुरू करने की मंजूरी देने का प्रस्ताव सयह सभा पास कर रही है। इस प्रकार की लड़ाई गांधीजी के ही नेतृत्व में होनी चाहिए।

गांधीजी ने अपने भाषण में कहा कि वे लड़ाई छेड़ने की जल्दबाजी में न पड़कर वाइसराय से मुलाकात करेंगे और समझौते की बातचीत चलाने का प्रयत्न करेंगे। दूसरा दिन आने के पहिले ही गांधीजी तथा वर्किंग कमेटी के सारे सदस्यों को पकड़ लिया गया। दूसरे ही सप्ताह के भीतर जिन-जिन लोगों का कांग्रेस में थोड़ा-बहुत स्थान था उन सब को भी बिना तहकीकात जेल में बंद कर दिया गया। इसके बा आर्डीनेन्स, लाठी-चार्ज, गोलाबारी, वायुयानों से बमवर्षा आदि का दौर शुरू हुआ। इस शोकजनक काण्ड से कहीं-कहीं के लोग तो बड़े बिगड़े और उन्होंने रेलवे पुलिस स्टेशन आदि पर आक्रमण कर दिया। कोई 2000 से अधिक आदमियों को गोली मार दी गई। कोई 6000 व्यक्ति पुलिस और सेना की गोली से जख्मी हुए। लाठी-चार्ज से तो हजारों व्यक्ति घायल हुए। लगभग 1,50,000 व्यक्तियों को जेल में रखा गया। लगभग 15,00,000 रुपये का सामूहिक जुर्माना किया गया। पुलिस और फौज के घोर जुल्म, मकानों में आग लगाना, लूटपाट तथा अन्य अत्याचारों की तो सीमा ही नहीं थी।

यह प्रश्न दूसरा है कि यदि आंदोलन के सूत्र गांधीजी के हाथ में होते तो आंदोलन किस दिशा में जाता; लेकिन गांधीजी अथवा किसी दूसरे नेता के नेतृत्व में जनता ने किस प्रकार लड़ाई का संचालन किया। यह बात समाजशास्त्र के दृष्टिकोण से निरीक्षण करने पर जैसी है उचित है। यदि उन थोड़े-से हिंसक कामों को छोड़ दिया जाय जो अनधिकृत एवं सत्याग्रह की परम्परा के विरुद्ध कार्य करने वाले समूहों और झुण्डों के द्वारा हुए तो सरकार की अत्यन्त पाशवी ढंग से संगठित हिंसा का मुकाबला करने वाले इस सत्याग्रह के मुख्यतः स्वरूप और अहिंसक वीरता और उदारता के अनेक उदाहरणों के कारण सत्याग्रह के इतिहास के एक महत्त्वपूर्ण अध्याय के रूप में इस लड़ाई का सदैव उल्लेख किया जायगा।

15.21 अन्य ऐतिहासिक उदाहरण—रिचर्ड ग्रेग ने लिखा है कि “इतिहासकारों का झुकाव राजनीति और लड़ाइयों की ओर अधिक रहा है। अतः उन्होंने इस दूसरी घटना (अहिंसक प्रतिकार) की तरफ बहुत थोड़ा ध्यान दिया है और उनमें से गांधीजी से पूछा गया कि क्या आत्मबल-सम्बन्धी कोई ऐतिहासिक उदाहरण है? इस सम्बन्ध में उन्होंने अपनी ‘हिन्द स्वराज्य’ नामक पुस्तक के ‘अहिंसक प्रतिकार’ वाले अध्याय में लिखा है कि “स्थान-स्थान पर उसकी (आत्मशक्ति की) कार्य-प्रवृत्ति का प्रमाण मिलता है। लेकिन यदि इतिहास का अर्थ केवल राजा, महाराजा और उनके काम ही हों तो फिर उस इतिहास में आत्मिक बल या अहिंसक प्रतिकार नहीं मिलेंगे। इतिहास तो वस्तुतः प्रेम या आत्मिक शक्ति के अविरत कार्य के मार्ग में आने वाली कठिनाइयों का रजिस्टर है।”

कोई एक अहिंसक प्रतिकार सफल हुआ या नहीं इसका कोई विशेष महत्त्व नहीं है। हिंसक प्रतिकार भी तो असफल होते हैं। केवल इतना ही नहीं कि असफल होते हैं बल्कि कई बार तो पूरी तरह असफल होते हैं और दोनों पक्षों का विध्वंस एवं रक्तपात ही शेष रहता है। यहां इस बात का अध्ययन करना है कि किसी विशेष परिस्थिति में किस प्रकार अहिंसक प्रतिकार का संगठन किया गया और किस प्रकार वह कार्यान्वित किया गया। इसमें कोई संदेह नहीं कि गांधीजी के उदय के पूर्व अहिंसक प्रतिकार के शास्त्र और कला की कोई रूपरेखा नहीं बनी थी और तब तक वह किसी योजनाविहीन तंत्र तथा तात्त्विक अधिष्ठान के बिना अव्यवस्थित रूप से प्रयोग में लाया जा रहा था। फिर भी उपर्युक्त बातों में से बहुत-सी बातें उसमें अन्तर्भूत रहती ही थीं। तत्कालीन परिस्थिति में से ही उसका निर्माण हुआ था।

अल्डुस हक्सले अहिंसक क्रांति की पद्धति का समर्थन करता है क्योंकि उसका यह विश्वास है कि वही एक ऐसा मार्ग है जिसके द्वारा सचमुच ही हमारा उद्देश्य पूरा हो सकता है। पहले दक्षिण अफ्रीका की सन् 1909 से 1914 तक की लड़ाई का उल्लेख करके वह कहता है—“हम इसे पूरी तरह सफल कह सकते हैं।” इसके बाद हिन्दुस्तान के स्वातंत्र्य-संग्राम का उल्लेख न करके वे सीधे निम्नलिखित अहिंसक आंदोलनों का जिक्र करते हैं जो पूरी तरह अथवा किन्हीं अंशों में सफल हुए हैं।

15.21.1 फिनलैण्ड— 1901 से लेकर 1905 तक फिनलैण्ड के निवासियों ने रशियन अधिकारियों के विरुद्ध अहिंसक प्रतिकार किया। वह पूरी तरह सफल हुआ और फिनलैण्ड के ऊपर जो जबरदस्ती फौज में भर्ती होने का कानून लादा गया था वह उठा लिया गया।

15.21.2 जर्मनी— उसने लिखा है कि जर्मनी में बिस्मार्क के विरुद्ध अहिंसक प्रतिकार के दो मोर्चे सफल हुए— केथलिकों का कुल्टाकाम्फ (संस्कृति-रक्षा का युद्ध) और मजदूरों का मोर्चा जो सन् 1871 के बाद की सोशल डेमोक्रेटिक पार्टी को मान्यता प्राप्त कराने के लिए लड़ा गया था।

15.21.3 इंग्लैण्ड— ब्रिटिश मजदूरों ने अहिंसक असहयोग की धमकी देकर इंग्लैण्ड और रूस के युद्ध को टाल दिया था। 9 अगस्त 1920 के दिन जिस कौन्सिल ऑफ सेक्शन का निर्माण हुआ उसने सरकार को चेतावली दी कि यदि सरकार रूस पर आक्रमण करने के लिए पोलैण्ड में ब्रिटिश सेनाएं भेजने की योजना कार्यान्वित करने का आग्रह करेगी तो आम हड़ताल कर दी जायगी। मजदूर लोग सेना या शस्त्रास्त्रों को लाना-ले जाना बंद कर देंगे और उस युद्ध का पूर्णतः बहिष्कार किया जायगा। मजदूरों की ओर से यह अंतिम सूचना पाकर लायड जार्ज के मंत्रीमण्डल ने रूस पर आक्रमण करने का इरादा छोड़ दिया।

15.21.4 हंगरी— सम्पूर्ण राष्ट्र के द्वारा सामूहिक रूप से अहिंसक प्रतिकार करने का उदाहरण 19वीं शताब्दी के मध्य में हंगरी में मिलता है। इस लड़ाई के दो भाग किये जा सकते हैं। पहला भाग सन् 1833 से 1848 तक का और दूसरा भाग सन् 1848 से 1867 तक का।

सन् 1720 में या उसके आसपास आस्ट्रिया और हंगरी ने अपने संयुक्त प्रयत्न के द्वारा दूसरों के अधिकार से अपने प्रदेश मुक्त करवा लिये। उन्होंने स्वतंत्र एवं समान दर्जे के राष्ट्र के रूप में एक ही राजसत्ता के अधीन एकसाथ मिलजुल कर रहने का निर्णय किया। विएना में राजदरबार भरने लगा और हंगरियन सरदारों की राष्ट्रीय भावना धीरे-धीरे कमजोर हो गई। लेकिन कुछ निष्ठावान् एवं कट्टर लोगों के मन में यह भावना समाई रही कि हंगरी एक राष्ट्र है। सन् 1828 के आसपास जब आस्ट्रिया के राजा ने हंगरी के लोगों को सेना में भर्ती होने की आज्ञा दी तो उन्होंने भर्ती होने से इंकार कर दिया। उन्होंने कहा कि हंगरी की पार्लियामेन्ट को ही सैनिक भर्ती करने का अधिकार है। पांच वर्षों के झगड़े के बाद सन् 1833 में हंगरी की पार्लियामेन्ट बुलाई गई और उसके पहिले अधिवेशन में ही हंगरियन भाषा में भाषण देकर सब लोगों को आश्चर्यचकित कर दिया। इससे कुछ लोगों को बड़ा धक्का लगा। इसके बाद— 'हम असहाय हैं, अतः हमको आस्ट्रिया के सामने झुकते रहना चाहिए' इस प्रकार की शिक्षा देने वाले नरमदली लोगों को संबोधित करते हुए फ्रांसिस डीक नामक एक आदर्शवादी और कर्मठ नेता ने कहा—“तुम्हारे कानून पैरों तले कुचले जा रहे हैं फिर भी तुम्हारे मुंह में ताले पड़े हुए हैं। अपने अधिकारों पर हमला होते हुए देखकर भी जो राष्ट्र उसका मुकाबला नहीं करता, उसे धिक्कार है। इस प्रकार की मंत्रमुग्धता से तो हम अपनी गुलामी की जंजीर मजबूत ही कर रहे हैं। जो राष्ट्र अन्याय और जुल्म को चुपचाप सहन कर लेता है उसका विनाश निश्चित है।

उस समय तक झगड़ा चलता रहा जब तक कि सन् 1848 में हंगरी में जनता के प्रति उत्तरदायी सरकार की स्थापना नहीं हो गई। इस नई सरकार में डीक स्वयं न्याय विभाग का मंत्री बना। लेकिन यह विजय ज्यादा दिनों तक नहीं टिकी। हंगरी को अपने कब्जे में कर लेने के विचार आस्ट्रिया के दिमाग में लगातार घुमते ही रहते थे। उचित मौका मिलते ही आस्ट्रिया की सेना ने हंगरी के प्रदेश को घेर लिया। पार्लियामेन्ट कुचल दी गई। राष्ट्रीय संस्थाएं तोड़ डाली गईं। हंगरियन भाषा का गला घोट दिया गया। कौन्टी कौन्सिल्स (स्थानीय संस्था) उठा दी गईं और सैनिक दृष्टि से देश का विभाजन करके उसे आस्ट्रिया के हाथ में सौंप दिया गया। कुछ समय तक कहीं भी आशा का कोई चिन्ह दिखाई नहीं दिया।

यूरोप के राजनीतिज्ञों ने कहा कि हंगरी मर गया है। लेकिन अपनी 'रीसरेक्शन ऑफ हंगरी' नामक पुस्तक में आर्थर ग्रिफिथ्स ने लिखा है—“फ्रांसिस डीक आज भी जीवित है और उसके जीवन में ही हंगरी का जीवन समाया हुआ है।

अब हंगरी के स्वातंत्र्य युद्ध का दूसरा दौर शुरू हुआ। अपने को राजनैतिक कार्य करने में असमर्थ देखकर डीक ने शिक्षा और उद्योग-धंधों की राष्ट्रीय योजनाएं बड़े जोर-शोर के साथ प्रस्तुत कीं। सन् 1857 तक हंगरी की प्रगति विएना दरबार के लिए भय का विषय हो गई। आस्ट्रिया के राजा ने हंगरी को मनाने के भिन्न-भिन्न उपाय किये। घूस, अधिकार, धमकी सब कुछ देकर देख लिया; लेकिन डीक अविचल रहा। डीक ने लोगों को आदेश दिया कि जबतक हंगरी की पार्लियामेन्ट स्वतंत्र सरकार के रूप में मंजूर न कर ली जाय तब तक आस्ट्रिया के द्वारा शुरू किये हुए किसी भी काम में

सहयोग न दिया जाय। जब आस्ट्रिया के राजा ने हंगरी का दौरा किया तो उसका बहिष्कार किया गया।

डीक ने लोगों को जो उपदेश दिया उनके मुख्य सूत्र इस प्रकार थे—“किसी भी प्रकार के हिंसाकाण्ड के प्रलोभन में मत फंसे और न कानून की मर्यादा ही छोड़ो। यही एक सुरक्षित रास्ता है जिसके द्वारा हम निःशस्त्र होने पर भी सशस्त्र शक्तियों के विरुद्ध टिक सकते हैं। यदि मुसीबतें उठानी पड़े तो बड़े धैर्य के साथ उठाओ।” उसने घोषणा की—“हिंसा के अतिरिक्त सब तरीकों से प्रतिकार करो।”

हंगरी की जनता ने आस्ट्रिया के लोगों को कर देने से साफ इंकार कर दिया। आस्ट्रियन अधिकारियों ने धन-सम्पत्ति पर कब्जा कर लिया लेकिन उसे खरीदने-बेचने के लिये कोई भी हंगरियन तैयार नहीं हुआ। सरकार ने अनुभव किया कि कर लगाने की अपेक्षा माल जब्त करने में अधिक खर्चा होता है। बाद में कुछ दिनों तक आस्ट्रिया के सैनिकों को हंगरी के घरों में रखने की व्यवस्था की गई। लोगों ने शारीरिक प्रतिकार नहीं किया लेकिन असहयोग की नीति अपना ली। जब जनता ने किसी भी प्रकार की मदद करने से शांतिपूर्ण इंकार कर दिया तो आस्ट्रियन सैनिकों की स्थिति असह्य हो गई। सरकार ने आस्ट्रियन माल का बहिष्कार गैरकानूनी करार दे दिया। लेकिन हंगरियन पीछे नहीं हटे। सारी जेलें भर गईं। आस्ट्रिया की पार्लियामेन्ट में एक भी प्रतिनिधि भेजने से हंगरी ने इंकार कर दिया। कौन्टी कौन्सिल ने भी आस्ट्रिया की देखरेख में काम करने से इंकार कर दिया। इस पर फ्रांसिस जोसफ ने समझौते के लिए प्रयत्न किया। कैदियों को मुक्त कर दिया गया और थोड़ा-बहुत स्वायत्त शासन दिया गया। लेकिन हंगरियनों ने इस बात पर जोर दिया कि उनको सम्पूर्ण अधिकार मिलने चाहिए। राजा ने गुस्से में आकर जबरदस्ती सैनिक भर्ती करने की आज्ञा निकाली। लेकिन जनता ने इस आज्ञा को मानने से इंकार कर दिया। अंत में आस्ट्रिया को झुकना पड़ा और 18.02.1867 को हंगरी को शासन-विधान के सम्पूर्ण अधिकार मिल गये।

16. अभ्यास प्रश्न

निबन्धात्मक प्रश्न

1. अंतर्राष्ट्रीय कलह शमन के स्वरूप को स्पष्ट करते हुए अंतर्राष्ट्रीय विवादों के निपटारे की शांतिपूर्ण विधियों की सोदाहरण संक्षिप्त विवेचना कीजिए।

लघूत्तरात्मक प्रश्न

1. कलह शमन में अनेकांत के सिद्धान्त की भूमिका का वर्णन कीजिए।
2. गांधी के विभिन्न सत्याग्रह आंदोलनों का संक्षेप में परिचय दीजिए।

वस्तुनिष्ठ प्रश्न

1. 1968 में भारत व पाकिस्तान के बीच के कच्छ के रन के विवाद को निपटाने के लिए किस विधि का प्रयोग किया गया—

अ. वार्ता	ब. विवाचन
स. गुड ऑफिसेज	द. मध्यस्थता
2. संराधन व विवाचन के बीच की कड़ी है—

अ. वार्ता	ब. गुड ऑफिसेज
स. मध्यस्थता	द. वाद-विवाद
3. शीत युद्ध की स्थिति को शांत करने के लिए प्रयुक्त “अवरोधक कूटनीति” की धारणा का विकास किसने किया—

अ. हैमरशोल्ड	ब. जॉन गाल्टुंग
स. प्लानो एवं रिग्ज	द. मूर

- M.A. NVP (P)/P-IV/176

इकाई-4

संघर्ष निराकरण हेतु कार्यरत अभिकरण एवं संगठन

अ. अमेरिकन शांति सेना (अमेरिकन पीस क्राप्स)

ब. संयुक्त राष्ट्र शांति सेना

स. शांति सेना

द. संयुक्त राष्ट्र संघ

इ. स्टॉकहोम अंतर्राष्ट्रीय शोध संस्थान

उद्देश्य

1. शांति स्थापना में विभिन्न शांति सेनाओं के योगदान को स्पष्ट करना।
2. संयुक्त राष्ट्र संघ की संरचना को स्पष्ट करते हुए विश्व शांति के संदर्भ में इसके कार्यों को जानना।
3. अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर शांति स्थापना के लिए सिपरी की भूमिका को स्पष्ट करना।

संरचना

अ. अमेरिकन शांति सेना (अमेरिकन पीस क्राप्स)

1. अमेरिकन शांति सेना के उद्देश्य
2. पीस क्राप्स का चयन व प्रशिक्षण
3. पीस क्राप्स की कार्य पद्धति
4. कार्य एवं उपलब्धियां
5. स्वदेश लौटने पर कार्य
6. निष्कर्ष

ब. संयुक्त राष्ट्र शांति सेना

1. संयुक्त राष्ट्र शांति सेना का स्वरूप
 - 1.1 मेजबान राष्ट्र
 - 1.2 दाता राष्ट्र
 - 1.3 प्रायोजक राष्ट्र
2. यूनाइटेड पीस कीपिंग की बाधाएं
3. यूनाइटेड पीस कीपिंग फोर्स के प्रभाव

स. शांति सेना

1. शांति सेना का उद्भव
2. शांति सेना के उद्देश्य
3. शांति सैनिक की अर्हताएं
4. शांति सेना के लिए निर्धारित कार्य
5. शांति सेना द्वारा किए गए कार्य

द. संयुक्त राष्ट्र संघ

1. संयुक्त राष्ट्र संघ : स्थापना
2. संयुक्त राष्ट्र संघ के उद्देश्य
3. संयुक्त राष्ट्र संघ : सिद्धान्त
4. संयुक्त राष्ट्र संघ के अंग

4.1 महासभा

- 4.1.1 संगठन एवं भूमिका
- 4.1.2 प्रतिनिधित्व
- 4.1.3 अधिकार और कर्तव्य
- 4.1.4 महासभा के कार्य
- 4.1.5 शांति के लिए एकता प्रस्ताव
- 4.1.6 महासभा की भूमिका : मूल्यांकन

4.2 सुरक्षा परिषद्

- 4.2.1 सुरक्षा परिषद् : संगठन एवं भूमिका
- 4.2.2. परिषद् की कार्यप्रणाली
- 4.2.3 कार्य एवं क्षेत्राधिकार
- 4.2.4 परिषद् के तरीके
- 4.2.5 सुरक्षा परिषद् में मतदान की प्रणाली तथा वीटो
- 4.2.6 सुरक्षा परिषद् की भूमिका

4.3. न्यास परिषद्

- 4.3.1 संगठन एवं भूमिका
- 4.3.2. न्यास सिद्धान्त का उद्भव
- 4.3.3 न्यास परिषद् के उद्देश्य
- 4.3.4 न्यास परिषद् के कार्य
- 4.3.5 न्यास परिषद् : मूल्यांकन

4.4 सचिवालय

- 4.4.1 सचिवालय का गठन

4.5 आर्थिक तथा सामाजिक परिषद्

- 4.5.1 संरचना
- 4.5.2 कार्य एवं शक्तियां
- 4.5.3 आर्थिक तथा सामाजिक परिषद् के कार्यों का मूल्यांकन

4.5 अंतर्राष्ट्रीय न्यायालय

- 4.5.1 अंतर्राष्ट्रीय न्यायालय का मूल्यांकन
- 4.5.2 संयुक्त राष्ट्र के प्रमुख विशिष्ट अभिकरण
- 4.5.2.1 अंतर्राष्ट्रीय परमाणु ऊर्जा एजेंसी

- 4.5.2.2 अंतर्राष्ट्रीय श्रम संगठन
- 4.5.2.3 संयुक्त राष्ट्र खाद्य एवं कृषि संगठन
- 4.5.2.4 विश्व स्वास्थ्य संगठन
- 4.5.2.5 अंतर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष
- 4.5.2.6 यूनेस्को(UNESCO)
- 4.5.2.7 अंतर्राष्ट्रीय विकास संघ
- 4.5.2.8 अंतर्राष्ट्रीय वित्त निगम
- 4.5.2.9 पुनर्निर्माण एवं विकास का अंतर्राष्ट्रीय बैंक (विश्व बैंक)
- 4.5.2.10 विश्व डाक संघ
- 4.5.3.11 अंतर्राष्ट्रीय दूर संचार संघ
- 4.5.3.12 अंतर्राष्ट्रीय नागरिक उड्डयन संघ
- 4.5.3.13 विश्व मौसम विज्ञान संगठन
- 4.5.3.14 अंतर्राष्ट्रीय समुद्रवर्ती संगठन
- 4.5.3.15 संयुक्त राष्ट्र औद्योगिक विकास संगठन
- 4.5.3.16 विश्व बौद्धिक सम्पदा संगठन
- 4.5.3.17 विश्व व्यापार संघ
- 4.6 संयुक्त राष्ट्र के गैर-राजनीतिक कार्यों का मूल्यांकन
- 4.7 संयुक्त राष्ट्र संघ और विश्व-शांति
- 4.8 संयुक्त राष्ट्र संघ के सामने आने वाले विवाद
- 4.8.1 ईरान
- 4.8.2 यूनान
- 4.8.3 सीरिया-लेबनान
- 4.8.4 इण्डोनेशिया
- 4.8.5 बर्लिन का घेरा
- 4.8.6 पेलेस्टाइन
- 4.8.7 स्पेन
- 4.8.8 कोरफू चैनल विवाद
- 4.8.9 कोरिया
- 4.8.10 बर्मा में चीनी सेनाएं
- 4.8.11 कश्मीर का मामला
- 4.8.12 स्वेज नहर
- 4.8.13 साइप्रस
- 4.8.14 यमन
- 4.8.15 अरब-इजरायल

- 4.8.16 कांगो
- 4.8.17 डोमोनिकी गणराज्य
- 4.8.18 दक्षिणी रोडेशिया
- 4.8.19 वियतनाम
- 4.8.20 नाइजीरिया
- 4.8.21 चेकोस्लोवाकिया संकट
- 4.8.22 अमरीकी बन्धकों की समस्या
- 4.8.23 अफगानिस्तान से सोवियत संघ की सेनाओं को हटाया जाना
- 4.8.24 फाकलैण्ड विवाद
- 4.8.25 ग्रेनेडा में अमरीकी हस्तक्षेप
- 4.8.26 ईरान-इराक युद्ध-विराम (अगस्त, 1988)
- 4.8.27 नामीबिया की स्वतंत्रता
- 4.8.28 अंगोला से क्यूबाई सैनिकों की वापसी
- 4.8.29 कुवैत को इराकी कब्जे से मुक्त कराना
- 4.8.30 युगोस्लाविया
- 4.8.31 सोमालिया
- 4.8.32 कम्बोडिया
- 4.8.33 संयुक्त राष्ट्र-इराक समझौता
- 4.9 संयुक्त राष्ट्र का शांति स्थापना में योगदान
- 5. स्टॉकहोम अंतर्राष्ट्रीय शांति शोध संस्थान (SIPRI)
- 5.1 स्वरूप
- 5.2 कार्यक्षेत्र
- 5.3 संगठन
- 5.4 शोध
- 5.4.1 सीपरी ईयर बुक
- 5.5 प्रकाशन और सूचनाएं
- 5.6 सीपरी का वित्तीय प्रावधान
- 6. अभ्यास प्रश्न

विकास के साथ संघर्ष जुड़ा हुआ है। जटिलता तब होती है जब ये संघर्ष हिंसक हो जाते हैं अथवा शीत-युद्ध का रूप ले लेते हैं। ऐसी परिस्थितियों में संघर्ष का शमन आवश्यक हो जाता है। संघर्ष शमन के लिये हिंसक साधनों का बहिष्कार पूरी दुनिया करने को तत्पर है क्योंकि उसे अपना अस्तित्व कायम रखना है। संघर्ष शमन के अहिंसक प्रतिकार के लिये अनेक राष्ट्रीय व अंतर्राष्ट्रीय अभिकरण कार्य कर रहे हैं।

अ. अमेरिकन शांति सेना (अमेरिकन पीस क्राफ्स)

अमेरिकन पीस क्रॉपस् एक ऐसी शांति सेना है जो तीसरी दुनिया के देशों अर्थात् अविकसित व विकासशील देशों को उनके विकास के लिये उनके जीवन स्तर को बेहतर बनाने के लिये स्वैच्छिक सेवा प्रदान करता है। इसकी स्थापना इसी उद्देश्य के साथ 1 मार्च, 1961 में तत्कालीन अमेरिकी राष्ट्रपति जे. एफ. केनेडी के द्वारा की गई। अमेरिकी कांग्रेस में अमेरिकन पीस क्रॉपस् का इस प्रकार परिभाषित किया—

"It is the policy of United States to promote world peace and friendship through a Peace Corps, to which shall make volunteers available to interested countries and areas:

To help the people of interested countries and areas in meeting their need for trained manpower;

To help promote a better understanding of Americans on the part of the peoples served;

To help promote a better understanding of the peoples on the part of Americans (Peace Corp Act 1961)"

1. अमेरिकन शांति सेना के उद्देश्य—अमेरिकन पीस क्रॉपस् के निम्नलिखित उद्देश्य निर्धारित किये गये थे—

- विश्व शांति और मैत्री स्थापित करना।
- इच्छुक राष्ट्रों व क्षेत्रों को स्वयं सेवक उपलब्ध करवाना।
- इच्छुक राष्ट्रों व क्षेत्रों के लोगों की आवश्यकताओं के अनुरूप मानव शक्ति को अहिंसक प्रयोग के लिये प्रशिक्षित करने में सहायता देना।
- अमेरिका के लोगों के प्रति अनुकूल दृष्टिकोण का निर्माण करना तथा
- अमेरिका के लोगों के दृष्टिकोण को विश्व के अन्य लोगों के अनुकूल बनाना।

2. पीस क्रॉपस् का चयन व प्रशिक्षण—तत्कालीन राष्ट्रपति ने Sargent Shriver को अमेरिकन पीस क्रॉपस् प्रथम निर्देशक के रूप में नियुक्त किया। Shriver और उनके सहायकों ने स्वयं सेवकों की छंटनी, प्रशिक्षण, विकास आदि की नींव डाली जिसके फलस्वरूप सन् 1961 को प्रथम स्वयंसेवक दल अपने कार्य को प्रारम्भ करने के लिये राष्ट्र के समक्ष आया।

स्वयंसेवक योग्यताओं के अंतर्गत यह है कि प्रतिभागी कम से कम 18 वर्ष का हो और इच्छा से पीस क्रॉपस् के लिये कार्य करना चाहते हो। ऐसे व्यक्तियों का चयन उनके विभिन्न क्षेत्रों के अनुभव व योग्यता के आधार पर किया जाता है। इन चयनित व्यक्तियों को विभिन्न क्षेत्र जैसे— कृषि, ग्रामीण व शहरी विकास, स्वास्थ्य, पोषण, मछली पालन, वन विकास, लघु उद्योग, शिक्षण, शिल्प, पशु विज्ञान, पानी की सफाई आदि के कार्य करने के लिये चुना जाता है। अर्थात् उन्हें इन क्षेत्रों से सम्बन्धित व्यावहारिक ज्ञान होना चाहिये।

दूसरे देशों में भेजने से पूर्व प्रत्येक चयनित व्यक्ति को तीन माह का प्रशिक्षण दिया जाता है। प्रशिक्षण के अंतर्गत उन्हें जिस देश में उन्हें कार्य करना है उस देश की भाषा व संस्कृति का ज्ञान दिया जाता है। ताकि वे सम्बन्धित देश में हर परिस्थिति में समायोजित हों सके। इस प्रशिक्षण के माध्यम से वे इतनी योग्यता प्राप्त कर लेते हैं जिससे वे मेजबान राष्ट्र की संस्कृति में असहज हुए बिना वहां की संस्कृति व स्थानीय जीवन का अंग बनकर कार्य कर सकते हैं। चूंकि स्वयंसेवकों का मुख्य कार्य मेजबान राष्ट्र के विकास में योगदान देना होता है इसलिये उन्हें वहां की हर परिस्थिति में रहना सिखाया जाता है। उन्हें शारीरिक व मानसिक रूप से भी तैयार किया जाता है।

स्वयंसेवकों को पीस क्रॉपस् में उनकी स्वैच्छिक सेवा के लिये कोई वेतन देने का प्रावधान नहीं है लेकिन उन्हें भत्तों के रूप में आर्थिक अनुदान मिलता है जिससे उनके परिवार की भी आर्थिक पूर्ति की जा सके। स्वयंसेवकों का चयन उनकी योग्यता के अतिरिक्त जरूरतमंदों की मदद के लिये उनकी निष्ठा के आधार पर भी किया जाता है।

3.पीस क्रॉपस् की कार्य पद्धति—पीस क्रॉपस् के स्वयंसेवक को मेजबान राष्ट्रों की योजनाओं की क्रियान्विति के लिए इस तरह से प्रशिक्षित किया जाता है कि वहां चाकर रूप में कार्य कर सके जिससे वहां के पर्यावरण व संस्कृति को किसी तरह का नुकसान न पहुंचे। वहां समाज अधिक से अधिक लाभान्वित हो तथा वहां की स्थानीय संस्कृति व मूल्य नष्ट न हो।

स्वयंसेवक मेजबान राष्ट्र में स्वयं कार्य नहीं करते हैं बल्कि सम्बन्धित विषयों की समस्याओं के लिए उन्हें मिले प्रशिक्षक को कुशलता स्थानीय लोगों को अपने निर्देशन में देते हैं। उनकी कार्य पद्धति इस तरह की होती है कि प्रतिष्ठा को बनाये रखते हुए कार्य करते हैं। अमेरिका के राजदूत ने ट्यूनिशिया में 1983 में कहा कि "Peace corps volunteers have changed the way many, Tunisian think about Americans. There hardly a Tunisian in the 20 to 40 age bracket has not had some contact with a Peace Corps volunteers and the cumulative impact has overwhelmingly positive." यह स्पष्ट करता है कि स्वयंसेवक स्थानीय नागरिक के साथ जुड़कर, वहां की संस्कृति के साथ जुड़कर उन्हीं लोगों के बीच कार्य करते हैं जिससे उनके कार्यों का प्रभाव वहां नागरिकों के जन-जीवन पर देखा जा सकता है। यहां प्रश्न उपस्थित होता है कि पीस क्रॉपस् में सैनिक क्यों भाग लेते हैं? इस संदर्भ में कहा गया है क्योंकि उन्हें—

- नई भाषा को जानने का अवसर मिलता है।
- भिन्न संस्कृति में रहने का।
- रोजगार व नेतृत्व क्षमता प्राप्त करने के उद्देश्य से।
- मात्र एक नये अनुभव के लिये।

4.कार्य एवं उपलब्धियां—पीस क्रॉपस् या स्वयं सेवकों के कार्य व उपलब्धियों का मूल्यांकन आंकड़ों के आधार पर नहीं किया जा सकता है। मेजबान राष्ट्रों की उपलब्धियां ही इनके कार्य व उपलब्धियां हैं। स्वयं सेवकों की प्रभावशीलता का मापन इसी आधार पर होता है कि वे मेजबान राष्ट्र व उनके नागरिकों को उनके रहन-सहन के स्तर में वृद्धि करने में कितने प्रभावी हुए हैं क्योंकि वे स्वयं कार्य नहीं करते हैं अपितु वहां के नागरिकों को प्रशिक्षित करते हैं, ताकि वे स्वयं ही अपनी सहायता कर सकें।

अमेरिकन पीस क्रॉपस् को उनके कार्यों के लिये मेजबान राष्ट्र, अमेरिकी सरकार व अमेरिकी लोगों से अनुकूल प्रतिक्रियाएं मिली हैं। प्राप्त तथ्यों के अनुसार अब तक लगभग 1 लाख 82 हजार शांति सैनिक 138 राष्ट्रों के लिए कार्य कर चुके हैं। अमेरिकन पीस क्रॉपस् की कार्य पद्धति में अब तक कोई परिवर्तन नहीं आया है।

अमेरिकन पीस क्रॉपस् की सर्वाधिक महत्वपूर्ण उपलब्धि यह है कि इसने तीसरी दुनिया में निरक्षरता दूर करने का अभूतपूर्व कार्य किया है। इसने ऐसे लाखों बच्चों को स्कूल जाने के अवसर उपलब्ध करवाए जिनके लिये स्कूल जाना संभव नहीं था। इस संगठन ने केवल कक्षाएं ही उपलब्ध नहीं करवाई बल्कि विज्ञान, गणित, अंग्रेजी व अन्य विदेशी भाषाओं के प्रशिक्षित अध्यापक की व्यवस्था भी करवाई। गैर शैक्षणिक गतिविधियों के अंतर्गत खेलकूद के सामान की व्यवस्था, क्लबों, लाइब्रेरी की स्थापना, ऑडियो-विजुअल की व्यवस्था करने जैसे महत्वपूर्ण कार्य भी किये। इसके साथ-साथ संस्कृति सम्मेलन का आयोजन भी किया। जिससे एक राष्ट्र को दूसरे की संस्कृतियों को समझने का अवसर मिलता। दूसरी संस्कृतियों के प्रति सम्मान की भावना भी पनपती है।

अब इस संगठन ने नये क्षेत्रों में कार्य करना शुरू किया है जैसे एच.आई.वी. एड्स, इंफार्मेशन टेक्नोलॉजी, बिजनेस डेवलपमेंट आदि। एक हजार स्वयं सेवक जी. बुश के एच.आई.वी. एड्स 2003 के कानून के लिये एक कार्यक्रम के अंतर्गत कार्य किया। इनके कार्यों में तीसरी दुनिया के राष्ट्रों को स्वच्छ पानी उपलब्ध कराना, बच्चों को पोषण देना, एच.आई.वी. एड्स के प्रति जागरूकता पैदा करना, सूचना तकनीकी और व्यावसायिक विकास जैसे कार्यों को इनके द्वारा पूरा किया जा रहा है।

वर्तमान में एच.आई.वी. एड्स से सम्बन्धित इन कार्यों के लिए अमेरिकन पीस क्रॉपस् को अंग्रेजी कांग्रेस द्वारा आर्थिक अनुदान प्राप्त होता है। बजट सरकार द्वारा प्राप्त होता है। जागरूकता के कार्य, चिकित्सकीय सेवाएं—अफ्रीका व उसके आसपास के केरोबियन राष्ट्रों को प्रदान की जा रही है। सभी

शांति सैनिक एड्स से सम्बन्धित स्वास्थ्य सामाजिक व आर्थिक समस्याओं से निपटने के लिये पूर्णतः तैयार होते रहते हैं। बोस्टवाना और स्विटजरलैण्ड जैसे राष्ट्रों में एड्स के विरुद्ध बड़े पैमाने पर प्रयास किये जा रहे हैं।

कुछ शांति सैनिक ऐसे राष्ट्रों का सहयोग कर रहे हैं जो सूचना व तकनीकी क्षेत्र में विकास करना चाहते हैं। इस क्षेत्र में स्थानीय लोगों में क्षमता बढ़ाने के लिये वे उन्हें कम्प्यूटर की जानकारी प्रदान कर रहे हैं तथा मूलभूत कम्प्यूटर, साक्षरता, वर्ड प्रोसेसिंग, एकाउण्ट, इण्टरनेट, वेब पेज डिजाइन आदि की प्रारम्भिक जानकारी प्रदान कर रहे हैं। इसके साथ ही ई-कॉमर्स, डिस्टेन्स लर्निंग और भौगोलिक सूचनाएं उपलब्ध कराने का कार्य भी इनके द्वारा किया जा रहा है।

2003-04 में 2730 शांति सैनिक ने 26 नये राष्ट्रों में विकास कार्य किया। बाद में यूरोप, एशियन समूह में 2460 शांति सैनिकों ने कार्य किया। इन क्षेत्रों में एड्स, एजुकेशन, बिजनेस, एग्रीकल्चर और पर्यावरण के क्षेत्रों में कार्य किया जा रहा है। चीन में सार्स के खतरे के समय अमेरिकन पीस क्रॉपस् ने महत्वपूर्ण भूमिका निभाई थी। चीन के अलावा एशिया में बंगलादेश, चाइना, मंगोलिया, फिलीपिंस, थाइलैण्ड आदि देशों में भी इन्होंने कार्य किया है।

5. स्वदेश लौटने पर कार्य—शांति सैनिकों के स्वदेश लौटने पर अमेरिकी लोगों को अंतर्राष्ट्रीय विकास, वैश्विक अंतर्निर्भरता एवं राष्ट्रों के बीच परस्पर शांति की शिक्षा देते हैं। उन्हें अंतर्राष्ट्रीय विकास, राष्ट्रों के मामले, विदेशी सेवा, अंतर्राष्ट्रीय सेवाओं, अमेरिकी कांग्रेस आदि महत्वपूर्ण विभागों में रोजगार दिया जाता है। इनके अतिरिक्त बैंकिंग, शिक्षा, व्यवसाय आदि निजी क्षेत्रों में भी रोजगार के अवसर उपलब्ध करवाये जाते हैं। वस्तुतः ऐसे क्षेत्रों में शांति सैनिकों की मांग प्राथमिकता से रहती है।

तीसरी दुनिया के देशों के संदर्भ में इनकी जानकारी तथा अंतर्राष्ट्रीय सहयोग के संदर्भ में इनके दृष्टिकोण का उपयोग अमेरिका के भविष्य की विदेश नीति बनाने में लिया जाता है। अर्थात् नीति निर्माण के क्षेत्र में अमेरिकी सरकार शांति सैनिकों का सहयोग लेती है।

संयुक्त राष्ट्रसंघ एक United National Volunteers Programme संचालित करती है। यह एक ऐसा अंतर्राष्ट्रीय समूह है जो लगभग 12000 प्रोफेशनल्स जो 86 देशों से सम्बन्धित हैं; के साथ लगभग 76 विकासशील राष्ट्रों के विकास के लिये कार्य कर रही है। संयुक्त राष्ट्र भी UNVP में अमेरिकी पीस क्रॉपस् के शांति सैनिकों की मांग करता है। वर्तमान में 50 प्रतिशत से ज्यादा UNVP के सदस्य, पूर्व शांति सैनिक ही थे। इस प्रकार अमेरिकन पीस क्रॉपस् के बाद वे UNVP में भी अपनी भागीदारी दे सकते हैं। इस तरह पीस क्रॉपस् के सैनिकों का भविष्य उज्ज्वल होता है।

अमेरिकन शांति सेना की स्थापना के पीछे अमेरिका के कुछ निजी लाभ भी निहित हैं जो प्रत्यक्ष दिखाई नहीं देते हैं। वे इस प्रकार हैं—

- जिन मेजबान राष्ट्रों को अमेरिका, पीस क्रॉप्स सहायता प्रदान करता है वे राष्ट्र अमेरिका के पक्ष में हो जाते हैं और वे अमेरिका के प्रति कृतज्ञ होते हैं। इसी बात का फायदा उठाकर अमेरिका उन राष्ट्रों में अपने सैनिक अड्डे स्थापित कर सकता है। ऐसी स्थिति में मेजबान राष्ट्र अमेरिका के प्रति कृतज्ञ होने के कारण असहमति भी नहीं प्रकट कर सकते हैं। अमेरिका, सामरिक दृष्टि से जिन राष्ट्रों का महत्त्व है वहां अपने सैनिक अड्डे स्थापित कर अपनी शक्ति में वृद्धि कर लेता है। उदाहरणतः अमेरिका ने डियागोरारसिया द्वीप पर अपना नौ सैनिक अड्डा स्थापित किया था। वह सामरिक दृष्टि से महत्वपूर्ण स्थान था। 1971 में भारत-पाक युद्ध के समय उसकी सहायता की जाने वाली थी लेकिन भारत ने उसका विरोध किया था।
- अफगानिस्तान-अमेरिका युद्ध के समय पाकिस्तान ने अमेरिका को अपनी भूमि के प्रयोग की सहमति प्रदान की थी। यद्यपि अमेरिका पाकिस्तान को पहले ही कृतज्ञ कर चुका है।
- अमेरिका शांति सैनिकों की तीसरी दुनिया के देशों की जानकारीयां उनके अनुभवों का उपयोग विदेश नीति के निर्माण में लेता है।

6. निष्कर्ष

इस प्रकार स्पष्ट है कि अमेरिका द्वारा शांति व मैत्री स्थापना तथा तीसरी दुनिया के विकास की दृष्टि से अमेरिकन पीस क्रॉप्स की स्थापना की गई और काफी हद तक वह अपने उद्देश्यों की तरफ सफलतापूर्वक अग्रसर हो रही है। यद्यपि इसके पीछे अमेरिकी कूटनीति भी निहित है लेकिन फिर भी इतिहास साक्षी है कि अमेरिकी पीस क्रॉप्स द्वारा बहुत महत्वपूर्ण कार्य किये गये हैं। अपेक्षा की जाती है कि निहित स्वार्थों से परे जाकर वह अपने वास्तविक उद्देश्यों की पूर्ति के लिए भविष्य में भी प्रयत्नशील रहेगी। एक कान्फ्रेंस में तत्कालीन निदेशक ने 1,20,000 अमेरिकी जो शांति सेना में भाग ले चुके थे के सामने यह कहा था कि "These Americans went forth as individual State of Liberty sent by their country as citizens in freedom. Their millions days of service by all those thousand in the cause of peace- or living mounment to all those who served to all those who were served (1986)."

ब.संयुक्त राष्ट्र शांति सेना

किसी भी 'शांति संगठन' का गठन इस उद्देश्य से किया जाता है कि वह भविष्य में युद्ध के संकट को न बनने दे, उसे टालने का प्रयास करे, और यदि युद्ध होता है तो विवादग्रस्त राष्ट्रों में शांति बहाली हेतु प्रयास करें। अंतर्राष्ट्रीय परिदृश्य में 'संयुक्त राष्ट्र शांति सेना' का गठन भी इसी उद्देश्य की पूर्ति हेतु किया गया है। द्वितीय विश्व युद्ध में गुटों की विभीषिका को झेल चुके विश्व के समक्ष 1956 में 'स्वेज नहर' विवाद के समय ऐसी परिस्थिति का निर्माण हुआ था कि यदि उस समय यू.एन.ई.एफ. संयुक्त राष्ट्रसंघीय आपातकालीन सेना, जो कि यू.पी.के.एफ. का प्रारम्भिक रूप था, का गठन नहीं होता तो शायद आज विश्व का स्वरूप वैसा नहीं होता, जैसा हम आज देख रहे हैं।

1.संयुक्त राष्ट्र शांति सेना का स्वरूप—संयुक्त राष्ट्र शांति सेना का अर्थ अंतर्राष्ट्रीय क्षेत्र में सभी सदस्य राष्ट्रों की ऐसी बड़ी सेना से है जो युद्धकाल में दो विवादित पक्षों के मध्य शांति बहाली का कार्य करती है। जिससे कि दोनों विवादित पक्ष किसी अंतर्राष्ट्रीय राजनैतिक कूटनीतिक वर्चस्व का शिकार न बन सके और दो पक्षों का युद्ध पूरे मानव समाज के लिए त्रासदी का कारण न बने। United Peace Keeping Force का मुख्य कार्य दोनों विवादित पक्षों के मध्य उभरे संघर्ष के कारणों की जांच-पड़ताल करना, उन्हें दूर करने के उपाय ढूँढना व दोनों विवादित पक्षों के मध्य शांतिपूर्ण सम्बन्ध बहाल करना है और इस कार्य हेतु जिन छोटे दलों का गठन किया जाता है जो कि संघर्ष के कारणों व निवारण के उपाय ढूँढते हैं, उन्हें "पीस आब्जर्वर"(Peace Observer) कहते हैं। उनका गठन सैनिक पदों पर कार्यरत सदस्यों अथवा किसी भी प्रशिक्षित नागरिकों द्वारा किया जाता है। यह किन्हीं भी राष्ट्रों के मध्य विवादों के निपटारे हेतु सीधे हस्तक्षेप नहीं करती वरन् दोनों अथवा दोनों में से एक पक्ष को इसके कार्य हेतु स्वीकृति देनी होती है। इसकी स्वीकृति मूलरूप से राजनैतिक आधार पर मिलती है व यह अपनी कुछ पूर्व निर्धारित शर्तों के आधार पर कार्य करती है।

इस प्रकार शांति बहाली की सम्पूर्ण प्रक्रिया को पीस कीपिंग फोर्स द्वारा व इस कार्य को करने हेतु दोनों विवादग्रस्त पक्षों के मध्य छोटे समूहों की सहायता से विवाद को दूर किया जाता है। संयुक्त राष्ट्र शांति सेना के अंतर्राष्ट्रीय क्षेत्र में शांति बहाली हेतु प्रमुख तीन घटक होते हैं। राष्ट्रों की सहायता से संघर्ष समाधान की सम्पूर्ण प्रक्रिया निष्पादित की जाती है। इस प्रकार शांति प्रक्रिया की बहाली में इन तीनों प्रकार के राष्ट्रों की भूमिका का मूल्यांकन इस प्रकार किया जा सकता है—

1.1 मेजबान राष्ट्र— दो विवादग्रस्त पक्षों के मध्य शांति बहाली हेतु जब राष्ट्रों की स्वीकृति मिल जाती है तब वह मेजबान राष्ट्रों के मध्य कलह शमन के उपाय खोजने हेतु पीस आब्जर्वर को नियुक्त करता है जो कि शांति बहाली का कार्य करते हैं किन्तु मेजबान राष्ट्रों द्वारा यू.एन.पीस कीपिंग फोर्स की सेवाएं लेने हेतु उक्त राष्ट्रों में निम्न अनिवार्यताओं का होना आवश्यक है—

- यू.एन.पीस कीपिंग फोर्स को आमंत्रित करने वाले राष्ट्र स्वायत्तता की दृष्टि से स्वतंत्र सम्प्रभू होने चाहिए वे किसी भी राष्ट्र के अधीन नहीं होने चाहिए।
- जिस राष्ट्र में अथवा जिन मेजबान राष्ट्रों में यह कार्यवाही की जाती है उसे यह लिखित स्वीकृति देनी होती है कि वह ऑपरेशन के समय स्वतंत्र रूप से कार्य कर सकती है तथा उसके शांति बहाली के कार्यों में वह राष्ट्र हस्तक्षेप नहीं करेगा।

- मेजबान राष्ट्रों द्वारा पीस कीपिंग फोर्स के कार्यों में तब तक किसी भी प्रकार का हस्तक्षेप नहीं किया जायेगा जब तक की उसकी कार्यवाही पूर्ण नहीं हो जाती है। यदि किन्हीं अंतर्राष्ट्रीय कारणवश वह ऐसा चाहते हैं तो पीस कीपिंग फोर्स के पास यह अधिकार सुरक्षित रहता है कि यह उक्त राष्ट्र पर अंतर्राष्ट्रीय दबाव बना सकती है कि कार्य समाप्ति से पूर्व वह अपनी स्वीकृति वापिस न लें।

किसी भी मेजबान राष्ट्र द्वारा विवाद शमन हेतु यू.एन. पीस कीपिंग को अपने देश में कार्यवाही हेतु आमंत्रित करने के पीछे निम्न कारण होते हैं—

- जब मेजबान राष्ट्र को अपनी सुरक्षा के सम्बन्ध में संयुक्त राष्ट्र सेना से यह सुनिश्चितता होती है कि उसे अंतर्राष्ट्रीय सुरक्षा प्रदान करने में सक्षम है।
- विशेष विवाद को अंतर्राष्ट्रीय ख्याति दिलाने का उद्देश्य की भावना से।
- यू.एन. पीस कीपिंग फोर्स को आमंत्रित करने के पीछे एक मुख्य कारण अंतर्राष्ट्रीय दबाव भी होता है जिसके भय से मेजबान राष्ट्र को ऐसा करने हेतु मजबूर होना पड़ता है अन्यथा कोई भी स्वतंत्र राष्ट्र अंतर्राष्ट्रीय हस्तक्षेप को स्वीकार नहीं करता क्योंकि यह उसकी सम्प्रभुता पर प्रश्न चिन्ह लगाने जैसी कार्यवाही होती है।
- कभी-कभी कोई राष्ट्र स्वयं के गृह युद्धों में शांति बहाली को स्थापित करने में स्वयं को कमजोर पाता है तभी वह इसे आमंत्रित कर सकता है।

उपरोक्त अर्हताओं के पूरा होने पर ही पीस कीपिंग फोर्स मेजबान राष्ट्रों के विवादों में शांति बहाली हेतु कार्य करती है अन्यथा नहीं करती है।

1.2 दाता राष्ट्र— पूर्ववत् उल्लेखित अनुसार यूनाइटेड पीस कीपिंग फोर्स, इसके सदस्य राष्ट्रों की सेनाओं का एक बड़ा संगठन है जिसमें सभी सदस्य राष्ट्र अपनी सेनाओं की भागीदारी अंतर्राष्ट्रीय शांति स्थापना हेतु भेजते हैं। दाता राष्ट्रों द्वारा इतनी खर्चीली पद्धति के आधार पर भी स्वयं की सेनाओं को यू.एन.पीस फोर्स के बैनर तले कार्यवाही हेतु निम्न कारणों से भेजा जाता है—

- दाता राष्ट्र अंतर्राष्ट्रीय क्षेत्र में स्वयं का वर्चस्व व ख्याति प्राप्त करने की इच्छा से ऐसा करते हैं तथा इसके पीछे उनकी मूल भावना अंतर्राष्ट्रीय जगत में स्वयं का दबदबा कायम करने की नीति भी होती है।
- कभी-कभी या बहुधा ये राष्ट्र यू.एन. पीस कीपिंग फोर्स में स्वयं के दशों की सैन्य भागीदारी के पीछे यू.एन.पीस कीपिंग फोर्स द्वारा शांति प्रबन्धन में अपनी हिस्सेदारी या अपनी भागीदारी की चाह रखने के पीछे इनका मूल उद्देश्य इस संगठन का हिस्सा बनके भविष्य में आने वाले युद्ध के संकटों का सामना करने हेतु इन राष्ट्रों की एकजुटता में स्वयं का हिस्सा जताना भी होता है। जिसके फलस्वरूप यदि कोई ऐसी संकटकालीन स्थितियां पैदा हो भी जाती है तो उस समय से यह इन राष्ट्रों से सहायता की अपेक्षा भी कर सकता है।
- कभी-कभी, विवादों का अपने देश की सीमा के आसपास होने के कारण भी इन्हें यू.एन. पीस कीपिंग फोर्स में दबाव के कारण अपने राष्ट्रों की सेनाएं दान देनी होती हैं तो यू.एन.पीस कीपिंग फोर्स का हस्तक्षेप उसके राष्ट्र में भी होने का खतरा बना रहता है। इसलिए भी दाता राष्ट्र अपनी सेवाएं देता है और कभी-कभी राष्ट्रों के समक्ष करो या मरो की दबाव का भय भी उसे ऐसा करने को प्रेरित करता है।
- यू.एन. के बैनर तले अपनी सेवाएं देने का एक कारण यह भी होता है कि वास्तव में मित्र राष्ट्रों की स्वायत्तता की रक्षा की भावना दाता राष्ट्र में होती है।
- उपरोक्त कारणों के साथ-साथ इन राष्ट्रों का छुपा उद्देश्य अंतर्राष्ट्रीय राजनीति में अपने हस्तक्षेप से होने वाले फायदों को ध्यान में रखकर भी उनके द्वारा सैन्य सेवाएं दी जाती हैं।

1.3 प्रायोजक राष्ट्र— यू.एन.पीस कीपिंग फोर्स में प्रायोजक की मुख्य भूमिका संयुक्त राष्ट्र संघ ही निर्वहन करता है। चूंकि इसकी अपनी स्वयं की कोई प्रशिक्षित सेनाएं नहीं होती हैं, अतः इन कार्यवाहियों पर होने वाले कार्यों का भार स्वयं दाता राष्ट्र ही उठाते हैं। ऐसी सेना के गठन के लिए संयुक्त राष्ट्रसंघ के पास ऐसा कोई भी आर्थिक प्रावधान नहीं है और न ही उसके पास इन बहुराष्ट्रीय सेनाओं

के लिए कोई आयोजित प्रशिक्षण विधिका प्रावधान है, यद्यपि संयुक्त राष्ट्र का इस ओर प्रयास जारी है। फिर भी चार्टर के अनुच्छेद 43 व 45 में इन सेनाओं की सेवाओं का उपयोग आपातकालीन परिस्थितियों में किया जा सकता है, इसका स्पष्ट उल्लेख है।

2.यूनाइटेड पीस कीपिंग की बाधाएं—यद्यपि यू.एन.पीस कीपिंग फोर्स का इतिहास इसके द्वारा की गई कार्यवाहियों का उल्लेख करता है किन्तु फिर भी कुछ ऐसी परिस्थितियां यह कमजोर पड़ जाता है या यह कहें की यह अपनी स्वतंत्र कार्यवाही में निम्न बाधाएं महसूस करता है—

- जब किसी भी राष्ट्र के विवाद में महाशक्ति का जुड़ाव होता है तो ऐसी परिस्थितियों में यह अपनी कार्यवाही स्वतंत्र रूप से नहीं कर सकता या करता ही नहीं है। क्योंकि इन विवादों का निपटारा करने में यह स्वयं को असफल पाता है।
- जब तक अंतर्राष्ट्रीय विवादों का निपटारा नियंत्रण से बाहर नहीं होता तब तक भी यह अपना हस्तक्षेप नहीं करता है।
- जब किसी युद्ध में भारी जानमाल का नुकसान होता है तब ही यह हस्तक्षेप करती है अन्यथा नहीं करती है।
- कोई भी विवाद जिसकी आशंका अथवा बहुत लम्बे समय से चल रहा तो तथा वह सुलझ न रहा हो। तभी यह हस्तक्षेप करती है अन्यथा नहीं करती है। उदाहरण के तौर पर, कांगो संकट के समय, स्वेज नहर विवाद, कोरिया संकट आदि कई ऐसे विवाद जो कि बहुत लम्बे समय तक चल सकते थे व विश्वयुद्धों का रूप ले सकते थे किन्तु इसके हस्तक्षेप से इनका समाधान किया गया।

3. यूनाइटेड पीस कीपिंग फोर्स के प्रभाव—उल्लेखनीय सफलताओं को दृष्टिगोचर रखते हुए इस संगठन के प्रभावों को निम्नलिखित रूप से दर्ज किया जा सकता है—

- यू.एन. पीस कीपिंग फोर्स यथासंभव अहिंसक ही बनी रहती है यद्यपि इनके पास आत्मरक्षार्थ हिंसा में संलग्न होने का अधिकार भी सुरक्षित रहता है किन्तु फिर भी यह इसका प्रयोग न के बराबर करने की यथासंभव कोशिश करते हैं।
- यह संघर्ष को यथास्थिति प्रारंभिक स्तर पर रोक देने का यथाशक्ति, यथासंभव प्रयास करता है जिससे कि संघर्ष अंतर्राष्ट्रीय संकट को पैदा न कर सकें।
- इसकी नीतियां प्रायः स्पष्ट एवं स्वीकार करने योग्य होती है जिसकी सहायता से यह संघर्ष को शीत युद्ध की परिस्थितियों से बाहर रखने का प्रयास करती हैं।
- यह संघर्ष को अंतर्राष्ट्रीय शांतिपूर्ण समाधान विधियों द्वारा सुलझाकर विवाद को अंतर्राष्ट्रीय ख्याति प्रदान करता है जिससे कि भविष्य में भी संघर्षरत पक्ष इससे सबक लें।
- यह दो राष्ट्रों के बीच के युद्धों में तीसरे के वर्चस्व का हस्तक्षेप रोकता है।
- यह विवादों को स्थगित कर भी देता है तथा धीरे-धीरे शांतिपूर्ण समाधान विधि द्वारा पुनः सम्बन्धों में सुधार लाने का प्रयास करता है।

स. शांति सेना

शांति स्थापना की समस्या आधुनिक युग की कठिनतम समस्या के साथ अनिवार्य आवश्यकता भी है। आज मानव को ऐसा ज्ञान व संस्कृति उपलब्ध है कि यदि वह उसका सदुपयोग करें तो जगत में शांति, स्वातंत्र्य व समत्व का अबाधित संचार कर सकता है। साथ ही यह भी सच है कि मानव को विज्ञान ने ऐसे शस्त्रास्त्र भी प्रदान किए हैं जो मानव जाति को समूल नष्ट करने में पूर्णतः नष्ट करने में सक्षम है। यह जानते हुए कि युद्ध मानव का विनाश है और इससे मानव का विनाश अवश्यभावी है, आज सारा जगत हिंसा व युद्ध के उन्माद में मदमस्त है। यह सब जानते हैं कि हिंसक साधनों से मानव व विश्व का कल्याण संभव नहीं है न ही हिंसा से किसी समस्या का निराकरण हो सकता है क्योंकि हिंसक साधनों की निरर्थकता सिद्ध हो चुकी है, और हिंसा से हिंसा ही जन्म ले रही है। मानव जाति को चाहिए कि जगत के कल्याण के लिए प्रेम व अहिंसा पर आधारित समाज रचना के लिए पूरी शक्ति से जूट जाए। गांधी ने कहा—लोकतंत्र और हिंसा दोनों साथ-साथ नहीं चल सकते, इसलिए यदि हमें

लोकतंत्र प्रिय है तो अहिंसा को अपनाना होगा, प्रत्येक को शांति प्रिय बनना होगा। लोकतंत्र को फलित रखने के लिए तथा मानवता की रक्षा करने के लिए गांधी ने हिंसक सेना के विकल्प में 'शांति सेना' का विचार रखा।

1. शांति सेना का उद्भव—गांधीजी ने एक ऐसी सेना की कल्पना की थी जो विभिन्न विवादों का शांतिपूर्ण समाधान कर सके तथा पुलिस, सेना का स्थानापन्न हो सके। अहिंसक समाज व अहिंसक तरीकों से शांति की स्थापना का सिद्धान्त इसकी पृष्ठभूमि में था। शांति सेना का उद्गम एक प्रकार से दक्षिण अफ्रीका में ही हो चुका था, जब गांधीजी ने अपनी सत्याग्रही दल के लिए अहिंसक सेना शब्द का प्रयोग किया। फिर गहन विचार के बाद 1937-38 में इस अहिंसक सेना के विचार ने ही उस समय 'शांति सेना' का रूप ग्रहण किया, जब गुजरात के अहमदाबाद में साम्प्रदायिक दंगा भड़का।

शांति सेना गांधीजी की मौलिक देन है। शांति सेना सेवा और शांति, सृजन और रचना का संगठन है। गांधीजी के निजी सचिव प्यारेलाल ने लास्ट फेज नामक पुस्तक में शांति सेना को व्यापक वैचारिक आधार प्रदान किया है। शांति सेना के गठन के समय विचार आया कि किसी भी तरह की अहिंसा को संगठन की जरूरत नहीं होती है तो शांति सेना की आवश्यकता क्यों है? इस सम्बन्ध में गांधीजी ने 18 अगस्त, 1940 को 'हरिजन' में लिखा है कि—पूर्ण अहिंसक व्यक्ति जो चाहेगा वह होकर रहेगा पर अभी तक पूर्ण अहिंसा की प्राप्ति नहीं हुयी है। इसलिए अहिंसक संगठन की जरूरत है। गांधीजी ने आत्मशक्ति के साथ-साथ जन शक्ति की उपेक्षा नहीं की थी। उनका मानना था कि असाधारण व्यक्ति भी जनता की सामूहिक शक्ति द्वारा ही प्रतिष्ठित और समर्थ बनता है। इसलिए जन शक्ति को साथ लेकर चलने के उद्देश्य से उन्होंने शांति सेना के संगठन की वकालत की।

2. शांति सेना के उद्देश्य—गांधीजी की शांति सेना का मुख्य उद्देश्य किसी भी विवाद या तनाव का शांतिपूर्ण समाधान करना है। गांधीजी ने शांति सेना के उद्देश्यों को स्पष्ट करते हुए कहा कि इस सेना का उद्देश्य सभी स्थानों पर होने वाले तनाव पर आधारित विस्फोटों को रोकना है व यदि कहीं हिंसा घटित हो जाए तो अहिंसक शक्ति से उनका सामना करना है। सामान्यतः शांति सेना के निम्न उद्देश्य स्पष्ट होते हैं—

- कौमी दंगों के तनाव को कम करना।
- हिंसक संघर्ष को अहिंसक तरीकों से रोकना।
- मानव-मानव के बीच भेदभाव की दीवारों को समाप्त कर मानवता स्थापित करना तथा मानवीय एकता स्थापित करना।
- अहिंसक विधायक शक्ति का निर्माण करना जिससे सहकारिता का विकास हो व संघर्ष विहीन समाज की रचना संभव हो।

गांधीजी का मानना था कि हिंसक साधनों से हिंसा की ही प्रबलता बढ़ती है। इसलिए शांति सैनिकों के पास प्रेम व अहिंसा के परम शस्त्र हैं। इस सम्बन्ध में गांधीजी ने कहा कि शांति सेना की असली कसौटी ही अहिंसा है, यदि वह इस कसौटी पर खरी उतर सके तो इस शक्ति के माध्यम से संगठित हिंसा का मुकाबला किया जा सकेगा। मूलतः शांति सेना का विचार पुलिस व सेना का स्थानापन्न बनना था। यदि यह सेना सफल हो जाए तो गांधी का मानना था कि संघर्षों के विरुद्ध शांतिपूर्ण ढंग से लड़ने की शक्ति स्वयं ही पैदा हो जाएगी।

गांधीजी ने शांति सेना के प्रारंभ से लेकर आगे तक शांति सेना पर विचार किए व व्यापक रूप प्रदान करने हेतु अनेक प्रयत्न किए किन्तु बीच में ही उनके देहावसान के कारण वे अपने मनोकूल विचार शांति सेना के बारे में नहीं रख पाए। उनकी मृत्युपरांत विनोबा भावे ने 23 अगस्त, 1957 को गांधीजी की शांति सेना को पुनः व्यवस्थित रूप प्रदान किया। विनोबा भावे ने अपने ग्रामदान कार्यक्रम के दौरान कौमी दंगों की संभावना को रोकने के लिए केरल के कून्नूर जिले के मंजवेश्वर गांव में शांति सेना की स्थापना की। उस अवसर पर उन्होंने कहा—“शांति-सेना की स्थापना हो चुकी है। बापू उसके प्रथम सैनिक थे और सेनापति भी। सेनापति के नाते उन्होंने आज्ञा दी और सैनिक के नाते उसका पालन करके चले भी गए।” प्रथम दिन केरल में इसके 8 सैनिक बने थे और बाद में 1960 तक यह संख्या हजारों तक पहुंच गयी थी। जिस प्रकार देश के साम्प्रदायिक झगड़े को देखकर गांधीजी के मन

में शांति सेना का विचार उत्पन्न हुआ, उसी प्रकार आचार्य विनोबा भी तत्कालीन वर्तमान कौमी दंगों से चिंतित हुए और इस ओर चिंतन आरम्भ किया तो परिणाम “शांति सेना” ही सामने आया।

3. शांति सैनिक की अर्हताएं—शांति का वह संगठन जो मात्र अशांति के दिनों में ही नहीं बल्कि शांति के दिनों में भी शांति स्थापना यानि समाज में शांति के लिए प्रेममय वातावरण तैयार करने में लगी रहे वह “शांति सेना” कही जाएगी। अर्थात् अहिंसक समाज व विश्व रचना के लिए जो संगठन अस्तित्व में आए वह शांति सेना है। गांधीजी ने शांति सेना की अवधारणा प्रस्तुत करते हुए शांति सेनानियों की योग्यताएं भी निर्धारित की जो निम्न हैं—

- बापू द्वारा प्रणीत शांति सेना के सैनिक के लिए प्रथम ओर प्रमुख योग्यता तो यह है कि वह अहिंसा का पालन करता हो। इस सम्बन्ध में यह महत्वपूर्ण तथ्य है कि वह अहिंसा का पालन किसी दबाव या शर्त के रूप में ना करे बल्कि उसका अहिंसा में अटूट विश्वास होना, श्रद्धा होना आवश्यक है। गांधी के विचार में यह तभी संभव है जब वह ईश्वर का पुजारी हो, भक्त हो, ईश्वर में अटल विश्वास हो।
- इस सम्बन्ध में यह भी प्रश्न उभर कर आया कि क्या अनिश्चरवादी शांति सैनिक नहीं हो सकते? प्रत्युत्तर में गांधीजी ने कहा कि जो जीव तत्त्व, समाज व्यवस्था व अपने अस्तित्व में विश्वास करता है वह शांति सैनिक हो सकता है। नियतिवाद की जगह पुरुषार्थवाद में विश्वास भी ईश्वर में विश्वास है।
- शांति सैनिक धर्म दूत के रूप में अपने धर्म के प्रति निष्ठा के साथ अन्य धर्मों का भी आदर करे, सम्मान करें। इस संदर्भ में यह जरूरी है कि उसे सभी धर्मों का सामान्य व व्यावहारिक ज्ञान होना चाहिए अन्यथा धर्म सिद्धान्तों की जानकारी के अभाव में उसकी श्रद्धा डगमगा सकती है।
- शांतिदूत में योग्यता होनी चाहिए कि वह अपने सेवाभाव द्वारा अपने कार्यक्षेत्र में अपनी एक विशेष पहचान बना ले। वह योग्यता उसके नम्र, विनयशील विचारों द्वारा उसमें आएगी।
- सैनिकों का जीवन पूर्णतया विशुद्ध व सादगीपूर्ण होना चाहिए क्योंकि इसी से ही आत्मोत्सर्ग की भावना पनपती है। यह आत्मोत्सर्ग राष्ट्रहित, विकास के लिए या उस उद्देश्य के लिए वे कार्य कर रहे हैं, उसकी पूर्ति के लिए होता है। गांधीजी ने कहा था कि राष्ट्र निर्माण का संदिग्ध रूप से निःस्वार्थता व आत्मशुद्धि व आत्मोत्सर्ग है।
- शांति सैनिकों को शराब व अन्य मादक पदार्थों के सेवन से बचना चाहिए।
- शांतिदूत अनिवार्य रूप से खादी पहनेंगे व चरखा चलायेंगे।
- शांति सैनिक को सेवा सम्बन्धी कार्यों को करने में निपुण रहना चाहिए, इसके लिए उन्हें इनसे सम्बन्धित शिक्षा व प्रशिक्षण प्राप्त होना चाहिए।
- शांति सैनिकों के लिए यह आवश्यक है कि वे किसी भी प्रकार का अस्त्र—शस्त्र या हथियार नहीं रखेंगे।
- शांति सैनिक में क्षमता होनी चाहिए कि उपद्रव मात्र की भनक मिली ही उन्हें दौड़ पड़ना होगा और उपद्रव के तनावपूर्ण वातावरण यानि शुरुआत के लक्षण और कारण का ही शमन कर उपद्रव को होने से ही रोक देगा।
- उनके लिए जो भी नियम/कानून निर्धारित किए गए हैं वे उनका पालन हर दशा में करेंगे। व्रत का पालन उनके लिए अनिवार्य है। इसके साथ ही यह प्रावधान रखा गया है कि यदि कोई नियम उनके मूल्यों पर चोट करता हो तो वे उस नियम को मानने को बाध्य नहीं हैं।

गांधीजी ने शांति सेना गठित करने के तरीकों को बतलाते हुए कहा कि इसके लिए गठित दल छोटा ही होगा, जिसका कार्यक्षेत्र भी यथासंभव सीमित ही होगा। क्योंकि शांति सेना की कार्यविधि में घनिष्ठ सम्बन्ध होना व चरित्रवान होना जरूरी है, व यह कम संख्या में ही संभव है। इस सेना का न कोई नेता होगा न ही कोई सिपाही, हालांकि सैनिक चाहे तो अपना नेता चुन सकते हैं। इसमें सभी को एक बराबर माना गया है।

4. शांति सेना के लिए निर्धारित कार्य—गांधी द्वारा प्रणीत शांति सेना को विनोबा ने व्यापक व विस्तृत रूप प्रदान करने में उल्लेखनीय भूमिका अदा की है। विनोबा ने 1957 में शांति सेना के निम्न कार्य बताए—

- भारतीय शहरी व ग्रामीण दंगों को रोकना।
- शांति स्थापना के लिए मध्यस्थ के रूप में कार्य करना।
- शांति की आवश्यकता पर जनता से बातचीत करना।
- दंगों के लिए फैलने वाली अफवाहों का पता लगाना।
- दंगों के मुक दर्शक न बनकर, दंगाइयों के बीच घुसकर उसे रोकना।
- समाज व राष्ट्र के पुनर्निर्माण के लिए कार्य करना।

5. शांति सेना द्वारा किए गए कार्य—यह स्पष्ट है कि शांति सेना का व्यवस्थित रूप गांधी के जीवन काल में नहीं आ पाया था। 1938 में केरल में विश्वविद्यालय की प्रांतव्यापी हड़ताल, इन्दौर के छात्र आंदोलन व 1938 में ही बिहार के कौमी दंगों के समय भी हिन्दू मुस्लिम एकता स्थापित करने के लिए गांधी शांति-सेना ने कार्य किया। इसके बाद गांधीजी ने शांति सेना का नाम Non Violent Peace Corps रखा व उसे भी परिवर्तित कर Peace Brigads कर दिया गया। इसके पश्चात् काफी लम्बे अंतराल तक इस सेना द्वारा कोई कार्य नहीं किया गया। 1957 में विनोबा द्वारा इस सेना को व्यवस्थित रूप देने के बाद 1960 में इसके कई सक्रिय कार्यकर्ता बने। 1960 में भारत चीन युद्ध के समय शांति सैनिकों ने शांति प्रयासों के साथ पुनर्निर्माण के कार्य भी किए। 1961 में बैरुत लेबनान में हुए एक अंतर्राष्ट्रीय सम्मेलन में World Peace Brigade के निर्माण पर सहमति हुयी पर यह शांति सेना आगामी 2-3 वर्षों तक कोई कार्य नहीं कर सकी। 1963-1964 में Peace Keeping March किया गया जिसमें इसके 17 सदस्यों ने स्थानीय लोगों के साथ मिलकर चीन की सीमा तक मार्च किया। 1964 में नागालैण्ड पीस मिशन भी इस World Peace Brigade का हिस्सा बन गया व दोनों ने मिलकर 1964 में नागा आदिवासियों को गुरिल्लों से बचाने के लिए भारत सरकार की मदद की। इसके बाद पुनः यह मिशन लम्बे समय तक शिथिल पड़ गया व अंतर्राष्ट्रीय जगत में इसे लगभग भुला सा दिया गया। 1970 के दशक में अफगान इरान के संकट के समय यह पुनः सक्रिय हुयी व Adhoc Brigade का निर्माण किया गया जिसने ईरान, मध्यपूर्व एवं मध्य अमेरिका के लिए कार्य किया। 1972-1974 में ग्रीक व तुर्की के बीच हुए साइप्रस सैटलमेण्ट में शरणार्थियों के पुनर्वास के लिए भी इसने व्यापक स्तर पर कार्य किया। 1981 में कनाडा में एक अंतर्राष्ट्रीय सम्मेलन आयोजित हुआ जिसमें विनोबा के आह्वान पर Peace Brigade International के नाम से पुनः शांति सेना का नामकरण हुआ। इसके भी वही सामान्य कार्य निर्धारित किए गए व साथ ही यह कार्य भी जोड़ा गया कि युद्ध क्यों होते हैं, इसकी खोज करना। 1983 में निकारागुआ व 1985 में ग्वाटेमाला में पुनर्वास व पुनर्निर्माण के कार्य किए हैं। इसके पश्चात् 1985 नागालैण्ड के पीस मिशन के बाद अब तक कोई उल्लेखनीय कार्य नहीं किया है। यद्यपि भारत पाकिस्तान में शांतिपूर्ण सम्बन्धों की बहाली के लिए 2004 में निर्मला देशपाण्डे के नेतृत्व में पीस मार्च का आयोजन किया गया। विनोबा की मृत्यु के बाद नारायण देसाई ने शांति सेना के कार्य को अपने हाथों में लिया व आज भी ये ही इस सेना के सर्वेसर्वा हैं।

नारायण देसाई ने एक साक्षात्कार में कहा कि सेना ने उल्लेखनीय सफलताएं अर्जित की हैं। 1964 में शांति सेना एक शांति मार्च उस स्थान पर निकाला गया था जहां हिंसा का ताण्डव हुआ था। हिंसा के उस भय को दूर करने के लिए यह श्रेष्ठ उपाय सिद्ध हुआ और वहां की वे सभी दुकानें इस आधार पर खुल गयी कि अब शांति सेना आ गयी है। इसी प्रकार उड़ीसा में इसाई व मुस्लिम के बीच भी शांति स्थापना में महत्वपूर्ण योगदान दिया। नारायण देसाई के अनुसार शांति सेना अनेक बाधाओं में काम करती हैं। शांति सैनिक चूंकि अधिकतर गांवों में रहते हैं जबकि संघर्ष अधिकतर नगरी व शहरी क्षेत्र में होते हैं। यातायात व संचार की पर्याप्त रूप से व्यवस्था न हो पाने के कारण ये संघर्षरत स्थान पर समय पर नहीं पहुंच पाते हैं। परिणाम से शांति सेना उस समय पहुंचती जब पूरी हिंसा खत्म हो चुकी होगी। और इसकी सफलता के रूप में शीघ्र खत्म होने वाली सक्रिय लड़ाई को लाया गया और उन सेवारत समुदायों की ओर समाधान की ओर ले जाया जाता। पर ऐसा भी समय आया जब संघर्ष को टाला गया व यह तब हुआ जब शांति सेना एक लम्बे समय तक एक क्षेत्र में रह चुके थे। शांति सेना ने स्थितियों को संभाला, सही लोगों से बात की और विद्रोह को रोका गया। निःसंदेह इस तरह के मामलों में शांति सेना को कोई श्रेय नहीं मिलता क्योंकि ऐसी चीजें सामान्यतः होती थी कि जनता नहीं जानती थी कि वहां कोई विद्रोह को संभाला है।

यह सच है कि अहिंसा का वृहद रूप देश और अहिंसा की इतनी व्यापक तैयारी शीघ्र संभव नहीं। अतः आवश्यकता इस बात की है कि एक-एक व्यक्ति को आंतरिक अंशाति के लिए जिम्मेदार महसूस कराना होगा। अहिंसक समाज की रचना से ही शांति सेना तत्परता से कार्य करेगी और हम राष्ट्र की सीमाओं से ऊपर उठकर निःशस्त्र व शांतिमय जगत की बुनियाद रख सकेंगे। तब हम गांधी की सेना का यथार्थ रूप प्रस्तुत करने में सक्षम हो पायेंगे।

द. संयुक्त राष्ट्र संघ

संयुक्त राष्ट्र संघ की स्थापना ऐसे समय में हुई जब द्वितीय महायुद्ध अपने भीषणतम रूप में सारे विश्व को आतंकित कर रहा था। जर्मनी, इटली और जापान के धुरी-राष्ट्रों की सम्मिलित शक्ति का सामना करने में ब्रिटेन, अमरीका तथा अन्य मित्र-राष्ट्रों की सारी शक्ति लगी हुई थी। युद्ध केवल कुछ राष्ट्रों की प्रतिष्ठा के लिए ही नहीं लड़ा जा रहा था। धुरी-राष्ट्रों की बढ़ी हुई सैनिक शक्ति वास्तव में प्रजातंत्र और मानवीय अधिकारों के लिए संकट का संकेत कर रही थी। इस युद्ध में यदि धुरी-राष्ट्रों की विजय होती तो निश्चय ही समस्त विश्व पर उसका व्यापक प्रभाव पड़ता और संभव है स्वाधीनता और प्रजातंत्र के ऊँचे आदर्शों को भारी आघात पहुँचता।

संयुक्त राज्य अमरीका के सेनफ्रांसिस्को नगर में 1 जनवरी, 1942 को ब्रिटेन, सोवियत संघ, चीन तथा अन्य 26 मित्र-राष्ट्रों के प्रतिनिधियों का एक सम्मेलन हुआ जिसमें यह निर्णय हुआ कि ये राष्ट्र सम्मिलित होकर धुरी-राष्ट्रों का सामना करेंगे। इस संगठन को 'संयुक्त राष्ट्र' अथवा 'यूनाइटेड नेशन्स' का नाम अमरीका के तत्कालीन राष्ट्रपति फ्रैंकलिन डी रूजवेल्ट द्वारा प्रदान किया गया। 1 जून, 1945 को आगे चलकर सेनफ्रांसिस्को में संयुक्त राष्ट्रों का सम्मेलन हुआ तो इसके सदस्यों की संख्या 50 हो चुकी थी। इस सम्मेलन में 'संयुक्त राष्ट्र' के घोषणा-पत्र को अंतिम रूप दिया गया और संयुक्त राष्ट्र की औपचारिक स्थापना इसके अस्थायी मुख्यालय लेक सैक्ससेस (अमरीका) में हुई। अधिकार-पत्र पर 50 राष्ट्रों के प्रतिनिधियों द्वारा 26 जून, 1945 को हस्ताक्षर किये गये, पोलैण्ड का प्रतिनिधित्व अधिवेशन में नहीं हुआ था। उसने बाद में इस पर हस्ताक्षर किये और वह 51 सदस्य राज्यों में से एक मूल सदस्य बन गया। अधिकारिक रूप में संयुक्त राष्ट्र संघ, इंग्लैण्ड तथा अमरीका तथा बहुसंख्यी अन्य हस्ताक्षरकर्त्ताओं द्वारा की गई थी; 24 अक्टूबर प्रतिवर्ष संयुक्त राष्ट्र संघ दिवस के रूप में मनाया जाता है। 1946 से संयुक्त राष्ट्र संघ का प्रधान कार्यालय न्यूयार्क में है और इसके सदस्यों की वर्तमान संख्या 185 है। सदस्यों की संख्या को देखते हुए अब यह कहा जा सकता है कि प्रायोजकों की कल्पना के अनुरूप संयुक्त राष्ट्र सहज रूप में सार्वभौमिक अंतर्राष्ट्रीय संगठन बन गया है। आज संयुक्त राष्ट्र, उसके 18 विशेष अभिकरण एवं 14 मुख्य कार्यक्रम और निधियां विश्व के प्रत्येक कोने के प्रायः सभी मानवों से सम्बद्ध हैं। वह विश्व का अंतःकरण और आशा का केन्द्र बना हुआ है।

1. संयुक्त राष्ट्र संघ : स्थापना—यह एक विचित्र बात है कि मानव समाज के आचरण में युद्ध एवं शांति, विध्वंस तथा निर्माण के बीज साथ-साथ निहित हैं। नेपालियनाई युद्धों के बाद एलायंस, प्रथम विश्व-युद्ध के बाद राष्ट्र संघ तथा द्वितीय विश्व-युद्ध के बाद संयुक्त राष्ट्र संघ की स्थापना इसके प्रमाण हैं। प्रथम विश्व-युद्ध के पश्चात् संयुक्त राष्ट्र संघ की स्थापना में वैसी ही भूमिका एक अन्य अमरीकी राष्ट्रपति फ्रैंकलिन रूजवेल्ट की थी। रूजवेल्ट की ही इस अंतर्राष्ट्रीय संगठन की स्थापना की आवश्यकता की रूपरेखा प्रस्तुत की। रूजवेल्ट ने इस बात पर बल दिया कि भावी विश्व संगठन का आधार महाशक्तियों की पूर्ण मतैक्य होना चाहिए। उसने सोवियत संघ, ब्रिटेन तथा अन्य मित्र शक्तियों को इस बात पर सहमत किया कि विश्व संस्था के निर्माण की तैयारी युद्ध-काल में ही शुरू कर दी जाय। उसने कहा कि इससे मित्र-राष्ट्रों को युद्ध जीतने के लिए नैतिक समर्थन तथा संबल प्राप्त होगा।

30 अक्टूबर, 1943 को संयुक्त राज्य अमरीका, इंग्लैण्ड तथा सोवियत संघ की सरकारों ने अपने-अपने परराष्ट्र मंत्रियों के माध्यम से एक संयुक्त घोषणा की। इस घोषणा में कहा गया कि जितनी जल्दी संभव हो सके, एक अंतर्राष्ट्रीय संगठन की स्थापना करने की आवश्यकता वे महसूस करते हैं, यह संगठन सभी शांतिप्रिय राष्ट्रों की संप्रभुता पर आधारित होगा। ऐसे सभी छोटे-बड़े राज्य इसके सदस्य बन सकेंगे। इसका उद्देश्य अंतर्राष्ट्रीय शांति एवं सुरक्षा कायम करना होगा। संयुक्त राष्ट्र के निर्माण के सम्बन्ध में आगे विचार करने के लिए ईरान की राजधानी तेहरान में एक महत्वपूर्ण सम्मेलन हुआ।

राष्ट्रपति रुजवेल्ट एवं मार्शल स्टालिन प्रथम बार आपस में मिले। सब राष्ट्रों के सहयोग से विश्व में शांति स्थापित करने की भावना को दोहराया गया। उनका विश्वास था कि संयुक्त राष्ट्र के निर्माण के बाद संसार का प्रत्येक व्यक्ति सुखी एवं स्वतंत्र जीवन—यापन कर सकेगा।

संयुक्त राष्ट्र की रूपरेखा का निर्माण करने के लिए बड़े राष्ट्रों के प्रतिनिधियों का सम्मेलन 21 अगस्त, 1944 वाशिंगटन के डम्बार्टन ऑक्स भवन में आयोजित किया गया जो 7 अक्टूबर, 1944 तक चला। इस सम्मेलन में यह स्वीकार कर लिया गया कि संयुक्त राष्ट्र का कार्यक्षेत्र केवल अंतर्राष्ट्रीय शांति एवं सुरक्षा बनाये रखने तक ही सीमित न रखा जाय बल्कि उसका कार्य आर्थिक एवं सामाजिक प्रश्नों पर अंतर्राष्ट्रीय सहयोग को बढ़ावा देना भी होना चाहिए। प्रस्तावित विश्व संगठन के संदर्भ में सोवियत संघ का दृष्टिकोण यह था कि संयुक्त राष्ट्र में बड़ी शक्तियों की प्रभावशाली एवं निर्णयात्मक भूमिका को स्पष्ट रूप से स्वीकार कर लिया जाय। सोवियत संघ का विचार था कि वाद—विवाद करने वाली सभाओं में छोटे राष्ट्रों को भी समान अधिकार दिये जा सकते हैं। उसने इस बात पर जोर दिया कि शांति एवं सुरक्षा के क्षेत्र में सभी महत्वपूर्ण निर्णयों के लिए बड़ी शक्तियों का एकमत होना अत्यन्त आवश्यक है। डम्बार्टन ऑक्स प्रस्तावों में ऐसे अंतर्राष्ट्रीय संगठन की कल्पना की गयी जिसमें पुराने राष्ट्र संघ की त्रुटियों से सबक लिया जा सके। यहां पर राष्ट्र के प्रमुख अंगों—महासभा, सुरक्षा परिषद, सचिवालय एवं अंतर्राष्ट्रीय न्यायालय के सम्बन्ध में निर्णय लिया गया। डम्बार्टन ऑक्स प्रस्तावों में महासभा एवं सुरक्षा परिषद की कार्यप्रणाली पर तो सहमति हो गयी परन्तु सुरक्षा परिषद में मतदान प्रणाली के सम्बन्ध में सोवियत संघ एवं पश्चिमी शक्तियों के मध्य मतभेद बने ही रहे।

संयुक्त राष्ट्र के बारे में अनेक महत्वपूर्ण निर्णय सोवियत संघ के प्रदेश क्रीमिया के याल्टा नगर में लिये गये। 4 फरवरी, 1944 को स्टालिन, चर्चिल तथा रुजवेल्ट का एक शिखर सम्मेलन याल्टा में प्रारंभ हुआ। सुरक्षा परिषद में मतदान प्रणाली पर महत्वपूर्ण निर्णय याल्टा सम्मेलन में ही संभव हो सका। अमरीका ने 5 मार्च, 1945 को सोवियत संघ, ब्रिटेन तथा चीनी गणतंत्र की ओर से याल्टा सम्मेलन के निर्णय के अनुसार 51 अन्य राष्ट्रों को आमंत्रित किया। अमरीका के सेनफ्रांसिस्को नगर में एक नया अधिकार—पत्र स्वीकार किया गया जिसे संयुक्त राष्ट्र संघ का चार्टर कहा जाता है। चार्टर के अनुच्छेद 110 में यह कहा गया था कि सोवियत संघ, फ्रांस, अमरीका, चीन गणराज्य तथा शेष राज्यों के अधिकांश राज्यों की सरकारों द्वारा स्वीकृति प्रदान करने के उपरान्त चार्टर लागू माना जायेगा। 24 अक्टूबर, 1945 तक यह शर्त सम्पन्न हो गयी एवं इसी तिथि को संयुक्त राष्ट्र का प्रादुर्भाव हुआ। संयुक्त राष्ट्र चार्टर ने जिस संगठन को जन्म दिया वह राष्ट्र संघ से बहुत अधिक भिन्न था परन्तु अनेक कारणों से विश्व के सभी देश राष्ट्र संघ को स्मरण ही नहीं करना चाहते थे। राष्ट्र संघ के साथ असफलता का कलंक जुड़ा हुआ था, उसके साथ लगी हुई बदनामी और उसके संविधान की कुछ मौलिक त्रुटियां थीं, इनका निराकरण राष्ट्र संघ से भिन्न एक नयी तथा अधिक शक्तिशाली संस्था से ही हो सकता था।

वस्तुतः संयुक्त राष्ट्र संघ के अभ्युदय की कहानी मित्र—राष्ट्रों के मध्य वार्तालाप तथा विचारों के आदान—प्रदान, युद्ध के समय हुए सम्मेलनों से जुड़ी हुई है जिनमें अनेक अंतर्राष्ट्रीय अनुबंध किये गये। इसके साथ ही साथ परोक्ष रूप में अंतर्राष्ट्रीय लोकमत जो अंतर्राष्ट्रीय स्थिति के कारण एक समन्वित रूप ले रहा था, ने भी इसकी स्थापना और इसके विकास में अपना योगदान दिया है।

2. संयुक्त राष्ट्र संघ के उद्देश्य—संयुक्त राष्ट्र संघ के चार्टर की प्रस्तावना में इसका उद्देश्य इस प्रकार है—

“हम संयुक्त राष्ट्रों की जनताओं ने यह निश्चय किया है:

भावी पीढ़ियों को उस युद्ध की पीड़ा और कष्टों से बचाने का जिसके कारण हमारे जीवन में दो बार मानव जाति को अपार दुःख भोगना पड़ा;

आधारभूत मानवीय अधिकारों, मानव प्रतिष्ठा और महत्त्व, स्त्री—पुरुषों तथा छोटे—बड़े राष्ट्रों के समान अधिकारों में अपनी निष्ठा की पुनः पुष्टि करने का, और ऐसी परिस्थितियां उत्पन्न करने का, जिनसे संधियां एवं अन्य अंतर्राष्ट्रीय कानूनों के अंतर्गत आने वाले उत्तरदायित्वों के प्रति न्याय और सम्मान का दृष्टिकोण ग्रहण किया जा सके;

और अधिक विस्तृत स्वतंत्रता के वातावरण में सामाजिक प्रगति को बढ़ावा देने तथा जीवन-यापन के अधिक उत्तम मानदण्ड स्थापित करने का;

और इन लक्ष्यों की पूर्ति के लिए सहिष्णुता बरतने, अच्छे पड़ोसी की तरह एक-दूसरे के साथ शांतिपूर्वक रहने;

और अंतर्राष्ट्रीय शांति एवं सुरक्षा की स्थापना हेतु अपनी शक्ति को एकजुट करने;

और सिद्धान्तों एवं कार्यप्रणाली का निर्धारण कर इस बारे में पूर्ण आश्वस्त होने का कि व्यापक और समान हित को छोड़कर अन्य किसी परिस्थिति में सशस्त्र सेनाओं का उपयोग नहीं किया जायेगा।”

इसी के अनुसार, “हमारी अपनी सरकारें संयुक्त राष्ट्र संघ के वर्तमान चार्टर से सहमत हो गयी है तथा इसके द्वारा एक अंतर्राष्ट्रीय संगठन स्थापित करती हैं जो संयुक्त राष्ट्र संघ कहलायेगा।”

संयुक्त राष्ट्र संघ के चार्टर के प्रथम अनुच्छेद में उसके उद्देश्यों का वर्णन इस प्रकार किया गया है—

“अंतर्राष्ट्रीय शांति और सुरक्षा स्थापित करना, राष्ट्रों के बीच जन-समुदाय के लिए समान अधिकारों तथा आत्म-निर्णय के सिद्धान्त पर आधारित मित्रतापूर्ण सम्बन्धों का विकास करना, आर्थिक, सामाजिक अथवा मानव जाति के लिए प्रेम आदि अंतर्राष्ट्रीय समस्याओं को सुलझाने में अंतर्राष्ट्रीय सहयोग प्राप्त करना तथा इन सामान्य उद्देश्यों की पूर्ति के लिए राष्ट्रों के कार्यों को समन्वित करने के उद्देश्य से एक केन्द्र का कार्य करना।”

संक्षेप में चार्टर के अनुसार संयुक्त राष्ट्र संघ के चार प्रमुख उद्देश्य हैं:

- सामूहिक व्यवस्था द्वारा अंतर्राष्ट्रीय शांति एवं सुरक्षा कायम रखना और आक्रामक प्रवृत्तियों को नियंत्रण में रखना;
- अंतर्राष्ट्रीय विवादों का शांतिपूर्ण समाधान करना;
- राष्ट्रों के आत्म-निर्णय और उपनिवेशवाद विघटन की प्रक्रिया को गति देना;
- सामाजिक, आर्थिक, सांस्कृतिक एवं मानवीय क्षेत्रों में अंतर्राष्ट्रीय सहयोग को प्रोत्साहित एवं पुष्ट करना।

संघ ने इन उद्देश्यों से जुड़े हुए दो और लक्ष्य भी निर्धारित किये हैं। वे हैं—‘निशस्त्रीकरण’ और ‘नई अंतर्राष्ट्रीय आर्थिक व्यवस्था’ की स्थापना।

3. संयुक्त राष्ट्र संघ : सिद्धान्त—संयुक्त राष्ट्र संघ के चार्टर की धारा 2 में इसके मौलिक सिद्धान्त बताये गये हैं—

- इसका प्रधान आधार छोटे-बड़े सब देशों की समानता और सर्वोच्च सत्ता का सिद्धान्त है।
- सब सदस्यों से यह आशा रखी जाती है कि वे चार्टर द्वारा उन पर लागू होने वाले दायित्वों का पालन पूरी ईमानदारी से करेंगे।
- सभी सदस्य अंतर्राष्ट्रीय झगड़ों का निपटारा शांतिपूर्ण साधनों से करेंगे।
- सभी राष्ट्र संयुक्त राष्ट्र संघ के उद्देश्यों के प्रतिकूल कोई कार्य नहीं करेंगे, वे किसी देश की स्वतंत्रता का हनन करने की या आक्रमण करने की न तो धमकी देंगे और न ऐसा कार्य करेंगे।
- कोई भी देश चार्टर के प्रतिकूल काम करने वाले देश की सहायता नहीं करेगा।
- संयुक्त राष्ट्र संघ, इसका सदस्य न बनने वाले राज्यों से भी अंतर्राष्ट्रीय शांति और सुरक्षा बनाये रखने वाले सिद्धान्त का पालन करायेगा।
- संयुक्त राष्ट्र संघ किसी देश के घरेलू मामलों में हस्तक्षेप नहीं करेगा।

4. संयुक्त राष्ट्र संघ के अंग—संयुक्त राष्ट्र संघ के तृतीय अध्याय में अनुच्छेद 7 के अनुसार इस संस्था के ‘प्रधान अवयव’ इस प्रकार हैं—

4.1 महासभा

4.1.1 संगठन एवं भूमिका—महासभा संयुक्त राष्ट्र के प्रमुख अंगों में से सर्वाधिक वृहत् एवं महत्वपूर्ण अंग है। डेविड कुशमैन के अनुसार महासभा संयुक्त राष्ट्र संघ का केन्द्रीय या प्रमुख अंग है। आइकेलर्गर के अनुसार यह 'विश्व का उन्मुक्त अंतःकरण' है। एक अन्य विद्वान ने इसे 'मानव समाज की चेतना का केन्द्र' कहा है। शूमां ने इसे 'संसार की नगरसभा' तथा सीनेटर वाण्डेनबर्ग ने इसे 'विश्व की लघु संसद' की संज्ञा दी थी। इसके गठन, अधिकार एवं दायित्वों के अवलोकन से ज्ञात होता है कि इस विश्व संस्था के संस्थापकों का उद्देश्य महासभा को एक महान् अंतर्राष्ट्रीय नैतिक तथा राजनीतिक मंच बनाना था।

संयुक्त राष्ट्र के समस्त सदस्यों को महासभा में बैठने का अधिकार है। इसका अधिवेशन साधारणतः वर्ष में एक बार होता है और चार्टर के अधिकार क्षेत्र के अंतर्गत सभी विषयों पर विचार करने का इसको अधिकार है। इस संस्था का रूप मानव पार्लियामेंट का है, यद्यपि आज भी कुछ राष्ट्र इसके सदस्य नहीं हैं। चार्टर के अनुसार सुरक्षा परिषद् को कुछ स्वतंत्र रूप से अधिकार प्राप्त हैं इन अधिकारों के अतिरिक्त संयुक्त राष्ट्र संघ के समस्त विभागों पर महासभा का पर्याप्त अधिकार है।

4.1.2 प्रतिनिधित्व—महासभा में संयुक्त राष्ट्र संघ के सभी सदस्यों को प्रतिनिधित्व प्राप्त है और प्रत्येक राष्ट्र को एक मत देने का अधिकार प्राप्त है, यद्यपि प्रत्येक राष्ट्र को अधिकतम 5 प्रतिनिधि भेजने का अधिकार है। प्रतिनिधियों को वाद-विवाद में भाग लेने का अधिकार तो है, किंतु वोट देने के समय एक देश का, चाहे यह कितना ही बड़ा राष्ट्र हो अथवा छोटा राष्ट्र हो, एक ही वोट समझा जाता है।

संयुक्त राष्ट्र का यही प्रमुख अंग इस युग में विश्व लोकमत का प्रतीक बन गया है। वर्तमान में इसके 185 सदस्य राज्य हैं। इसकी सदस्य संख्या को ही देखकर इसकी सार्वदेशिक विशेषता का अनुभव किया जा सकता है।

4.1.3 अधिकार और कर्तव्य—सुरक्षा परिषद् के अंतर्गत विचाराधीन विषयों पर महासभा वाद-विवाद कर सकती है, किंतु जब तक परिषद् महासभा के निर्णय की मांग न करे तब तक महासभा निर्णय नहीं कर सकती। सुरक्षा परिषद् तथा अन्य अंग अपने वार्षिक कार्य विवरण की रिपोर्ट महासभा के पास भेजते हैं और सभा में निर्धारित तिथि को इन पर विचार होता है, किंतु महासभा सुरक्षा परिषद् की रिपोर्ट पर आलोचना करने के अतिरिक्त हेर-फेर नहीं कर सकती। महासभा द्वारा सुरक्षा परिषद् के 10 अस्थायी सदस्यों, आर्थिक तथा सामाजिक परिषद् के 54 सदस्यों एवं न्याय परिषद् के अस्थायी सदस्यों का निर्वाचन होता है। अंतर्राष्ट्रीय न्यायालय के सदस्यों को निर्वाचित करने का अधिकार समान रूप से महासभा एवं सुरक्षा परिषद् को है। सुरक्षा परिषद् की स्वीकृति प्राप्त होने पर ही महासभा नये सदस्यों को पद ग्रहण करने की अनुमति देती है। संयुक्त राष्ट्र संघ के सदस्यों की नियुक्ति भी महासभा सुरक्षा परिषद् की सिफारिश पर करती है। संयुक्त राष्ट्र संघ का आय-व्यय महासभा द्वारा ही स्वीकृत होता है, अतः महासभा का अन्य अंगों पर स्वतः आर्थिक नियंत्रण हो जाता है। चार्टर की उपधारा 1 के अनुसार संयुक्त राष्ट्र संघ की सदस्यता का अर्थ है— महासभा की सदस्यता। उद्घण्ड राष्ट्रों को निकालने का अधिकार महासभा को प्राप्त है। यह किसी राष्ट्र को सुरक्षा परिषद् के अनुरोध पर कुछ समय के लिए संघ की सदस्यता से हटा सकती है, किंतु यदि कोई चार्टर के आदेशों और सिद्धांतों की लगातार अवहेलना करता है तो सुरक्षा परिषद् के अनुरोध पर महासभा उसे सदा के लिए निकाल सकती है लेकिन अभी तक ऐसा कोई अवसर उपस्थित नहीं हुआ है। जो राष्ट्र सदस्यता शुल्क लगातार दो वर्ष तक अदा नहीं करता उसे महासभा में मत देने का अधिकार नहीं होता किंतु आर्थिक कठिनाई अथवा किसी अन्य विवशता के कारण यदि वह शुल्क बाकी रह गया हो तो महासभा को अधिकार है कि इस सम्बन्ध में संतोष होने पर कि जानबूझकर देरी नहीं की गयी है उसे मत देने के अधिकार से वंचित न करे।

4.1.4 महासभा के कार्य—चार्टर के अनुसार महासभा के दो प्रकार के कार्य हैं। इसमें एक ऐच्छिक और दूसरा अनिवार्य है। पहले प्रकार अर्थात् ऐच्छिक कार्य के अंतर्गत शांति की स्थापना, अंतर्राष्ट्रीय शांति के खतरे को दूर और सुरक्षा तथा निशस्त्रीकरण के लिए समस्त देशों में सहयोग स्थापना की चेष्टा है। ये सब कार्य ऐच्छिक श्रेणी में इसलिए रखे गये हैं कि चार्टर के मंतव्य के अनुसार ये सब सुरक्षा परिषद् में पेश हों। इन सब विषयों के सम्बन्ध में महासभा तभी अपना मत निश्चित कर सकती है जब सुरक्षा परिषद् उससे परामर्श के लिए अनुरोध करे।

महासभा के अनिवार्य कार्य-

- संयुक्त राष्ट्र संघ आय-व्ययक पास करना;
- सुरक्षा परिषद् तथा अन्य संस्थाओं व संगठनों की रिपोर्ट पर विचार करना;
- न्यास परिषद् पर निरीक्षण रखना;
- अंतर्राष्ट्रीय सहयोग के उद्देश्यों से आर्थिक, सामाजिक, सांस्कृतिक शिक्षा तथा स्वास्थ्य के सम्बन्ध में अध्ययन व जांच-पड़ताल करवाना तथा तद्विषयक सिफारिशें करना; और
- प्रत्येक व्यक्ति को बिना जाति, लिंग, भाषा व धर्म के मानव अधिकार तथा मौलिक स्वतंत्रता का उपयोग करने में सहायता देना।

ऐसा प्रसंग हंगरी के पादरियों के सम्बन्ध में तथा दक्षिणी अफ्रीका में भारतीयों एवं अफ्रीकियों को मनुष्यता के साधारण अधिकार से वंचित रखने के सम्बन्ध में उठा ओर महासभा ने घरेलू मामले की दुहाई देने पर भी अपना निर्णय दिया।

इस प्रकार चार्टर द्वारा महासभा को इतने व्यापक अधिकार प्राप्त हैं कि कोई भी अंतर्राष्ट्रीय महत्त्व का मसला उसके सामने पेश हो सकता है, केवल राष्ट्रों के पूर्णतया घरेलू मामले उसके क्षेत्र से बाहर हैं। यदि संसार के किसी देश में ऐसी सरकार कायम हो जो अंतर्राष्ट्रीय शांति के लिए खतरनाक हो तो उसके पड़ोसी राष्ट्र अथवा कोई अन्य राष्ट्र संसार में शांति कायम रखने की दृष्टि से महासभा में तत्सम्बन्धी प्रश्न उठा सकते हैं और उसके सम्बन्ध में आलोचना भी की जा सकती है। इस प्रकार की समालोचना का एकमात्र उद्देश्य विश्व-शांति में उस राष्ट्र के बाधक होने की समस्या पर विचार करना है।

4.1.5 शांति के लिए एकता प्रस्ताव—विश्व शांति की स्थापना के क्षेत्र में महासभा को उपयोगी बनाने का महत्त्वपूर्ण प्रयास 3 नवम्बर, 1950 को किया गया, जिस दिन 'शांति के लिए एकता प्रस्ताव' स्वीकार किया गया था। अनेक कारणों से सोवियत संघ उन दिनों सुरक्षा परिषद् की कार्यवाही का बहिष्कार कर रहा था एवं 1 अगस्त, 1950 को उसने पुनः परिषद् की कार्यवाही में भाग लेना प्रारंभ कर दिया। पश्चिमी शक्तियों को भय उत्पन्न हो गया कि उत्तरी कोरिया द्वारा किये जा रहे आक्रमण को सोवियत संघ के वीटो के कारण सुरक्षा परिषद् में नहीं रोका जा सकेगा। अमरीका ने अवसर पाते ही महासभा को शांति एवं सुरक्षा स्थापित कर सकने की शक्ति दिलाने का सफल प्रयास किया। सोवियत संघ ने अमरीका के उक्त प्रयास को बहुमत का दुरुपयोग बताया। इस प्रस्ताव के फलस्वरूप महासभा को सामूहिक कार्यवाही एवं सेना का उपयोग करने की सिफारिश का अधिकार मिल गया। विश्व-शांति एवं सुरक्षा स्थापित करने में सुरक्षा परिषद् की असमर्थता के 24 घण्टे के भीतर ही महासभा का आपातकालीन अधिवेशन बुलाने का प्रावधान हो गया। यदि महासभा की बैठक उस समय नहीं हो रही हो तो सुरक्षा परिषद् के 9 सदस्यों के वोट पर या संयुक्त राष्ट्र के अधिकांश सदस्यों के वोट पर इस प्रकार के अधिवेशन की प्रार्थना किये जाने पर 24 घण्टों के अंतर्गत ही विशेष संकटकालीन अधिवेशन हो सकता है। महासभा ने तुरन्त अपने इस अधिकार का समुचित प्रयोग आरंभ कर दिया। महासभा का अधिवेशन चल ही रहा था कि जिसमें उसने 1950 के अंतिम दिनों में साम्यवादी चीन के, कोरिया के संघर्ष में हस्तक्षेप को रोकने में सफलता प्राप्त की। 1 फरवरी, 1951 को महासभा ने साम्यवादी चीन को आक्रमणकारी घोषित कर दिया। 18 मई, 1951 को महासभा ने साम्यवादी चीन के विरुद्ध सामूहिक आर्थिक कार्यवाही करने की सिफारिश की। सन् 1956 में जब इजरायल, ब्रिटेन तथा फ्रांस ने मिस्र पर आक्रमण कर दिया तब महासभा का आपातकालीन अधिवेशन बुलाया गया। मध्य-पूर्व में महासभा को बहुत सफलता मिली। यद्यपि इस सम्बन्ध में कतिपय विद्वानों का मत है कि महासभा की सफलता का कारण उसकी शक्तिशाली सामूहिक कार्यवाही का प्रभाव नहीं था बल्कि सम्बन्धित राष्ट्रों की स्वयं की इच्छा थी जो अनेक कारणों से महासभा के इस आदेश के सामने झुक गये कि वे संघर्ष समाप्त करके अपनी सेनाएं वापस बुला लें। हंगरी के प्रश्न पर सन् 1956 में ही महासभा का आपातकालीन अधिवेशन बुलाया गया। उक्त अवसर पर भी सुरक्षा परिषद् का कार्य कुण्ठित हो गया था। महासभा ने सोवियत संघ से हंगरी में हस्तक्षेप न करने का अनुरोध किया। महासभा के माध्यम से उक्त समस्या के प्रति विश्व लोकमत का ध्यान अवश्य ही आकर्षित हुआ। सन् 1958 में महासभा को शांति के लिए एकता

प्रस्ताव के अंतर्गत पुनः अपने उत्तरदायित्व का निर्वाह करने के लिए मध्य-पूर्व की समस्या पर विचार करना पड़ा। इस समय महासभा ने सामूहिक कार्यवाही के अंतर्गत अपने प्रभाव का अप्रत्यक्ष उपयोग किया एवं महासचिव के सक्रिय सहयोग से शांति स्थापित हो सकी। 17 सितम्बर, 1960 को स्वयं सुरक्षा परिषद् ने महासभा का आपात्कालीन अधिवेशन कांगो समस्या पर विचार करने के लिए बुलाया। कांगों की समस्या जो महाशक्तियों के मध्य भयंकर शीत-युद्ध का कारण बन गयी थी, में महासभा के सहयोग से बहुत कमी आयी जिससे विश्व के समक्ष महासभा को सम्मान प्राप्त हुआ। महासभा का सातवां विशेष अधिवेशन 1-16 सितम्बर, 1975 तक न्यूयार्क में हुआ। नामीबिया की समस्या पर विचार करने हेतु 26 अप्रैल से 3 मई, 1978 तक और निशस्त्रीकरण की समस्या पर विचार करने के लिए 23 मई से 30 जून तक महासभा के विशेष अधिवेशन हुए। अफगानिस्तान में सोवियत संघ की सैनिक कार्यवाही से उत्पन्न स्थिति पर विचार करने हेतु 10 जनवरी, 1980 को और फिलिस्तीन के प्रश्न पर विचार करने हेतु 23 जुलाई, 1980 को महासभा के विशेष अधिवेशन हुए। महासभा के इन विशेष अधिवेशनों का सबसे बड़ा लाभ यह हुआ कि सुरक्षा परिषद् का वीटो संयुक्त राष्ट्र को सर्वदा के लिए पंगु या निष्क्रिय नहीं बना सकता क्योंकि महासभा में अभिव्यक्त विचार विश्व लोकमत को प्रकट करते हैं और स्थायी सदस्यों के लिए इसकी सर्वदा उपेक्षा करना संभव नहीं होता। शांति के लिए एकता प्रस्ताव की प्रमुख 5 धाराएं हैं जो इस प्रकार हैं—

- सुरक्षा परिषद् के किन्हीं 9 सदस्यों के मतों या महासभा के बहुमत सदस्यों द्वारा प्रार्थना किये जाने पर 24 घंटे की अल्प सूचना पर महासभा का आपात्कालीन विशेष अधिवेशन बुलाया जाना।
- प्रस्ताव ने 5 स्थायी सदस्यों सहित एक 14-सदस्यीय शांति निरीक्षण आयोग की स्थापना की। इनका कार्य अंतर्राष्ट्रीय तनाव उत्पन्न होने की स्थिति में, जिससे शांति और सुरक्षा को खतरा होने की संभावना हो, निरीक्षण करना तथा रिपोर्ट करना है।
- प्रस्ताव ने एक 14-सदस्यीय सामूहिक समिति की स्थापना की। इसका सम्बन्ध अंतर्राष्ट्रीय शांति तथा सुरक्षा को सुदृढ़ करने वाले उपायों का अध्ययन करना है।
- प्रस्ताव में सिफारिश की गयी कि संयुक्त राष्ट्र के उद्देश्यों के लिए सदस्य अपनी राष्ट्रीय सशस्त्र सेनाओं की टुकड़ियों को प्रशिक्षित, संगठित एवं सुसज्जित करें।
- प्रस्ताव में सदस्य राष्ट्रों से सिफारिश की गयी है कि वे संयुक्त राष्ट्र के प्रति निष्ठा दोहराएं, आर्थिक स्थिरता और सामाजिक प्रगति के लिए भी आग्रह किया गया है।

शांति के लिए एकता प्रस्ताव का उद्देश्य महासभा को किसी महाशक्ति के विरुद्ध युद्ध संचालित करने के लिए सशक्त बनाना नहीं है। इसका उद्देश्य केवल उन छोटी-छोटी भिड़न्तों को रोकना है जिनमें कोई महाशक्ति प्रत्यक्षतः भाग नहीं लेना चाहती। इसके माध्यम से आक्रमणकारी के सामने यह भी प्रदर्शन करना है कि संयुक्त राष्ट्र संघ एक सक्रिय क्रियाशील अंतर्राष्ट्रीय निकाय है। इसका तीसरा उद्देश्य, जहां सामूहिक कार्यवाही संभव न हो, प्रभावपूर्ण ढंग से राजनीतिक दबाव डालना है ताकि आक्रमण या हस्तक्षेप का प्रतिरोध किया जा सके। इसका एक उद्देश्य यह भी है कि वीटो के पावर को कम किया जा सके।

‘शांति के लिए एकता प्रस्ताव’ के पक्ष व विपक्ष में भले ही कितने ही तर्क दिये जायें, किंतु संयुक्त राष्ट्र के प्रयोजनों एवं सिद्धान्तों के आधार पर यह कहा जा सकता है कि उक्त प्रस्ताव सर्वथा न्यायसंगत है। निःसंदेह यह कहा जा सकता है कि उक्त प्रस्ताव के अंतर्गत महासभा के शांति के लिए संकट सिद्ध होने वाले, शांति भंग अथवा आक्रामक कृत्यों की विद्यमानता पर निर्णय करने का अधिकार है, बशर्ते कि सुरक्षा परिषद् अपने प्रारंभिक दायित्वों के पालन में निषेधाधिकार के कारण असफल हो गयी हो।

4.1.6 महासभा की भूमिका : मूल्यांकन—महासभा को आधुनिक विश्व का उन्मुक्त अंतःकरण कहा जाता है। श्लीचर के अनुसार, महासभा की प्रतिष्ठा दिन-प्रतिदिन बढ़ती जा रही है। गुडरिच के अनुसार, “महासभा एक सार्वजनिक सभास्थल ही नहीं बल्कि इसने अपने आपको निर्णय लेने योग्य भी प्रमाणित कर दिया है। विश्व-शांति और सुरक्षा स्थापित करने में भी इसने महत्वपूर्ण योग दिया है।” स्टार्क के अनुसार, यह बात उल्लेखनीय है कि महासभा ने अंतर्राष्ट्रीय शांति और सुरक्षा सम्बन्धी प्रश्नों के

समाधान में प्रमुख रूप से भाग लिया है। इसने संयुक्त राष्ट्र संघ के समक्ष लाये गये कुछ प्रमुख प्रश्नों पर विचार करके पेलेस्टाइन, यूनान, स्पेन और कोरिया के सम्बन्ध में कार्यवाही की है।”

लम्बे समय तक महासभा की बैठकों में गुटीय भावनाओं का आभास मिलता रहा है। कभी-कभी अफ्रीकन, अफ्रो-रशियन तथा लैटिन अमरीकन समूह नियमित रूप से मिलते हैं और अपनी समस्याओं पर गुटीय दृष्टि से विचार करते हैं। गुट निरपेक्ष राष्ट्रों का भी एक वर्ग बन गया है। अधिकतर यह देखा गया कि अमरीका एवं यूरोपीय मित्र-राष्ट्र पश्चिम का साथ देते हैं एवं अपेक्षाकृत अफ्रीकन-एशियन आवश्यकताओं के प्रति कम उदार होते हैं जबकि साम्यवादी एवं कुछ अफ्रीकन-एशियन राष्ट्र उनके विरोध में रहे थे। संक्षेप में, महासभा के महत्त्व, प्रभाव और शक्ति में विस्तार हुआ है।

4.2 सुरक्षा परिषद्

4.2.1 सुरक्षा परिषद् : संगठन एवं भूमिका—राष्ट्र संघ के अनुभवों ने संयुक्त राष्ट्र के निर्माताओं के मस्तिष्क में यह धारणा उत्पन्न करा दी थी कि समूचे विश्व समुदाय के अंदर एक ‘पांच महाशक्तियों का भी समुदाय’ विद्यमान है, जिनकी मित्रता एवं मतेक्य पर ही विश्व की शांति एवं सुरक्षा कायम रह सकती है। फलतः डम्बार्टन आम्क्स सम्मेलन में इस तथ्य पर अत्यधिक बल दिया गया था कि ऐसे कार्यपालन अंग की स्थापना की जाये, जिसकी सदस्यता सीमित हो, जिसमें पांच बड़े राष्ट्रों को प्राथमिकता हो, जो विश्व में शांति एवं सुरक्षा की रक्षा हेतु पुलिस दायित्व से सम्पन्न हो, जो अंतर्राष्ट्रीय समुदाय के लिए एक सजग प्रहरी का कार्यभार ग्रहण कर सके, जिसका सत्र कभी समाप्त न हो और जो शांति के लिए संकट सिद्ध होने वाले, शांति भंग अथवा आक्रामक कृत्यों की विद्यमानता पर शीघ्र निर्णय लेकर उनके निराकरण के लिए तुरंत एवं प्रभावी कार्यवाही करने में पूर्णतः सक्षम हो।

इसीलिए संयुक्त राष्ट्र संघ के निर्माताओं ने विश्व संस्था की सम्पूर्ण शक्ति ‘सुरक्षा परिषद्’ में निहित कर दी। सुरक्षा परिषद् को अंतर्राष्ट्रीय शांति एवं सुरक्षा का पहरेदार माना जाता है। महासभा की अपेक्षा सुरक्षा परिषद् बहुत ही छोटा सदन है परन्तु उसकी शक्ति महासभा की अपेक्षा बहुत व्यापक है। यदि महासभा मानवता की सर्वोच्च राजनीतिक शक्ति का प्रतिनिधित्व करती है तो सुरक्षा परिषद् विश्व की सर्वोच्च शक्ति का प्रतिनिधित्व करती है। राजनीतिक विषयों में सुरक्षा परिषद् संयुक्त राष्ट्र का कार्यपालक अंग है। पामर और पर्किन्स ने इसे संयुक्त राष्ट्र की कुंजी कहा है; ए. एच. डाक्टर ने इसे संघ की प्रवर्तन भुजा तथा डेविड कुशमेन ने इसे दुनिया का पुलिसमैन कहा है। सुरक्षा परिषद् संयुक्त राष्ट्र संघ का हृदय है। संकट का समय हो या शांति का, संयुक्त राष्ट्र के दूसरे अंग कार्य कर रहे हों या न कर रहे हों, वर्ष का कोई समय हो या कैसा ही मौसम हो सुरक्षा परिषद् अपना कार्य करती ही रहती है।

4.2.2. परिषद् की कार्यप्रणाली—सुरक्षा परिषद् संयुक्त राष्ट्र का निरन्तर कार्य करने वाला निकाय है। यह स्थायी रूप से सत्र में रहती है। इसकी बैठक 14 दिन में एक बार होती है और यदि आवश्यकता हो अर्थात् अंतर्राष्ट्रीय शांति एवं सुरक्षा को खतरा उत्पन्न हो जाए तो इसकी बैठक अल्प सूचना पर अर्थात् 24 घण्टे की सूचना पर बुलाई जा सकती है। सुरक्षा परिषद् में प्रत्येक सदस्य राष्ट्र के सिर्फ एक-एक प्रतिनिधि रहते हैं अतः इस परिषद् की बैठक में अधिक-से-अधिक पन्द्रह सदस्य उपस्थित होते हैं जिससे गंभीर विषयों पर विचार-विमर्श करने और निर्णय देने में सुविधा होती है। सुरक्षा परिषद् के प्रत्येक सदस्य राष्ट्र का एक-एक प्रतिनिधि संघ के मुख्य कार्यालय में बना रहता है। प्रक्रिया सम्बन्धी मामलों में निर्णय के लिए 9 मतों की आवश्यकता होती है। प्रक्रिया सम्बन्धी विषयों का आशय ऐसे मामलों से है जिनमें सुरक्षा परिषद् की बैठक के समय या स्थान का निर्णय करना, इसके सहायक अंगों की स्थापना, कार्यवाही चलाने के नियम और सदस्यों को बैठक में सम्मिलित होने के लिए निमंत्रित करना, आदि। परन्तु अन्य सभी महत्वपूर्ण मामलों में निर्णय के लिए 9 स्वीकारात्मक मतों के साथ यह भी आवश्यक है कि पांचों स्थायी सदस्य भी उस निर्णय से सहमत हों। इस प्रकार प्रत्येक सदस्य को सभी महत्वपूर्ण विषयों में विषेधाधिकार प्राप्त है। परन्तु साथ ही यह भी नियम है कि झगड़े से सम्बन्धित दल मतदान नहीं करता। यदि कभी सुरक्षा परिषद् में ऐसे विषय पर विचार होता है, जिससे संयुक्त राष्ट्र के किसी ऐसे सदस्य राज्य के विशेष हितों पर प्रभाव पड़ता हो, जो सुरक्षा परिषद् का सदस्य न हो तब

वह राज्य सुरक्षा परिषद् की कार्यवाही में भाग ले सकता है, परन्तु उसे मतदान में भाग लेने का अधिकार नहीं होता।

4.2.3 कार्य एवं क्षेत्राधिकार—प्रमुख रूप से विश्व-शांति एवं सुरक्षा सुरक्षा परिषद् का कार्यक्षेत्र है। सुरक्षा परिषद् के क्षेत्राधिकार में आने वाले बहुत-से संगठनात्मक विषयों में उसे कानूनी रूप से बाध्यकारी अधिकार प्राप्त है। नये राष्ट्रों को संयुक्त राष्ट्र की सदस्यता प्रदान करना, महासचिव का चयन, अंतर्राष्ट्रीय न्यायालय के न्यायाधीशों की नियुक्ति, आदि सभी ऐसे कार्य जो वह महासभा से मिलकर करती है बाध्यकारी प्रभाव रखते हैं। सुरक्षा परिषद् अपने आंतरिक मामलों का स्वयं निर्णय करती है। यद्यपि महासभा उनके सम्बन्ध में चर्चा एवं सिफारिश कर सकती है। जहां तक शांति एवं सुरक्षा सम्बन्धी निर्णयों को लागू करने का प्रश्न है, केवल सुरक्षा परिषद् ही शांति भंग करने वाले के विरुद्ध कठोर कार्यवाही कर सकती है। यदि सुरक्षा परिषद् यह निर्णय करती है कि किसी परिस्थिति से विश्व-शांति एवं सुरक्षा को खतरा उत्पन्न हो गया है या शांति भंग हो रही है एवं यदि किसी राष्ट्र ने दूसरे राष्ट्र पर आक्रमण कर दिया है तो उसे कूटनीतिक, आर्थिक एवं सैनिक कार्यवाही का आदेश करने का अधिकार है एवं सदस्य राष्ट्र चार्टर की इच्छानुसार उक्त निर्णय को मानने एवं लागू करने को बाध्य है।

नये सदस्यों को सदस्यता प्रदान करने के क्षेत्र में सुरक्षा परिषद् को महासभा की अपेक्षा अधिक निर्णयात्मक अधिकार प्राप्त हैं। सदस्यता प्राप्त करने के लिए किसी भी देश को संयुक्त राष्ट्र के महासचिव के पास आवेदन प्रस्तुत करना पड़ता है जिसे वह सुरक्षा परिषद् के विचार हेतु भेज देता है। सुरक्षा परिषद् सदस्यता प्रदान करने से सम्बन्धित अपनी समिति की राय पर स्वयं उक्त देश की सदस्यता की पात्रता पर विचार करती है जिसमें वह बहुत ही विशिष्ट परिस्थितियों में संतुष्ट होकर महासभा के पास अपनी सिफारिश भेज देती है। सुरक्षा परिषद् की उक्त सिफारिश उसके सभी स्थायी सदस्यों की सहमति पर ही आधारित है।

संयुक्त राष्ट्र का महासचिव सुरक्षा परिषद् की सिफारिश पर ही महासभा द्वारा नियुक्त किया जाता है। स्थायी सदस्यों की सहमति के आधार पर सुरक्षा परिषद् एवं अंत में महासभा अपने निर्णय ले सकती है। द्वितीय महासचिव डॉंग हेमरशोल्ड के निधन के उपरान्त महासचिव के लिए स्थायी सदस्यों की सहमति प्राप्त करना एक संकट का विषय बन गया था।

सुरक्षा परिषद् का उद्देश्य शांति की स्थापना माना जाता है। सुरक्षा परिषद् पहले तो विचार को प्रस्तावों द्वारा समाप्त करना चाहती है, उसके बाद आर्थिक प्रतिबंध लगाने पर विचार करती है और अंत में सैनिक कार्यवाही की शक्ति एवं अधिकार का प्रयोग कर सकती है। चार्टर में संयुक्त राष्ट्र की सेना का कहीं उल्लेख नहीं है। सुरक्षा परिषद् के पास यह अधिकार अवश्य है कि वह सदस्य राष्ट्रों से किसी भी समय उसे सेनाएं उपलब्ध कराने को कह सकती है, जिसे वह निर्धारित उद्देश्य के लिए उपयोग करने का आदेश भी कर सकती है। चार्टर में सुरक्षा परिषद् को अधिकृत किया है कि वह शांति की स्थापना के लिए जल, थल तथा नभ सेना का यथा-उचित प्रयोग कर सके।

सुरक्षा परिषद् की सिफारिश पर ही कोई भी राष्ट्र, जिसके खिलाफ अनुशासन की कार्यवाही की गयी हो सदस्यता के अधिकार से अनिश्चित काल के लिए वंचित किया जा सकता है। परिषद् को पुनः सदस्यता प्राप्त करा देने का भी अधिकार है। सुरक्षा परिषद् के निर्णय पर ही ऐसा राज्य जिसने संयुक्त राष्ट्र की लगातार अवहेलना की हो, सदस्यता से निकाला जा सकता है।

संयुक्त राष्ट्र के चार्टर में परिवर्तन अनुच्छेद 109 के अनुसार महासभा के दो-तिहाई सदस्यों के मत के अतिरिक्त सुरक्षा परिषद् के स्थायी सदस्यों के समर्थन पर ही हो सकता है।

4.2.4 परिषद् के तरीके—अंतर्राष्ट्रीय विवादों को निपटाने में सुरक्षा परिषद् चार प्रकार के तरीके अपना सकती है—

- सर्वप्रथम, सम्बन्धित राष्ट्रों को आपसी वार्ता व पत्र-व्यवहार के लिए प्रेरित करती है।
- द्वितीय, पंचों, मध्यस्थों और अंतर्राष्ट्रीय न्यायालयों द्वारा निर्णय का सुझाव रखती है।
- तीसरे व प्रभावी उपाय के रूप में दोषी राष्ट्र के विरुद्ध आर्थिक प्रतिबंध की आज्ञा दे सकती है।

- आवश्यकता पड़ने पर अंतिम उपाय के रूप में सैनिक कार्यवाही कर सकती है। संयुक्त राष्ट्र संघ के पास अपनी सेना नहीं है, पर सैनिक कार्यवाही के लिए उसे सदस्य राष्ट्रों की सेनाएं प्राप्त होती हैं।

सुरक्षा परिषद् सम्बन्धित राष्ट्रों से अपने विवादों को शांतिपूर्ण माध्यम से सुलझाने का आग्रह कर सकती है। परिषद् प्रत्येक ऐसी परिस्थिति की जांच भी कर सकती है जब उसे स्थिति के बिगड़ने का आभास होने लगे। सुरक्षा परिषद् को संयुक्त राष्ट्र का पुलिस स्टेशन कहा जा सकता है। वह सदस्य राष्ट्रों से अपराधी राष्ट्र के विरुद्ध सैनिक कार्यवाही के अतिरिक्त सभी उपाय करने का आग्रह कर सकती है। यदि किसी राष्ट्र ने सुरक्षा परिषद् के शांतिपूर्ण समाधान की अवज्ञा कर दी हो तो वह सभी सदस्यों से इस बात का अनुरोध कर सकती है कि वे अपराधी राष्ट्र से अपने आर्थिक सम्बन्ध पूर्ण या आंशिक रूप से समाप्त कर लें। सदस्य राष्ट्रों से यह भी कहा जा सकता है कि उक्त राष्ट्र से हर तरह के कूटनीतिक सम्बन्ध समाप्त कर लिये जायें एवं सभी सदस्य राष्ट्र उससे सब तरह के रेल, समुद्र, वायु, पोस्ट, रेडियो, टेलीफोन एवं संचार के अन्य सम्बन्ध समाप्त कर लें। खाड़ी संकट के समय (1990-1991) इराक के खिलाफ सुरक्षा परिषद् ने सैनिक कार्यवाही की तथा अप्रैल 1992 में लीबिया के खिलाफ आर्थिक प्रतिबंध लगाने का निर्णय लिया। इन प्रतिबंधों में लीबिया के हवाई सम्पर्कों पर प्रतिबंध लगाना शामिल है जिसके कारण लीबिया का वायु मार्ग के जरिये शेष विश्व से सम्पर्क कट गया। सबसे बड़ी समस्या यह है कि सुरक्षा परिषद् के अधिकार में ऐसे कोई साधन नहीं हैं जिनका वह अपराधी राष्ट्र के विरुद्ध प्रत्यक्ष उपयोग कर सके। अधिकतर संभावना यह रहती है कि सदस्य राष्ट्र सुरक्षा परिषद् के द्वारा दी गयी सलाह पर कार्यवाही न करें क्योंकि सुरक्षा परिषद् के उक्त आदेश भी बाध्यकारी नहीं होते। यदि कभी दुर्भाग्यवश अपराधी राष्ट्र का समर्थन कोई महाशक्ति प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से कर रही है तो सुरक्षा परिषद् की सब कार्यवाही उपदेश मात्र बनकर रह जाती है।

यदि सुरक्षा परिषद् को यह विश्वास हो जाय कि शांति भंग करने वाले राष्ट्र के विरुद्ध किये गये असैनिक उपाय अपर्याप्त हैं तो वह तुरंत जल, थल तथा नभ सेना द्वारा कार्यवाही कर सकती है। इस तरह की कार्यवाही पूर्ण सैनिक दबाव का रूप ग्रहण कर सकती है। इसमें कोई संदेह नहीं कि सुरक्षा परिषद् का संगठन ऐसा किया गया है कि यदि उसके सभी स्थायी सदस्य एकमत होकर कार्य करें तो विश्व में शांति भंग होने का भय हमेशा के लिए समाप्त हो जाय। महाशक्तियों के बीच विचारधाराओं का अंतर है और उनके राष्ट्रीय हित आपस में इतने अधिक टकराते हैं कि सुरक्षा परिषद् को जो भी सैनिक शक्तियां उपलब्ध हैं उनका यथार्थ उपयोग संभव ही नहीं है।

4.2.5 सुरक्षा परिषद् में मतदान की प्रणाली तथा वीटो—चार्टर की धारा 27 में सुरक्षा परिषद् में मतदान की प्रक्रिया का वर्णन है। इसके अनुसार प्रक्रिया सम्बन्धी विषय में परिषद् के निर्णय 9 सदस्यों के स्वीकारात्मक मत से किये जायेंगे। प्रक्रिया सम्बन्धी विषयों का आशय ऐसे मामलों से है जिनमें सुरक्षा परिषद् की बैठक के समय या स्थान का निर्णय करना, इसके सहायक अंगों की स्थापना, कार्यवाही चलाने के नियम और सदस्यों को बैठक में सम्मिलित होने के लिए नियंत्रित करना, आदि हैं। इसके अतिरिक्त, सभी विषय महत्वपूर्ण या सारवान समझे जाते हैं। ऐसे विषयों के निर्णयों के लिए 9 सदस्यों के स्वीकारात्मक वोट के साथ 5 स्थायी सदस्यों के स्वीकारात्मक वोट भी होने चाहिए। इस व्यवस्था के अनुसार यदि 5 स्थायी सदस्यों में से कोई एक भी किसी महत्वपूर्ण निर्णय के विपक्ष में वोट दे देता है तो वह विषय अस्वीकृत समझा जायेगा। इस प्रकार प्रत्येक स्थायी सदस्य को निषेधाधिकार प्राप्त है।

तात्पर्य यह है कि प्रक्रिया सम्बन्धी विषयों को छोड़कर अन्य सभी विषयों में निर्णय के लिए पांचों स्थायी सदस्यों की सर्वसम्मति अनिवार्य है। यदि कोई भी स्थायी सदस्य इन विषयों में निर्णय लेने के समय अपना नकारात्मक मत प्रदान करता है, तो सुरक्षा परिषद् उन विषयों पर कोई निर्णय नहीं ले सकती। इस प्रकार स्थायी सदस्यों में से किसी भी एक का नकारात्मक मत सुरक्षा परिषद् को निर्णय लेने से रोक सकता है। सुरक्षा परिषद् के स्थायी सदस्यों की इस शक्ति को विशेषाधिकार की शक्ति कहते हैं। इस प्रकार तथाकथित 'पांच बड़ों' में से कोई भी सदस्य दूसरे राज्यों के सम्बन्ध में निर्णय लेने एवं उनके विरुद्ध विधि लागू करने में सक्षम हो सकता है, किंतु स्वयं विधि के नियमों से ऊपर है।

4.2.6 सुरक्षा परिषद् की भूमिका—बड़े राष्ट्रों ने सुरक्षा परिषद् को अपने राजनीतिक स्वार्थों की पूर्ति के लिए हथियार की तरह प्रयोग किया है। कुछ विद्वानों का मत है कि सुरक्षा परिषद् शक्तिशाली राष्ट्रों के

हाथ में खिलौना मात्र है। आजकल महाशक्तियों का सहारा पाकर सदस्य राष्ट्र सुरक्षा परिषद् के निर्णयों की अनसुनी कर देते हैं। बड़े राष्ट्रों की इच्छा के विपरीत किसी भी तरह का निर्णय वहां संभव नहीं है जिससे यह स्पष्ट हो जाता है कि सुरक्षा परिषद् का निर्णय वीटो सम्पन्न राष्ट्रों का निर्णय है। सुरक्षा परिषद् की सफलता में उसकी शक्तिहीनता भी बाधक है। उसके पास अपनी कोई सैन्य शक्ति नहीं है। सुरक्षा परिषद् के निर्णयों का आज अनेक राष्ट्र सम्मान नहीं करते एवं बड़े राष्ट्र स्वयं उसकी उपेक्षा करते हैं। ऐसी स्थिति में संयुक्त राष्ट्र की महासभा का प्रभाव बढ़ना एक अनिवार्य तथ्य हो गया है। महासभा के पास भी कोई स्पष्ट शक्ति तो नहीं है परन्तु वह विश्व की संसद का स्वरूप धारण करती जा रही है। 3 नवम्बर, 1950 के 'शांति के लिए एकता प्रस्ताव' ने महासभा को अभूतपूर्व शक्ति प्रदान की है। संक्षेप में, महासभा का बढ़ता हुआ महत्त्व सुरक्षा परिषद् की भूमिका के ह्रास का कारण है।

फिर भी सुरक्षा परिषद् का महत्त्व बिल्कुल समाप्त नहीं हुआ है। सुरक्षा परिषद् का महत्त्व इसलिए भी कम नहीं हो सकता क्योंकि पांचों महाशक्तियों का इसमें प्रतिनिधित्व है और वर्तमान समय में विश्व के किसी भी महत्त्वपूर्ण कार्य को करने के लिए पांचों का सहयोग आवश्यक है। परन्तु पांचों स्थायी सदस्यों के पारस्परिक संघर्ष के कारण सामूहिक सुरक्षा तथा विश्व-शांति हेतु संयुक्त राष्ट्र प्रणाली दुर्बल तथा अव्यावहारिक सिद्ध हुई है।

4.3. न्यास परिषद्

4.3.1 संगठन एवं भूमिका—संयुक्त राष्ट्र चार्टर का 8वां अध्याय 'न्यास परिषद्' के सम्बन्ध में विचार करता है। चार्टर कि अनुच्छेद 75 के अनुसार संयुक्त राष्ट्र अपने अधिकार-क्षेत्र के अंतर्गत न्यास प्रदेशों के प्रशासन और नियंत्रण के लिए एक अंतर्राष्ट्रीय न्यास व्यवस्था स्थापित करेगा जो समझौतों द्वारा संपादित होगी।

4.3.2. न्यास सिद्धान्त का उद्भव—यूरोपीय उपनिवेशीय राष्ट्रों ने बीसवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध तक एशिया, अफ्रीका और लैटिन अमरीका के विशाल भूखण्डों पर अपना क्रूरतम शासन स्थापित कर रखा था। इन पराधीन क्षेत्रों के लोगों के साथ तरह-तरह के अन्यायपूर्ण व्यवहार किया जाता था। बीसवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में इन पराधीन प्रदेशों के लोगों ने अपने-अपने क्षेत्रों में 'आत्म-निर्णय' के अधिकार की मांग की और स्वशासन की प्राप्ति के लिए मुक्ति आंदोलन शुरू किया।

वार्साय संधि के पश्चात् इस धारणा में आमूलचूल परिवर्तन हुआ कि उपनिवेश केवल साम्राज्यवादी उपनिवेशवादी शक्तियों के हित के लिए विद्यमान है। सिद्धान्त रूप में यह कहा जाने लगा कि उपनिवेशों को अंततः स्वशासन प्रदान किया जायेगा। प्रथम विश्व-युद्ध के बाद राष्ट्र संघ की मैण्डेट पद्धति में यह सिद्धान्त अंतर्निहित था। जब द्वितीय विश्व-युद्ध चल रहा था तभी मित्र-राष्ट्रों ने 'आत्म-निर्णय' के सिद्धान्त का उद्घोष किया था। यह सर्वविदित है कि द्वितीय विश्व-युद्ध के दौरान एक ओर पश्चिमी यूरोप के अधिकांश एशियाई उपनिवेशों पर जापान ने अधिकार कर लिया था और उसने पूर्वी एशिया एवं प्रशांत महासागर के क्षेत्र में विजय प्राप्त कर ली थी, जिससे संयुक्त राज्य अमरीका अत्यन्त चिंतित हो गया था तो दूसरी ओर एशिया के अधिकांश पराधीन भूखण्डों के लोग जागृत हो चुके थे और स्वतंत्रता के लिए संघर्ष कर रहे थे। ऐसी परिस्थिति में अमरीका के लिए इन पराधीन क्षेत्रों को स्वाधीनता का आश्वासन देना अत्यावश्यक हो गया। अंततः अमरीका इस विचार पर दृढ़ हो गया था कि उपनिवेशवाद का युग अब समाप्त हो चुका है। अमरीकी राष्ट्रपति रूजवेल्ट ने पराधीन लोगों के आत्म-निर्णय के अधिकार का समर्थन किया, परन्तु ग्रेट ब्रिटेन के प्रधानमंत्री चर्चिल साम्राज्यवाद का शंख फूंकते रहे। उपनिवेशवाद उन्मूलन के मार्ग पर अमरीका पीछे नहीं हटा। जब संयुक्त राष्ट्र चार्टर का प्रारूप तैयार हो रहा था, उससे बहुत पहली ही भावी संगठन सम्बन्धी अमरीकी प्रारूप 14 जुलाई, 1943 को प्रकाशित हो चुका था। उक्त प्रारूप के अनुच्छेद 12 में कहा गया था : "ऐसे पराधीन क्षेत्रों में जहां के लोग अभी पूरी तरह स्वशासन प्राप्त नहीं कर सके हैं, 'न्यास पद्धति' का सिद्धान्त लागू किया जायेगा, जिसके अंतर्गत स्थानीय लोगों के हितों को सर्वोपरि मानकर उन्हें अंतर्राष्ट्रीय संरक्षण में रखा जाएगा। इस पद्धति का अंतिम उद्देश्य यह होगा कि इन पराधीन क्षेत्रों के लोग राजनीतिक परिपक्वता प्राप्त कर सकेंगे और आगे चलकर अपने-अपने क्षेत्रों का शासन-भार स्वयं ग्रहण करेंगे।"

4.3.3 न्यास परिषद् के उद्देश्य—संयुक्त राष्ट्र संघ के चार्टर के अनुसार न्यास पद्धति के चार उद्देश्य हैं—

- अंतर्राष्ट्रीय शांति और सुरक्षा को बढ़ाना;
- लोगों की राजनीतिक, आर्थिक, सामाजिक और शिक्षा सम्बन्धी उन्नति में सहयोग देना; स्वशासन अथवा स्वतंत्रता के क्रमिक विकास में सहायता देना;
- जाति, लिंग, भाषा और धर्म का भेदभाव किये बिना सबके लिए मानवीय अधिकारों और मूल स्वतंत्रताओं के प्रति आस्था बढ़ाना और उनमें यह भाव जगाना कि संसार के सब लोग एक-दूसरे पर निर्भर हैं;
- सामाजिक, आर्थिक और वाणिज्य सम्बन्धी मामलों में संयुक्त राष्ट्र संघ के सब सदस्यों के और उनके नागरिकों के प्रति समानता के व्यवहार का विश्वास दिलाना ।

4.3.4 न्यास परिषद् के कार्य—

संयुक्त राष्ट्र संघ के प्रमुख अंग न्यास परिषद् के निम्नांकित कार्य हैं—

- न्यासीय प्रदेशों की जनता की राजनीतिक, आर्थिक, सामाजिक तथा शिक्षा सम्बन्धी प्रगति के बारे में सूची तैयार करना जिसके आधार पर शासन-प्रबंध चलाने वाली संस्थाएं वार्षिक रिपोर्ट भेजती हैं ।
- इन प्रशासनिक सत्ताओं से प्राप्त रिपोर्टों की जांच और उन पर विचार करना ।
- इन सत्ताओं के परामर्श से प्रार्थना-पत्रों पर विचार करना, सत्ता के साथ यदा-कदा नियत समय पर निरीक्षण के लिए न्यासीय प्रदेशों का दौरा करना ।
- न्यास परिषद् में निर्णय साधारण बहुमत से होते हैं । प्रत्येक सदस्य का एक ही वोट होता है ।

न्यास परिषद् स्वयं ही अपने कार्य-संचालन के नियम बनाती हैं, जिसमें अध्यक्ष के चुनाव का तरीका भी सम्मिलित है। वर्ष में साधारणतया दो अधिवेशन होते हैं, जिनमें पहला जून के अंतिम पक्ष में और दूसरा नवम्बर के उत्तरार्द्ध में। आवश्यकतानुसार विशेष अधिवेशन न्यास परिषद् अथवा महासभा के प्रस्ताव अथवा सुरक्षा परिषद् के अधिकांश सदस्यों के अनुरोध पर बुलाया जा सकता है।

एक नियमित प्रतिनिधिमण्डल प्रत्येक वर्ष दोरे के लिए बाहर भेजा जाता है। 1948 में इसी प्रकार एक टोली टांगानिका और रुआण्डा-उरुण्डी गयी थी। सन् 1949 में एक टोली कैमरून और टोगोलैण्ड गयी थी। 1950, 1953 और 1956 में प्रतिनिधि मण्डल ने नीरू, न्यूगिनी, पश्चिमी समोआ और प्रशान्त द्वीपों वाले न्यास प्रदेशों का दौरा किया था। 1951, 1954 तथा 1957 में दूसरी टोली पूर्वी अफ्रीकी प्रदेश, रुआण्डा-उरुण्डी, टांगानिका व सोमालीलैण्ड का दौरा करने गयी थी। ये देश अब स्वतंत्रता प्राप्त कर चुके हैं। 1947 में एक आवेदन के उत्तर में एक विशेष टोली ने पश्चिमी समोआ का दौरा किया। 1955 में टोगोलैण्ड का दौरा करने वाली टोली ने सिफारिश की थी कि अपनी भावी राजनीतिक स्थिति के बारे में ब्रिटेन के प्रबंध के अंतर्गत टोगोलैण्ड के लोगों की राय जानने के लिए एक जनमत संग्रह किया जाय। इस सुझाव को महासभा ने 1955 के दिसम्बर में स्वीकार किया और संयुक्त राष्ट्र संघ की देख-रेख में 9 मई, 1956 को जनमत संग्रह किया गया। इसमें 1,60,000 निवासियों ने वोट दिये। मतदाताओं ने इन विकल्पों में से चुनने को कहा गया था कि क्या वे पड़ोसी गोल्डकोस्ट के साथ, जो जल्दी ही स्वतंत्र होने वाला था, अपना प्रदेश मिलाना चाहते हैं, अथवा जब तक गोल्डकोस्ट से अलग होकर न्यास पद्धति के अंदर बने रहना चाहते हैं।

मत लेने पर 93,365 लोगों ने गोल्डकोस्ट में मिलना पसंद किया और 67,422 ने न्यास पद्धति में रहना चाहा। इस मतगणना के परिणामस्वरूप महासभा ने अपने ग्यारहवें अधिवेशन में टोगोलैण्ड का गोल्डकोस्ट से मिलने का निर्णय स्वीकार किया और 6 मार्च, 1957 को टोगोलैण्ड स्वतंत्र गोल्डकोस्ट में, जो बाद में घाना राज्य के रूप में संयुक्त राष्ट्र का सदस्य हुआ, मिलकर उका अंग बन गया।

4.3.5 न्यास परिषद् : मूल्यांकन—न्यास परिषद् को अपने उद्देश्यों में अभूतपूर्व सफलता मिली है। सी.टी. रोमुलू के शब्दों में, न्यास पद्धति की सतत प्रगति आधुनिक विश्व में राजनीतिक नैतिकता के उच्च-बिन्दु का प्रतिनिधित्व करती है। प्लेनो और रिग्स ने लिखा है कि “अपनी सफलताओं के कारण न्यास परिषद् को विलोपन का सामना करना पड़ रहा है।” परिषद् की यह सबसे बड़ी उपलब्धि है कि अधिकांश न्यास प्रदेश 15–20 वर्षों की अल्प अवधि में ही स्वतंत्र हो गये। सन् 1957 में ब्रिटिश टोगोलैण्ड, सन्

19560 में फ्रेंच कैमरून तथा फ्रेंच टोगोलैण्ड तथा इटालियन सुमालीलैण्ड स्वतंत्र हो गये। सन् 1960 में ब्रिटिश कैमरून तथा टांगानिका, 1962 में रुआण्डा उरुण्डी, 1968 में नीरु द्वीप तथा 1973 में न्यूगिनी के न्यास प्रदेश स्वतंत्र हो गये। सितम्बर 1975 में पपुआ न्यूगिनी का न्यास क्षेत्र स्वतंत्र हो गया तथा इस प्रकार पैसीफिक आयलैण्ड्स के न्यास क्षेत्र को छोड़कर अन्य सभी न्यास क्षेत्र या तो स्वतंत्र हो गये या वह पड़ोसी स्वतंत्र राज्यों में मिल गये। 11 न्यास क्षेत्रों में पैसीफिकआयलैण्डस् न्यास क्षेत्र को ही सामरिक महत्त्व का क्षेत्र घोषित किया गया। सामरिक महत्त्व के न्यास क्षेत्र का पर्यवेक्षण सुरक्षा परिषद् द्वारा किया जाने लगा था।

इस पूरे न्यास क्षेत्र को माइक्रोनेशिया भी कहते हैं। इसके चार भाग हैं—माइक्रोनेशिया के पैडेरटेड स्टेट्स, मार्शल आयलैण्ड्स, उत्तरी मारियाना आयलैण्ड्स तथा पलाऊ। सुरक्षा परिषद् ने 22 दिसम्बर, 1990 को एक प्रस्ताव पारित करके पहले तीन भागों के न्यास करारों को समाप्त कर दिया क्योंकि यह या तो स्वतंत्र हो गये या संयुक्त राज्य अमेरिका के साथ मिल गये। इसका चौथा भाग पलाऊ भी नवम्बर, 1994 में स्वतंत्र होकर संयुक्त राष्ट्र का सदस्य बन गया है। इस प्रकार न्यास परिषद् का कार्य लगभग समाप्त हो गया है। पलाऊ के स्वतंत्र होने पर परिषद् के पास कोई कार्य शेष नहीं बचा है। जहां अधिकांश मैण्डेट प्रदेश राष्ट्र संघ का अंत हो जाने पर भी पराधीन रहे वहां न्यास प्रदेशों ने शीघ्र ही स्वतंत्रता प्राप्त कर ली।

4.4 सचिवालय—सचिवालय संयुक्त राष्ट्र संघ के छः प्रमुख अंगों में से एक है। अंतर्राष्ट्रीय लोक सेवा ही इसकी अंतर्राष्ट्रीय विशेषता है। संयुक्त राष्ट्र के अन्य प्रमुख अंग अपने-अपने कार्यकाल के अनुसार सदैव बदलते रहते हैं पर सचिवालय के साथ यह बात नहीं है। इसमें स्थायी सेवाओं के व्यक्ति काम करते हैं। फलतः यह एक स्थायी संस्था है जिसका काम निरन्तर चलता रहता है। इसकी महत्ता के विषय में मैक्सवेल कोहन ने ठीक ही कहा है—“संयुक्त राष्ट्र के अन्य अंगों की अपेक्षा कहीं अधिक महत्त्व वाला अंग सचिवालय ही है, जो महासभा एवं सुरक्षा परिषद् के नियतकालिक अधिवेशनों को वास्तविक, स्थायी एवं शाश्वत स्वरूप प्रदान करता है। अंतर्राष्ट्रीय व्यवस्था में वह केन्द्र-बिंदु है। इसके अभाव में सम्पूर्ण संयुक्त राष्ट्र सूचना व सहयोग के केन्द्रों से वंचित हो जायेगा।”

4.4.1 सचिवालय का गठन—सचिवालय संयुक्त राष्ट्र का एक प्रशासनिक अंग है। सचिवालय में महासचिव तथा अन्य कर्मचारी होते हैं। महासचिव की नियुक्ति 5 वर्षों के लिए सुरक्षा परिषद् की सिफारिश पर महासभा द्वारा होती है। उनका वार्षिक वेतन 20 हजार डालर है और वह यह राशि कर-मुक्त है। वह संघ का मुख्य प्रशासनिक अधिकारी होता है। महासभा द्वारा बनाये गये विनियमों के अनुसार महासचिव सचिवालय के कर्मचारियों की नियुक्ति करता है। आर्थिक एवं सामाजिक परिषद्, न्यास परिषद् तथा आवश्यकतानुसार संयुक्त राष्ट्र के अन्य अंगों के लिए आवश्यक कर्मचारी नियुक्त होते हैं, वे सभी सचिवालय के ही भाग होते हैं। इनकी नियुक्ति तथा सेवा की शर्तें सर्वोपरि विचार, कार्यक्षमता, योग्यता एवं ईमानदारी के उच्चतम स्तरों पर की जाती हैं और उनकी नियुक्ति में यथासंभव भौगोलिक आधार को पर्याप्त रूप से महत्त्व दिया जाता है। इस बात का उपबंध चार्टर में विशेष रूप से किया गया है कि न तो महासचिव और न ही कर्मचारी वर्ग किसी राज्य से अथवा संघ से बाहर किसी दूसरे अधिकारी से अनुदेश मांगेंगे और न प्राप्त करेंगे। नियुक्ति के पश्चात् अपने कार्यकाल में सचिवालय के सभी कर्मचारी विश्व नागरिक हो जाते हैं और वे केवल विश्व संस्था के प्रति ही निष्ठावान होते हैं।

संयुक्त राष्ट्र के अंतर्गत सचिवालय का अत्यधिक विस्तार हुआ है। जहां राष्ट्र संघ में सचिवालय के कर्मचारियों की अधिकतम संख्या 1,000 से कम ही रही वहां लगभग 170 देशों के 14,000 से अधिक स्त्री-पुरुषों वाले अंतर्राष्ट्रीय कर्मचारी वर्ग का यह सचिवालय संयुक्त राष्ट्र संघ, न्यूयार्क स्थित मुख्यालय और विश्वभर में स्थित कार्यालयों और केन्द्रों, दोनों का दैनिक कार्य चलाता है।

सचिवालय संयुक्त राष्ट्र का एक वृहत् प्रशासनिक तंत्र है, जिसे आठ विभागों में संगठित किया गया है—

- सुरक्षा परिषद् सम्बन्धी कार्यों का विभाग
- आर्थिक विभाग

- सामाजिक कार्यों का विभाग
- न्यास एवं स्वशासित क्षेत्रों में सूचना विभाग
- सार्वजनिक सूचना विभाग
- सम्मेलन तथा सामान्य सेवा विभाग
- प्रशासनिक तथा वित्तीय सेवा विभाग और
- विधि विभाग।

प्रत्येक का एक अध्यक्ष एवं एक उप-महासचिव होता है। उप-महासचिव के नीचे एकाधिक उच्च पदस्थ निदेशक होता है। उप-महासचिव की नियुक्ति महासचिव द्वारा की जाती है। इनकी नियुक्तियों का आधार इनकी कार्यक्षमता, अर्हता एवं क्षेत्रीय प्रतिनिधित्व होता है। इनकी नियुक्ति करते समय महासचिव को यह ध्यान रखना होता है कि यथासंभव विश्व के विभिन्न क्षेत्रों का समुचित प्रतिनिधित्व हो सके।

4.5 आर्थिक तथा सामाजिक परिषद्—आर्थिक और सामाजिक परिषद् इस धारणा पर आधारित है कि अंतर्राष्ट्रीय शांति केवल राजनैतिक विवादों के समाधान पर ही निर्भर नहीं करती है वरन् अंतर्राष्ट्रीय आर्थिक, सामाजिक और उनसे सम्बन्धित अन्य समस्याओं के सम्बन्ध में उचित और प्रभावपूर्ण कार्यवाही पर भी निर्भर करती है। राजनीतिक स्थिरता के अतिरिक्त सामाजिक स्थिरता और आर्थिक संतोष भी अंतर्राष्ट्रीय शांति और सुरक्षा की स्थापना के लिए जरूरी है। डलेस के शब्दों में, “आर्थिक और सामाजिक समस्याएं युद्ध के अंतर्निहित कारण हैं।” फैनविक के शब्दों में, “महासभा के अधीनस्थ एवं उसके कार्यों को उसके प्रतिनिधि के रूप में सम्पन्न करने वाली संस्था आर्थिक और सामाजिक परिषद् है।”

4.5.1 संरचना—प्रारंभ में इस परिषद् में 18 सदस्य होते थे। 1966 में चार्टर में एक संशोधन द्वारा इसके सदस्यों की संख्या 18 से बढ़ाकर 27 कर दी गयी। तत्पश्चात् अनुच्छेद 61 का एक बार पुनः संशोधन हुआ जो 24 सितम्बर, 1973 को लागू हुआ। इसके अनुसार, अब आर्थिक एवं सामाजिक परिषद् की सदस्य संख्या 54 हो गयी है। यह एक स्थायी संस्था है परन्तु इसके एक-तिहाई सदस्य प्रतिवर्ष पदमुक्त होते रहते हैं। इस प्रकार प्रत्येक सदस्य की अवधि 3 वर्ष होती है। परन्तु अवकाश ग्रहण करने वाला सदस्य तुरन्त पुनः निर्वाचित हो सकता है। परिषद् में प्रत्येक सदस्य राष्ट्र का एक ही प्रतिनिधि होता है।

यद्यपि आर्थिक तथा सामाजिक परिषद् के लिए कोई स्थायी सदस्यता का उपबंध नहीं है तथापि व्यवहार में तथाकथित ‘पांच बड़े’ सदस्य निर्वाचित हो जाते हैं। साधारणतः, इसके निर्वाचित सदस्य ही इसकी बैठकों में भाग लेते हैं पर यह संयुक्त राष्ट्र के किसी भी सदस्य को बिना मतदान के किसी ऐसे विषय पर अपने विचार-विमर्श में आमंत्रित कर सकती है, जो उस सदस्य के लिए विशेष चिंता का विषय हो।

4.5.2 कार्य एवं शक्तियां—चार्टर के अनुसार, आर्थिक तथा सामाजिक परिषद् के निम्नलिखित कार्य तथा शक्तियां हैं—

- वह अंतर्राष्ट्रीय आर्थिक, सामाजिक, सांस्कृतिक, शैक्षिक, स्वास्थ्य तथा सम्बन्धित मामलों पर अध्ययन कर सकती है तथा इस विषय में महासभा, संयुक्त राष्ट्र के सदस्यों तथा विशिष्ट अभिकरणों को रिपोर्ट दे सकती है।
- यह सबके मानवीय अधिकारों तथा मौलिक स्वतंत्रताओं के आदर तथा लागू करने के लिए संस्तुति दे सकती है।
- यह अपनी क्षमता के अंतर्गत आने वाले विषयों से सम्बन्धित अभिसमयों के आलेख महासभा को प्रेषित कर सकती है।
- संयुक्त राष्ट्र द्वारा निर्धारित नियमों के अनुसार अपनी क्षमता के अंतर्गत आने वाले विषयों से सम्बन्धित मामलों पर सम्मेलन बुला सकती है।
- सुरक्षा परिषद् की प्रार्थना पर यह सुरक्षा परिषद् को सूचनाएं प्रेषित कर सकती है तथा सहायता कर सकती है।

- आर्थिक तथा सामाजिक परिषद् महासभा की संस्तुतियों के पालन हेतु वह सब कार्य संपादित कर सकती है जो इसकी क्षमता के अंतर्गत होते हैं।
- महासभा के अनुमोदन से, आर्थिक तथा सामाजिक परिषद् सदस्यों तथा विशिष्ट एजेन्सियों की प्रार्थना पर सेवाएं अर्पित कर सकती हैं।
- उपर्युक्त कार्यों के अतिरिक्त, यह चार्टर के अंतर्गत निर्दिष्ट तथा महासभा द्वारा बनाये गये सभी कार्यों को संपादित करेगी।

उपर्युक्त कर्तव्यों और अधिकारों के अतिरिक्त आर्थिक एवं सामाजिक परिषद् संयुक्त राष्ट्र के अन्य अंगों को सहाता देती है। अनुच्छेद 65 के अनुसार यह महासभा की सिफारिशों के क्रियान्वयन के सम्बन्ध में ऐसे कार्य कर सकती है, जो उसकी अधिकारिता में आते हों और वह उन दूसरे सभी कार्यों को कर सकती है, जो संयुक्त राष्ट्र के चार्टर में अन्यत्र दिये गये हैं अथवा महासभा द्वारा उसे सौंपे गये हैं। आर्थिक एवं सामाजिक परिषद् के प्रमुख कार्यों में से एक कार्य विशिष्ट अभिकरणों की गतिविधियों में समन्वय करना भी है। वस्तुतः गरीबों, घायलों तथा अशिक्षितों की सहायता करके आर्थिक तथा सामाजिक परिषद् विश्व-शांति की स्थापना में सहायता करती है। यह सभी प्रकार से लोगों के जीवन में सुधार करने का प्रयत्न करती है।

4.5.3 आर्थिक तथा सामाजिक परिषद् के कार्यों का मूल्यांकन—आर्थिक और सामाजिक परिषद् ने अनेक क्षेत्रों में सराहनीय कार्य किया है। विशेषतः इसके तथा विशिष्ट समितियों के तत्वावधान में एशिया, अफ्रीका और लैटिन अमरीका के पिछड़े हुए देशों को दी गयी तकनीकी सहायता तथा मानवीय अधिकारों की घोषणा इसकी प्रमुख सफलताएं मानी जाती हैं। यह संस्था संयुक्त राष्ट्र को, राष्ट्र संघ की तुलना में अधिक व्यापक और जनकल्याणकारी संस्था बना देती है। शरणार्थियों, राज्यविहीन व्यक्तियों, ट्रेड यूनियनों के अधिकारों, दासता तथा बेगार जैसी समाज-विरोधी कार्यवाहियों पर परिषद् द्वारा सतत् विचार-विमर्श होता रहता है। परिषद् ने अपने एक प्रस्ताव द्वारा किसी भी राष्ट्रीय, नस्ली तथा धार्मिक समुदाय को पूर्णतया समाप्त करने के प्रयास को अवैध घोषित कर दिया है। आर्थिक एवं प्राविधिक सहायता तथा योजनाओं से पिछड़े हुए राष्ट्रों का विकास इस परिषद् का उद्देश्य है। आर्थिक दृष्टि से अभावग्रस्त जातियों एवं समुदायों के सामाजिक स्तर को ऊपर उठाया जाता है। परिषद् के द्वारा अर्ध-विकसित राष्ट्रों को विशेषज्ञों का सहयोग दिया जाता है, साथ ही उन्हें यंत्रों, उपकरणों आदि आवश्यक वस्तुओं को खरीदने के लिए आर्थिक सहयोग उपलब्ध कराया जाता है। आर्थिक तथा सामाजिक परिषद् आधुनिक पद्धतियों से उत्पादन बढ़ाने में सहयोग देकर गरीबी-निवारण में सहयोग देती है। यह आवश्यक उपकरणों, यंत्रों, मशीनों, भवनों, सड़कों एवं बंदरगाहों को उपलब्ध कराकर व्यापार, उद्योग तथा कृषि की उन्नति में सहयोग देती है जिससे भारत सहित एशिया तथा अफ्रीकी राष्ट्रों को बहुत सहयोग मिल रहा है।

संक्षेप में, आर्थिक एवं सामाजिक परिषद् ने एक विश्वव्यापी कल्याणकारी परिषद् के रूप में कार्य किया है। इसने विश्व को अभाव, दरिद्रता, रोग और निरक्षरता से मुक्ति दिलाने का प्रयास किया है। इसने सन् 1948 की मानवीय अधिकारों की घोषणा और 1952 के महिलाओं के राजनीतिक अधिकारों से सम्बन्धित सम्मेलन द्वारा मानव अधिकारों और मूल स्वतंत्रताओं के प्रति अपार जन-जागृति पैदा करने का प्रयास किया है।

यद्यपि इसे आर्थिक एवं सामाजिक विषयों एवं विधान पर बनाने की क्षमता प्राप्त नहीं है, तथापि इसने मानव जाति के उत्थान एवं उसे सुखी जीवन प्रदान करने की दिशा में प्रशंसनीय कार्य किया है। संयुक्त राष्ट्र बाल निधि, संयुक्त राष्ट्र शरणार्थी निधि, तकनीकी सहायता समिति, यूरोप के लिए आर्थिक आयोग, एशिया व सुदूरपूर्व के लिए आर्थिक आयोग, लैटिन अमरीका के लिए आर्थिक आयोग, अफ्रीका के लिए आर्थिक आयोग, संयुक्त राष्ट्र कोरियाई पुनर्निर्माण अभिकरण और आर्थिक विकास के लिए विशेष निधि—सबों ने सम्पूर्ण विश्व संपूर्ण विश्व की आर्थिक एवं सामाजिक उन्नति के लिए महान् योगदान दिया है। वास्तव में, द्वितीय महायुद्ध की विभीषिकाओं से पीड़ित मानव जाति के अविकसित एवं नवोदित राष्ट्रों के लिए यह एक प्रेरणा व सहायता का स्रोत रही है।

4.5 अंतर्राष्ट्रीय न्यायालय

अंतर्राष्ट्रीय न्यायालय राष्ट्र संघ की प्रमुख कानूनी संस्था है। यह कानून से सम्बन्ध रखने वाले प्रश्नों पर ही यह विचार करता है। राजनीतिक झगड़ों से इसका कोई सम्बन्ध नहीं है। ऐसे देश जो इस न्यायालय के सदस्य हों, यदि किसी मामले को न्यायालय के समक्ष उपस्थित करना चाहें, तो कर सकते हैं। इसके अतिरिक्त, सुरक्षा परिषद् कानूनी विवाद उपस्थित होने पर उसे न्यायालय के सम्मुख पेश कर सकती है। संयुक्त राष्ट्र संघ की अन्य संस्थाएं भी किसी कानूनी प्रश्न पर न्यायालय से परामर्श ले सकती हैं। व्यक्तिगत झगड़े इस अदालत में पेश नहीं किये जा सकते।

चीन, सोवियत संघ, ब्रिटेन और अमरीका ने डम्बार्टन ऑक्स सम्मेलन के समय संयुक्त राष्ट्र संघ के संगठन के सम्बन्ध में जो प्रस्ताव किये हैं, उनमें यह कहा गया था कि एक अंतर्राष्ट्रीय न्यायालय भी होना चाहिए। सेनफ्रांसिसको सम्मेलन का आयोजन करने वाले राष्ट्रों के आमंत्रण पर विधिवेत्ताओं की समिति, जिसमें 14 देशों के प्रतिनिधि सम्मिलित थे, की बैठक 9 अप्रैल से 20 अप्रैल, 1945 तक वाशिंगटन में हुई। इस बैठक में वर्तमान अंतर्राष्ट्रीय न्यायालय का प्रारूप तैयार हुआ।

संयुक्त राष्ट्र संघ के चार्टर में 92 से 96 तक के अनुच्छेदों में अंतर्राष्ट्रीय न्यायालय का विधान है। अनुच्छेद 92 का मंतव्य है कि अंतर्राष्ट्रीय न्यायालय संयुक्त राष्ट्र संघ का न्याय सम्बन्धी प्रधान उपकरण होगा। उसका काम उस विधान के अनुसार होगा जो परिशिष्ट रूप में चार्टर के साथ संलग्न है। अनुच्छेद 94 के अनुसार प्रत्येक सदस्य का कर्तव्य है कि वह न्यायालय के निर्णयों का ठीक तरह से पालन करे। यदि एक पक्ष पालन न करे तो दूसरे पक्ष को अधिकार है कि सुरक्षा परिषद् का ध्यान इस ओर उपयुक्त कार्यवाही के लिए आकृष्ट करे।

अंतर्राष्ट्रीय न्यायालय की स्थापना हेग सम्मेलन में 3 अप्रैल, 1946 को हुई थी। अंतर्राष्ट्रीय न्यायालय का संविधान 70 अनुच्छेदों में है। इसमें न्यायालय के अधिकार, अधिकार-क्षेत्र, कार्य संचालन नियम, आदि सभी आवश्यक बातें दी हुई हैं।

स्थायी न्यायालय का कार्यालय हेग में दूसरे विश्व युद्ध के आरंभ तक था। युद्धकाल में वह स्विट्जरलैण्ड चला गया था क्योंकि सम्पूर्ण हालैण्ड पर जर्मनी का अधिकार हो गया था। युद्ध समाप्ति के बाद संयुक्त राष्ट्र संघ के अंतर्गत जिस न्यायालय की स्थापना हुई, उसका मुख्य स्थान हेग ही रखा गया। इसका कारण यह था कि कार्यालय के भव्य भवन का निर्माण अमरीकी दानवीर स्वर्गीय कार्नेगी ने अपने धन से कराया था। अतः आज अंतर्राष्ट्रीय न्यायालय का कार्यालय उसी भवन में है। पहले न्यायालय ने जो निर्णय किये थे या आदेश दिये थे उन सबको नये न्यायालय ने अंगीकार कर लिया।

4.5.1 अंतर्राष्ट्रीय न्यायालय का मूल्यांकन—यद्यपि अंतर्राष्ट्रीय न्यायालय के निर्णयों के पीछे कोई बाध्यकारी शक्ति नहीं फिर भी जब से इसने जन्म लिया है, इसके द्वारा अनेक अंतर्राष्ट्रीय मामलों को सुलझाया जा चुका है। एम.सी.छागला के अनुसार, “यह न्यायालय संयुक्त राष्ट्र संघ का एक महत्वपूर्ण न्यायालय है। यद्यपि उसके पास वे शक्तियां एवं अधिकार नहीं जो इसे वास्तव में प्राप्त होने चाहिए थे, फिर भी यह महान् उद्देश्यों की एक साकार प्रतिमा है।” न्यायालय के कार्य संचालन में विभिन्न देशों तथा गुटों ने बाधा डाली है। राज्यों की अवहेलना तथा असहयोगपूर्ण दृष्टिकोण के कारण वह अधिक उपयोगी तथा शक्तिशाली संस्था नहीं बन सकी है। अतिवादी प्रभुसत्ता का विचार न्यायालय के के मार्ग में बहुत बड़ी बाधा है। इसका परित्याग करना होगा। इसी प्रकार संविधि की धारा 34 में यह कहा गया है कि न्यायालय के सम्मुख राज्य ही वादी और प्रतिवादी हो सकते हैं।

गुडस्पीड ने लिखा है कि “अपनी क्षमता के बावजूद न्यायालय एक ऐसे विश्व समाज में कार्य करता है जो अभी भी इसे महत्वपूर्ण मामले सुपुर्द करने को तैयार नहीं है अथवा वह भी कार्य करने देने के लिए तैयार नहीं जो चार्टर में इसके लिए निर्देशित हैं।” वर्ष 1946 से अंतर्राष्ट्रीय न्यायालय के उद्घाटन काल से राज्यों ने इसके समक्ष 72 मामले पेश किये हैं और अंतर्राष्ट्रीय संगठनों द्वारा 22 परामर्शात्मक मतों के लिए अनुरोध किया गया। अधिकांश विवादों पर न्यायालय की पूर्ण बेंच ने विचार किया तथापि 1981 के बाद प्रस्तुत 4 विवादों पर सम्बन्धित पक्षों की प्रार्थना के आधार पर बेंच को विचार के लिए सौंपा गया। न्यायालय के समक्ष प्रस्तुत विवाद विभिन्न मसलों से सम्बन्धित रहे हैं। वर्तमान में राष्ट्रों के मध्य झगड़ों से सम्बन्धित मात्र 11 मामले न्यायालय के निर्णय हेतु बकाया हैं। न्यायालय का उपयोग बहुत कम हो रहा है। फ्रांसिस ओ. विसकोक्स ने लिखा है कि 1946 से 1955

तक के दस वर्षों में राष्ट्रों के बीच के झगड़ों के सम्बन्ध में सिर्फ 16 मुकदमे न्यायालय के समक्ष उपस्थित किये गये।

1955 तक सिर्फ 44 राज्यों ने अंतर्राष्ट्रीय न्यायालय के निर्णय को बंधनकारी मानने की घोषणा की। अन्य राष्ट्रों ने जिनमें सोवियत संघ भी था किसी भी रूप में अंतर्राष्ट्रीय न्यायालय के बंधनकारी रूप को स्वीकार नहीं किया। यह आश्चर्य की बात है कि संयुक्त राष्ट्र संघ ने भी अब तक सिर्फ बाईस बार ही कानूनी सलाह इस न्यायालय से ली है। सुरक्षा परिषद् तथा अन्य संस्थाओं ने तो इसकी आवश्यकता का अनुभव ही नहीं किया है। सुरक्षा परिषद् तथा अन्य संस्थाओं ने प्रायः कानूनी मामलों पर न्यायालय की राय न लेकर, कानूनी बातों के सम्बन्ध में भी राजनीतिक भावना से काम लिया है। कश्मीर प्रश्न अथवा स्वेज नहर आदि मूलतः कानूनी प्रश्न थे, किन्तु उनके सम्बन्ध में निर्णय राजनीतिक दृष्टि से किया गया। फिर भी यह तो कहना ही पड़ेगा कि अपनी दुर्बलताओं और परिसीमाओं के बावजूद अंतर्राष्ट्रीय न्यायालय ने अपना काम बड़ी कुशलता से किया है तथा अंतर्राष्ट्रीय विधि के विकास में योगदान दिया है।

4.5.2 संयुक्त राष्ट्र के प्रमुख विशिष्ट अभिकरण—यद्यपि संयुक्त राष्ट्र संघ का प्रमुख उद्देश्य विश्व शांति एवं सुरक्षा स्थापित करना है तथापि अन्य क्षेत्रों में भी राष्ट्रों के आपसी सहयोग द्वारा उक्त उद्देश्य की प्राप्ति को सुगम बनाने के लिए विशिष्ट अभिकरणों की व्यवस्था की गयी है। पामर एवं पर्किन्स के अभिमत में संयुक्त राष्ट्र संघ के विशिष्ट अभिकरणों का सम्बन्ध मानवता की सभी मूलभूत आर्थिक तथा सामाजिक समस्याओं से है जिस कारण अंतर्राष्ट्रीय सहयोग बढ़ाने तथा विश्व के लोगों के जीवन स्तर को ऊंचा उठाने में उसकी महत्वपूर्ण भूमिका है। संयुक्त राष्ट्र संघ के विशिष्ट अभिकरणों को मोटेतौर से चार भागों में बांटा जा सकता है—

अ. तकनीकी मामलों में सक्रिय अभिकरण

- अंतर्राष्ट्रीय नागरिक उड्डयन संगठन
- विश्व मौसम विज्ञान संगठन
- विश्व डाक संघ
- अंतर्राष्ट्रीय दूर-संचार संघ
- अंतर्राष्ट्रीय समुद्रवर्ती संगठन
- अंतर्राष्ट्रीय परमाणु ऊर्जा एजेंसी

ब. सामाजिक एवं मानवीय गतिविधियों में सक्रिय अभिकरण

- अंतर्राष्ट्रीय श्रम संगठन
- यूनेस्को
- विश्व स्वास्थ्य संगठन
- विश्व बौद्धिक सम्पदा संगठन

स. अंतर्राष्ट्रीय वित्तीय समस्याओं : आर्थिक विकास में सक्रिय अभिकरण

- पुनर्निर्माण एवं विकास का अंतर्राष्ट्रीय बैंक
- अंतर्राष्ट्रीय विकास संघ
- अंतर्राष्ट्रीय वित्त निगम
- अंतर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष
- विश्व व्यापार संघ

द. विशुद्ध रूप से आर्थिक समस्याओं से सम्बद्ध अभिकरण

- खाद्य एवं कृषि संगठन
- अंतर्राष्ट्रीय वित्त निगम
- अंतर्राष्ट्रीय औद्योगिक विकास संगठन

■ अंतर्राष्ट्रीय कृषि विकास निधि

4.5.2.1 अंतर्राष्ट्रीय परमाणु ऊर्जा एजेंसी—अंतर्राष्ट्रीय परमाणु ऊर्जा अभिकरण की संविधि का प्रारूप संयुक्त राष्ट्र के मुख्यालय में बुलाये गये एक अंतर्राष्ट्रीय सम्मेलन में 26 अक्टूबर, 1956 को स्वीकृत हुआ था। तत्पश्चात् इसकी स्थापना 29 जुलाई, 1957 को हुई। जिस समय इसकी संविधि का प्रारूप तैयार हो गया, उस समय संयुक्त राष्ट्र के सदस्य राज्यों के समक्ष एक बहुत बड़ा विवादास्पद प्रश्न उत्पन्न हुआ—“इसे संयुक्त राष्ट्र से किस तरह सम्बद्ध किया जाय?” कुछ महाशक्तियां इसे संयुक्त राष्ट्र के पूर्ण नियंत्रण में रखना चाहती थीं और कुछ इसे सभी दृष्टिकोणों से एक पूर्ण स्वायत्त निकाय के रूप में देखना चाहती थीं। अंततः सन् 1957 में संयुक्त राष्ट्र के सदस्य राज्यों ने एक समझौता सूत्र स्वीकार किया, जिसके अनुसार इसे ‘स्वायत्त अंतर्राष्ट्रीय संगठन’ की स्थिति प्रदान की गयी। अतः यथार्थ रूप में इसे संयुक्त राष्ट्र का न सहायक अंग कहा जा सकता है और न उसका विशिष्ट अभिकरण। सन् 1996 में इसके सदस्य राष्ट्रों की संख्या 123 थी।

अंतर्राष्ट्रीय परमाणु ऊर्जा अभिकरण का प्रमुख उद्देश्य परमाणु ऊर्जा के शांतिपूर्ण उपयोग को प्रोत्साहन देना है। इसका उद्देश्य विश्व भर में शांति, स्वास्थ्य और समृद्धि के लिए परमाणु ऊर्जा को द्रुतगति से व्यापक बनाना है और इस बात का निश्चय करना है कि इसके द्वारा की गयी सहायता सैनिक प्रयोजन से प्रयुक्त न हो सके। यह परमाणु ऊर्जा के नये साधनों का विकास करता है, ऊर्जा के संरक्षण का प्रयास करता है और अनुसंधान एवं विकास कार्यों में प्रगति लाता है। इसकी प्रमुख गतिविधियों में अन्वेषण को मान्यता दी गयी है, जिसके द्वारा यह ऊर्जा विकिरण एवं आइसोटोपों के उपयोगों से कृषि, विज्ञान तथा आयुर्विज्ञान में प्रगति लाने के लिए सदस्य राज्यों को पर्याप्त जानकारी उपलब्ध कराता है, और उन्हें तकनीकी सहायता प्रदान करता है। अभी तक इसकी उपलब्धियां साधारण रही हैं पर इसने आधुनिक विश्व को परमाणु ऊर्जा के शांतिपूर्ण उपयोग के क्षेत्र में प्रभावी अंतर्राष्ट्रीय सहयोग के लिए एक सुअवसर प्रदान किया है।

अंतर्राष्ट्रीय परमाणु ऊर्जा अभिकरण एक सामान्य सम्मेलन, एक 35—सदस्यीय प्रशासक मण्डल और एक सचिवालय से गठित किया गया है। सचिवालय का प्रधान महानिदेशक होता है जो प्रशासक मण्डल द्वारा निर्देशन के आधार पर सामान्य सम्मेलन द्वारा निर्वाचित होता है। सामान्य सम्मेलन विचार—विमर्श करता है, सिफारिश करता है और अभिकरण के बजट पर नियंत्रण रखता है। इसकी बैठक साल में एक बार होती है। इसका प्रधान कार्यालय वियना (आस्ट्रिया) में है।

4.5.2.2 अंतर्राष्ट्रीय श्रम संगठन—अंतर्राष्ट्रीय श्रम संगठन की स्थापना प्रथम विश्व-युद्ध के बाद 11 अप्रैल, 1919 को हुई थी। राष्ट्र संघ के अंतर्गत यह प्रथम विशिष्ट अभिकरण था। सन् 1946 में इसे संयुक्त राष्ट्र संघ का अंग स्वीकार कर लिया गया। यह ऐसी अंतर्राष्ट्रीय संस्था थी जो द्वितीय विश्व-युद्ध के काल में भी कार्य करती रही। अंतःसरकारी एजेंसी के रूप में यह संगठन श्रमिकों की स्थिति में सुधार करने, जीवन—स्तर उन्नत करने और आर्थिक तथा सामाजिक शांति बनाये रखने की कोशिश करता है। यह विश्व में श्रमिक, मालिक और सरकार के त्रिविध सहयोग का प्रयत्न करने वाला सबसे बड़ा संगठन है। यह संगठन अंतर्राष्ट्रीय सम्मेलनों द्वारा मजदूरी, काम के घंटे, काम के लिए कम उम्र, अलग—अलग दर्जे के मजदूरों के लिए काम की शर्तें, कर्मचारियों को मुआवजा, सामाजिक बीमा, वेतन सहित छुट्टी, औद्योगिक सुरक्षा, रोजगार की व्यवस्था, श्रम सम्बन्धी निरीक्षण, सभा आदि की आजादी जैसे विषयों पर अंतर्राष्ट्रीय श्रम संधियों के मसौदे तैयार करवाकर स्वीकृत करता है।

अंतर्राष्ट्रीय श्रम संगठन के तीन अंग हैं—1. श्रम सम्मेलन, 2. प्रबन्धन शाखा, एवं 3. श्रम कार्यालय। इसकी सर्वोच्च सत्ता श्रम सम्मेलन में निहित है जिसकी बैठक प्रतिवर्ष होती है। इसमें राष्ट्रीय प्रतिनिधिमण्डल होते हैं, जिनमें दो प्रतिनिधि सरकार के और उनके अलावा एक प्रतिनिधि मालिक का और एक प्रतिनिधि मजदूर का होता है। इसका मुख्य समझौते के रूप में अंतर्राष्ट्रीय सामाजिक स्तर निश्चित करना है। प्रबंध शाखा में 56 सदस्य होते हैं। इसमें 28 सरकारी प्रतिनिधि होते हैं और 14—14 प्रतिनिधि मजदूरों और मालिकों के होते हैं। अंतर्राष्ट्रीय श्रम कार्यालय प्रबंध शाखा और संस्था के सचिवालय की व्यवस्था करता है। इसका प्रधान कार्यालय जेनेवा (स्विट्जरलैण्ड) में है। सन् 1969 में इसको नोबल शांति पुरस्कार मिला। 1995 में इसकी सदस्य संख्या 173 थी। वर्ष 1996—97 के लिए इसका वार्षिक बजट 579.5 मिलियन डॉलर था।

4.5.2.3 संयुक्त राष्ट्र खाद्य एवं कृषि संगठन—इसका संगठन सन् 1943 में खाद्य एवं कृषि सम्बन्धी संयुक्त राष्ट्र सम्मेलन के फलस्वरूप हुआ था। इस संगठन का उद्देश्य पोषण—स्तर तथा जीवन—स्तर को बढ़ाना है। इसका प्रमुख कार्य पोषण, खाद्य एवं कृषि सम्बन्धी सूचना संग्रहित करना, उनका प्रसार करना एवं विश्लेषण करना है। इन उद्देश्यों को पूरा करने के कार्य में यह संस्था दुनिया के भूमि और पानी के मूल साधनों के विकास में योग देती है। यह विभिन्न देशों में उन्नत तरीकों का प्रचार करती है तथा मवेशियों की भयंकर महामारियों को रोकने की व्यवस्था करती है। वह इन क्षेत्रों में कटाव को रोकने, सिंचाई, इंजीनियरी, फिर से जंगल लगाना, जमा की हुई खाने—पीने की चीजों को नष्ट होने से बचाने और रासायनिक खाद तैयार करने। इस समय इस संगठन में सैंकड़ों विशेषज्ञ विभिन्न देशों में विद्यमान हैं। कीड़े—मकोड़ों से होने वाली फसल की हानि कम करने की कोशिश में इसके सदस्य विभिन्न देशों की सरकारों की सहायता कर रहे हैं। ये कृषि यंत्रों के अच्छे—से—अच्छे उपयोग में उत्पादन बढ़ाने में भी सहायता कर रहे हैं।

अंतर्राष्ट्रीय खाद्य तथा कृषि संगठन अपना कार्य सम्मेलन के द्वारा सम्पन्न करता है। प्रत्येक सदस्य राष्ट्र इस सम्मेलन में एक प्रतिनिधि भेजता है। सन् 1995 में इसके 174 देश सदस्य थे। वर्ष 1995—96 के लिए इसका अर्द्ध—वार्षिक बजट 650 मिलियन डॉलर था। संगठन के अंतर्गत 49 सदस्यों की परिषद् है, जिसे विश्व खाद्य परिषद् कहा जाता है। इसका एक सचिवालय होता है जिसकी अध्यक्षता प्रमुख संचालक करता है जो सम्मेलन के द्वारा चुना जाता है।

आज विश्व के गिने—चुने क्षेत्रों की जनता को छोड़कर सबके सम्मुख खाद्य संकट का विकराल प्रश्न खड़ा है। खाद्य और कृषि संगठन इस समस्या को हल करने में सतत् प्रयत्नशील हैं। इसके बजट का 42% भाग अफ्रीका में तथा 21% भाग एशिया में खर्च होता है।

4.5.2.4 विश्व स्वास्थ्य संगठन—इस संस्था का संविधान 22 जुलाई, 1946 को स्वीकृत हुआ था और इसका उद्घाटन 7 अप्रैल, 1948 को हुआ। इसका उद्देश्य विश्व के देशों की जनता द्वारा स्वास्थ्य की उच्चतम संभव दशा को प्राप्त करना है। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए यह संगठन निम्नलिखित कार्य करता है—अंतर्राष्ट्रीय स्वास्थ्य के कार्यों का संचालन और समन्वय; स्वास्थ्य के क्षेत्र में संयुक्त राष्ट्र संघ तथा इसके विशेष संगठनों तथा अन्य स्वास्थ्य संबंधी संस्थाओं में सहयोग स्थापित करना; महामारियों तथा बीमारियों के उन्मूलन के कार्य को प्रोत्साहित करना; लोगों के पर्यावरणीय स्वास्थ्य की परिस्थितियों को तथा आहार, पोषण, निवास—गृह और सफाई तथा काम करने की दशाओं के उन्नत करना; मातृ—मंगल, बाल स्वास्थ्य और कल्याण कार्यों की वृद्धि; स्वास्थ्य के क्षेत्र में अनुसंधान, स्वास्थ्य, शिक्षा और प्रशिक्षण को ऊंचा करना; बीमारियों के अंतर्राष्ट्रीय नामों के तथा निदान सम्बन्धी कार्यों का मानकीकरण तथा खाद्य पदार्थों, दवाइयों तथा अन्य ऐसी वस्तुओं के सम्बन्ध में अंतर्राष्ट्रीय मानक निश्चित करना।

इस संगठन के तीन अंग हैं—1. सदस्य राज्यों के प्रतिनिधियों की असेम्बली, 2. असेम्बली द्वारा चुने गये 31 व्यक्तियों का प्रबन्ध बोर्ड, तथा 3. सचिवालय। इसका मुख्य कार्यालय जेनेवा में है। विश्व स्वास्थ्य संगठन ने विकासशील देशों के हित में कुछ उल्लेखनीय कार्य किये हैं। छुआछूत से फैलने वाली बीमारियों एवं महामारियों की रोकथाम में इसका योगदान महत्वपूर्ण रहा है। मलेरिया उन्मूलन के अंतर्गत इसने भारत, श्रीलंका, इजरायल, जोर्डन, लेबनान, सीरिया, यूनान, इत्यादि 40 देशों में कार्य किया है और अनेक जगहों में इसे उल्लेखनीय सफलता मिली है। विश्व स्वास्थ्य संगठन का 1996—97 वर्ष के लिए 1900 मिलियन डॉलर का वार्षिक बजट था जिसका अंशदान सदस्य राज्य करते हैं। 1996 में विश्व स्वास्थ्य संगठन के 190 राज्य सदस्य थे।

4.5.2.5 अंतर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष—अंतर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष की स्थापना विश्व के विभिन्न राष्ट्रों के बीच मौद्रिक सहयोग का ज्वलंत उदाहरण है। इसकी स्थापना दिसम्बर, 1945 में हुई तथा 1 मार्च, 1947 से इसने अपना कार्य प्रारंभ कर दिया। इसके प्रमुख उद्देश्य हैं—1. अंतर्राष्ट्रीय मौद्रिक सहयोग की उन्नति करना; 2. अंतर्राष्ट्रीय व्यापार को बढ़ाना; 3. विनिमय दरों को स्थायी बनाना; 4. अंतर्राष्ट्रीय भुगतानों के अंतरों की विषमता दूर करना; 5. अंतर्राष्ट्रीय भुगतान—असंतुलन को कम करना; 6. लाभ के कामों में पूंजी लगाना। संक्षेप में, मुद्रा कोष का उद्देश्य एक ऐसी प्रणाली का विकास करना है जिससे सदस्य देशों को

विदेशी विनिमय की सुविधा हो, अंतर्राष्ट्रीय व्यापार को प्रोत्साहन मिले और सदस्य देशों की आर्थिक उन्नति हो सके।

कोष के प्रबंध के लिए प्रशासक-मण्डल है जो साधारण सभा का कार्य करता है। कोष के प्रतिदिन के कार्य-संचालन हेतु एक प्रबंधक-मण्डल होता है। इस मण्डल में कम-से-कम 24 सदस्यों का होना आवश्यक है, जिनमें से 5 स्थायी और शेष अस्थायी होते हैं। विधान के अनुसार कोष का प्रधान कार्यालय उस देश में रहेगा जिसका कोष सबसे अधिक है। इस समय अमरीका का कोष सबसे अधिक होने के कारण कोष का प्रधान कार्यालय अमरीका में ही रखा गया है। अमरीका के बाद कोष में सर्वाधिक अंशदान जर्मनी, जापान तथा फ्रांस और इंग्लैण्ड का है। 1 मार्च, 1947 को अंतर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष के सदस्यों की संख्या 40 थी और उसके अभ्यंश का योग 7.5 बिलियन डॉलर था परन्तु 1995 तक इसके सदस्यों की संख्या 181 हो गई थी।

अंतर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष के प्रमुख कार्य हैं-

- आर्थिक सहायता-मुद्रा कोष सदस्य देशों के भुगतान शेषों में उत्पन्न होने वाले अल्पकालीन असंतुलन को दूर व कम करने में सहायता करता है। इसके लिए वह सदस्य देशों को विदेशी मुद्राएं बेचकर तथा उधार देकर उन्हें भुगतान शेष में होने वाले असंतुलन को दूर करने में मदद देता है।
- मुद्रा की समता दरों का निर्धारण-मुद्रा कोष सदस्य देशों की विनिमय दरों में होने वाले उच्चावचनों को रोकने में मदद करता है।
- तकनीकी सहायता-मुद्रा कोष अपने विशेषज्ञों के द्वारा सदस्य देशों की आंतरिक अर्थव्यवस्थाओं का अध्ययन करता है तथा विभिन्न विषयों पर सलाह देता है। 4. प्रशिक्षण सुविधाएं-इस कार्यक्रम के अंतर्गत केन्द्रीय बैंकों और सरकार के वित्त विभाग के उच्च पदाधिकारियों को अंतर्राष्ट्रीय भुगतान, आर्थिक विकास, वित्तीय व्यवस्था तथा आंकड़ों के संकलन और विश्लेषण से सम्बन्धित प्रशिक्षण दिया जाता है।

अंतर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष की कई आधारों पर आलोचना की जाती है, जैसे-कोष भेदभावपूर्ण नीति अपनाता रहा है; यह अंतर्राष्ट्रीय तरलता में वृद्धि करने में असफल रहा है; मुद्रा कोष द्वारा राष्ट्रों के अभ्यंश वैज्ञानिक आधार पर निर्धारित नहीं किये गये हैं; मुद्रा कोष दुर्लभ मुद्राओं की समस्या का समाधान करने में असफल रहा है।

4.5.2.6 यूनेस्को (UNESCO)-यूनेस्को का पूरा नाम 'संयुक्त राष्ट्र शैक्षणिक, वैज्ञानिक एवं सांस्कृतिक संगठन' है। इस संगठन की स्थापना 4 नवम्बर, 1946 को लन्दन में सम्मेलन द्वारा प्रस्तुत किये विधान के अनुसार की गयी। इसे 14 दिसम्बर, 1946 को संयुक्त राष्ट्र संघ के साथ जोड़ दिया गया। आज यह संगठन सर्वाधिक लोकप्रिय सिद्ध हुआ है और सन् 1997 में इसकी सदस्य संख्या 186 तक पहुंच गयी है। वर्ष 1994-95 के लिए यूनेस्को का बजट 455,490,000 डॉलर था।

यूनेस्को के प्रस्ताव में उसका उद्देश्य निहित है-"युद्ध मनुष्यों के मस्तिष्कों में प्रारंभ होते हैं, अतः मनुष्यों के मस्तिष्कों में ही शांति की सुरक्षा के लिए व्यवस्था की जानी चाहिए।" यूनेस्को का उद्देश्य शांति एवं सुरक्षा के लिए योगदान करना है जिसकी पूर्ति हेतु शिक्षा, विज्ञान तथा संस्कृति के द्वारा राष्ट्रों के मध्य निकटता की भावना का निर्माण करना आवश्यक है। यह संस्था विभिन्न समुदायों में परस्पर ज्ञान एवं सद्भावना उत्पन्न करने में सहायक होती है।

संयुक्त राष्ट्र का कोई भी सदस्य यूनेस्को का सदस्य बन सकता है। जो राज्य संयुक्त राष्ट्र के सदस्य नहीं हैं वे भी यूनेस्को की सदस्यता प्राप्त कर सकते हैं, परन्तु ऐसे राष्ट्रों की सदस्यता हेतु कार्यकारी-मण्डल की सिफारिश पर यूनेस्को महासम्मेलन उपस्थित सदस्यों के दो-तिहाई बहुमत से स्वीकृति मिलनी चाहिए।

यूनेस्को के तीन प्रमुख अंग हैं-1. महासम्मेलन-यह संस्थान की सर्वोच्च निकाय है। इसमें सभी सदस्य राज्यों के प्रतिनिधि होते हैं। प्रत्येक दूसरे वर्ष इसका अधिवेशन होता है। इसे सम्पूर्ण विश्व के लिए मानसिक कार्यकर्ताओं की संसद कहा जाता है। 2. कार्यकारी मण्डल-इसे यूनेस्को का हृदय कहा

जाता है। यह यूनेस्को के महासम्मेलन तथा महानिदेशक के मार्गदर्शन में कार्य करता है। इसमें महासम्मेलन द्वारा चुने गये 51 सदस्य हैं। 3. सचिवालय—सचिवालय विशेषज्ञों का आगार माना जाता है। सचिवालय में एक महानिदेशक तथा अन्य अधिकारी होते हैं। यह पेरिस में स्थित है।

यूनेस्को ने शिक्षा, प्राकृतिक विज्ञान, सामाजिक विज्ञान, सांस्कृतिक कार्य, सामूहिक शिक्षा, जन-प्रसार के क्षेत्रों में प्रभावकारी कार्य किये हैं। 'शिक्षण नहीं तो विकास नहीं'—के सिद्धान्त पर यह संगठन कार्य करता आ रहा है। हायटी में इसकी प्रसिद्ध 'प्रारंभिक परियोजनाएं' अत्यन्त ही उल्लेखनीय रही हैं। इसी के प्रयत्नों से अफ्रीकी देशों में 25 शिक्षक प्रशिक्षण महाविद्यालय स्थापित हो चुके हैं, जिनकी स्थापना में इसने महान् योगदान किया है। 1951 में सामूहिक शिक्षा के लिए मैक्सिको में एक केन्द्र खोला गया। भारत ने जामिया-मिलिया में यूनेस्को की सहायता से प्रौढ़ों को साक्षर बनाने के सम्बन्ध में अनुसंधान करने एवं साहित्य प्रकाशन का कार्य किया। 1953 में अरब राज्यों के लिए मिस्र में बुनियादी शिक्षा का केन्द्र खोला गया। यूनेस्को ने नस्लवाद के विरुद्ध विभिन्न भाषाओं में साहित्य प्रकाशित किया। सामाजिक विज्ञानों के क्षेत्र में यूनेस्को अंतर्राष्ट्रीय समाज विज्ञान बुलेटिन का प्रकाश करता है। इसका सांस्कृतिक कार्य विभिन्न कलाओं से और दर्शन से सम्बद्ध है। यूनेस्को ने फिलिपाइन्स, थाईलैण्ड और अफगानिस्तान में शैक्षिक मिशन भेजे हैं, भारत में ग्रामीण वयस्क शिक्षा पर विचार-गोष्ठियां आयोजित कीं तथा अन्धों के प्रशिक्षण के लिए इसने ब्रेल पद्धति का मानकीकरण किया। इसने जन-कल्याणकारी संस्थाओं द्वारा धन-संग्रह करके शरणार्थियों के पुनर्वास में बड़ी सहायता पहुंचाई है। पत्रकारिता की उच्च शिक्षा के लिए यूनेस्को द्वारा अनेक साधन जुटाये गये हैं। शिक्षण के क्षेत्र में भेदभाव की भावनाओं के निराकरण के लिए संगठन ने सन् 1960 में 'शिक्षण में भेदभाव के विरुद्ध अभिसमय' अंगीकार किया। संक्षेप में, यूनेस्को ने युद्ध के भयानक कीटाणुओं को नष्ट करके अच्छे विश्व के निर्माण में महत्वपूर्ण योगदान किया है।

यूनेस्को उस समय गहरे संकट में फंस गया, जब अमरीका ने 1 जनवरी, 1985 और ब्रिटेन ने 1 जनवरी, 1986 से इसकी सदस्यता छोड़ दी। यही नहीं जापान और सिंगापुर ने भी धमकी दी कि यदि 'यूनेस्को' में आवश्यक सुधार नहीं किये गये तो वे भी इसकी सदस्यता त्याग देंगे। इससे जहां एक ओर यूनेस्को के प्रति उदासीनता बढ़ी, वहीं दूसरी तरफ इस संगठन के समक्ष गहरा वित्तीय संकट उत्पन्न हो गया क्योंकि अमरीका और ब्रिटेन यूनेस्को के बजट में क्रमशः 25 व 5 प्रतिशत योगदान देते थे, वह मिलना बंद हो गया। इससे संगठन के कर्मचारियों और कार्यक्रमों में कटौती करने की नौबत आ गयी।

प्रशासन ने ऐसा निर्णय इसलिए किया क्योंकि उसके अनुसार 'यूनेस्को व्यापक राजनीतिकरण, हद से ज्यादा खर्च, बजट के घटिया प्रबंध और गलत कार्मिक नीति का दोषी है।' अमरीकी राजदूत श्रीमती जीन जैरार्ड ने कहा था कि 'यूनेस्को के प्रेस से मानवाधिकारों और निःशस्त्रीकरण सम्बन्धी कार्यों में एकतरफा दृष्टिकोण और पक्षपात की गंध आती है। अमरीका को यह बात परेशान करती रही कि यूनेस्को अधिकतर सोवियत दृष्टिकोण और तीसरी दुनिया के नजरिये को ही अपनाता रहा है।' दक्षिण अफ्रीका में नस्लवाद, अरब देशों पर इजरायल के गैर-कानूनी कब्जे, नई विश्व समाचार व्यवस्था, आदि के बारे में पारित प्रस्तावों में यह आलोचना मुखर हुई। विकासशील देशों के बहुमत के कारण ऐसे कार्यक्रम मंजूर हुए जिनसे पश्चिमी देश सहमत नहीं थे। यूनेस्को पश्चिम के विरोध का अखाड़ा बन गया। यूनेस्को के लिए बड़ी मात्रा में चंदा तो पश्चिमी देश देते हैं लेकिन उसके खर्च के मामले में चलती विकासशील देशों की है। अमरीकी विदेश विभाग के अनुसार, यूनेस्को पश्चिम के विरोध का अखाड़ा बन गया। यूनेस्को के लिए बड़ी मात्रा में चंदा तो पश्चिमी देश देते हैं लेकिन उसके खर्च के मामले में चलती विकासशील देशों की है। अमरीकी विदेश विभाग के अनुसार, यूनेस्को स्वतंत्र समाज, स्वतंत्र बाजार और स्वतंत्र प्रेस के लक्ष्य से भटक गया है। इसने पश्चिम की व्यक्तिगत और आर्थिक स्वतंत्रता की नीतियों का विरोध किया जबकि सोवियत संघ तथा दूसरे समाजवादी देशों में राजनीतिक तथा वैयक्तिक अधिकारों के दमन की कभी आलोचना नहीं की।

यूनेस्को के भूतपूर्व महानिदेशक सोमालिया के एकबो ने उसके राजनीतिक रुझानों पर टिप्पणी करते हुए कहा है कि 'पहले यह सिर्फ 20 देशों का एक पश्चिमी क्लब भर था। आज इसकी सदस्य संख्या 9 गुना अधिक हो गयी है। इतने देशों की भागीदारी के बाद इसके चिंतन और कलेवर में फर्क आना स्वाभाविक है। इसकी विविधता और बहुआयामिता ही इसे एक सार्वभौमिक और विश्वव्यापी संगठन

का रूप देती है। यही इसकी असली ताकत है।” जून 1997 में ब्रिटेन ने यूनेस्को में पुनः शामिल होने का निर्णय किया है। अब यूनेस्को की सदस्य संख्या 186 हो गई है।

4.5.2.7 अंतर्राष्ट्रीय विकास संघ—अंतर्राष्ट्रीय विकास संगठन विश्व बैंक की एक सहायक संस्था है। इसकी स्थापना 24 दिसम्बर, 1960 को की गयी थी। मार्च 1961 में इसे संयुक्त राष्ट्र का एक विशिष्ट अभिकरण बनाया गया। इसका प्रमुख उद्देश्य अविकसित राज्यों के आर्थिक विकास के लिए न्यूनतम ब्याज पर दीर्घकालीन ऋण देना है। अतः यह विश्व बैंक के विकास सम्बन्धी उद्देश्यों को आगे बढ़ाता है और उसकी कार्यवाहियों को अनुपूरित करता है। विश्व बैंक के पदाधिकारी एवं कर्मचारी वर्ग ही इसके कार्य करते हैं। सन् 1992 तक विश्व के 142 देश आई.डी.ए. के सदस्य बन चुके हैं। 30 जून, 1995 तक इसने 91 देशों में कुल मिलाकर 90,078 मिलियन डॉलर की 2,593 विकास परियोजनाओं में सहायता प्रदान की है। इसके द्वारा प्रदान किये जाने वाले ऋणों में ब्याज नहीं लिया जाता है; केवल सेवा भार 3 प्रतिशत की दर से लिया जाता है। इसका मुख्यालय वाशिंगटन (अमरीका) में है।

4.5.2.8 अंतर्राष्ट्रीय वित्त निगम—अंतर्राष्ट्रीय वित्त निगम की स्थापना जुलाई 1956 में हुई तथा 20 फरवरी, 1957 को संयुक्त राष्ट्र का विशिष्ट अभिकरण बना। यद्यपि यह विश्व बैंक से निकट रूप से सम्बद्ध है, यह एक पृथक् विधिक इकाई है तथा इसका कोष विश्व बैंक के कोष से पृथक् है। विकासशील सदस्य राज्यों में निजी उद्योगों को वित्तीय सहायता देना इसका प्रमुख कार्य है। इसे ऋण देने वाली संस्था न कहकर प्रधानतः नियोजन निकाय कहा जा सकता है। इसकी संरचना विश्व बैंक की संरचना के सदृश्य है। 30 जून, 1995 तक इसकी पूंजी 1,900 मिलियन डॉलर थी जिसे 168 देशों से जुटाया गया। 1994-95 में अंतर्राष्ट्रीय वित्त निगम ने अपने स्तर पर 67 विकासशील देशों में 213 निजी क्षेत्र की परियोजनाओं के लिए 2,900 मिलियन डॉलर का विनियोजन स्वीकृत किया गया था।

4.5.2.9 पुनर्निर्माण एवं विकास का अंतर्राष्ट्रीय बैंक (विश्व बैंक)—सन् 1944 के ब्रेटनवुडस सम्मेलन से दो वित्तीय निकायों का उद्भव हुआ था—1. पुनर्निर्माण और विकास का अंतर्राष्ट्रीय बैंक, और 2. अंतर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष। इन दोनों वित्तीय निकायों की स्थापना सन् 1946 में हुई। विश्व बैंक का प्रधान उद्देश्य उत्पादक प्रयोजनों के लिए पूंजी-निवेश नियोजन की सुविधा देकर सदस्यों के प्रदेशों के पुनर्निर्माण और विकास में सहायता देना है। यह निजी विदेशी पूंजी नियोजन को प्रोत्साहन देता है और सदस्य राज्यों को निजी पूंजी उपलब्ध न होने पर उन्हें ऋण देता है। यह सदस्य राज्यों की आर्थिक सुविधाओं के विकास के लिए धन उधार देता है। सदस्य राज्यों के प्रदेशों में स्थित व्यापार-उद्योगों की प्रगति के लिए भी ऋण दिये जा सकते हैं। इस प्रकार यह बैंक उत्पादक प्रयोजनों के लिए अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर पूंजी के विनिमय को प्रोत्साहन देता है। इसने अपने निर्माण कार्य के प्रारंभिक वर्षों में द्वितीय विश्व-युद्ध से ध्वस्त यूरोप के पुनर्निर्माण की समस्याओं का समाधान किया। सन् 1948 के पश्चात् इसने अधिकतर अल्पविकसित सदस्य राज्यों को वित्तीय सहायता दी है। वही देश विश्व बैंक का सदस्य हो सकता है जो अंतर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष का सदस्य होता है। इस प्रकार दोनों संस्थाओं की सदस्यता साथ-साथ चलती है। 30 जून, 1995 को बैंक की अधिकृत पूंजी 1,76,438 मिलियन डॉलर थी। 30 जून, 1995 तक बैंक ने 3,794 ऋण 127 देशों को प्रदान किये जो कुल मिलाकर 2,66,251 मिलियन डॉलर के थे।

विश्व बैंक का प्रबंध तीन-स्तरीय होता है—एक अध्यक्ष; एक बोर्ड ऑफ गवर्नर्स; एक बोर्ड ऑफ एक्जीक्यूटिव डाइरेक्टर्स। बोर्ड ऑफ गवर्नर्स में प्रत्येक सदस्य देश से एक गवर्नर होता है। अध्यक्ष की नियुक्ति बोर्ड ऑफ एक्जीक्यूटिव डाइरेक्टर्स द्वारा होती है जिनकी संख्या 22 है, जिनमें 5 की नियुक्ति उन देशों द्वारा की जाती है जिनके बैंक में अधिकतम अंशदान हैं। बाकी 17 बोर्ड ऑफ गवर्नर्स द्वारा चुने जाते हैं। बोर्ड ऑफ एक्जीक्यूटिव डाइरेक्टर्स की बैठक अध्यक्ष के निर्देशन में होती है। बोर्ड ऑफ एक्जीक्यूटिव डाइरेक्टर्स बैंक की सबसे शक्तिशाली संस्था होती है, जो बैंक की समस्त नीतियां निर्धारित करती है।

विश्व बैंक की कुल स्वीकृत पूंजी में प्रतिशत के क्रमानुसार 10 देशों के नाम इस प्रकार हैं—संयुक्त राज्य अमरीका, जापान, ग्रेट ब्रिटेन, फ्रांस, पश्चिम जर्मनी, सऊदी अरब, चीन, कनाडा, भारत तथा इटली। विश्व बैंक ने युद्ध में क्षतिग्रस्त तथा विकासशील राष्ट्रों के विकास के लिए सराहनीय कार्य किये हैं। अविकसित देशों को निम्न ब्याज पर ऋण देकर तथा तकनीकी सहायता दिलाकर उनके विकास में मदद की है। इसके साथ-साथ भारत-पाकिस्तान सिन्धु घाटी जल-विवाद और स्वेज नहर

कम्पनी के अंशों की क्षतिपूर्ति सम्बन्धी विवाद का निपटारा करवाकर निश्चय ही अंतर्राष्ट्रीय शांति को बढ़ाने वाले प्रशंसनीय कार्य किये हैं। इन सबके बावजूद विश्व बैंक की निम्नलिखित आधारों पर आलोचना की जाती है—

- विश्व बैंक की ऋण नीति भेदभावपूर्ण रही है। बैंक ने एशिया व सुदूरपूर्व तथा अफ्रीका के अविकसित देशों को पश्चिमी यूरोप के देशों की तुलना में बहुत कम ऋण सहायता दी है तथा इस ऋण सहायता में और भी कमी हो रही है।
- विश्व बैंक की यह भी आलोचना की जाती है कि वह किसी देश की ऋण लौटाने की क्षमता पर अत्यधिक बल देता है। अविकसित देशों में ऋण देने से पूर्व भुगतान क्षमता की खोज करना व्यर्थ है।
- विश्व बैंक की ऊंची ब्याज दर के सम्बन्ध में भी आलोचना की जाती है कि जिस ऋण की गारण्टी सरकार देती है उस पर ऊंची ब्याज दर देना कहां तक उचित है।

4.5.2.10 विश्व डाक संघ—विश्व डाक संघ के उद्भव का इतिहास लगभग 120 वर्ष पुराना है। सन् 1874 में बर्न में सामान्य डाक अभिसमय पर हस्ताक्षर कर सामान्य डाक यूनियन का निर्माण हुआ था, जो सन् 1878 में सार्वदेशिक डाक यूनियन हो गयी। यह संगठन इस सिद्धान्त पर आधारित है कि डाक के पारस्परिक विनिमय के लिए सभी सदस्य राष्ट्र एक ही डाक प्रदेश हैं। वर्तमान विश्व डाक संघ एक नवीन सार्वदेशिक डाक यूनियन है जिसे सन् 1947 में महासभा ने एक प्रस्ताव द्वारा एक विशिष्ट अभिकरण के रूप में स्वीकार किया। इसका प्रमुख प्रयोजन पत्रों के परस्पर विनिमय के लिए देशों का एक डाक प्रदेश बनाना, डाक सेवाओं में सुधार लाना और इस क्षेत्र में सहयोग को प्रोत्साहन देना है। अधिकांश राज्य इस संघ के सदस्य हैं और अंतर्राष्ट्रीय डाक के मामलों में इसके द्वारा निर्धारित नियमों का पालन करते हैं। इसका केन्द्रीय कार्यालय बर्न में है। 1994 में 189 देश विश्व डाक संघ के सदस्य थे।

4.5.3.11 अंतर्राष्ट्रीय दूर संचार संघ—जनवरी, 1961 के अभिसमय एवं उससे अनुबद्ध विनियमों के अंतर्गत इस संघ का निर्माण हुआ। इस संघ के प्रयोजन हैं—1. सभी प्रकार के दूर संचार के प्रयोग में अंतर्राष्ट्रीय सहयोग को कायम रखना एवं उसका विस्तार करना, 2. दूर संचार सम्बन्धी प्रादेशिक सुविधाओं के विकास एवं उसकी उपादेयता को प्रोत्साहन देना। उपर्युक्त प्रयोजनों की पूर्ति के लिए यह संगठन रेडियो वेव का आबंटन करता है और रेडियो वेव अंकित करता है, ताकि विभिन्न देशों के रेडियो स्टेशनों के बीच किसी तरह का हानिकारक हस्तक्षेप न होने पाये।

4.5.3.12 अंतर्राष्ट्रीय नागरिक उड्डयन संघ—इस संगठन की उत्पत्ति सन् 1944 के सिविल उड्डयन के शिकागो अभिसमय में हुई थी। 4 अप्रैल, 1947 को इसे संयुक्त राष्ट्र का एक विशिष्ट अभिकरण बनाया गया। उक्त अभिसमय के अंतर्गत अंतर्राष्ट्रीय सिविल उड्डयन की समस्याओं का अध्ययन, सिविल उड्डयन के अंतर्राष्ट्रीय मानदण्ड एवं नियम निश्चित करना इसका प्रधान उद्देश्य है। इसके अतिरिक्त यह अंतर्राष्ट्रीय वायु परिवहन के विकास को प्रोत्साहन देता है। इसने विमान चालन सम्बन्धी सेवाओं, यातायात के नियंत्रण, संचार व्यवस्था, सुरक्षित अंतर्राष्ट्रीय उड़ान के लिए नवीन प्रणाली, आदि का विकास किया है। आधारभूत रूप से यह तकनीकी संगठन है। तकनीकी सहायता के माध्यम से यह संगठन विकासशील राष्ट्रों को वायु परिवहन व्यवस्थाओं का निर्माण करने और आवश्यक कर्मचारियों के प्रशिक्षण देने में सहायता देता है। इसने अंतर्राष्ट्रीय वायु यातायात को सुरक्षात्मक एवं उपयोगी बनाने के लिए पर्याप्त रूप से योगदान किया है।

इसके दो अंग हैं—सभा तथा परिषद्। सभा में सभी सदस्य राष्ट्रों का प्रतिनिधित्व होता है। परिषद् में 33 सदस्य होते हैं जिनका निर्वाचन सभा द्वारा तीन वर्षों के लिए किया जाता है। परिषद् हवाई यातायात के विकास के लिए सूचना एकत्रित करती है, उसकी जांच करती है तथा अभ्यासों के विषय में अपनी संस्तुति देती है। यदि किसी परिस्थितिवश अंतर्राष्ट्रीय हवाई यातायात में बाधा पहुंचती है तो परिषद् उसकी जांच करती है तथा राज्यों के मध्य झगड़ों में विवाचक परिषद् की तरह कार्य संपादित करती है। इस समय इस संस्था के 180 सदस्य हैं तथा इसका प्रधान कार्यालय मॉण्ट्रियल (कनाडा) में है।

4.5.3.13 विश्व मौसम विज्ञान संगठन—1947 में एक अभिसमय द्वारा इसकी स्थापना की गयी। महासभा के प्रस्तावानुसार सन् 1951 में इसे संयुक्त राष्ट्र का एक विशिष्ट अभिकरण बना लिया गया। इस संगठन का प्रमुख प्रयोजन मौसम विज्ञान सम्बन्धी विषयों में अंतर्राष्ट्रीय सहयोग की वृद्धि करना है। इसके लिए यह मौसम के बारे में शीघ्र जानकारी प्राप्त करने एवं मौसम सूचना के द्रुत विनिमय के लिए विश्व भर में जगह-जगह पर मौसम विज्ञान प्रयोगशालाओं की स्थापना करता है।

इसके प्रमुख अंग हैं—1. विश्व मौसम विज्ञान कांग्रेस, 2. कार्यकारी समिति, 3. प्रादेशिक संघ, 4. कांग्रेस द्वारा निर्मित तकनीकी कमीशन, तथा 5. सचिवालय।

4.5.3.14 अंतर्राष्ट्रीय समुद्रवर्ती संगठन—इसकी विधिवत स्थापना 1958 में हुई। यह संगठन नौपरिवहन के लिए उन कार्यों को करता है, जिनको 'अंतर्राष्ट्रीय सिविल उड्डयन संघ' उड्डयन के लिए करता है। यह प्रधानतः सलाहकार अभिकरण है। यह समुद्रों में नौपरिवहन के लिए सुरक्षा नियम निर्धारित करता है, नौपरिवहन के क्षेत्र में विभिन्न सरकारों के अनावश्यक प्रतिबंधों तथा भेदभाव को दूर करने में सहायता देता है और नौपरिवहन के सभी मामलों में अंतर्राष्ट्रीय सहयोग को प्रोत्साहन देता है।

इसके प्रमुख अंग हैं—सभा, परिषद् तथा सचिवालय। सभा में सभी सदस्यों का प्रतिनिधित्व होता है तथा यह सामान्य नीति निर्धारित करती है। परिषद् में 32 सदस्य होते हैं तथा यह संस्था का कार्य संपादित करती है। सचिवालय लंदन में स्थित है तथा इसका प्रधान एक महासचिव होता है।

4.5.3.15 संयुक्त राष्ट्र औद्योगिक विकास संगठन—इस संस्था का प्रमुख कार्य संयुक्त राष्ट्र की औद्योगिक एजेन्सियों के कार्यों में समन्वय स्थापित करना है। इसकी स्थापना 1 जनवरी, 1967 को महासभा ने की थी। 80 राष्ट्रों के समर्थन के बाद यह संयुक्त राष्ट्र की विशिष्ट एजेन्सी बन गयी है।

4.5.3.16 विश्व बौद्धिक सम्पदा संगठन—सन् 1967 में 51 राज्यों ने विश्व बौद्धिक सम्पदा संगठन की स्थापना के लिए एक अभिसमय पर हस्ताक्षर किये और अप्रैल 1970 में यह संगठन अस्तित्व में आया तथा दिसम्बर 1974 से यह संयुक्त राष्ट्र का विशिष्ट अभिकरण बना। समूचे विश्व में बौद्धिक सम्पदा के संरक्षण का दायित्व इस संगठन पर है। बौद्धिक सम्पदा से तात्पर्य है औद्योगिक सम्पदा तथा कॉपीराइट अधिकारों की रक्षा करना। सन् 1996 के अंत तक 157 देश इस संगठन के सदस्य बन चुके हैं।

4.5.3.17 विश्व व्यापार संघ—विश्व व्यापार को नियमित करने के उद्देश्य से 'विश्व व्यापार संगठन' की स्थापना 1 जनवरी, 1995 से की गई है। पहले यह कार्य 'गैट' द्वारा सम्पन्न किया जाता था, किन्तु गैट की तुलना में अधिक शक्ति सम्पन्न प्रभावी संगठन के रूप में विश्व व्यापार संगठन की स्थापना की गई है। यह व्यापार संगठन के कार्य संचालन के लिए एक सामान्य परिषद् है जिसमें प्रत्येक सदस्य राष्ट्र का एक स्थायी प्रतिनिधि होता है। इसकी बैठक सामान्यतः माह में एक बार जेनेवा में होती है। नीति निर्धारण करने हेतु सर्वोच्च अधिकार प्राप्त इसका 'मंत्रिस्तरीय सम्मेलन' है जिसका आयोजन प्रत्येक दो वर्ष पर होता है। दिन प्रतिदिन के प्रशासनिक कार्यों को सम्पन्न करने के लिए संगठन का सर्वोच्च पदाधिकारी 'महानिदेशक' होता है। सामान्य परिषद् द्वारा महानिदेशक का चुनाव 4 वर्ष के लिए किया जाता है। सिंगापुर में पहला मंत्रिस्तरीय सम्मेलन आरम्भ (9-13 दिसम्बर, 1996) होने से पूर्व इसकी सदस्य संख्या 128 थी। 28 अन्य देशों के आवेदन सदस्यता हेतु लम्बित थे।

4.6 संयुक्त राष्ट्र के गैर-राजनीतिक कार्यों का मूल्यांकन—संयुक्त राष्ट्र संघ के गैर-राजनीतिक कार्यों में सराहनीय सफलता मिली है। रोजन तथा जोन्स के अनुसार, "आर्थिक, सांस्कृतिक, स्वास्थ्य सम्बन्धी क्षेत्रों में उसकी सफलताएं निर्विवाद, असंदिग्ध तथा सराहनीय हैं।" मानव जीवन को सुखी, समृद्ध तथा स्वस्थ बनाने में संयुक्त राष्ट्र के विशेष अभिकरणों का योगदान अविस्मरणीय है। यूनान में मलेरिया के निरोध के लिए बड़े पैमाने पर विश्व स्वास्थ्य संगठन ने सहायता की और वहां इस बीमारी की औसत 95% से घटकर 5% रह गयी। भारत में इसने क्षय रोग के निवारण के लिए बी.सी.जी. वैक्सीन प्रभूत मात्रा में दी। मलेरिया के निरोध के लिए विभिन्न देशों को डी.डी.टी. तथा अन्य बीमारियां रोकने के लिए पेनिसिलीन आदि दवाइयां बहुत बड़ी मात्रा में प्रदान कीं। तीन घंटे की अवधि में विश्व शस्त्र व्यवस्था पर किए जाने वाले व्यय के बराबर धनराशि व्यय कर 13 वर्ष के निरन्तर अभियान के पश्चात् 1980 में चेचक का उन्मूलन किया। विश्व के 80% बच्चों को पोलियो, टिटनेस, मिजल्स, हूपिंग कफ, डिप्थीरिया और टी.बी. की रोकथाम हेतु यूनिसेफ ने टीकाकरण अभियान चलाया। विश्व स्वास्थ्य संगठन के माध्यम

से विश्व के निवासियों को एड्स बीमारी से जूझने की शक्ति प्रदान की। 1951 में शरणार्थियों से सम्बन्धित समझौते का अनुमोदन हुआ जिसमें उनके अधिकारों और उनके प्रति व्यवहार के अंतर्राष्ट्रीय मानकों का स्पष्ट उल्लेख किया गया। 1951 से 30 करोड़ से अधिक शरणार्थियों को अंतर्राष्ट्रीय संरक्षण तथा सहायता प्रदान की। निःशुल्क शिक्षा, स्वास्थ्य सुविधा और सहायता प्रदान कर करोड़ों फिलिस्तीनी शरणार्थियों की सहायता की। 1955 में परमाणु ऊर्जा के शांतिपूर्ण प्रयोग के लिए प्रथम अंतर्राष्ट्रीय सम्मेलन जेनेवा में बुलाया गया और इस क्षेत्र में सहयोग के अनेक क्षेत्रों पर सहमति हुई। 1963 में संयुक्त राष्ट्र खाद्य एवं कृषि संगठन ने अभावग्रस्त राष्ट्रों के लिए एक विश्व खाद्य कार्यक्रम आरंभ किया। 1980 में विश्व स्वास्थ्य संगठन द्वारा आयोजित किये गये एक अभियान के परिणामस्वरूप समस्त विश्व से चेचक का उन्मूलन हुआ। 1982 में समुद्र सम्बन्धी कानून पर एक समझौता हुआ। 1985 में अफ्रीका के लोगों के लिए विशाल अकाल राहत उपायों पर अमल किया गया। 1986 में शांति के लिए विश्व के 110 देशों से होकर 'पृथ्वी धावन' का आयोजन किया गया। 1964 में यूनेस्को द्वारा 8 चुने हुए देशों में शिक्षा प्रचार के लिए 'पाइलेट प्रोजेक्ट' तैयार किये गये। प्रौढ़ शिक्षा के क्षेत्र में सेनेगल में पाइलेट प्रोजेक्ट चलाया गया। पाठ्य-पुस्तकों के बारे में कैमरून में एक केन्द्र स्थापित किया गया तथा 66 विशेषज्ञों का एक दल कांगो भेजा गया। यूनेस्को के माध्यम से 100 देशों में स्थित 440 स्थानों की विश्व सांस्कृतिक विरासत को संरक्षित और सुरक्षित किया। विकासशील देशों में स्त्रियों की साक्षरता दर में सुधार लाया। 1970 में साक्षरता दर 36% थी जो 1990 में बढ़कर 55% हो गई। भारत में यूनेस्को द्वारा सहायता प्राप्त संस्थाओं में है-इंडियन इन्स्टीट्यूट ऑफ मास कम्यूनिकेशन, नेशनल बुक ट्रस्ट और दिल्ली पब्लिक लाइब्रेरी। राष्ट्रीय शैक्षिक अनुसंधान एवं प्रशिक्षण परिषद् के अंतर्गत, शैक्षिक प्रौद्योगिकी केन्द्र की स्थापना यूनेस्को की तकनीकी सहायता से 1972-80 के बीच की गई। इस सहयोग की एक उल्लेखनीय बात यह थी कि इसके अंतर्गत सैटलाइट इंस्ट्रक्शनल टेलीविजन एक्सपेरिमेंट की प्रायोगिक परियोजना की स्थापना की गई जो सैटलाइट टेलीविजन को शिक्षा के माध्यम के रूप में बड़े पैमाने पर इस्तेमाल करने की एक परियोजना है। जहां यूनेस्को आधुनिक शिक्षा एवं विज्ञान को अविकसित देशों की ओर ले जा रहा है वहां दूसरी ओर यूनिसेफ तीसरी दुनिया के जरूरतमंद बच्चों के विकास में उल्लेखनीय योगदान कर रहा है। शरणार्थी उच्चायोग तो युद्ध से ग्रस्त शरणार्थियों के लिए किये गये कार्यों के लिए दो बार नोबल पुरस्कार प्राप्त कर चुका है। एक समालोचक ने ठीक ही लिखा है कि "निःशस्त्रीकरण और राजनीतिक कार्यों का खरगोश तो अभी झपकी ले रहा है, किंतु संघ की विशेष संस्थाओं की तकनीकी सहायता और सहयोग का कछुआ बहुत आगे बढ़ गया है।"

4.7 संयुक्त राष्ट्र संघ और विश्व-शांति-संयुक्त राष्ट्र संघ का मूल ध्येय अंतर्राष्ट्रीय शांति और सुरक्षा को बनाये रखना तथा इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए जहां कहीं भी सशस्त्र आक्रमण हो वहां सुरक्षा के लिए सामूहिक कार्यवाही करना है। चार्टर में अनुच्छेद 33 से 38 तक अंतर्राष्ट्रीय विवादों के शांतिपूर्ण समझौते की व्यवस्थाएं की गयी हैं। जब से संघ की स्थापना हुई है तब से आज तक, अंतर्राष्ट्रीय शांति व सुरक्षा सम्बन्धी अनेक विवाद इसके समक्ष लाये गये हैं। इन विवादों को सुलझाने में यद्यपि संघ सदैव सफल नहीं हुआ, तथापि अनेक बार युद्ध की संभावनाओं को टालकर विश्व-शांति की दिशा में उसने उल्लेखनीय भूमिका निभायी है।

संयुक्त राष्ट्र के जन्म के बाद ही इसे ऐसी स्थितियों का सामना करना पड़ा जो उस समय तृतीय विश्व-युद्ध की भूमिका बन सकती थीं। बर्लिन समस्या तथा कोरिया युद्ध ऐसे प्रकरण थे जिनसे तात्कालिक परिस्थितियों में राजनीतिज्ञों और जन-साधारण को युद्ध की संभावनाएं दिखायी पड़ती थीं। वर्तमान युग में राजनीति के क्रिया-कलाप केवल राजनीतिक के प्रकरण से ही बंधे नहीं हैं, अनेक समस्याएं राजनीतिक स्वरूप को लेकर विवाद के रूप में शांति और सुरक्षा के लिए खतरा बन सकती हैं। अणु शस्त्रास्त्रों के विस्तार को रोकने का प्रश्न, कहीं रंग-भेद नीति, कहीं सीमा-विवाद तथा अन्य क्षेत्रीय या स्थायी हितों से सम्बद्ध समस्याएं विवादों का कारण बन जाती है। ऐसी स्थिति में यदि उस पर पूर्ण नियंत्रण न भी पाया जा सके और उसे विश्व-शांति को समाप्त कर देने वाली परिस्थितियों में न विकसित होने दिया जाय तो यह भी अपने आप में एक सफलता है, जो विश्व राजनीति की गतिविधियों को प्रभावित करती है।

संयुक्त राष्ट्र संघ एक ऐसी संस्था है जहां विवादों के निपटाने के लिए एक ओर तो विचार-विमर्श किया जा सकता है दूसरी ओर युद्ध की सी स्थितियों अथवा संभावित स्थितियों के

निराकरण के लिए प्रस्तावों के रूप में उपाय सुझाये जाते हैं। यद्यपि संयुक्त राष्ट्र संघ का संगठन एक सरकार का संगठन नहीं है और न ही इसकी कार्य-प्रणाली ही सरकारी है फिर भी यह अपने सदस्यों के सहयोग से जो कदाचित आज विश्व-युद्ध को एक प्रकार से अमान्य स्वीकार कर चुके हैं, पर्याप्त रूप से विवाद की स्थिति पर नियंत्रण पाने, उसका निराकरण करने अथवा उसे विस्तृत विवाद का क्षेत्र न बनने के लिए आधार प्रस्तुत करता है।

यहां विभिन्न अंतर्राष्ट्रीय विवादों को संक्षिप्त रूप से देखने से संयुक्त राष्ट्र संघ के कार्यों का मूल्यांकन किया जा सकेगा। संयुक्त राष्ट्र संघ की भूमिका को हम अपूर्व नहीं कह सकते हैं और न ही अंतर्राष्ट्रीय राजनीति में उसकी क्षमता को विशिष्ट। फिर भी संयुक्त राष्ट्र अपने आप में एक ऐसी संस्था है जो विश्व राजनीति में यद्यपि स्वतः प्रभावकारी रूप से तो उपस्थित नहीं होती तथापि अनेक परिस्थितियां इस मंच की उपादेयता को स्वीकार कराती दिखायी पड़ती है।

4.8 संयुक्त राष्ट्र संघ के सामने आने वाले विवाद

4.8.1 ईरान—यह संघ में उपस्थित होने वाला पहला महत्वपूर्ण विवाद था। 19 जनवरी, 1946 को ईरान ने सुरक्षा परिषद् को सूचना दी कि सोवियत फौजें उसके आजरवाइजान प्रांत में घुसी हुई हैं और इसे खाली नहीं कर रही हैं। सुरक्षा परिषद् के कार्य का इस विवाद के साथ श्रीगणेश होना शुभ नहीं था, फिर भी इस समस्या का हल 21 मई, 1946 को सोवियत सेनाओं के ईरान से हट जाने के साथ सफलतापूर्वक हो गया। यह परिषद् की बड़ी सफलता थी। सोवियत संघ द्वारा सेनाएं हटाने का कारण परिषद् द्वारा की गयी कार्यवाही नहीं थी, किंतु सुरक्षा परिषद् में हुई बहस से निर्मित हुआ प्रबल लोकमत था।

4.8.2 यूनान—3 दिसम्बर, 1946 को यूनान ने सुरक्षा परिषद् में यह शिकायत की कि उसके उत्तरी सीमान्त पर स्थित साम्यवादी राज्य विद्रोही छापामारों को सहयोग दे रहे हैं और यूनान में गृह-युद्ध कराना चाहते हैं। इस पर परिषद् ने एक जांच कमीशन नियुक्त किया। 1947 में यह प्रश्न महासभा में ले जाया गया। महासभा ने एक समिति की स्थापना की और इसे मौके पर जाकर मामले की जांच करके अपनी रिपोर्ट प्रस्तुत करने का आदेश दिया। इस जांच के आधार पर महासभा ने यूनान को मदद देने का निश्चय किया और यूनान व उसके राज्यों को आपस में समझौता कर लेने का सुझाव दिया। इसी बीच यूगोस्लाविया की नीति बदली और उसने छापामारों को सहायता देना बंद कर दिया।

4.8.3 सीरिया-लेबनान—4 फरवरी, 1946 को सीरिया तथा लेबनान ने अपने देश से फ्रेंच फौजों के हटाने की मांग की। सुरक्षा परिषद् में मतदान के समय फ्रांस और ब्रिटेन ने सम्बद्ध पक्ष होने के कारण वोट न देते हुए यह घोषणा की कि वे अपनी फौजें हटा लेंगे और बाद में उन्होंने यह वचन पूरा किया। इसमें भी संघ को सफलता मिली।

4.8.4 इण्डोनेशिया—द्वितीय विश्व-युद्ध के पूर्व इण्डोनेशिया पर हॉलैंड का अधिकार था। युद्ध के दौरान जापान ने उस पर अपना अधिकार जमा लिया। जापान के आत्म-समर्पण के बाद ब्रिटिश व डच सेनाओं ने इण्डोनेशिया पर पुनः 'डच साम्राज्यवाद' लादने के उद्देश्य से आक्रमण कर दिया। इस संघर्ष में हजारों इण्डोनेशियायी तथा ब्रिटिश सैनिक मारे गये। भारत और आस्ट्रेलिया ने इस मामले को परिषद् में उठाया। 1 अगस्त, 1947 को परिषद् ने दोनों पक्षों को युद्ध-विराम का आदेश दिया और विवाद के शांतिपूर्ण हल के लिए सत्कार्य समिति बनायी। इस समिति ने एक समझौता करवाया, किन्तु हॉलैंड ने समझौते का उल्लंघन करके युद्ध छेड़ दिया। 28 जनवरी, 1948 को परिषद् ने एक प्रस्ताव पास करके हॉलैंड को लड़ाई बंद करने का आदेश दिया। हॉलैंड की सरकार ने शुरू में उसका विरोध किया, किंतु बाद में वह उसे मानने को विवश हो गयी। 27 दिसम्बर, 1949 को इण्डोनेशिया ने स्वतंत्रता प्राप्त कर ली और सभी समस्याओं का निराकरण हो गया।

4.8.5 बर्लिन का घेरा—1945 के पोट्सडाम समझौते के अनुसार बर्लिन नगर चार विभिन्न शक्तियों के नियंत्रण में चार क्षेत्रों में बांटा गया था। इसका पूर्वी भाग सोवियत संघ के तथा पश्चिमी बर्लिन के तीन भाग फ्रांस, अमरीका और ब्रिटेन के नियंत्रण में थे। पश्चिमी भागों का मार्ग सोवियत संघ के पूर्वी भाग में से होकर गुजरता था। 1948 में स्थायी मुद्रा विषयक एक झगड़े को लेकर सोवियत संघ ने पश्चिमी बर्लिन के स्थल और जल के सब मार्ग बंद कर दिये। तीनों देशों ने सुरक्षा परिषद् में बर्लिन के घेरे के

विरुद्ध शिकायत की। दोनों पक्षों में वार्तालाप के द्वारा 1949 में समस्या हल हुई। यद्यपि इस समस्या के हल का श्रेय सुरक्षा परिषद् को नहीं है, फिर भी संयुक्त राष्ट्र संघ ने दोनों पक्षों के परस्पर मिलने के लिए स्थान और सुविधाएं उपलब्ध कीं।

4.8.6 पेलेस्टाइन—पेलेस्टाइन के विभाजन के प्रश्न को लेकर 1947 से ही अरबों और यहूदियों में उग्र विरोध चल रहा था। इजराइल राज्य की स्थापना हो गयी थी एवं नये राज्य पर चारों ओर से अरब राज्यों ने हमला कर दिया। युद्ध बंद भी हो गया, किंतु उपद्रव चलते रहे। महासभा ने 'संयुक्त राष्ट्र समझौता आयोग' नियुक्त किया। इसके फलस्वरूप इस प्रदेश में शांति स्थापित हुई।

4.8.7 स्पेन—1946 में पोलैण्ड ने सुरक्षा परिषद् से इस बात की शिकायत की कि स्पेन में फ्रांको का शासन फासिस्ट होने के कारण अंतर्राष्ट्रीय शांति के लिए खतरा है। महासभा ने इस विषय में यह सिफारिश की कि फ्रांको सरकार को संघ की तथा सहायक संस्थाओं की सदस्यता से वंचित कर दिया जाये। किंतु बाद में इस सिफारिश को रद्द कर दिया गया एवं 1955 में स्पेन को संघ का सदस्य बना लिया गया।

4.8.8 कोरफू चैनल विवाद—ब्रिटेन ने 1947 में परिषद् से यह शिकायत की कि अल्बानिया द्वारा कोरफू टापू के पास वाले समुद्र में बिछायी गयी सुरंगों से ब्रिटिश युद्धपोतों को हानि हुई है, अतः उसे क्षतिपूर्ति दिलवायी जाये। अल्बानिया का मत था कि ब्रिटेन ने उसके प्रादेशिक समुद्र में उसकी सर्वोच्च सत्ता का उल्लंघन किया है। अंत में मामला अंतर्राष्ट्रीय न्यायालय के पास ले जाया गया।

4.8.9 कोरिया—25 जून, 1950 को संयुक्त राष्ट्र को सूचना दी गयी कि उत्तरी कोरिया की सेनाओं ने दक्षिणी कोरिया के गणराज्य पर आक्रमण किया है। उसी दिन सुरक्षा परिषद् की बैठक हुई और उसमें यह घोषणा की गयी कि इस सशस्त्र आक्रमण से शांति भंग हुई। परिषद् ने युद्ध-विराम की मांग की परन्तु दो-तीन दिन तक युद्ध चलते रहने पर परिषद् ने सिफारिश की कि संघ के सदस्यगण कोरियाई गणराज्य को उस सशस्त्र आक्रमण का मुकाबला करने के लिए तथा उस क्षेत्र में शांति की स्थापना करने में सहायता दें। 27 जून, 1950 को संघ ने यह घोषणा की कि उसने अपनी वायु तथा जल सेनाओं को और बाद में स्थल सेनाओं को भी दक्षिण कोरिया की सहायता के लिए आज्ञा दे दी है। कोरिया का युद्ध वास्तव में संयुक्त राज्य अमरीका का युद्ध था। एक वर्ष के युद्ध के बाद दोनों पक्षों में विराम-संधि की चर्चा चलने लगी। भारत की अध्यक्षता में तटस्थ देशों का आयोग बनाया गया एवं 27 जुलाई, 1953 को पानमुनजोन में कोरिया युद्ध की विराम-संधि पर हस्ताक्षर होने से संयुक्त राष्ट्र संघ द्वारा की गयी पहली सैनिक कार्यवाही समाप्त हुई। कोरिया में संयुक्त राष्ट्र संघ की प्रभावशाली और सफल कार्यवाही के अनेक कारण थे। पहला कारण सोवियत संघ द्वारा परिषद् का बहिष्कार था। दूसरा कारण जापान में अमरीकी फौजों की उपस्थिति और अमरीका द्वारा संयुक्त राष्ट्र संघ को इन फौजों को लड़ने के लिए प्रदान करना था।

4.8.10 बर्मा में चीनी सेनाएं—सन् 1953 में बर्मा ने महासभा से शिकायत की कि उसके प्रदेश में चीनी सेनाएं घुस आयी हैं। ये बर्मा में विद्रोह भड़काने का कार्य कर रही हैं। महासभा ने एक प्रस्ताव में बर्मा में विदेशी सैनिकों की उपस्थिति की निंदा की। कुछ देशों की 'संयुक्त सैनिक समिति' ने बर्मा से चीनी सैनिकों को निकालना शुरू किया और यह समस्या शांतिपूर्वक हल हो गयी।

4.8.11 कश्मीर का मामला—यह मुद्दा भारत तथा पाकिस्तान के मध्य कई बार युद्ध तथा सैनिक कार्यवाही भड़काने वाला रहा है। यह विवाद आज भी संयुक्त राष्ट्र संघ में बना हुआ है। जब कभी भारत तथा पाकिस्तान में कश्मीर के प्रश्न को लेकर युद्ध हुआ संयुक्त राष्ट्र संघ ने युद्ध-विराम कराने का भरसक प्रयास किया एवं सफलता प्राप्त की। सुरक्षा परिषद् ने सर्वप्रथम 1948 में दोनों सरकारों से युद्ध बंद करने को कहा। सन् 1965 में भी दोनों देशों में बड़े पैमाने पर भीषण युद्ध आरंभ हो गया। महासचिव ने दोनों देशों से युद्ध बंद करने की अपील की। महासचिव ने स्वयं भारत तथा पाकिस्तान की यात्राएं की तथा बाद में युद्ध-विराम हो गया।

4.8.12 स्वेज नहर—जब 1956 में मिस्र ने स्वेज नहर का राष्ट्रीयकरण कर दिया तो ब्रिटेन, फ्रांस तथा इजरायल ने मिलकर मिस्र पर आक्रमण कर दिया। महासभा ने ब्रिटिश, फ्रेंच तथा इजरायली फौजों से तत्काल मिस्र से हट जाने का प्रस्ताव पास किया। ब्रिटेन और फ्रांस ने अपनी सेनाएं हटा लीं, किंतु

इजरायल ने सेनाएं नहीं हटायीं। इसके फलस्वरूप छः शक्तियों ने यह प्रस्ताव उपस्थित किया कि “सब राज्य इजरायल को सैनिक तथा आर्थिक सहायता देना बंद कर दें।” इस पर पहली मार्च, 1957 को इजरायल ने कुछ शर्तों के साथ सेनाएं हटाना स्वीकार किया। मिस्र में युद्ध बंद कराने तथा विदेशी सेनाएं हटाने में संघ को पूरी सफलता मिली।

4.8.13 साइप्रस—साइप्रस ने यूनानियों एवं तुर्की के बीच में गृह-युद्ध की सी स्थिति हो गयी थी। यूनान और तुर्की दोनों पक्षों का समर्थन करने लगे। 1963 के आरंभिक महीनों में यहां उपद्रव बहुत बढ़ गये। साइप्रस के राष्ट्रपति ने सुरक्षा परिषद् से शांति स्थापित करने की तथा इस टापू की तुर्की के आक्रमण से रक्षा करने की प्रार्थना की। सुरक्षा परिषद् ने इस प्रश्न पर 4 मार्च, 1964 को यहां शांति स्थापित करने के लिए संघ की सेना भेजने तथा दोनों पक्षों के बीच में समझौता कराने के लिए एक मध्यस्थ नियुक्त कराने का प्रस्ताव पास किया। संघ की इस सेना को साइप्रस में कानून और व्यवस्था स्थापित करने में बड़ी सफलता मिली।

4.8.14 यमन—1962 में यमन में क्रांति हुई। नयी सरकार मिस्र एवं सोवियत संघ की समर्थक थी। यहां पर क्रांति के बाद पड़ोसी राज्य हस्तक्षेप करने लगे। 1963 के पहले तीन महीनों में इस प्रदेश में उग्र युद्ध चलने के कारण स्थिति बड़ी गंभीर हो गयी। इस विस्फोटक स्थिति को रोकने के लिए संयुक्त राष्ट्र संघ ने राल्फ बुन्चे को तथ्यों की जांच करने के लिए भेजा। संघ के प्रयासों से बाह्य शक्तियों ने यमन में हस्तक्षेप करना छोड़ दिया और शांति स्थापित हो गयी। इस घटना के हल करने में संघ का प्रयास अत्यधिक सराहनीय था।

4.8.15 अरब-इजरायल—1956 के स्वेज विवाद में युद्ध होने पर संयुक्त राष्ट्र की शांति सेना गाजा और मिस्र की अंतर्राष्ट्रीय सीमा पर तैनात हो गयी, ताकि इजरायल और अरब राष्ट्रों में पुनः किसी सशस्त्र संघर्ष का अवसर न आये। 18 मई, 1967 को मिस्र के विदेश मंत्री डॉ. महमूद ने महासचिव से इस सेना को गाजा पट्टी से शीघ्र हटा लेने को कहा। महासचिव ने इसके उत्तर में कहा कि शांति सेना हटाने का परिणाम अच्छा नहीं होगा। लेकिन सेना मिस्र सरकार की सहमति से ही वहां रह सकती थी, अतः सेना को वहां से हट जाने के लिए आदेश जारी कर दिये गये। संयुक्त राष्ट्र शांति सेना के हट जाने का परिणाम यह हुआ कि अरब और इजरायल की सेनाएं फिर आमने-सामने हो गयीं। इस समय अरब राज्य इजरायल के विरुद्ध अनर्गल प्रचार कर रहे थे, ऐसी स्थिति में इजरायल ने 5 जून, 1967 को अचानक अरब राज्यों पर आक्रमण कर दिया। छः दिनों बाद सुरक्षा परिषद् के प्रयत्नों से जिस समय युद्ध-विराम हुआ, उस समय तक इजरायल की सेना अपने देश के क्षेत्र के चार गुने क्षेत्र पर अधिकार कर चुकी थी। जहां तक इस क्षेत्र में शांति स्थापित करने का प्रश्न है, सन् 1948 में इजरायल की आक्रमणकारी कार्यवाहियों की निंदा की जा चुकी है। इसके अलावा संयुक्त राष्ट्र के विशेष दूत डॉ. गुन्नार यारिंग ने पश्चिम एशिया में शांति के लिए अनेक वर्षों तक अकथनीय परिश्रम किया किंतु उन्हें कोई सफलता नहीं मिल सकी।

4.8.16 कांगो—कांगो अफ्रीका महाद्वीप में स्थित है। सन् 1960 में बेल्जियम ने इसे स्वतंत्रता प्रदान की। यहां के छः प्रांतों में बसी हुई विभिन्न जातियां स्वार्थी और महत्वाकांक्षी नेताओं के बहकावे में आकर स्वतंत्र होने का प्रयत्न करने लगीं। इस गृह-युद्ध की स्थिति में अपने नागरिकों की सुरक्षा का तर्क देते हुए बेल्जियम सरकार ने अपनी सेनाएं कांगो में भेज दीं। इस पर 12 जुलाई, 1960 को कांगो की सरकार ने संयुक्त राष्ट्र से यह प्रार्थना की कि बेल्जियम के आक्रमण से कांगो की रक्षा के लिए तुरंत सैनिक सहायता दी जाये। सुरक्षा परिषद् के निर्णय पर संयुक्त राष्ट्र सेना के 10 हजार से कुछ अधिक सैनिक कटंगा को छोड़कर कांगो के सभी प्रांतों में पहुंच गये। महासचिव हैमरशोल्ड ने स्थिति को गंभीर देखकर बेल्जियम से अपील की कि वह कटंगा से अपनी सेनाएं वापस बुला ले। 1961 में कांगो की स्थिति का अध्ययन करने और वहां के नेताओं से प्रत्यक्ष बातचीत करने के उद्देश्य से स्वयं महासचिव कांगो के लिए रवाना हुए किंतु मार्ग में वायुयान दुर्घटनाग्रस्त हो गया और उनका देहान्त हो गया। उनके बाद युद्ध-विराम हुआ और कांगो में शांति स्थापित हो गयी। कांगो में संयुक्त राष्ट्र को सैनिक उद्देश्य समाप्त हो गया फिर भी नागरिक सहायता का एक महान् सहायता कार्यक्रम चल रहा है।

4.8.17 डोमोनिकी गणराज्य—वैस्ट इण्डीज के इस छोटे-से टापू में 25 अप्रैल, 1965 को अचानक गृह-युद्ध छिड़ गया। विद्रोहियों ने अमरीका समर्थित सरकार को उखाड़कर शासन पर अधिकार जमाने

के लिए भीषण युद्ध शुरू कर दिया। अमरीकी नागरिकों की रक्षा के बहाने अमरीका ने अपने 14 हजार सैनिक इस टापू पर भेज दिये। मई 1965 को सोवियत संघ ने सुरक्षा परिषद् की बैठक में यह प्रस्ताव रखा कि अमरीका ने डोमोनिकी गणराज्य के आंतरिम मामले में जो हस्तक्षेप किया है उस पर विचार किय जाये। संयुक्त राष्ट्र संघ ने अपना एक मिशन यहां स्थापित किया एवं जब चुनाव के बाद नयी सरकार स्थापित हो गयी तब संयुक्त राष्ट्र मिशन को सन् 1966 में वापस बुला लिया गया। यह संघ की एक महान् सफलता थी।

4.8.18 दक्षिणी रोडेशिया—अफ्रीका की एक ज्वलंत समस्या दक्षिणी रोडेशिया के संकट के रूप में नवम्बर 1965 में उग्र रूप में प्रकट हुई। 11 नवम्बर, 1965 को इआन स्मिथ की अल्पसंख्यक गोरी सरकार ने एकपक्षीय स्वतंत्रता की घोषणा कर दी। 13 नवम्बर को महासभा ने एक प्रस्ताव पास करके दक्षिणी रोडेशिया की सरकार के कार्य की घोर निंदा की तथा सब सदस्य राज्यों से अनुरोध किया कि वे इसके साथ व्यापार करना बंद कर दें। महासभा ने नवम्बर, 1967 में शक्ति का प्रयोग करने पर बल दिया, किंतु ब्रिटेन ने ऐसी कार्यवाही नहीं की। संयुक्त राष्ट्र संघ के दबाव के फलस्वरूप 17 अप्रैल, 1980 को भीषण छापामार युद्ध के बाद रोडेशिया स्वतंत्र हो गया और जिम्बाब्वे के नाम से संयुक्त राष्ट्र का 153वां सदस्य बन गया।

4.8.19 वियतनाम—हिन्दचीन के बारे में 1954 के जेनेवा समझौते को सफलतापूर्वक कार्यान्वित नहीं किया जा सका। 1960 से ही वियतनाम संघर्ष में तो महाशक्तियां रुचि लेने लगीं और 1964 में तो अमरीका की सैनिक गतिविधियां उग्रतर हो गयीं। 1974 तक वियतनाम का संघर्ष चलता रहा। संयुक्त राष्ट्र संघ ने भी समस्या को सुलझाने के लिए पहल अवश्य की थी, किंतु इसका कोई परिणाम नहीं निकला। अब वहां से अमरीकी फौजें स्वदेश वापस चली गयी हैं और वियतनाम की समस्या वस्तुतः हल हो गयी है। राष्ट्रीय सरकार पुनर्निर्माण के कार्य में संलग्न है।

4.8.20 नाइजीरिया—1960 में नाइजीरिया ने ब्रिटेन से स्वाधीनता प्राप्त की। इसके कुछ ही समय बाद वहां गृह-युद्ध छिड़ गया तथा 1967 में बियाफ्रा का भाग इससे अलग हो गया। बियाफ्रा के स्वतंत्र राज्य की घोषणा के फलस्वरूप नाइजीरिया में भीषण युद्ध छिड़ गया। संघीय नेताओं ने बियाफ्रा के प्रदेश को चारों ओर से घेरकर वहां के लोगों को भूखा मारने की नीति अपनायी। 11 जनवरी, 1970 को बियाफ्रा के सेनापति के पलायन से गृह-युद्ध समाप्त हो गया, किंतु इससे अनेक समस्याएं उत्पन्न हो गयीं। युद्ध-विध्वस्त बियाफ्रा के पुनर्निर्माण तथा शरणार्थियों की पुनः स्थापना में संयुक्त राष्ट्र संघ भरपूर सहयोग दे रहा है।

4.8.21 चेकोस्लोवाकिया संकट—अगस्त 1968 में चेकोस्लोवाकिया में सोवियत संघ और वारसा पैक्ट के अन्य देशों ने सैनिक कार्यवाही करके हंगरी की घटनाओं को फिर से ताजा कर दिया। इस सैनिक कार्यवाही का प्रमुख कारण यह बताया गया कि चेकोस्लोवाकिया के साम्यवादी शासन को प्रतिक्रियावादी शक्तियों से बचाने के लिए हस्तक्षेप करना आवश्यक हो गया था। यह मामला संयुक्त राष्ट्र संघ की सुरक्षा परिषद् में उठाया गया। सुरक्षा परिषद् के 7 सदस्यों ने एक प्रस्ताव प्रस्तुत किया जिसमें सोवियत संघ की कार्यवाही को एक स्वतंत्र और सम्प्रभु राष्ट्र पर आक्रमण की संज्ञा देकर निंदा की गयी। संयुक्त राष्ट्र ने यह मांग की कि सोवियत संघ और वारसा पैक्ट के अन्य राष्ट्रों के सैनिकों को तुरन्त वहां से हटा लिया जाय परंतु यह प्रस्ताव व्यर्थ सिद्ध हुआ। चूंकि स्वयं चेकोस्लोवाकिया की सरकार ने इस प्रस्ताव का विरोध किया। चेकोस्लोवाकिया के मसले पर संघ की भूमिका एक मूकदर्शक से अधिक नहीं रही। अंततोगत्वा इस संकट का समाधान साम्यवादी देशों का एक आंतरिक मामला बनकर रह गया।

4.8.22 अमरीकी बंधकों की समस्या—4 नवम्बर, 1979 को इस्लामी उग्रपंथी छात्रों ने तेहरान स्थित अमरीकी दूतावास की घेराबंदी करके दूतावास के सभी 52 राजनयिक प्रतिनिधियों को बंदी बना लिया। इन अमरीकी बंधकों को मुक्त कराने के लिए संयुक्त राष्ट्र संघ ने बहुत प्रयास किये, सुरक्षा परिषद् ने बंधकों को छोड़ने की अपील की, संयुक्त राष्ट्र ने एक 5-सदस्यीय अंतर्राष्ट्रीय जांच आयोग भी ईरान भेजा, जो वहां 17 दिन तक मूकदर्शक बना रहा। यह जांच आयोग बंधकों से नहीं मिल सका और वापस लौट आया। महासचिव ने अमरीकी बंधकों की रिहाई पर विचार करने के लिए सुरक्षा परिषद् की आपात्कालीन बैठक आमंत्रित की। दिसम्बर 1979 में अंतर्राष्ट्रीय न्यायालय ने सर्वसम्मति से अमरीकी बंधकों को तुरन्त रिहा करने के आदेश जारी किये किंतु ईरान ने न्यायालय के क्षेत्राधिकार को मानने से

इंकार करते हुए न्यायालय के आदेशों की उपेक्षा की। अंत में इस समस्या का हल अल्जीरिया की मध्यस्थता द्वारा अमरीका और ईरान के मध्य बंधकों की रिहाई से सम्बन्धित एक समझौते द्वारा हुआ। इस समझौते के परिणामस्वरूप 20 जनवरी, 1981 को अमरीकी बंधकों को रिहा कर दिया गया। यह एक तथ्य है कि संयुक्त राष्ट्र संघ अमरीकी बंधकों को मुक्त कराने में सफल नहीं हो सका।

4.8.23 अफगानिस्तान से सोवियत संघ की सेनाओं को हटाया जाना—27 दिसम्बर, 1979 को अफगानिस्तान में एक आंतरिक क्रांति होने पर तत्कालीन राष्ट्रपति हफीजुल्ला अमीन को अपदस्थ कर दिया गया और उनके स्थान पर बबरक करमाल को राष्ट्रपति बनाया गया। इसी समय सोवियत संघ की सेनाओं ने बड़ी संख्या में अफगानिस्तान में प्रवेश किया। द्वितीय विश्व-युद्ध के बाद सोवियत संघ ने पहली बार इतनी बड़ी संख्या में सैनिक दूसरे देश भेजे थे। संयुक्त राज्य अमरीका ने सुरक्षा परिषद् में इस मामले को उठाया। सोवियत संघ ने अपने सेनाएं भेजने का समर्थन इस आधार पर किया कि ये सेनाएं अफगान सरकार की प्रार्थना पर उसके साथ सोवियत संघ की मैत्री-संधि की शर्तों के अनुसार काबुल सरकार के निमंत्रण पर भेजी गयी हैं। सुरक्षा परिषद् में इन सेनाओं के वापस लौटाने का प्रस्ताव सोवियत वीटो के कारण पारित नहीं हो सका। इसके बाद यह प्रस्ताव संयुक्त राष्ट्र संघ की महासभा में 14 जनवरी, 1980 को लाया गया। महासभा ने अपने आपात्कालीन अधिवेशन में एक प्रस्ताव पारित करके मांग की कि अफगानिस्तान से विदेशी सेनाएं तत्काल हटायी जायें। यह प्रस्ताव 104 मतों के बहुमत से महासभा द्वारा स्वीकृत किया गया। इसके विरोध में केवल 18 मत थे और 18 देशों ने मतदान में भाग नहीं लिया।

अप्रैल 1988 में संयुक्त राष्ट्र के छः वर्षों के प्रयासों के बाद पाकिस्तान और अफगानिस्तान के बीच शांति समझौता जेनेवा में सम्पन्न हो गया। समझौते पर हस्ताक्षर करने वालों में गारण्टीदाता के रूप में विश्व की दोनों महाशक्तियां भी शामिल थीं। संयुक्त राष्ट्र के तत्कालीन महासचिव पेरेज डी क्वैया की उपस्थिति में पाकिस्तान, अफगानिस्तान, सोवियत संघ और अमरीका के विदेश मंत्रियों ने समझौते पर हस्ताक्षर किये। समझौते में अफगानिस्तान से नौ महीने के भीतर सोवियत सैनिकों की वापसी का प्रावधान था। संयुक्त राष्ट्र के अनुमानों के अनुसार दिसम्बर 1979 से अप्रैल 1988 तक अफगानिस्तान में हुए संघर्ष में 15 लाख लोग मारे गये। यह भी अनुमान लगाया गया कि मुस्लिम विद्रोहियों के साथ संघर्ष में दस हजार से पन्द्रह हजार के बीच सोवियत सैनिक मारे गये।

4.8.24 फाकलैण्ड विवाद—फाकलैण्ड द्वीपसमूह अर्जेंटाइना के समीप अटलांटिक महासागर में स्थित है। इन पर सन् 1849 से ब्रिटेन का अधिकार चला आ रहा था। इन पर अर्जेंटाइना से अधिमिलन के विरुद्ध अपनी इच्छा प्रकट कर चुकी थी। 12 अप्रैल, 1982 को अर्जेंटाइना की सेनाओं ने इन द्वीपों पर आक्रमण करके उन पर अधिकार कर लिया। ब्रिटेन ने फाकलैण्ड द्वीप से अर्जेंटाइना की सेनाओं को निकालने के लिए उनका परिवेष्टन कर दिया। संयुक्त राष्ट्र महासचिव पेरेज डी क्वैया ने इस विवाद को निपटाने के लिए एक शांति योजना बनायी। यद्यपि यह शांति प्रयास सफल नहीं हो पाया और 14 जून, 1982 को अर्जेंटाइना की सेनाओं ने आत्म-समर्पण कर दिया। फाकलैण्ड पर फिर से ब्रिटेन का अधिकार गया।

4.8.25 ग्रेनेडा में अमरीकी हस्तक्षेप—ग्रेनेडा कैरेबियन सागर में एक छोटा-सा द्वीप है। वहां अक्टूबर 1983 में प्रधानमंत्री मोरिस बिशप की हत्या करके सैनिक शासन की स्थापना कर दी गयी, जिसका समर्थन क्यूबा की सेनाएं कर रही थीं। 25 अक्टूबर, 1983 को अमरीका ने यह घोषणा करते हुए कि “निर्दोष व्यक्तियों के प्राण बचाने” और “विधि का शासन व सुव्यवस्था स्थापित करने के लिए हस्तक्षेप आवश्यक हो गया है”, अपनी सेनाएं ग्रेनेडा में भेज दीं। विश्व के अधिकांश देशों ने अमरीका के इस कार्य की निंदा की। 28 अक्टूबर, 1983 को सुरक्षा परिषद् में 15 में से 11 सदस्यों ने अमरीकी आक्रमण की निंदा करने के प्रस्ताव के पक्ष में मत दिया। परंतु अमरीका ने ‘वीटो’ का प्रयोग करके इसे निष्फल कर दिया। कुछ दिन बाद ग्रेनेडा में एक आंतरिक सरकार की स्थापना करके अमरीकी सेनाएं वहां से हट गयीं।

4.8.26 ईरान-इराक युद्ध-विराम (अगस्त, 1988)—22 सितम्बर, 1980 से ईरान-इराक युद्ध प्रारंभ हुआ। संयुक्त राष्ट्र संघ की मध्यस्थता के परिणामस्वरूप 9 अगस्त, 1988 को दोनों देशों के बीच अनौपचारिक युद्ध-विराम हो गया। जुलाई, 1987 में सुरक्षा परिषद् ने एक सर्वसम्मति प्रस्ताव पारित करके ईरान व

इराक से अपील की कि वे तुरंत युद्ध बंद करें। तब संयुक्त महासचिव के सक्रिय प्रयत्नों से दोनों पक्षों को युद्ध बंद करने के लिए राजी किया गया। दोनों देशों की 1,200 किमी लम्बी सीमा पर संयुक्त राष्ट्र की 350-सदस्यीय सेना आवश्यक स्थानों पर तैनात कर दी गयी।

4.8.27 नामीबिया की स्वतंत्रता—नामीबिया 21 मार्च, 1990 को एक स्वतंत्र राष्ट्र बन गया। नामीबिया की स्वतंत्रता के बारे में 13 दिसम्बर, 1988 को कांगो की राजधानी ब्राजविले में दक्षिण अफ्रीका, क्यूबा तथा अंगोला में एक समझौते पर हस्ताक्षर हुए। इस समझौते को सम्पन्न कराने में संयुक्त राष्ट्र संघ ने मुख्य भूमिका निभाई।

4.8.28 अंगोला से क्यूबाई सैनिकों की वापसी—21 दिसम्बर, 1988 को संयुक्त राष्ट्र सुरक्षा परिषद् ने अंगोला से क्यूबाई 50 हजार सैनिकों की वापसी की देखरेख के लिए वहां संयुक्त राष्ट्र के पर्यवेक्षकों का दल तैनात करने का सर्वसम्मति से फैसला किया।

4.8.29 कुवैत को इराकी कब्जे से मुक्त कराना—संयुक्त सुरक्षा परिषद् ने 2 अगस्त, 1990 को कुवैत पर इराकी आक्रमण से लेकर 29 नवम्बर, 1990 तक खाड़ी संकट पर 12 प्रस्ताव पारित किये। संयुक्त राष्ट्र संघ के झण्डे तले मित्र-राष्ट्रों की सेना ने कुवैत को इराक से मुक्त (1991) कराया।

4.8.30 युगोस्लाविया—भूतपूर्व युगोस्लाविया में सर्व, क्रोएट और मुस्लिम समुदायों के बीच आंतरिक जातीय संघर्ष 1992-95 की दर्दनाक घटना है। संयुक्त राष्ट्र संघ ने भारत के ले. जनरल सतीश नाम्बियार के नेतृत्व में 25,000 सैनिकों की एक सुदृढ़ शांति सेना बहाल करने के लिए वहां भेजी। ये सैनिक 25 देशों से लिए गए थे।

4.8.31 सोमालिया—अफ्रीकी देश सोमालिया में पिछले कुछ वर्षों से कई लड़ाकू ग्रुप गृहयुद्ध में लिप्त हैं। 1991 के मध्य में सोमालिया के राष्ट्रपति मोहम्मद सैयद बारे का तख्ता पलटे जाने के बाद गृहयुद्ध और तेज हो गया। इसके साथ ही सोमालिया को भीषण अकाल का सामना भी करना पड़ा। कुछ समय पहले कई देशों, मुख्य रूप से अमरीका से खाद्य सहायता की आपूर्ति शुरू हुई किंतु जैसे ही खाद्य सामग्री की खेपें उतारी जाने लगीं, विभिन्न सशस्त्र गिरोहों द्वारा उन्हें लूटना शुरू कर दिया गया और भुखमरी से ग्रस्त लोगों तक खाद्य सामग्री नहीं पहुंच पायी। इसलिए संयुक्त राष्ट्र द्वारा मंजूरी दिये जाने के बाद 9 दिसम्बर, 1992 को 1,700 अमरीकी नौसैनिक सोमालिया में उतरे। संयुक्त राष्ट्र के अकाल राहत प्रयासों को सुरक्षा प्रदान करने के लिए कुल मिलाकर 35,000 सैनिक भेजने का फैसला किया गया। इन प्रयासों को 'आपरेशन रेस्टोर होप' की संज्ञा दी गई। जनवरी 1993 में संयुक्त राष्ट्र विश्व खाद्य संगठन ने 25 हजार टन और अंतर्राष्ट्रीय रेडक्रास ने 20 हजार टन खाद्य सामग्री सोमालिया पहुंचायी।

4.8.32 कम्बोडिया—संयुक्त राष्ट्र के प्रयासों से 23 अक्टूबर, 1991 को पेरिस अंतर्राष्ट्रीय सम्मेलन में कम्बोडिया में संघर्षरत सभी गुटों ने पूर्ण सहमति से शांति समझौते का अनुमोदन कर दिया। जून 1993 में संयुक्त राष्ट्र संघ की निगरानी में वहां चुनाव सम्पन्न हो गये और देश में शांति एवं स्थिरता स्थापित होने की आशा बढ़ी।

4.8.33 संयुक्त राष्ट्र-इराक समझौता—फरवरी 1998 में खाड़ी क्षेत्र में टकरा और संभावित युद्ध का खतरा उस समय टल गया जब संयुक्त राष्ट्र महासचिव कोफी अन्नान ने स्वयं बगदाद की यात्रा करके इराक में जैविक व रासायनिक हथियारों की जांच को लेकर उत्पन्न गतिरोध को दूर करने के इरादे के साथ ऐतिहासिक समझौते पर हस्ताक्षर किए। इस समझौते से इराक के विरुद्ध सैन्य कार्यवाही का अमरीकी कदम फिलहाल थम गया है। यद्यपि इराक पर हमला करने की उसने पूरी तैयारी कर ली थी। अमरीकी विमान वाहक पोतों 'जार्ज वाशिंगटन' तथा 'इंडिपेंडेंस' के साथ ब्रिटिश युद्धपोत 'इन्विसीबल' भी खाड़ी में पहुंच चुके थे। उधर आस्ट्रेलियाई सैनिकों का दस्ता भी अमरीका की सहायता के लिए रवाना हो चुका था; जबकि रूस ने यह चेतावनी भी दे दी थी कि अमरीकी सैन्य कार्यवाही का परिणाम विश्व युद्ध ही होगा। विवाद की जड़ में साढ़े चार महीने से चल रहा हथियारों की जांच का मामला था। शस्त्रों की जांच के लिए नियुक्त संयुक्त राष्ट्र जांच दल को राष्ट्रपति सहाम हुसैन के 8 महलों की जांच की अनुमति इराक ने नहीं दी थी।

4.9 संयुक्त राष्ट्र का शांति स्थापना में योगदान—संयुक्त राष्ट्र संघ का सर्वोपरि उद्देश्य है विश्व-शांति एवं सुरक्षा बनाये रखना और इसकी मुख्य जिम्मेदारी सुरक्षा परिषद् पर है। यहां पर यह कहना गलत न होगा कि विश्व-शांति को खतरे में डालने वाला कोई भी बड़ा अंतर्राष्ट्रीय संघर्ष तभी उभर या पनप सकता है, जब उसे एक या अधिक बड़े राष्ट्रों की सहायता या समर्थन प्राप्त हो। लेकिन ऐसे किसी भी संघर्ष को सुरक्षा परिषद् कैसे रोक या नियंत्रित कर सकती है, जबकि हर बड़े राष्ट्र अर्थात् अमरीका, रूस, ब्रिटेन, फ्रांस और चीन को तात्त्विक या वास्तविक प्रश्नों के निर्णय में निषेधाधिकार (वीटो) प्राप्त है?

द्वितीय विश्व-युद्ध के अनन्तर यानि संयुक्त राष्ट्र की स्थापना के बाद से कुछ बड़े संघर्ष या अंतर्राष्ट्रीय संकट के प्रसंग उत्पन्न हुए हैं—बर्लिन का संकट (1948-49), क्यूबा प्रक्षेपास्त्र संकट (1962), हंगरी का संकट (1956), चेकोस्लोवाकिया का संकट (1968) और वियतनाम युद्ध (1968-73)। हाल के वर्षों में उत्पन्न हुई दो गंभीर संकटकालीन स्थितियां हैं: अफगानिस्तान का संकट (1979) और पोलैण्ड का संकट (1981-82)। इन सभी में एक-न-एक महाशक्ति प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से हिस्सेदार थी। इसीलिए इनमें सुरक्षा परिषद् कोई असरदार कार्यवाही नहीं कर सकी। सिर्फ कोरिया संघर्ष (1950-53) में सुरक्षा परिषद् ने ऐसी कार्यवाही करने का निर्णय किया था। लेकिन जैसा कि सर्वविदित है, सोवियत प्रतिनिधि मण्डल के रहते हुए हालांकि यह निर्णय कार्यान्वित होना असंभव था।

यह सही है कि पिछले 54 वर्षों में कोई महायुद्ध अथवा अमरीका-रूस के बीच सीधा फौजी टकराव नहीं हुआ है लेकिन इसका श्रेय इन दोनों के बीच स्थापित 'नाभिकीय संतुलन' और संभावित परमाणु युद्ध के भीषण परिणामों के एहसास को है, न कि संयुक्त राष्ट्र संघ को।

संयुक्त राष्ट्र संघ की युद्ध निरोधक भूमिका के संदर्भ में भी यह याद रखना होगा कि पिछले पांच दशकों में क्षेत्रीय स्तर पर लगभग 150 छोटे-बड़े सैन्य संघर्ष हुए हैं; चंद उदाहरण हैं—भारत-चीन युद्ध, भारत-पाकिस्तान संघर्ष (तीन बार), अरब-इजराइल युद्ध (चार बार), इथोपिया-सोमालिया संघर्ष, वियतनाम-कम्पूचिया संघर्ष, युगाण्डा-तंजानिया संघर्ष और ईरान-इराक युद्ध। इन सबका निपटारा वस्तुतः सम्बद्ध देशों की सीधी वार्ता या दूसरे की मध्यस्थता से हुआ है और उसमें संयुक्त राष्ट्र संघ की या तो कोई भूमिका रही नहीं या नगण्य रही। विवादों या झगड़ों के शांतिपूर्ण निपटारे के सिलसिले में भी बहुत कुछ यही स्थिति रही है। भारत के निकटवर्ती दक्षिण एशिया के क्षेत्र को ही लीजिए। इस क्षेत्र में भारत-पाक युद्धों के उपरांत हुए ताशकंद और शिमला समझौतों के अतिरिक्त तीन बड़े विवादों का समाधान हुआ है—भारत और श्रीलंका के बीच शास्त्री-सिरमावो समझौता (1964), भारत-पाकिस्तान के बीच कच्छ विवाद का निपटारा (1965-66) और भारत-बंगलादेश के बीच फरक्का समझौता (1977)। इनमें से पहले और तीसरे का समाधान सीधी द्विपक्षीय बातचीत से हुआ और कच्छ विवाद का पंच फैसले द्वारा। हां, कश्मीर विवाद कई वर्ष तक सुरक्षा परिषद् की कार्यसूची पर रहा, लेकिन सुलझने के बजाय, उलझता ही गया। हाल ही में पूर्व युगोस्लाविया (बोस्निया), रवांडा तथा सोमालिया में संयुक्त राष्ट्र को असफलता का मुंह देखना पड़ा और संघ की छवि धूमिल हुई है।

उपनिवेशवाद के विघटन के मामले में 14 दिसम्बर, 1960 को संयुक्त राष्ट्र संघ महासभा ने 89 मतों से 'उपनिवेशवाद विघटन घोषणा' पारित की। निश्चय ही इस ऐतिहासिक घोषणा के बाद लगभग 50 राष्ट्रों को स्वाधीनता प्राप्त हुई। शायद यह भी स्वीकार करना होगा कि विभिन्न उपनिवेशों में स्वाधीनता सेनानियों को इस घोषणा से नया बल और प्रोत्साहन मिला। लेकिन जहां तक इसमें संयुक्त राष्ट्र संघ के सीधे व ठोस योगदान का प्रश्न है, औपनिवेशिक समस्याओं के विख्यात अमरीकी विशेषज्ञ रूपोर्ट इमरसन का कहना है—“उपनिवेशवाद के क्षेत्र में संयुक्त राष्ट्र कोई ठोस कार्यवाही नहीं कर सकता है। उपनिवेशवाद विघटन की अधिकांश राजनीति संयुक्त राष्ट्र संघ के घेरे में से नहीं गुजरी। प्रायः उपनिवेशवाद विघटन सम्बन्धी सभी कार्यावाहियां उपनिवेश निवासियों के शांतिपूर्ण या गैर-शांतिपूर्ण प्रयासों के फलस्वरूप हुईं।”

निशस्त्रीकरण के प्रश्न पर जनवरी 1946 में लंदन में हुए महासभा के प्रथम सत्र में विचार-विमर्श हुआ था। उसके बाद प्रायः महासभा के हर वार्षिक सम्मेलन में इस पर विचार होता रहा। इसके अलावा 'आंशिक परीक्षण निरोध संधि' (1963) और 'परमाणु अप्रसार संधि' (1968) से सम्बन्धित विचार-विमर्श में संयुक्त राष्ट्र संघ का सीमित योगदान रहा। लेकिन इन संधियों की मुख्य धाराओं पर सहमति महाशक्तियों तथा दूसरे राष्ट्रों की आपसी बातचीत से ही हुई। दोनों 'साल्ट' समझौते (1972

और 1979), आई.एन.एफ.संधि (1987) एवं स्टार्ट संधि (1991) भी अमरीका और सोवियत संघ के बीच सीधी बातचीत के फलस्वरूप ही हुए।

परंतु इन सब कमजोरियों के बावजूद यह मानना होगा कि संयुक्त राष्ट्र ने संघर्ष की कई स्थितियों में—जैसे कि कांगो और साइप्रस में—शांतिरक्षा के क्षेत्र में महत्वपूर्ण योगदान किया है। इसी प्रकार कई अंतर्राष्ट्रीय विवादों में—जैसे कि भारत-बंगलादेश विवाद तथा पश्चिम एशिया संकट में—उसके विचार-विमर्श एवं सलाह-मशविरे के माध्यम से हालात की गहमागहमी को कम करने में 'कूलर' की भूमिका निभायी है। अफगानिस्तान से सोवियत सैनिकों की वापसी के बारे में जेनेवा-समझौता (अगस्त 1988), इराक-ईरान युद्ध-विराम समझौता (अगस्त 1988), नामीबिया की स्वतंत्रता सम्बन्धी समझौता (13 दिसम्बर, 1988), अंगोला से क्यूबाई सैनिकों की वापसी के लिए पर्यवेक्षकों का दल तैनात करना, आदि हाल ही में संयुक्त राष्ट्र संघ की महत्वपूर्ण उपलब्धियां कही जा सकती हैं। वर्तमान में संयुक्त राष्ट्र की 16 शांति सेनाएं विभिन्न क्षेत्रों में तैनात हैं। 1945 से अब तक संघ की देख-रेख में लगभग 172 क्षेत्रीय संघर्षों का निदान शांतिपूर्ण समझौतों द्वारा किया जा चुका है। अपने 54 वर्ष की कालावधि में कम्बोडिया, नामीबिया, अल साल्वाडोर, मोजाम्बिक जैसे 45 देशों में निष्पक्ष चुनाव करवाकर लोकतंत्र की स्थापना में संघ ने सहयोग दिया है। संयुक्त राष्ट्र विकास कार्यक्रम के तहत 170 सदस्य देशों में कृषि, उद्योग, शिक्षा और पर्यावरण संरक्षण की लगभग 5,000 परियोजनाओं के लिए 1.3 बिलियन डॉलर के बजट द्वारा संघ विकास एवं उन्नयन के कार्य में जुटा हुआ है। दक्षिण अफ्रीका में रंगभेद को समाप्त करने की दिशा में संघ को अभूतपूर्व सफलता मिली है। इसके अलावा, संयुक्त राष्ट्र संघ के मुख्यालय का अपना विशिष्ट वातावरण है। उसके कॉफी हाउसों, लॉउज और गलियारों में परस्पर विरोधी पक्षों के प्रतिनिधि चाहे-अनचाहे आपस में मिल जाते हैं। इस तरह विरोधियों के बीच संवाद-सम्पर्क पूरी तरह टूटता नहीं है। इन औपचारिक सम्पर्क के फलस्वरूप कभी-कभी कुछ शंकाओं का निवारण भी हो जाता है या तनाव कम हो जाते हैं।

संक्षेप में, संयुक्त राष्ट्र संघ अंतर्राष्ट्रीय विवादों को उग्र होने से रोकने के लिए एक सेपटी वाल्व का काम करता है। राल्फ बुन्चे के अनुसार संयुक्त राष्ट्र संघ की प्रमुख विशेषता यह है कि यह राष्ट्रों को बातचीत में व्यस्त रखता है। वे जितनी अधिक देर तक बात करते रहें, उतना ही अधिक अच्छा है क्योंकि उतने समय युद्ध टल जाता है।

5. स्टॉकहोम अंतर्राष्ट्रीय शांति शोध संस्थान (SIPRI)

यह संस्थान अंतर्राष्ट्रीय शांति और सुरक्षा के क्षेत्र में संघर्ष एवं सहयोग से जुड़े प्रश्नों पर वैज्ञानिक शोध आयोजित करता है जिसका लक्ष्य अंतर्राष्ट्रीय संघर्षों के शांतिपूर्ण समाधान की स्थितियों एवं स्थायी शांति के प्रति समझ को विकसित करता है।

1964 में स्वीडन के प्रधानमंत्री टेगरलेंडर ने स्वीडन के शांति के 180 वर्ष पूरे होने के अवसर को यादगार बनाने की दृष्टि से एक शांति शोध संस्था की स्थापना का विचार रखा था। स्वीडन रॉयल कमीशन के अध्यक्ष अल्वा मिरडेल ने 1966 में अपने प्रतिवेदन में इस संस्थान की स्थापना का प्रस्ताव रखा था। जिसका नामकरण स्टॉकहोम इंटरनेशनल पीस रिसर्च इंस्टीट्यूट रखा गया। अपने प्रस्ताव में उन्होंने कहा कि यह संस्थान अंतर्राष्ट्रीय संघर्षों के शांतिपूर्ण समाधान तथा स्थायी शांति की पूर्ण आवश्यकता को समझने में अपना योगदान देगा। आयोग ने यह अनुशंसा भी की कि शस्त्रीकरण उनके सीमाकरण उनमें कटौती तथा शस्त्र नियंत्रण के क्षेत्र में उसके शोध केन्द्रित होंगे। आयोग ने यह भी कहा कि सीपरी रिसर्च करेगा और व्यावहारिक, राजनैतिक प्रश्नों पर करेगा।

सीपरी ने आज एक अपनी प्रतिष्ठा स्थापित की है तथा मूल्यवान तथ्यों, कठोर आंकड़ों, शस्त्र विकास, शस्त्र हस्तान्तरण और उत्पादन, सैनिक खर्च, शस्त्र सीमाकरण आदि क्षेत्रों में अपना व्यावसायिक तथा योग्यता प्रदर्शित की है। स्वीडन संसद ने 1 जुलाई, 1966 से इसकी स्थापना की तथा इसे एक स्वतंत्र फाउण्डेशन का कानूनी दर्जा दिया।

5.1 स्वरूप

इस संस्थान का स्वरूप अंतर्राष्ट्रीय है। संस्थान के सभी कार्य अंतर्राष्ट्रीय भाषा अंग्रेजी में होते हैं। इसका सरोकार विश्व स्तर की सभी समस्याओं से है। विशेषकर शस्त्र व शांति से सम्बन्धित

समस्याओं पर इस कार्य हेतु संस्थान का एक अंतर्राष्ट्रीय बोर्ड है। जिसके कई राष्ट्रों के प्रतिनिधि सदस्य हैं। बोर्ड में स्वीडन का मात्र एक प्रतिनिधि होता है जो इस संस्थान का अध्यक्ष होता है। यह बोर्ड स्वीडन सरकार के बिना हस्तक्षेप के स्वतंत्र रूप से निर्णय लेता है।

5.2 कार्यक्षेत्र

यह संस्थान सीमित क्षेत्रों में कार्य करता है ताकि सूचनाओं का आदान-प्रदान निर्बाध गति से चलता रहे। इस संस्थान द्वारा प्रकाशित अधिकांश साहित्य इन्हीं विषयों पर केन्द्रित है तथा इन्हीं विषयों से सम्बन्धित ग्रंथों का इसका अपना ग्रंथालय है। सीपरी द्वारा इन कार्यक्षेत्रों के चयन के पीछे यह भावना निहित थी कि इसकी स्थापना काल में शस्त्रों की होड़ चरम सीमा पर थी तथा नित्य नवीन अस्त्रों का परीक्षण, निर्माण एवं भण्डारण के कार्य तीव्रता से चल रहे हैं और राष्ट्रों की सरकार की बजट का बड़ा हिस्सा शस्त्र उत्पादन पर लगाने के लिए दबाव डाल रहा था। ऐसी स्थितियों में निःशस्त्रीकरण के पक्ष में तर्कपूर्ण एवं प्रभावकारी ढंग से तथ्य प्रस्तुत करने की आवश्यकता थी। सीपरी ने इसी कार्य को अपने हाथ में लिया जिसका निर्वाह वह आज तक कर रहा है।

5.3 संगठन

सीपरी के संगठन पक्ष पर विचार करें तो इसकी एक गवर्निंग बोर्ड है। इसके पश्चात् निर्देशक, उपनिर्देशक, शोध कर्मचारी और सहयोगी कर्मचारी हैं। गवर्निंग बोर्ड का कार्य शोध कार्यक्रमों, गतिविधियों तथा वित्तीय तथा संगठनात्मक प्रशासन जैसे महत्वपूर्ण प्रश्नों पर निर्णय करना है। अन्य मुद्दे निर्देशक द्वारा निर्णीत किये जाते हैं। शोधकर्ता शोध सम्बन्धी मामलों पर निर्देशक को सलाह देते हैं। अनुसंधान कर्मचारियों में लगभग 50 व्यक्ति अंतर्राष्ट्रीय क्षेत्र के हैं शोध कार्यकर्ता प्रोजेक्ट विशेष के लिए चयनित किये जाते हैं जो विभिन्न शैक्षणिक विषयों में चुने जाते हैं। सीपरी अंतर्राष्ट्रीय शोधकर्ताओं को स्वीडन में नजदीकी सहयोग पर आधारित शोध करने का अवसर प्रदान करता है। यह कई अन्य सरकारी संगठनों जैसे संयुक्त राष्ट्र, यूरोपियन यूनियन, संसदीय वैज्ञानिक और सरकारी प्रतिनिधि मण्डल तथा आगन्तुक शोधकर्ताओं का सहयोग करता है।

5.4 शोध

सीपरी में अंतर्राष्ट्रीय शोधार्थियों द्वारा शोध आयोजित किये जाते हैं। हाल ही में किये गये कुछ शोध कार्यक्रम और परियोजनाएं निम्नांकित हैं—

5.4.1 सीपरी ईयर बुक— सीपरी का यह एक प्रमुख शोध आधारित प्रकाशन है जो विश्व की लगभग 15 से भी अधिक भाषा में प्रकाशित किया जाता है। इस प्रकाशन में अस्त्र-शस्त्र, युद्ध, उस वर्ष के प्रमुख संघर्ष का, पर्यावरण एवं सैनिक गतिविधियों से सम्बन्धित अधिकृत आंकड़ों और शोधपरक पत्र प्रकाशित होते हैं। इसके अतिरिक्त जिन विषयों पर शोध कार्य आयोजित हुये हैं वे निम्नांकित हैं—

- यूरोपीय एटलांटिक सुरक्षा और शस्त्र नियंत्रण।
- शस्त्र संघर्ष और संघर्ष प्रबन्धन।
- परमाणु अप्रसार व निर्यात नियंत्रण।
- रासायनिक और जैविक युद्ध सामग्री।
- सैनिक खर्च और शस्त्र उत्पादन।
- शस्त्र हस्तान्तरण।
- सूचना प्रौद्योगिकी सम्बन्धी परियोजनाएं जिसमें अंतर्राष्ट्रीय सम्बन्ध और सुरक्षा की प्रवृत्तियों से सम्बन्धित आंकड़े तथा इण्टरनेट पर आधारित पूर्व चेतनावनी, सूचना तंत्र से सम्बन्धित परियोजनाएं सम्मिलित हैं।

उपर्युक्त क्षेत्रों में विशेषज्ञ विचार के आदान-प्रदान, अध्ययन एवं सूचनाओं के संग्रहण की दृष्टि से सेमिनार, सम्मेलन, कार्यशालाएं, व्याख्यान आदि आयोजित होते रहते हैं। सीपरी की शोध परियोजनाओं में मुख्यतः सैनिक खर्च, शस्त्र उत्पादन, इंडस्ट्रीज, शस्त्र हस्तान्तरण, राष्ट्रीय व अंतर्राष्ट्रीय नियौत नियंत्रण, शस्त्र नियंत्रण समझौते, वर्ष की प्रमुख शस्त्र-नियंत्रण घटनाएं, परमाणु परीक्षण तथा रासायनिक एवं जैविक युद्ध सामग्री से सम्बन्धित व्यापक आंकड़े जुटाये जाते हैं।

5.5 प्रकाशन और सूचनाएं

सीपरी द्वारा प्रकाशित विभिन्न सामग्री और सूचनाएं नीति-निर्माताओं, शोधकर्ताओं, पत्रकारों, संगठनों एवं इच्छुक लोगों को व्यापक तौर पर उपलब्ध करवाई जाती है। शोध के निष्कर्षों को लोगों तक पहुंचाने के लिए उनका प्रकाशन किया जाता है तथा सेमिनार व संगोष्ठियों द्वारा भी सूचनाएं प्रसारित की जाती है। मुख्य प्रकाशन निम्नांकित से सम्बन्धित हैं—

- सीपरी ईयर बुक
- शोध परियोजनाओं के निष्कर्ष
- रासायनिक और जैविक शस्त्रों से सम्बन्धित अध्ययन
- नीति सम्बन्धी पत्र
- मोनोग्राफ्स
- ईयर बुक का पॉकेट साइज सारांश
- फेक्स शीट और
- बहुलेखक पुस्तकें।

5.6 सीपरी का वित्तीय प्रावधान

सीपरी के समस्त खर्च स्वीडन सरकार द्वारा वहन किये जाते हैं तथा शोध योजनाओं के लिए यह विभिन्न संगठनों व फाउण्डेशनों से भी सहयोग लेता है।

स्टॉकहोम अंतर्राष्ट्रीय शांति संस्थान एकमात्र ऐसा संस्थान है जो गैर-सरकारी स्तर पर कार्यरत होते हुए भी अंतर्राष्ट्रीय महत्त्व का है। इसकी स्थापना की पृष्ठभूमि में स्वीडन का सुदीर्घ गौरवशाली अतीत था। यह संस्थान शांति के शोध के लिए समर्पित व जागरूक संस्थान है। स्वीडन सरकार द्वारा इसके भरण-पोषण व स्थापना का यह अर्थ नहीं है कि यह संस्थान स्वीडन के आंतरिक मामलों से सम्बन्धित है।

6. अभ्यास प्रश्न

निबन्धात्मक प्रश्न

1. विश्वशांति के संदर्भ में संयुक्त राष्ट्र संघ की भूमिका का आलोचनात्मक मूल्यांकन कीजिए।

लघूत्तरात्मक प्रश्न

1. शांति स्थापना में शांति सेना के योगदान का विवेचन कीजिए।
2. सिपरी (स्टॉकहोम) के संगठन, स्वरूप व कार्यों का विवेचन कीजिए।

वस्तुनिष्ठ प्रश्न

1. अमेरिकन क्राप्स में स्वयंसेवक भाग लेते हैं—

- | | |
|---------------------------------|----------------------------|
| अ. नए अनुभव के लिए | ब. नई भाषा को जानने के लिए |
| स. नयी संस्कृति में रहने के लिए | द. उपरोक्त सभी |

2. संयुक्त राष्ट्र शांति सेना के लिए प्रायोजक है—

- | | |
|------------------------|-----------------|
| अ. मेजबान राष्ट्र | ब. दाता राष्ट्र |
| स. संयुक्त राष्ट्र संघ | द. उपरोक्त सभी |

3. किस पुस्तक में गांधी की शांति सेना को व्यापक वैचारिक आधार प्रदान किया गया है—

- | | |
|-----------------------|-----------------|
| अ. सर्वोदय | ब. हिन्द स्वराज |
| स. मेरे सपनों का भारत | द. लास्ट फेज |

4. संयुक्त राष्ट्र संघ दिवस प्रतिवर्ष मनाया जाता है—
अ. 26 अक्टूबर
ब. 24 अक्टूबर
स. 27 अक्टूबर
द. 20 अक्टूबर
5. निम्न में से महासभा का पर्यायवाची शब्द है—
अ. संसार की नगर सभा
ब. विश्व की लघु संसद
स. विश्व का उन्मुक्त भारत
द. उपरोक्त सभी
6. संयुक्त राष्ट्र संघ की स्थायी संस्था है—
अ. महासभा
ब. न्यास परिषद्
स. सचिवालय
द. अंतर्राष्ट्रीय न्यायालय
7. संयुक्त राष्ट्र संघ का कौन-सा अभिकरण विश्व के आर्थिक मुद्दों से सम्बन्धित नहीं है—
अ. अंतर्राष्ट्रीय विकास संघ
ब. यूनेस्को
स. अंतर्राष्ट्रीय विकास संगठन
द. अंतर्राष्ट्रीय कृषि विकास निधि
8. यूनान में किस बीमारी के निवारण के लिए विश्व स्वास्थ्य संगठन की महत्वपूर्ण भूमिका रही—
अ. क्षय रोग
ब. मलेरिया
स. कैसर
द. चेचक
9. के जिले के गांव में शांति सेना की स्थापना हुई।
10. अंतर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष का उद्भव के सम्मेलन के कारण हुआ।

परमाणु निःशस्त्रीकरण अभियान : ऐतिहासिक परिदृश्य, संधियां एवं समझौते तथा
अंतर्राष्ट्रीय राजनीति पर प्रभाव

उद्देश्य

1. निःशस्त्रीकरण की अवधारणा एवं इतिहास को स्पष्ट करना।
2. निःशस्त्रीकरण की दिशा में हुए प्रमुख समझौतों एवं संधियों का परिचय देना।
3. वर्तमान संदर्भ में परमाणु अस्त्र-शस्त्रों की स्थिति को स्पष्ट करना।

संरचना

1. निःशस्त्रीकरण : अर्थ और परिभाषा
2. निःशस्त्रीकरण की आवश्यकता एवं दर्शन
 - 2.1 शस्त्रीकरण से युद्ध की संभावना
 - 2.2 शस्त्रीकरण से अन्य देशों में हस्तक्षेप
 - 2.3 शस्त्रीकरण पर असीमित व्यय से लोक-कल्याणकारी कार्यों की उपेक्षा
 - 2.4 शस्त्रीकरण नैतिकता के प्रतिकूल है
 - 2.5 शस्त्रीकरण से अन्य देशों में हस्तक्षेप
 - 2.6 शस्त्रीकरण से आर्थिक विकास का मार्ग अवरुद्ध
 - 2.7 शस्त्रीकरण मृत्यु का पैगाम है
 - 2.8 मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण
 - 2.9 उपनिवेशवाद व साम्राज्यवाद का अंत करने में सहायक
3. निःशस्त्रीकरण के विपक्ष में तर्क
 - 3.1 निःशस्त्रीकरण से युद्ध अधिक होने की प्रवृत्ति
 - 3.2 निःशस्त्रीकरण से आर्थिक मंदी
 - 3.3 निःशस्त्रीकरण से वैज्ञानिक एवं तकनीकी प्रगति का अवरुद्ध होना
4. निःशस्त्रीकरण के मार्ग में बाधाएं और कठिनाइयां
 - 4.1 प्राथमिकता का प्रश्न
 - 4.2 अनुपात की समस्या
 - 4.3 राष्ट्रीय हित
 - 4.4 राष्ट्रवाद और सम्प्रभुता
 - 4.5 राजनीतिक समस्याएं
 - 4.6 आर्थिक कारण
5. शस्त्र नियंत्रण
6. निःशस्त्रीकरण की दिशा में किये गये प्रयास
 - 6.1 दो महायुद्धों के मध्य निःशस्त्रीकरण के प्रयास

- 6.1.1 राष्ट्र संघ द्वारा किये गये निःशस्त्रीकरण प्रयास
- 6.1.2 राष्ट्र संघ के बाहर किये गये निःशस्त्रीकरण के प्रयास
 - 6.1.2.1 वाशिंगटन सम्मेलन, 1921-22
 - 6.1.2.2 जेनेवा सम्मेलन, 1927
 - 6.1.2.3 लन्दन का नौसैनिक सम्मेलन, 1930
 - 6.1.2.4. द्वितीय लन्दन नौसैनिक सम्मेलन, 1935
- 6.2 द्वितीय महायुद्ध के बाद निःशस्त्रीकरण के प्रयास
- 7. परमाणु अप्रसार संधि : एनपीटी एवं सीटीबीटी
- 8. आणविक शस्त्रों का विस्तार : परमाणु की राजनीति
- 9. परमाणु शक्ति का स्वरूप
- 10. परमाणु अप्रसार
 - 10.1 आंशिक परमाणु परीक्षण प्रतिबंध संधि
 - 10.2 परमाणु अप्रसार संधि
 - 10.3 साल्ट-प्रथम समझौता
 - 10.4 साल्ट-द्वितीय समझौता
 - 10.5 मध्यम दूरी प्रक्षेपास्त्र संधि
 - 10.6 स्टार्ट-I संधि
 - 10.7 स्टार्ट-II संधि
 - 10.8 व्यापक आणविक परीक्षण प्रतिबंध संधि (सी.टी.बी.टी.)
 - 10.8.1 सीटीबीटी का स्वरूप
 - 10.8.2 भारत का संधि से सम्बन्ध
 - 10.9 अमेरिका-रूस में परमाणु शस्त्र कटौती संधि
 - 10.10 राष्ट्रपति ओबामा एवं राष्ट्रपति मेदवेदेव के बीच परमाणु शस्त्रों की संख्या में कटौती का नया समझौता (जुलाई 2009)
 - 10.11 सुरक्षा परिषद् का सर्वसम्मत प्रस्ताव-एनपीटी व सीटीबीटी पर हस्ताक्षर का आह्वान
 - 10.12 अमरीका व रूस के मध्य नई 'स्टार्ट संधि'
- 11. विश्व राजनीति पर आणविक शस्त्रों का प्रभाव-6 अगस्त, 1945 को जब अमरीकी बमवर्षक बी-29
 - 11.1 परम्परागत शक्तिशाली राज्यों को दुर्बल बनाना
 - 11.2 युद्ध-कार्य विध्वंस का एक प्रक्रम बन गया है
 - 11.3 प्रत्येक राष्ट्र दूसरे राष्ट्र की 'अनुमति' से ही जीवित है
 - 11.4 आणविक शस्त्रों से अमरीका और सोवियत संघ में फूट पड़ना
 - 11.5 आणविक शस्त्रों का भय युद्ध प्रतिरोधक शक्ति के रूप में
 - 11.6 आणविक शस्त्रों के फलस्वरूप सामूहिक सुरक्षा व्यवस्थाओं का उदय
 - 11.7 शांति-अनुसंधान और शांतिपूर्ण सह-अस्तित्व के लिए आंदोलन

11.8 मानव मात्र के अस्तित्व की समस्या

12. शक्ति राजनीति में आणविक शक्ति की भूमिका

13. विश्व व्यवस्था : आतंक का युग

14. अभ्यास प्रश्न

विश्व में होने वाले विनाशकारी युद्धों के पीछे राष्ट्रों में शस्त्रीकरण की होड़ एक प्रमुख कारण रही है। इस सदी के प्रथम और द्वितीय विश्व महायुद्ध शस्त्रीकरण के फलस्वरूप राष्ट्रों द्वारा शक्ति-संतुलन की सीमा लांघ जाने की प्रक्रिया या उससे जुड़े हुए भय के कारण ही भड़क उठे थे। प्रथम विश्व-युद्ध के बाद पेरिस के शांति सम्मेलन में मित्र-राष्ट्रों के प्रतिनिधियों ने जर्मनी और उसके मित्र देशों को विसैन्यीकृत करके उनकी सैन्य शक्ति तथा शस्त्रीकरण की सामर्थ्य को परिसीमित कर दिया था, किंतु इससे यूरोप के देशों में शस्त्रीकरण की होड़ कम नहीं हुई। सन् 1920-1936 के मध्य अनेक सम्मेलनों द्वारा विश्व की प्रमुख शक्तियों ने निःशस्त्रीकरण की दिशा में कुछ निर्णय लिए, जिनका कारगर साबित न होना द्वितीय विश्व-युद्ध को भड़काने का प्रमुख कारण था। द्वितीय विश्व-युद्ध की विभीषिका के बावजूद विश्व का साम्यवादी और गैर-साम्यवादी खेमों में बंट जाना निःशस्त्रीकरण के लिए प्रतिकूल घोर शत्रु साबित हुआ। सोवियत संघ और अमरीका दोनों ही परमाणु शस्त्रों की प्रतिस्पर्द्धा में तथा एक-दूसरे को पीछे धकेलने की नियति से अधिकाधिक परमाणु शस्त्रास्त्र जमा करने लगे। बाद में ब्रिटेन, चीन और फ्रांस भी इस प्रतिस्पर्द्धा में सम्मिलित हो गए।

शस्त्रों की प्रतिस्पर्द्धा के बावजूद निःशस्त्रीकरण के लिए द्वितीय विश्व-युद्ध के बाद अनेक प्रयास हुए। इस दृष्टि से महाशक्तियों द्वारा अप्रसार संधि तथा साल्ट संधियां विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। फिर भी महाशक्तियों के आपसी मनमुटाव इतने गहरे थे कि समस्त मानव जाति की इच्छा के बावजूद वे निःशस्त्रीकरण पर कोई निश्चित कार्यवाही नहीं कर पायीं।

1. निःशस्त्रीकरण : अर्थ और परिभाषा—निःशस्त्रीकरण का शाब्दिक अर्थ है— शारीरिक हिंसा के प्रयोग के समस्त भौतिक तथा मानवीय साधनों का उन्मूलन। यह एक ऐसा कार्यक्रम है जिसका उद्देश्य हथियारों के अस्तित्व और उनकी प्रकृति से उत्पन्न कुछ विशिष्ट खतरों को कम करना है। इससे हथियारों की सीमा निश्चित करने या उन पर नियंत्रण करने या उन्हें घटाने का विचार प्रकट होता है। निःशस्त्रीकरण के प्रयास युद्ध को पूरी तरह समाप्त करने के लिए नहीं, अपितु यकायक होने वाले आक्रमणों को रोकने के लिए किये जाते हैं। निःशस्त्रीकरण का लक्ष्य आवश्यक रूप से निरस्त कर देना नहीं है। इसका लक्ष्य यह है कि जो भी हथियार उपस्थित हैं उनके प्रभाव को घटा दिया जाये। मॉरगेन्थाऊ के अनुसार, “निःशस्त्रीकरण कुछ या सब शस्त्रों में कटौती या उनको समाप्त करना है ताकि निःशस्त्रीकरण कुछ या सब शस्त्रों में कटौती या उनको समाप्त करना है ताकि शस्त्रीकरण की दौड़ का अंत हो।”

मॉरगेन्थाऊ के अनुसार, निःशस्त्रीकरण पर विचार करते समय दो मूल भेदों को ध्यान में अवश्य रखना चाहिए, वे हैं सामान्य और स्थानीय निःशस्त्रीकरण में भेद और मात्रात्मक और गुणात्मक निःशस्त्रीकरण में भेद। सामान्य निःशस्त्रीकरण से अर्थ है जिसमें सभी सम्बन्धित राष्ट्र भाग लें। इसका उदाहरण 1922 की नौसैनिक शस्त्रीकरण पर परिसीमा की वाशिंगटन संधि से है, जिस पर सारी प्रमुख नैसर्गिक शक्तियों ने हस्ताक्षर किये और 1932 में विश्व निःशस्त्रीकरण सम्मेलन से जिसमें लगभग राष्ट्र समुदाय के सब सदस्यों का प्रतिनिधित्व हुआ। स्थानीय निःशस्त्रीकरण से अभिप्राय उससे है जिसमें सीमित संख्या में राष्ट्र समुदाय के सब सदस्यों का प्रतिनिधित्व हुआ। स्थानीय निःशस्त्रीकरण से अभिप्राय उससे है जिसमें सीमित संख्या में राष्ट्र सम्मिलित हों। 1871 का अमरीका और कनाडा के बीच रश-बागोट समझौता इस प्रकार का एक उदाहरण है। मात्रात्मक निःशस्त्रीकरण का उद्देश्य अधिक या सब प्रकार के शस्त्रीकरण में सम्पूर्ण कटौती है। 1932 में विश्व निःशस्त्रीकरण सम्मेलन में उपस्थित अधिकतर राष्ट्रों का यह ध्येय था। गुणात्मक निःशस्त्रीकरण केवल विशेष प्रकार के शस्त्रों में कटौती या इनका उन्मूलन है, जैसे 1932 के विश्व निःशस्त्रीकरण सम्मेलन में ब्रिटेन ने आक्रमणकारी शस्त्रों को अवैध कराने का यत्न किया था।

व्यापक निशस्त्रीकरण को पूर्ण या सम्पूर्ण निशस्त्रीकरण भी कहते हैं। पूर्ण या व्यापक निशस्त्रीकरण का अर्थ है— अंततोगत्वा ऐसी विश्व व्यवस्था में आना जिसमें युद्ध करने के सारे मानवीय और भौतिक साधन समाप्त कर दिये गये हों। इस प्रकार की विश्व व्यवस्था में किसी प्रकार का कोई हथियार नहीं होगा और सेनाएं पूरी तरह भंग कर दी जायेंगी। सैनिक प्रशिक्षण केन्द्र, युद्ध मंत्रालय, सैनिक साज-सामान बनाने वाले कारखाने आदि भी बंद कर दिये जायेंगे।

निशस्त्रीकरण अनिवार्य और ऐच्छिक प्रकार का भी होता है। अनिवार्य निशस्त्रीकरण युद्ध के उपरान्त विजयी राष्ट्रों पर लागू किया जाता है। प्रथम और द्वितीय विश्व-युद्ध के बाद जर्मनी पर ऐसा ही निशस्त्रीकरण लागू किया गया था। यदि राष्ट्र स्वेच्छा से अंतर्राष्ट्रीय संधियों द्वारा निशस्त्रीकरण स्वीकार करते हैं तो उसे ऐच्छिक निशस्त्रीकरण कहते हैं जैसे, 1968 की परमाणु प्रसार निरोध संधि।

संक्षेप में, निशस्त्रीकरण सामान्य भी हो सकता है और स्थानीय भी, मात्रात्मक भी हो सकता है और गुणात्मक भी, एकपक्षीय ही हो सकता है और द्विपक्षीय भी, पूर्ण भी हो सकता है और आंशिक भी, नियंत्रित भी हो सकता है और अनियंत्रित भी। निष्कर्षतः निशस्त्रीकरण में मौजूदा अस्त्र कम या समाप्त करने की बात तथ्यगत रूप से होनी चाहिए।

2. निशस्त्रीकरण की आवश्यकता एवं दर्शन—निशस्त्रीकरण को शांति का एक साधन समझा जाता है। निशस्त्रीकरण का प्रयोजन राष्ट्रों को युद्ध के साधनों से वंचित कर देना है। निशस्त्रीकरण दर्शन के अनुसार युद्ध का एकमात्र प्रत्यक्ष कारण शस्त्रों एवं हथियारों का अस्तित्व है। निशस्त्रीकरण का सिद्धान्त इस सम्प्रत्यय पर खड़ा है कि शस्त्रों के कारण, न केवल भौतिक दृष्टि से संभव है, बल्कि राजनीतिक दृष्टि से भी संभाव्य बन जाता है। “मनुष्य इसलिए नहीं लड़ते कि उनके पास हथियार हैं, वरन् इसलिए लड़ते हैं कि उन्हें लड़ने के लिए आवश्यक समझते हैं।” बर्ट्रेंड रसल ने लिखा है, “अत्यधिक महत्त्वपूर्ण और वांछनीय होते हुए भी सामान्य निशस्त्रीकरण स्थायी शांति की प्राप्ति के लिए पर्याप्त नहीं होगा। जब तक वैज्ञानिक तकनीक का ज्ञान बना रहेगा, किसी बड़ी लड़ाई के छिड़ जाने पर दोनों पक्षों द्वारा ताप-नाभिकीय शस्त्रों का निर्माण शुरू हो जायेगा और पिछले शांति के वर्षों से भी अधिक संहारक हथियार आ जायेंगे। इस कारण केवल निशस्त्रीकरण ही पर्याप्त नहीं है, फिर भी यह एक आवश्यक कदम है जिसके बगैर अन्य प्रयास अधिक उपयोगी नहीं होंगे।” निशस्त्रीकरण की आवश्यकता अग्रलिखित कारणों से अनुभव की जाती है—

2.1 शस्त्रीकरण से युद्ध की संभावना— निशस्त्रीकरण का आधुनिक दर्शन इस संकल्पना को लेकर चलता है कि व्यक्ति लड़ते हैं, क्योंकि उनके पास हथियार हैं। इस धारणा से यह निष्कर्ष निकलता है कि यदि आदमी सभी हथियार छोड़ दें तो सब प्रकार का लड़ना असंभव हो जायेगा। इनिस क्लाड का अभिमत है कि शस्त्रास्त्रों से राष्ट्र नेताओं को युद्ध में भाग लेने का प्रलोभन मिल जाता है। प्रथम विश्व-युद्ध का प्रधान कारण राष्ट्रों में व्याप्त शस्त्रीय होड़ ही था। शस्त्र उत्पादन पर व्यर्थ खर्च करके राजमर्मज्ञ जनता को उनका युद्ध में इस्तेमाल करके यह दिखाते हैं कि इस पर किया गया खर्च राष्ट्रीय सुरक्षा जैसे महत्त्वपूर्ण मामले पर था। द्वितीय विश्व-युद्ध के दौरान अमरीका ने जापान के हिरोशिमा और नागासाकी नगरों पर बम गिराये। इस बम के उत्पादन पर अमरीका ने अरबों डॉलर व्यय किए। बम का प्रयोग कर अमरीकी शासकों ने अपनी जनता को परोक्ष रूप से यह दर्शाना चाहा कि खर्च किया गया धन व्यर्थ नहीं गया है। अतः निशस्त्रीकरण का मार्ग अपनाकर युद्धों से बचा जा सकता है।

2.2 शस्त्रीकरण से अन्य देशों में हस्तक्षेप— राष्ट्रों में शस्त्र-निर्माण की होड़ अंतर्राष्ट्रीय शांति एवं सुरक्षा भंग करती है जिससे अंतर्राष्ट्रीय तनाव बढ़ता है। विभिन्न राष्ट्रों में राष्ट्रीय हितों का टकराव अस्वाभाविक तथ्य नहीं है। इस टकराव में शस्त्रीकरण आग में घी का काम करता है और अंतर्राष्ट्रीय तनाव अपनी चरमोत्कर्ष की सीमा पर पहुंच जाता है। इसी बात को ध्यान में रखते हुए हैडली बुल ने कहा है कि शस्त्रों की होड़ स्वयं तनाव की अभिव्यक्ति है। अतः अंतर्राष्ट्रीय तनाव में कमी लाने के लिए निशस्त्रीकरण अत्यन्त आवश्यक है।

2.3 शस्त्रीकरण पर असीमित व्यय से लोक-कल्याणकारी कार्यों की उपेक्षा— शस्त्र उत्पादन में असीमित संसाधन व्यय किये जाते हैं। विश्व के छोटे-छोटे सभी राष्ट्र अपने बजट का अधिकांश भाग अस्त्रों के निर्माण एवं सैन्य सामग्री जुटाने में खर्च करते हैं। यह आश्चर्य की बात है कि महाशक्तियों द्वारा अरबों डॉलर खर्च करके ऐसे बमों एवं मिसाइलों का निर्माण किया गया है जिनकी भविष्य में प्रयोग किये जाने

की कोई संभावना प्रतीत नहीं होती। वह विपुल धनराशि जो राष्ट्रों द्वारा विनाशकारी असत्र-शस्त्रों के निर्माण पर व्यय की जाती है यदि विश्व के अविकसित और पिछड़े देशों के विकास पर व्यय की जाये तो समूचे विश्व का रूप बदल सकता है। आइजनाहॉवर के शब्दों में, “प्रत्येक बन्दूक जिसे बनाया जाता है, प्रत्येक रॉकेट जिसे छोड़ा जाता है, अंतिम अर्थों में उन लोगों के प्रति जो भूखे रहते हैं और उन्हें खाना नहीं खिलाया जाता, जो ठिठुरते हैं, किंतु उन्हें वस्त्र नहीं दिये जाते—एक चोरी का सूचक होता है।” दूसरे शब्दों में, विनाशकारी कार्यों में व्यय किये जाने वाले इस धन को लोक-कल्याणकारी कार्यों में लगाकर पृथ्वी को स्वर्ग बनाया जा सकता है।

2.4 शस्त्रीकरण नैतिकता के प्रतिकूल है— शस्त्रों से युद्ध होता है और युद्ध सैनिक दृष्टि से अनुचित है। जो लोग युद्ध के नैतिक अनौचित्य में विश्वास रखते हैं, उनका कहना है कि हथियार रखने का अर्थ है युद्ध की मूक स्वीकृति और और युद्ध की मूक स्वीकृति प्रत्येक प्रकार से युद्ध को बल देती है। शस्त्रीकरण को नैतिकता के प्रतिकूल मानने वालों में धर्मगुरु, सामाजिक कार्यकर्ता तथा प्रबुद्ध लेखक हैं। इन नैतिकतावादियों का तर्क है कि किसी भी अच्छे उद्देश्य की प्राप्ति के लिए साधन भी उतने श्रेष्ठ होने चाहिए। यदि कोई राष्ट्र शत्रु से राष्ट्रीय सुरक्षा करने हेतु शस्त्रों का उत्पादन करता है तो यह नैतिकता के खिलाफ है क्योंकि यह शस्त्रीकरण अंततोगत्वा युद्ध को जन्म देता है। युद्ध रूपी अनुचित साधन के किसी भी अच्छे उद्देश्य की प्राप्ति नैतिक रूप से न्यायोचित नहीं ठहरायी जा सकती।

2.5 शस्त्रीकरण से अन्य देशों में हस्तक्षेप— शस्त्रीकरण दूसरे देशों द्वारा हस्तक्षेप करने का भी मार्ग प्रशस्त करता है। विश्व के छोटे राष्ट्र, बड़े राष्ट्रों से शस्त्र तथा हथियारों की टेक्नोलॉजी का आयात करते हैं। प्रायः बड़े राष्ट्र शस्त्र निर्यात और शस्त्र सहायता को राजनीतिक दबाव के साधन के रूप में प्रयुक्त करते हैं ताकि परोक्ष रूप से प्राप्तकर्ता देश, दाता देशों के चंगुल में फंसे रहें। यही नहीं, शस्त्र सहायता एवं शस्त्र निर्यात के नाम पर बड़ी शक्तियाँ छोटे देशों की अर्थव्यवस्था में घुसपैठ करती हैं। अमरीका ने नाटो, सीटो, सेण्टो तथा सोवियत संघ ने वारसा पैक्ट के द्वारा इनके सदस्य राष्ट्रों को शस्त्र सहायता दी। इस शस्त्र सहायता के नाम पर यथार्थ में सदस्य राष्ट्रों की अर्थव्यवस्था में घुसपैठ की। किसी भी देश की अर्थव्यवस्था में बाहरी घुसपैठ उसको दूसरे पर निर्भर बनाती है। यह कई बार राजनीतिक हस्तक्षेप का भी मार्ग प्रशस्त करती है। अतः तीसरे विश्व में बाह्य हस्तक्षेप को रोकने के लिए आवश्यक है कि शस्त्रीकरण की नीति छोड़कर निशस्त्रीकरण के मार्ग को अपनाया जाये।

2.6 शस्त्रीकरण से आर्थिक विकास का मार्ग अवरुद्ध— शस्त्रीकरण पर राष्ट्रीय आय का बहुत बड़ा हिस्सा खर्च होने से विशेषकर तीसरी दुनिया के विकासशील देशों के आर्थिक विकास का मार्ग अवरुद्ध हो जाता है। अफ्रीका, एशिया और लेटिन अमरीका महाद्वीप के राष्ट्र द्वितीय विश्व-युद्ध के बाद ही औपनिवेशिक दासता के पंजे से मुक्त हुए हैं। औपनिवेशिक शासन के दौरान उनकी अर्थव्यवस्था को तहस-नहस कर दिया गया था। औपनिवेशिक शक्तियों ने उनका असीमित आर्थिक शोषण किया। स्वतंत्र राष्ट्र के रूप में उदय होने के कारण अब तीसरी दुनिया को अपनी एक मजबूत अर्थव्यवस्था का निर्माण करना है, जो स्वतंत्र आर्थिक विकास के माध्यम से ही संभव है। जब इन गरीब राष्ट्रों द्वारा शस्त्रीकरण पर असीमित व्यय किया जाता है तो स्वाभाविक है कि आर्थिक विकास की उपेक्षा होती है।

2.7 शस्त्रीकरण मृत्यु का पैगाम है— शस्त्रीकरण के क्षेत्र में होने वाली आश्चर्यजनक क्रांति ने सम्पूर्ण मानवता को जीवन और मृत्यु के चौराहे पर लाकर खड़ा कर दिया है। तकनीकी आविष्कारों ने इतने भयानक शस्त्रों का निर्माण कर दिया है कि कुछ ही मिनटों में सम्पूर्ण विश्व को नष्ट किया जा सकता है। फिलिप नोअल बेकर के शब्दों में, “आधुनिक शस्त्रों में प्रतिद्वन्द्विता मानवता के लिए मौत का ऐसा संदेश बन गयी है जिसकी भयानकता किसी भाषा में व्यक्त नहीं की जा सकती है। केवल निशस्त्रीकरण संधि के ही उपाय द्वारा इसे रोका जा सकता है।”

2.8 मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण— मनोवैज्ञानिक दृष्टि से स्पष्ट है कि शस्त्रीकरण देश में सैनिकीकरण को जन्म देता है। सैनिकों का होना इस बात का द्योतक है कि किसी भी प्रकार से युद्ध में विजय प्राप्त की जाय। शस्त्रों की उपस्थिति का अर्थ शक्ति का प्रदर्शन, धमकी, आक्रमण, विरोध आदि को प्रोत्साहित करना है। ये सभी कारण मनोवैज्ञानिक दृष्टि से अशांत वातावरण उत्पन्न करते हैं।

2.9 उपनिवेशवाद व साम्राज्यवाद का अंत करने में सहायक— साम्राज्यवाद और उपनिवेशवाद ये सभी शक्ति को बढ़ाने के दूसरे रूप हैं। एक राष्ट्र को शक्ति व राष्ट्रों को बढ़ाना ही युद्ध को जन्म देना है।

निःशस्त्रीकरण में साम्राज्यवाद व उपनिवेशवाद का अंत होता है तथा राष्ट्रों के बीच शांति स्थापित की जा सकती है।

3. निशस्त्रीकरण के विपक्ष में तर्क—कई विचारक विश्वशांति के लिए निशस्त्रीकरण के महत्त्व को स्वीकार नहीं करते और इसके विपक्ष में निम्नलिखित तर्क देते हैं—

3.1 निशस्त्रीकरण से युद्ध अधिक होने की प्रवृत्ति—क्विन्सी राइट के अभिमत में निशस्त्रीकरण से संभवतः युद्ध अधिक होने की प्रवृत्ति पैदा होगी। युद्ध होने की संभावना उस समय अधिक रहती है जब सभी राष्ट्रों के पास हथियार कम हों। राष्ट्रों के पास जितनी ज्यादा मात्रा में हथियार होंगे वे उतने ही ज्यादा मात्रा में एक-दूसरे से डरते रहेंगे और एक-दूसरे को शक्ति प्रयोग से रोकते रहेंगे। यदि राष्ट्रों के पास कम हथियार होंगे तो वे युद्ध को राष्ट्रीय नीति का साधन बना लेंगे और बिना किसी झिझक के शस्त्रों का प्रयोग करेंगे। परमाणु युग के नूतन हथियार युद्ध का सहारा लेने की अनिच्छा पैदा करते हैं और निशस्त्रीकरण को पहले से कहीं अधिक संभव बना रहे हैं।

3.2 निशस्त्रीकरण से आर्थिक मंदी—ऐसा भी कहा जाता है कि निशस्त्रीकरण से आर्थिक मंदी पैदा होगी जिससे समृद्धि का मार्ग अवरुद्ध होगा। आज लाखों-करोड़ों मजदूर और तकनीकी विशेषज्ञ शस्त्र निर्माण, शोध तथा सैनिक साज-सामान के निर्माण में लगे हुए हैं। यदि निशस्त्रीकरण लागू किया जाता है तो करोड़ों लोग बेकार हो जायेंगे, हजारों कारखाने बंद हो जायेंगे और कई देशों की अर्थव्यवस्था डगमगा जायेगी।

3.3 निशस्त्रीकरण से वैज्ञानिक एवं तकनीकी प्रगति का अवरुद्ध होना—ऐसा भी कहा जाता है कि निशस्त्रीकरण से तकनीकी और वैज्ञानिक उन्नति की गति मंद पड़ जायेगी। आज विज्ञान और तकनीकी के क्षेत्र में जितनी भी उन्नति हुई है उसका मूल कारण राष्ट्रीय सुरक्षा की चिंताएं और शस्त्र निर्माण के क्षेत्र में होने वाले अनुसंधान हैं।

4. निशस्त्रीकरण के मार्ग में बाधाएं और कठिनाइयां—निशस्त्रीकरण की दिशा में किये गये प्रयासों में कोई विशेष सफलता नहीं मिली है क्योंकि निशस्त्रीकरण के मार्ग में अनेक बाधाएं हैं, जो इस प्रकार हैं—

4.1 प्राथमिकता का प्रश्न—निशस्त्रीकरण पहले किया जाये अथवा राष्ट्रों के आपसी विवादों को पहले सुलझाया जाये। निशस्त्रीकरण हो जाये तो कई राजनीतिक विवाद स्वयं सुलझ जायेंगे और राजनीतिक विवाद सुलझ जायें तो निशस्त्रीकरण करना सुगम हो जायेगा। मूल समस्या यह है कि दोनों में से किस तर्क को ज्यादा महत्त्व का मानें। हमारी धारणा यह है कि शस्त्रों की होड़ से तनाव, शंका, भय और युद्ध का सूत्रपात होता है अतः निशस्त्रीकरण को प्राथमिकता देनी होगी।

4.2 अनुपात की समस्या—निशस्त्रीकरण से अभिप्राय है—शस्त्रीकरण पर सीमा या नियंत्रण लगाना अथवा उनमें कटौती करना। निशस्त्रीकरण की मूल समस्या सभी देशों के शस्त्रों का आनुपातिक रूप से कम करना है। निशस्त्रीकरण के बाद यह नहीं होना चाहिए कि शक्तिशाली देश तो कमजोर बन जाये तथा कमजोर देश अधिक शक्तिशाली बन जाये। अतः निशस्त्रीकरण में 'संतुलित' अथवा 'आनुपातिक' शक्ति को स्थिर ही रखना पड़ेगा। राष्ट्र इस बात के लिए विशेष सतर्क रहते हैं कि आनुपातिक शक्ति में निशस्त्रीकरण के बाद कोई भी परिवर्तन न हो। इतना ही नहीं, प्रत्येक राष्ट्र निशस्त्रीकरण के द्वारा अपनी शक्ति पर तो कोई आंच नहीं आने देना चाहता, यद्यपि दूसरे राज्यों की शक्ति को क्षीण करना चाहता है। अतः निशस्त्रीकरण के प्रस्ताव प्रायः एकपक्षीय होते हैं। सैल्वाडोर दि मदेरियागा ने इसी तथ्य को लिटिनोव द्वारा प्रस्तुत एक प्रस्ताव के उत्तर में 1932 में जेनेवा निशस्त्रीकरण सम्मेलन में एक लोककथा द्वारा चित्रित किया है।

“जंगल के सभी जीव—जंतु निशस्त्रीकरण सम्मेलन में भाग लेने के लिए एकत्र हुए। शेर ने गिद्ध की ओर देखते हुए गंभीरता से कहा—हमें शिकारी पक्षियों के नखों को समाप्त करना होगा। चीते ने हाथी की ओर देखते हुए कहा, इन बाह्य दांतों को भी हटाना होगा, हाथी ने चीते की ओर देखते हुए कहा, नाखून और पंजे भी नहीं रहने चाहिए। इसी प्रकार बारी-बारी से कोई जानवर उठता अपने को छोड़कर जिस पर उसकी दृष्टि पड़ती उसके नुकीले दांत या नाखूनों को समाप्त करने की बात करता। अंत में रीछ अपने स्थान से उठा और बहुत मीठे लहजे में बोला—साथियों सबको समाप्त कर दो, सबका उन्मूलन कर दो, बस यह महान् सर्वदेशीय आलिंगन रहने दो।”

कहने का मतलब यह है कि निशस्त्रीकरण के लिए विभिन्न राष्ट्रों द्वारा प्रस्तुत प्रस्ताव बड़े एकपक्षीय होते हैं। आनुपातिक निशस्त्रीकरण करना तो और भी कठिन है।

4.3 राष्ट्रीय हित— राष्ट्रीय स्वार्थ निशस्त्रीकरण के मार्ग में बहुत बड़ी बाधा है। राष्ट्र सबसे पहले अपने हितों को देखते हैं और उसके बाद अपनी राष्ट्रीय सीमा से बाहर निकलकर आदर्शों में लिपटी हुई भाषा में अंतर्राष्ट्रीय जगत को धोखा देने का प्रयास करते हैं। कोई भी राष्ट्र इसका अपवाद नहीं है। उदाहरणार्थ, भारत ने 1968 की परमाणु अप्रसार संधि पर हस्ताक्षर नहीं किये। भारत चीन से भयभीत है और परमाणु अप्रसार संधि को शंका की दृष्टि से देखता है।

4.4 राष्ट्रवाद और सम्प्रभुता— राष्ट्रवाद एवं सम्प्रभुता की भावना के कारण एक देश यह स्वीकार नहीं करता कि उसकी निशस्त्रीकरण की क्रियान्विति की जांच के लिए कोई अंतर्राष्ट्रीय संस्था बनायी जाये। इस प्रकार के निरीक्षण द्वारा एक देश की स्वतंत्रता पर जो अंकुश लगता है उसे मानने को कोई भी तैयार नहीं होता।

4.5 राजनीतिक समस्याएं— निशस्त्रीकरण राजनीतिक समस्याओं के समाधान पर निर्भर करता है, अतः पहले राजनीतिक समस्याओं को हल किया जाये या निशस्त्रीकरण किया जाये। ये दोनों एक-दूसरे के मार्ग में बाधा डालते हैं। यह सोचा जाता है कि शस्त्र झगड़ों का कारण हैं और इनको घटाने से अंतर्राष्ट्रीय प्रेम और मैत्री बढ़ेगी, किंतु यह प्रयास एकपक्षीय होगा। होना यह चाहिए कि मनमुटाव, अविश्वास एवं प्रतिद्वन्द्विता को दूर करने के लिए हर दिशा में प्रयास किया जाये। वास्तव में, निशस्त्रीकरण की दिशा में ठोस कार्य तब तक नहीं हो सकता जब तक महाशक्तियों में मौलिक मतभेद बने रहेंगे।

4.6 आर्थिक कारण— अमरीका और ब्रिटेन आदि पूंजीवादी देशों में शस्त्रास्त्र निर्माण करने वाली कम्पनियों के मालिक व हिस्सेदार राजनीति में सक्रिय रूप से भाग लेते हैं और निशस्त्रीकरण हो जाने से उनका रोजगार ठप्प हो जायेगा और उनके कारखाने बंद हो जायेंगे। निशस्त्रीकरण हो जाने से यदि शस्त्र उद्योग बंद हो गये तो पूंजीवादी देशों में बेकारी बढ़ेगी और लोगों की क्रयशक्ति नष्ट हो जायेगी। ऐसा कहा जाता है कि निशस्त्रीकरण के कारण होने वाली आर्थिक कटौती से आर्थिक संकट आ जायेगा।

5. शस्त्र नियंत्रण— निशस्त्रीकरण के कार्यक्रम को कुछ विद्वान शस्त्र नियंत्रण या आयुध नियंत्रण कार्यक्रम कहकर पुकारते हैं। निशस्त्रीकरण के अनुसार तो राष्ट्रों के पास शस्त्र ही नहीं होने चाहिए, राष्ट्रों के पास बिल्कुल ही शस्त्र या सेना न रहे अथवा सम्पूर्ण निशस्त्रीकरण हो जाए, ऐसा संभव नहीं है। फिर भी निशस्त्रीकरण केवल वर्तमान में उपलब्ध हथियारों का हो सकता है जबकि शस्त्रों के उत्पादन की तकनीक में निरन्तर प्रगति होती रहती है और उसके परिणामस्वरूप नये हथियार बनते रहते हैं अतः स्पष्ट है कि निशस्त्रीकरण को नये हथियारों पर लागू नहीं किया जा सकता। इस प्रकार के नियंत्रण के लिए एक पृथक् शब्दावली प्रयुक्त की जा सकती है वह है “शस्त्र-नियंत्रण”।

निशस्त्रीकरण शब्द का प्रयोग मौजूदा हथियारों के नियंत्रण के लिए किया जाता है और शस्त्र नियंत्रण शब्द भविष्य के हथियारों के नियंत्रण के लिए। निशस्त्रीकरण शस्त्रों पर नियंत्रण करने का प्रयत्न करता है और शस्त्र नियंत्रण शस्त्र की होड़ रोकने की कोशिश करता है। निशस्त्रीकरण का अर्थ युद्ध संचालन के सभी शस्त्रों तथा सेनाओं को अंतर्राष्ट्रीय समझौतों द्वारा घटाना है जबकि शस्त्र नियंत्रण में वे सभी अंतर्राष्ट्रीय समझौते अथवा उपाय आ जाते हैं जिनसे स्वीकृत शस्त्रों के प्रयोग को नियंत्रित किया जाता है। शस्त्र नियंत्रण इस प्रकार शस्त्रों की कटौती पर उतना बल नहीं देता जितना कि इस बात पर कि किन विशिष्ट प्रकार के शस्त्रों का प्रयोग नहीं किया जाए। शस्त्र नियंत्रण एक अंतर्राष्ट्रीय निरीक्षक संस्था की अनिवार्यता स्वीकार करता है, जो समस्त राष्ट्रों का निरीक्षण करने में समर्थ हो कि राज्यों द्वारा निषिद्ध शस्त्रों का निर्माण अथवा प्रयोग तो नहीं हो रहा। वस्तुतः निशस्त्रीकरण और शस्त्र नियंत्रण का अंतर ही शीतयुद्ध के दौरान संयुक्त राज्य अमेरिका और सोवियत संघ द्वारा एक-दूसरे के विरुद्ध प्रचार का स्रोत बन गया था। सोवियत संघ अमेरिका पर यह आरोप लगा रहा था कि वह निशस्त्रीकरण से पूर्व ही नियंत्रण व्यवस्था चाहता है। उसी प्रकार अमरीका का सोवियत संघ पर आरोप था कि वह बिना नियंत्रण की व्यवस्था के लिए निशस्त्रीकरण चाहता है।

संक्षेप में अंतर्राष्ट्रीय शांति के लिए निःशस्त्रीकरण और शस्त्र नियंत्रण एक-दूसरे के पूरक हैं। शस्त्र नियंत्रण निःशस्त्रीकरण का अनिवार्य अंग है। दोनों का मूल उद्देश्य समाज में हिंसा एवं शक्ति के प्रयोग को रोकना, सीमित करना तथा उसे कम करना है।

6. निःशस्त्रीकरण की दिशा में किये गये प्रयास—निःशस्त्रीकरण की दिशा में किये गये प्रयासों का इतिहास अनेक असफलताओं तथा कुछ सफलताओं की कहानी है। परिणामों की असफलता का मुख्य कारण निःशस्त्रीकरण के लिए राष्ट्रों में सदिच्छा का अभाव है।

प्रथम महायुद्ध से पूर्व 'शक्ति ही सबसे बड़ा न्याय' था, अतः उस काल में निःशस्त्रीकरण के लिए किये गये प्रयासों का विशेष महत्त्व नहीं है। विश्व के देशों को निःशस्त्र करने की न तो किसी ने आवश्यकता अनुभव की थी और न इस दिशा में प्रयास ही किये गये थे। सन् 1899 के हेग सम्मेलन में बस यह प्रस्ताव ही पारित हुआ था "मानवता के भौतिक और नैतिक कल्याण के लिए सैनिक हथियारों का नियंत्रण अत्यन्त आवश्यक है।" दूसरे हेग सम्मेलन (1907) में इस बात की संतुष्टि की गयी थी कि विभिन्न राष्ट्रों की सरकारें इस विषय पर गंभीरतापूर्वक विचार करें। प्रथम महायुद्ध में हुए नरसंहार ने युद्ध की भयानकता से भावी संततियों को बचाने के लिए निःशस्त्रीकरण की आवश्यकता सिद्ध कर दी।

6.1 दो महायुद्धों के मध्य निःशस्त्रीकरण के प्रयास—सन् 1919 से लेकर 1939 तक निःशस्त्रीकरण समस्या के समाधान के लिए राष्ट्र संघ में तथा राष्ट्र संघ के बाहर प्रयास किये गये।

6.1.1 राष्ट्र संघ द्वारा किये गये निःशस्त्रीकरण प्रयास

- अ. शांति और सुरक्षा के लिए निःशस्त्रीकरण की आवश्यकता का अनुभव करते हुए पेरिस के शांति समझौते की विचित्र संधियों में इस दिशा में पहले चरण के रूप में जर्मनी, ऑस्ट्रिया, हंगरी की स्थलीय एवं जलीय शक्तियों को सीमित कर दिया गया।
- ब. राष्ट्र संघ के संविधान की 8वीं धारा में शांति स्थापित करने के लिए शस्त्रास्त्रों की कमी को आवश्यक बताते हुए इसके लिए विस्तृत योजना बनाने का कार्य संघ की काउन्सिल को सौंपा गया था।
- स. इस कार्य के लिए जनवरी 1920 में एक स्थायी परामर्शदाता आयोग बनाया गया। इसके सदस्य उस समय कौंसिली में विद्यमान देशों में से प्रत्येक की स्थल, जल और वायु सेना के एक-एक विशेषज्ञ होते थे। इन सेना विशारदों से निःशस्त्रीकरण की आशा वैसी ही थी जैसी पादरियों के किसी आयोग से वास्तविकता की घोषणा की आशा रखना। अतः नवम्बर 1920 में संघ की असेम्बली ने इसके राजनीतिक, सामाजिक और आर्थिक क्षेत्रों में विशेषज्ञ समझे जाने वाले छः सिविलियन व्यक्ति बढ़ाकर अस्थायी मिश्रित आयोग के रूप में इसका पुनर्निर्माण किया।
- द. सितम्बर 1922 तक अनेक योजनाओं पर विचार करने के बाद अस्थायी मिश्रित आयोग इस परिणाम पर पहुंचा कि इस समस्या का हल विभिन्न देशों की सुरक्षा प्रदान करने से ही संभव है। जब तक उन्हें सुरक्षा प्राप्त नहीं होगी, वे अपने शस्त्रास्त्र घटाने को तैयार नहीं होंगे। सुरक्षा प्रदान करने का पहला प्रयत्न चौथी असेम्बली द्वारा 1923 में पारस्परिक सहायता की संधि का मसविदा या प्रारूप स्वीकार करना था। इसका उद्देश्य आक्रमण या शिकार होने वाले राष्ट्रों को सहायता प्रदान करना था, किन्तु यह मसविदा ग्रेट ब्रिटेन, आदि देशों ने स्वीकार नहीं किया। इसके बाद मध्यस्थता के उपाय से सुरक्षा की समस्या हल करने का प्रयास किया गया और शूमैन के शब्दों में मध्यस्थता से सुरक्षा और सुरक्षा से निःशस्त्रीकरण का नया मार्ग ढूंढा गया। इसका अनुकरण करते हुए जेनेवा प्रोटोकाल तैयार किया और 15 जून, 1925 को सामान्य निःशस्त्रीकरण सम्मेलन बुलाने का निश्चय किया गया, किन्तु ग्रेट ब्रिटेन जेनेवा प्रोटोकाल स्वीकार करने को तैयार न था।
- इ. अक्टूबर 1924 में अस्थायी मिश्रित आयोग द्वारा काम करना बंद कर दिया गया और इसके स्थान पर निःशस्त्रीकरण सम्मेलन के लिए सज्जीकरण आयोग बनाया गया और इसके सदस्य काउन्सिल में विद्यमान राष्ट्रों के प्रतिनिधियों के अतिरिक्त संघ के कुछ अन्य सदस्य राष्ट्रों के प्रतिनिधि थे तथा संघ का सदस्य न होते हुए भी सं.रा. अमरीका, रूस और जर्मनी के प्रतिनिधियों को इसमें आमंत्रित किया गया। सज्जीकरण आयोग पांच वर्ष तक निरंतर प्रयास

करने पर भी निःशस्त्रीकरण सम्बन्धी मतभेदों को अपनी सात बैठकों में न सुलझा सका। 6 नवम्बर, 1930 को इस आयोग का सातवां और अंतिम अधिवेशन हुआ। 9 दिसम्बर, 1930 को इसने निःशस्त्रीकरण की एक योजना का मूल प्रस्ताव पास करके अपनी कार्यवाही समाप्त की। 60 धाराओं के इस प्रस्ताव की मुख्य व्यवस्थाएं इस प्रकार थीं—

- स्थल युद्ध की रण सामग्री पर बजट द्वारा नियंत्रण किया जाये।
 - सैनिकों की संख्या का नियंत्रण करते हुए प्रशिक्षित सुरक्षित सैनिकों का विचार न किया जाये।
 - अनिवार्य सैनिक सेवा के वर्षों की अवधि घटायी जाये।
 - नौसैनिक जहाजों पर 1922 के वाशिंगटन सम्मेलन की तथा 1930 के लंदन सम्मेलन की व्यवस्थाओं को लागू किया जाये।
 - हवाई अस्त्रों को अश्व-शक्ति के आधार पर नियंत्रित किया जाये।
 - रासायनिक तथा जीवाणु फैलाने वाले युद्धों को रोका जाये।
 - एक स्थायी निःशस्त्रीकरण आयोग बनाया जाये।
- उपर्युक्त प्रस्ताव को मुख्य आधार बनाकर इस समस्या पर विचार करने के लिए राष्ट्र संघ का निःशस्त्रीकरण सम्मेलन, जेनेवा में 3 फरवरी, 1932 को आर्थर हैण्डर्सन के सभापतित्व में आरंभ हुआ। इसमें 57 राज्यों से प्रतिनिधि आये थे। यह विधि की विडम्बना थी कि इस समय शंघाई में जापान की चीन के विरुद्ध लड़ाई चल रही थी। इस सम्मेलन के 232 प्रतिनिधि अपने साथ 337 प्रस्ताव लेकर आये थे। फ्रेंच प्रतिनिधि आन्द्रे तरद्यु ने इसे सफल बनाने के लिए अंतर्राष्ट्रीय पुलिस की एक निरोधात्मक तथा दण्डात्मक सेना बनाने का प्रस्ताव रखा। इसके अनुसार विभिन्न राज्यों को सभी आक्रमणात्मक शस्त्र और साधन—बड़े युद्धपोत, तोपखाने, पनडुब्बियाँ, बमवर्षक वायुयान संघ को दे देने चाहिए, सब विवादों का निर्णय आवश्यक रूप से मध्यस्थों द्वारा ही होना चाहिए। जर्मनी ने इससे यह मांग की कि राष्ट्र संघ के प्रतिज्ञा पत्र—वर्साय संधि में उनके साथ किया गया वचन पूरा होना चाहिए, उसका निःशस्त्रीकरण इस आधार पर किया गया था कि अन्य देशों के शस्त्रास्त्र भी कम कर दिये जायेंगे। अब या तो दूसरे देशों के बराबर शस्त्रास्त्र रखने दिये जायें, किंतु फ्रांस, जर्मनी की इस समानता की मांग को स्वीकार करने का कट्टर विरोधी था, वह अपनी सुरक्षा की दृष्टि से जर्मनी के निःशस्त्रीकरण को स्थायी बनाना चाहता था। फ्रांस और जर्मनी के परस्पर विरोधी दृष्टिकोण से सम्मेलन में गतिरोध उत्पन्न हो गया। हिटलर के अभ्युदय के बाद 14 अक्टूबर, 1933 को जर्मनी ने निःशस्त्रीकरण सम्मेलन से पृथक् होने की घोषणा की। इससे यह सम्मेलन, क्रियात्मक रूप से समाप्त और मृतप्राय हो गया, यद्यपि इसकी अंतिम बैठक 29 मई, 1933 को हुई। सर अल्फ्रेड जिम्मर्न ने इस सम्मेलन की विफलता के कारणों पर प्रकाश डालते हुए इसका पहला कारण इसमें सहयोग की भावना का अभाव और इसका राजनीतिक होना बताया है। इसमें विभिन्न राष्ट्र विश्व-शांति की समस्या सुलझाने के लिए नहीं, किन्तु अपनी प्रभुता बनाये रखने और दूसरों की शक्ति न बढ़ने देने के लिए एकत्र हुए थे। दूसरा कारण विभिन्न शक्तियों के उग्र मतभेद थे। फ्रांस अंतर्राष्ट्रीय सेना और सुरक्षा का दृढ़ समर्थक था। वह आरंभ से ही राष्ट्र संघ की अध्यक्षता में अंतर्राष्ट्रीय शांति और सुरक्षा के लिए सेना के निर्माण का प्रस्ताव रख रहा था क्योंकि इस प्रकार वह जर्मनी आक्रमण से निश्चिन्त हो सकता था। इसके बाद ही वह अपने हथियार घटाने को तैयार था। उसका यह मत था कि सुरक्षा के बाद शस्त्रीकरण की आवश्यकता नहीं रहेगी, किन्तु ग्रेट ब्रिटेन का यह विचार था कि हथियारों की वृद्धि राष्ट्रों में असुरक्षा की भावना पैदा करती है, यदि हथियारों को घटा दिया जाये तो चिंता, असुरक्षा और आक्रमण की आशंका स्वयमेव कम हो जायेगी, हथियार जितने कम होंगे, युद्ध का भय उसी मात्रा में घट जायेगा। अतः सुरक्षा से पहले निःशस्त्रीकरण आवश्यक है। फ्रांस की सुरक्षा की मांग जर्मनी की समानता की मांग से सर्वथा प्रतिकूल थी। इन दोनों का समन्वय असंभव था और इनके संघर्ष की सम्मेलन की नौका डूबनी शुरू हुई थी। तीसरा कारण महाशक्तियों का निःशस्त्रीकरण के सिद्धान्त में अविश्वास और पक्षपातपूर्ण व्यवहार था “प्रथम विश्व-युद्ध के विजेताओं ने जर्मनी का निःशस्त्रीकरण तो बलपूर्वक कर दिया, किंतु वचनबद्ध होने पर भी अपना निःशस्त्रीकरण टालते रहे।” चौथा कारण यह था कि शस्त्रास्त्र

निर्माण करने वाली कम्पनियों ने निःशस्त्रीकरण सम्मेलनों को विफल बनाने का पूरा प्रयत्न किया क्योंकि इनकी सफलता से उनके अत्यधिक व्यवसाय को गहरी क्षति और धक्का पहुंचता।

राष्ट्र संघ की भूमिका पर टिप्पणी करते हुए शूमां ने लिखा है कि “राष्ट्र संघ द्वारा संसार में निःशस्त्रीकरण के प्रयासों का आरंभ जर्मनी के एकपक्षीय निःशस्त्रीकरण से हुआ था और जर्मनी के पुनः एकपक्षीय संशोधन से इन प्रयासों का अंत हो गया।”

6.1.2 राष्ट्र संघ के बाहर किये गये निःशस्त्रीकरण के प्रयास—राष्ट्र संघ के बाहर दो महायुद्धों के मध्य निःशस्त्रीकरण की दिशा में जो प्रयत्न किये गये उनमें उल्लेखनीय थे—वाशिंगटन सम्मेलन, जेनेवा सम्मेलन एवं द्वितीय लन्दन नौसैनिक सम्मेलन।

6.1.2.1 वाशिंगटन सम्मेलन, 1921—22— राष्ट्र संघ ने जिस समय निःशस्त्रीकरणका कार्य आरम्भ किया, उसी समय वाशिंगटन में राष्ट्र संघ से सर्वथा पृथक् विभिन्न देशों की जलीय शक्ति को नियंत्रित करने के लिए एक सम्मेलन अमरीकन राष्ट्रपति हार्डिंग द्वारा 12 नवम्बर, 1921 को बुलाया गया। इसमें ग्रेट ब्रिटेन, जापान, फ्रांस, इटली, चीन, बेल्जियम, पुर्तगाल, हॉलैण्ड के प्रतिनिधि सम्मिलित हुए। इस सम्मेलन का मुख्य उद्देश्य विभिन्न देशों में नौसेना के विस्तार के लिए होने वाली व्यवधान और अंतर्राष्ट्रीय शांति में बाधक उग्र प्रतिद्वन्द्विता को रोकना था। 12 नवम्बर, 1921 से 6 फरवरी, 1922 तक इस सम्मेलन ने नौसेना होड़ को समाप्त करने के लिए सात संधियां कीं, इसमें सबसे महत्वपूर्ण पहली संधि "Nine Power Treaty Limiting Naval Armament" थी। इस संधि में प्रत्येक देश के लिए बड़े युद्धपोतों और वायुयान वाहक पोतों के कुछ टनों की मात्रा मर्यादित की गयी। इस संधि द्वारा संयुक्त राष्ट्र अमरीका के पास अधिक से अधिक 5,25,000 टन के बड़े जंगी जहाज, ग्रेट ब्रिटेन के पास 5,25,000 जहाज, जापान के पास 3,15,000 टन के जहाज, फ्रांस के पास 1,75,000 टन के जहाज रखे जाने निश्चित हुए। इससे इनकी नौसैनिक शक्ति का अनुपात 5 : 5 : 3 : 1.67 : 1.67 निश्चित हुआ। ग्रेट-ब्रिटेन पनडुब्बियों को बिल्कुल समाप्त करने के पक्ष में था, किंतु फ्रांस ने इसका घोर विरोध किया। वायु एवं स्थल सेना को घटाने के विषय में कोई समझौता नहीं हुआ।

दो विश्वयुद्धों के मध्य हुए अनेक निःशस्त्रीकरण सम्मेलनों में यह सबसे अधिक महत्वपूर्ण सम्मेलन था। इसने युद्धपोतों के निर्माण की तात्कालिक होड़ को नियंत्रित किया।

6.1.2.2 जेनेवा सम्मेलन, 1927— वाशिंगटन सम्मेलन में बड़े युद्धपोतों का निर्णय तो हो गया, किंतु अन्य छोटे युद्धपोतों का झगड़ा बाकी था। अतः सन् 1927 में राष्ट्रपति कूलिज ने वाशिंगटन सम्मेलन की सफलता से प्रभावित होकर जेनेवा में 5 महान जल शक्तियों का एक सम्मेलन बुलाया। फ्रांस व इटली में समता के बारे में झगड़ा होने तथा इटली के और अधिक कटौती के लिए तैयार न होने के कारण जेनेवा सम्मेलन में केवल अमरीका, ब्रिटेन और जापान के सैनिक प्रतिनिधियों ने भाग लिया। ब्रिटेन छोटे युद्धपोतों के मामले में अमरीका से समता के लिए तैयार नहीं था, क्योंकि अमरीका की तुलना में ब्रिटेन के समुद्रपार हित अधिक थे।

6.1.2.3 लन्दन का नौसैनिक सम्मेलन, 1930— 21 जनवरी, 1930 से आरंभ होने वाले इस सम्मेलन में ब्रिटिश प्रतिनिधियों ने सभी महाशक्तियों द्वारा सब प्रकार के रणपोतों के निर्माण को घटाने पर बल दिया। अमरीका ने इसका समर्थन करते हुए ब्रिटेन के साथ समानता पर बल दिया। जापान बड़े क्रूजरों में ब्रिटेन व अमरीका के 70 प्रतिशत क्रूजर रखना चाहता था। इटली अपनी नौसेना इस शर्त पर मिटाना चाहता था कि उसकी घटी हुई नौसेना महाद्वीपीय शक्तियों के अर्थात् फ्रांस के तुल्य हो।

तीन महीने की सुदीर्घ संधिवार्ता के उपरान्त 22 अप्रैल, 1930 को लन्दन की नौसैनिक संधि पर केवल ब्रिटेन, अमरीका और जापान ने हस्ताक्षर किये। फ्रांस और इटली में समानता के प्रश्न पर समझौता नहीं हुआ, अतः उन्होंने इसके नौ-सैनिक शक्ति मर्यादित करने वाले मुख्य अंश पर हस्ताक्षर नहीं किये। इस संधि की महत्वपूर्ण व्यवस्था निम्नलिखित थी—

- पांच महाशक्तियों ने 1936 तक नये युद्धपोत न बनाने का निश्चय किया।
- ब्रिटेन ने अपने पांच बड़े जंगी जहाज, अमरीका ने तीन तथा जापान ने एक जहाज नष्ट करने का निश्चय किया।

- वायुयान वाहक जहाजों में 6.1 इंच से बड़ी तोपें न लगाने का निर्णय हुआ।
- पनडुब्बियों का आकार 2,000 टन तथा तोपों का 5.1 इंच तक सीमित किया गया।
- तीनों देश 52,700 टन की पनडुब्बियां रख सकते थे।
- इस संधि की अवधि 31 दिसम्बर, 1936 तक रखी गयी और 1935 में नया सम्मेलन बुलाने का निश्चय किया गया।

6.1.2.4. द्वितीय लन्दन नौसैनिक सम्मेलन, 1935— 1930 की लन्दन की नौसैनिक संधि, 1936 में समाप्त होनी थी। इससे पहली नयी संधिवाता के प्रयत्न लन्दन में हुए, किंतु इस समय जापान द्वारा संयुक्त राष्ट्र अमरीका के तुल्य नौसेना रखने की मांग ने इस समस्या को जटिल बना दिया। संयुक्त राष्ट्र अमरीका ने जापान की समानता की मांग का घोर विरोध किया। उसका यह कहना था कि अमरीका को प्रशांत एवं अटलाण्टिक महासागरों के तटों की रक्षा करनी है, जबकि जापान के पास केवल प्रशांत महासागर ही है, अतः उनकी नौसेना से समानता नहीं हो सकती। इन मतभेदों को हल करने के लिए लन्दन में दिसम्बर, 1935 को संयुक्त राष्ट्र अमरीका, ब्रिटेन, जापान, इटली और फ्रांस का सम्मेलन हुआ, किंतु इसमें न तो जापान की सं.रा. अमरीका के साथ समानता की मांग का प्रश्न हल हो सका और न फ्रेंच-इटालियन समानता की गुंथी सुलझी। जापान यह सम्मेलन छोड़कर चला गया और 25 मार्च, 1936 को इस सम्मेलन के परिणामस्वरूप हुई संधि पर केवल सं.रा. अमरीका, ब्रिटेन और फ्रांस ने हस्ताक्षर किये। इटली ने एबीसीनिया युद्ध में लगाये गये आर्थिक प्रतिबंधों के कारण इस संधि पर हस्ताक्षर नहीं किये।

इसके बाद सभी राष्ट्र नौसैनिक प्रतियोगिता में कूद पड़े थे और निःशस्त्रीकरण सम्बन्धी समझौते असफलता के अंधकार में भटक रहे थे। यह द्वितीय विश्वयुद्ध की भूमिका थी।

6.2 द्वितीय महायुद्ध के बाद निःशस्त्रीकरण के प्रयास

6.2.1 संयुक्त राष्ट्र संघ चार्टर की दूसरी धारा में निःशस्त्रीकरण की चर्चा की गयी है। चार्टर में निःशस्त्रीकरण के बारे में संयुक्त राष्ट्र की जिम्मेदारी महासभा और सुरक्षा परिषद् दोनों पर डाली गयी थी।

6.2.2 चार्टर के निःशस्त्रीकरण सम्बन्धी उपबंधों को कार्यान्वित करने के लिए पहला कदम 15 नवम्बर, 1945 को उठाया गया जब कनाडा, ब्रिटेन और अमरीका की सरकारों ने एक घोषणा प्रकाशित करके यह प्रस्ताव रखा कि परमाणु ऊर्जा के अंतर्राष्ट्रीय नियंत्रण पर कार्य करने के लिए एक संयुक्त राष्ट्रीय आयोग स्थापित किया जाय।

6.2.3 संयुक्त राष्ट्र संघ की पहली महासभा ने संयुक्त राष्ट्र परमाणु ऊर्जा आयोग की स्थापना की जिसके सदस्यों में सुरक्षा परिषद् के सभी राष्ट्रों के साथ-साथ कनाडा भी था। परमाणु ऊर्जा आयोग की पहली बैठक में अमरीका ने एक राष्ट्रीय परमाणु विकास प्राधिकरण के लिए बरुख योजना पेश की। इस योजना के अनुसार ऊर्जा आयोग को विखण्डनीय पदार्थों के उत्पाद की सब अवस्थाओं का निरंतर निरीक्षण करना था और उसे परमाणु अस्त्रों के परीक्षण करने का और परमाणु ऊर्जा के शांतिकालीन लाभों को बढ़ावा देने का अनन्य अधिकार दिया गया। सोवियत संघ ने बरुख योजना के निरीक्षण सम्बन्धी और खानों तथा फैक्टरियों के अंतर्राष्ट्रीय स्वामित्व और प्रबंध सम्बन्धी उपबंधों पर आपत्ति की।

6.2.4 13 फरवरी, 1947 को सुरक्षा परिषद् ने पारस्परिक हथियार आयोग की स्थापना की जिसके सदस्य वे सब देश ही थे जो सुरक्षा परिषद् के सदस्य थे। इस आयोग को वे कार्य करने की मनाही थी जो परमाणु ऊर्जा आयोग को सौंपे गये थे।

6.2.5 बरुख योजना के विकल्प के रूप में 11 जून, 1947 को सोवियत संघ ने कुछ प्रस्ताव पेश किये। सोवियत योजना में 'एक परमाणु नियंत्रण प्रणाली की शर्त और सिद्धान्त' स्थिर करने की बात कही गयी। बाद में सितम्बर 1947 में सोवियत संघ ने 'एक वर्ष में एक-तिहाई' हथियार और सेना घटाने के प्रस्ताव रखे।

6.2.6 11 जनवरी, 1952 को छठी महासभा ने संयुक्त राष्ट्र निःशस्त्रीकरण आयोग और पारस्परिक हथियार आयोग दोनों का स्थान ले लिया। ऐसा निश्चय किया गया कि निःशस्त्रीकरण आयोग सुरक्षा

परिषद् के नियंत्रण में कार्य करेगा। इस आयोग ने दो समितियों की स्थापना की। एक समिति को हथियारों से सेनाओं के नियमन का कार्य सौंपा गया और दूसरी समिति को यह कार्य दिया गया कि वह राष्ट्रों द्वारा सेनाओं व हथियारों के सम्बन्ध में दी गयी सूचनाओं पर विचार-विमर्श करेगी।

6.2.710 मई, 1955 को सोवियत संघ के प्रतिनिधि ने संयुक्त राष्ट्र संघ में निःशस्त्रीकरण की एक नयी योजना रखी। रूस ने सेना के एक-तिहाई कटौती की अपनी मांग को छोड़ दिया। आणविक हथियारों को तत्काल नष्ट करने की जिद छोड़कर उसने पश्चिमी गुट की यह बात मान ली कि तीन-चौथाई हथियारों और सैनिकों की कमी करने के बाद इस दिशा में कदम उठाये जायें तथा एक 'अंतर्राष्ट्रीय नियंत्रण संघ' की स्थापना की जाय।

6.2.8 जेनेवा के शिखर सम्मेलन में सोवियत संघ, ब्रिटेन, अमरीका और फ्रांस ने भाग लिया। इस सम्मेलन में अमरीका के राष्ट्रपति आइजनहॉवर ने मुक्त आकाश योजना रखी। इस योजना का उद्देश्य एक देश को दूसरे देश के आकाश पर निरीक्षण करने का अधिकार प्रदान करना था। इस योजना के अनुसार यह प्रस्ताव रखा गया कि सोवियत संघ व संयुक्त राष्ट्र अमरीका अपनी सेना, शस्त्रागारों की संख्या, सैनिक सामग्री तैयार करने वाले कारखानों व सैनिक अड्डों की पूर्ण जानकारी प्रदान करें तथा विद्युत् उपकरणों से हवाई निरीक्षण की व्यवस्था हो। सोवियत संघ ने यह प्रस्ताव ठुकरा दिया क्योंकि उस समय सारे विश्व में अमरीका के सैनिक अड्डे नष्ट हो रहे थे।

6.2.924 जनवरी, 1957 को सोवियत संघ ने यह प्रस्ताव रखा कि निःशस्त्रीकरण आयोग को विस्तृत किया जाय और मिस्र, भारत, पोलैण्ड और एक लैटिन अमरीकी देश को भी इसका सदस्य बनाया जाय।

6.2.103 फरवरी, 1958 को सोवियत संघ के प्रधानमंत्री मार्शल बुल्गानिन ने अमरीका के राष्ट्रपति आइजनहॉवर के समक्ष निःशस्त्रीकरण की एक योजना प्रस्तुत की जो बुल्गानिन योजना के नाम से प्रसिद्ध है। इस योजना में निम्न बातों पर जोर दिया गया—(1) अणु व उद्जन बमों का परीक्षण बंद किया जाये; (2) अमरीका, सोवियत संघ और ब्रिटेन आणविक शस्त्रों का परित्याग करें; (3) नाटो तथा वारसा पैक्ट के देशों में अनाक्रमण समझौता हो; (4) जर्मनी तथा अन्य यूरोपीय देशों से विदेशी सेनाओं को हटाया जाये; और (5) आकस्मिक आक्रमणों को रोकने के लिए समझौता हो।

6.2.11 पोलैण्ड के विदेश मंत्री ने एक योजना प्रस्तुत की जो रापाकी योजना के नाम से विख्यात है। इस योजना में यूरोप में सुरक्षा और शांति बनाये रखने हेतु पोलैण्ड, चैकोस्लोवाकिया, पश्चिमी व पूर्वी जर्मनी का अणु-विहीन क्षेत्र बनाने का सुझाव दिया गया। इसका अर्थ यह था कि उपरोक्त देशों में आणविक शस्त्रों के निर्माण, संग्रह व उपयोग पर पाबन्दी लगा दी जाय। सोवियत संघ द्वारा इस प्रस्ताव को समर्थन मिला, परन्तु अमरीका की तरफ से कोई संतोषजनक उत्तर नहीं मिला।

6.2.1231 मार्च, 1958 को सोवियत संघ की सुप्रीम सोवियत ने यह घोषणा की कि वह अणु परीक्षण बंद कर रहा है, दूसरे राष्ट्र भी उसका अनुसरण करें। अमरीकी राष्ट्रपति आइजनहॉवर ने इस प्रस्ताव को सोवियत संघ का प्रचारात्मक कार्य बतलाया।

6.2.1331 अक्टूबर, 1958 के दिन जेनेवा सम्मेलन में निःशस्त्रीकरण के विषय में अनेक प्रस्ताव प्रस्तुत किये गये। सोवियत संघ का मत था कि सभी प्रकार के आणविक परीक्षण सदा के लिए बंद कर दिये जायें, जबकि ब्रिटेन और अमरीका निरीक्षण पद्धति के साथ एक वर्ष के लिए आणविक परीक्षणों को बंद करने के पक्ष में थे।

6.2.14 18 दिसम्बर, 1959 को सोवियत प्रधानमंत्री खुश्चेव ने महासभा में 'पूर्ण सर्वमान्य निःशस्त्रीकरण' का प्रस्ताव रखा जिसमें कहा गया था कि चार साल के भीतर सभी राष्ट्रों को इस प्रकार से निःशस्त्रीकरण करना चाहिए कि इस अवधि के बाद उनके पास युद्ध के साधन न रहें। आंतरिक सुरक्षा के लिए वे थोड़ी-सी सेना व पुलिस रख सकते हैं।

6.2.15 सन् 1960 में निःशस्त्रीकरण पर विचार करने के लिए जेनेवा में 15 मार्च को दस राष्ट्रों का एक सम्मेलन हुआ। इस बार एक साथ दो सम्मेलन हो रहे थे; एक दस राष्ट्रों का निःशस्त्रीकरण सम्मेलन तथा दूसरा, आणविक के तीन सदस्यों को आणविक परीक्षणों का निषेध करने के सम्बन्ध में वार्ता,

लेकिन इन दोनों सम्मेलनों में कोई प्रगति नहीं हो सकी। निःशस्त्रीकरण और नियंत्रण पर दोनों पक्षों के बीच गतिरोध उत्पन्न हो जाना अवश्यभावी था।

6.2.16 दिसम्बर 1961 में महासभा ने निःशस्त्रीकरण आयोग का विस्तार करके आठ गुटनिरपेक्ष देशों—ब्राजील, बर्मा (म्यांमार), इथियोपिया, भारत, मैक्सिको, नाइजीरिया, स्वीडन और संयुक्त अरब गणराज्य— को इसमें शामिल कर दिया गया। इस प्रकार 10—राष्ट्रीय निःशस्त्रीकरण आयोग अब 18—राष्ट्रीय निःशस्त्रीकरण आयोग बन गया। पर फ्रांस ने शुरू से ही इस पुनर्गठित आयोग का इस आधार पर बहिष्कार किया कि 18 राष्ट्रों वाला इतना बड़ा आयोग निःशस्त्रीकरण समस्या का कोई हल नहीं निकाल सकता।

6.2.17 1963 की आणविक परीक्षण प्रतिबंध संधि— 14 जुलाई, 1963 को ब्रिटेन, सोवियत संघ और अमरीका के प्रतिनिधियों का मास्को में एक सम्मेलन हुआ। 25 जुलाई, 1963 को इन तीनों देशों ने एक 'सीमित अणु प्रतिबंध संधि' पर हस्ताक्षर किये। इस संधि के द्वारा भूगर्भ परीक्षणों को छोड़कर बाह्य आकाश, समुद्र और वायुमण्डल में अणु परीक्षण करने पर रोक लगा दी गयी। फ्रांस ने इस संधि पर हस्ताक्षर नहीं किये, चीन इसका विरोधी था और भारत हस्ताक्षर करने वाले राष्ट्रों में अग्रणी था। इस संधि में निम्नांकित पांच धाराएं थीं—

- पहली धारा में तीन राष्ट्रों द्वारा यह संकल्प किया गया कि वे अपने अधिकार क्षेत्र और नियंत्रण में विद्यमान किसी भी प्रदेश के वायुमण्डल में, इसकी सीमाओं में, बाह्य अंतरिक्ष में, प्रादेशिक अथवा महासमुद्रों में कोई भी आणविक विस्फोट नहीं करेंगे।
- दूसरी धारा में संशोधन की व्यवस्था है। संधि में संशोधन का प्रस्ताव किसी भी राष्ट्र की सरकार द्वारा प्रस्तुत किया जा सकता है। यदि हस्ताक्षरकर्ता राष्ट्रों में से एक—तिहाई राष्ट्र प्रस्ताव के पक्ष में हों तो संशोधन पर विचार हो सकता है।
- तीसरी धारा के अनुसार इस संधि पर कोई भी देश हस्ताक्षर कर सकता है। और यह व्यवस्था है कि हस्ताक्षरकर्ता देश इस संधि पर अपनी संसद या राष्ट्रीय परिषद् का समर्थन प्राप्त करेगा ऐसे समर्थन को रूस, अमरीका व ग्रेट ब्रिटेन के पास जमा कराना होगा।
- चौथी धारा में लिखा गया है कि यह संधि असीमित काल के लिए है। यद्यपि हस्ताक्षरकर्ता प्रत्येक राष्ट्र को यह उस समय स्वयं को इस संधि के बंधनों से मुक्त कर ले; जब वह यह अनुभव करे कि इसमें देश का सर्वोच्च हित संकट में पड़ गया है, तथापि हटने वाले राष्ट्र को तीन माह पूर्व नोटिस देना होगा।
- पांचवी धारा के अनुसार इस संधि के अंग्रेजी व रूसी भाषा के दोनों रूप समान रूप से प्रामाणिक समझे जायेंगे।

आणविक परीक्षण प्रतिबंध संधि का स्वागत करते हुए इसे “स्थायी शांति और निःशस्त्रीकरण की दिशा में प्रथम कदम”, “अंतर्राष्ट्रीय सम्बन्धों में एक नया मार्ग और अरुणोदय” और “मेल—मिलाप की प्रतिज्ञा और एक अधिक सौम्य भविष्य की आशा” कहा गया। परंतु इस संधि से परमाणु परीक्षणों से सम्बन्धित सब समस्याएं, विशेष रूप से परमाणु अस्त्रों को लक्ष्यों पर पहुंचाने के साधनों, प्रक्षेपास्त्रों को त्रुटिहीन बनाने और रूढ़ हथियारों से सम्बन्धित सब समस्याओं को हल नहीं किया जा सकता था। यह न तो भूमिगत विस्फोटों पर रोक लगाती है और न परमाणु हथियारों का उत्पादन बंद रखती है। इसके अलावा, यह परमाणु शक्तियों को अपने हथियार अपने मित्र राष्ट्रों को देने से भी नहीं रोकती। वस्तुतः भू—गर्भ परीक्षण को पकड़ने का कोई उचित तरीका न होने के कारण इस पर प्रतिबंध नहीं लगाया जा सकता। ख्रुश्चेव ने इसे एक अच्छी शुरुआत और युगान्तकारी घटना कहा था।

6.2.18 जुलाई 1965 में जेनेवा में निःशस्त्रीकरण आयोग की बैठक बुलाई गयी। इस सम्मेलन में आयोग ने अब तक किये थे, कार्यों की रिपोर्ट पेश की। दोनों गुटों की ओर से ऐसे भाषण हुए जिन्होंने सम्मेलन के भाग्य का पहले ही फैसला कर दिया। अणु—हथियारों के नियंत्रण के तरीकों के सम्बन्ध में दोनों पक्षों में स्पष्ट मतभेद था।

6.2.19 बाह्य आकाश संधि, 1966— बाह्य आकाश संधि भी शांति की दिशा में एक रचनात्मक संधि है। इस संधि द्वारा अमरीका, सोवियत संघ तथा ब्रिटेन ने बाह्य आकाश में न्यूक्लीय शस्त्रों का भेजा जाना निषिद्ध मान लिया।

6.2.20 अणु अप्रसार संधि, 1968— सन् 1966 में संयुक्त राष्ट्र संघ की महासभा की राजनीतिक समिति ने परमाणु अस्त्रों के प्रसार और निर्माण पर नियंत्रण का प्रस्ताव पास किया। संघ के 112 सदस्यों में से 110 ने प्रस्ताव के पक्ष में मत दिया। अल्बानिया ने प्रस्ताव का विरोध किया और क्यूबा तटस्थ रहा।

इस संधि की मुख्य धाराएं निम्नलिखित हैं—

- परमाणु राज्य परमाणु अस्त्रविहीन राष्ट्रों को परमाणु बम के निर्माण के रहस्य की जानकारी नहीं देंगे।
- परमाणु राज्य परमाणु अस्त्रविहीन राज्यों को परमाणु अस्त्र प्राप्त करने में सहायता नहीं देंगे।
- परमाणु अस्त्रविहीन राष्ट्र परमाणु बम बनाने का अधिकार त्याग देंगे।
- परमाणु अस्त्रों के परीक्षण और विस्फोटों पर रोक लगाने की अंतर्राष्ट्रीय व्यवस्था स्थापित की जानी चाहिए।
- ऐसे देश जिनमें परमाणु अस्त्र निर्माण की तकनीकी क्षमता है वे परमाणु शक्ति का विकास असैनिक कार्यों के लिए करेंगे।

इस संधि को 1963 की परमाणु निषेध संधि के उपरान्त निःशस्त्रीकरण की दिशा में एक युगान्तकारी कदम कहा गया। इस संधि को यद्यपि अत्यन्त महत्वपूर्ण माना गया है, परन्तु यह संधि निःशस्त्रीकरण का कोई वास्तविक हल प्रस्तुत नहीं करती। यह संधि भी भूमिगत न्यूक्लीयर परीक्षणों पर कोई प्रतिबंध नहीं लगाती, परमाणु राज्यों द्वारा नये न्यूक्लीय अस्त्रों के निर्माण पर कोई रोक नहीं लगाती, न ही परमाणु राज्यों के न्यूक्लीयर अनुसंधान कार्यक्रम पर किसी प्रकार के अंतर्राष्ट्रीय नियंत्रण या निरीक्षण की व्यवस्था करती है। इसी प्रकार कोई परमाणु राज्य एक शक्तिहीन राज्य पर आक्रमण करे तो किसी बाध्यकारी प्रतिक्रिया की व्यवस्था यह संधि नहीं करती। राज्य असैनिक उपयोग के नाम पर जो परमाणु अनुसंधान करेंगे उनका सैनिक उपयोग नहीं करेंगे इसकी कोई प्रत्याभूति नहीं है। 1968 में अणु अप्रसार संधि को जब महासभा के समक्ष रखा तो भारतीय प्रतिनिधि ने इसका विरोध करते हुए इसे संयुक्त राष्ट्र संघ के निःशस्त्रीकरण के सिद्धान्त के प्रतिकूल माना था, क्योंकि विश्व शांति को परमाणुविहीन राज्यों में परमाणु अस्त्रों के प्रसार से ही खतरा नहीं है, वरन् परमाणु राज्यों के पास अणु आयुधों के बने रहने से भी उतना ही खतरा है। वास्तव में, यह संधि एक भेदमूलक दृष्टि पर आधारित है जो परमाणु सम्पन्न और परमाणुविहीन राज्यों के वर्तमान विभाजन को निरन्तर बनाये रखना चाहती है। यह संधि उन देशों के लिए अहितकर मानी गयी जो न्यूक्लीयर शस्त्रों का निर्माण कर सकते हैं। भारत के साथ पश्चिमी जर्मनी, इटली, संयुक्त अरब गणराज्य, रूमानिया, ब्राजील, अर्जेण्टाईना, नाइजीरिया ने भी इसका विरोध इन्हीं कारणों से किया। जापान ने मांग की थी कि परमाणु राज्य यह आश्वासन दें कि इस संधि पर हस्ताक्षर करने वाले राज्यों के विरुद्ध यह देश परमाणु अस्त्रों का प्रयोग नहीं करेंगे। स्पेन ने इसे सोवियत संघ और अमरीका द्वारा 'परमाणु अस्त्रों पर एकाधिकार' का प्रयत्न कहा। इस संधि से एक मुख्य लाभ केवल इतना है कि सोवियत संघ और अमरीका अपने गुट के देशों को परमाणु शस्त्र नहीं देंगे।

6.2.21 सामरिक शस्त्र परिसीमन वार्ताएं और उपलब्धियां— नवम्बर 1969 में सामरिक शस्त्रास्त्रों को सीमित करने के मसले पर संयुक्त राज्य अमरीका और सोवियत संघ के मध्य फिनलैंड की राजधानी हेलसिंकी में वार्ता शुरू हुई। हेलसिंकी वार्ता के साथ-साथ वियना में संयुक्त राज्य अमरीका और सोवियत संघ के बीच "सामरिक शस्त्रास्त्र परिसीमन वार्ता" भी शुरू हुई थी।

22 मई, 1972 को अमरीकी राष्ट्रपति निक्सन जब मास्को गये तो वहां सोवियत संघ और अमरीका के बीच दो महत्वपूर्ण समझौते किये गये जिनका सम्बन्ध विभिन्न प्रकार के बैलिस्टिक प्रक्षेपास्त्रों पर रोक लगाने से था। इन समझौते के पक्ष में यह कहा गया कि इनसे शस्त्रों की होड़ में कमी आयेगी और परमाणु युद्ध को रोकने में सहायता मिलेगी। वास्तव में, इन समझौतों के पीछे

सोवियत संघ और अमरीका दोनों का यह स्वार्थ निहित था कि इनकी आपसी शस्त्र होड़ पर होने वाले निरर्थक व्यय को रोका जाये।

3 जुलाई, 1974 को अमरीका और सोवियत संघ के मध्य दसवर्षीय आणविक आयुध परिसीमन समझौता हुआ जिसे 31 मार्च, 1976 को लागू किया जाना निश्चित किया गया। समझौते के अनुसार दोनों ने 150 किलो टन से अधिक के भूमिगत आणविक परीक्षणों को रोकने तथा प्रक्षेपास्त्रों पर नयी सीमा लगाने का निश्चय प्रकट किया। यह निश्चित किया गया कि शांतिपूर्ण कार्यों के लिए विस्फोट इस आंशिक प्रतिबंध व्यवस्था की परिधि में नहीं आएंगे। नए समझौते के अंतर्गत दोनों पक्ष अपनी-अपनी प्रक्षेपास्त्र व्यवस्था को 3 अक्टूबर, 1977 से 2 अक्टूबर, 1978 के बीच एक बार और उसके उपरांत पांच वर्ष में एक बार एक स्थान से दूसरे स्थान पर स्थानान्तरित कर सकेंगे। यह कार्य परस्पर सूचना के आदान-प्रदान के अंतर्गत ही किया जा सकेगा। लेकिन परमाणु-परीक्षण के खतरे से दुनिया को बचाने के लिए इतनी ही संधि काफी नहीं थी, अतः जून, 1976 में एक नयी धारा जोड़कर इस संधि को अधिक लाभकारी बना दिया गया। अब दोनों पक्ष इस बात पर सहमत हो गए कि परमाणु स्थल का निरीक्षण किया जा सकता है।

6.2.22 साल्ट-2 समझौता, 1979- 1979 में अमरीका और सोवियत संघ में साल्ट-2 समझौते पर हस्ताक्षर हुए। इसके बाद इस संधि का दोनों देशों की सांसदों द्वारा अनुमोदन होना था। अमरीकी कांग्रेस इस पर विचार कर ही रही थी कि अफगानिस्तान में सोवियत संघ का हस्तक्षेप हो गया। राष्ट्रपति कार्टर ने इस हस्तक्षेप के विरोध में साल्ट-2 के अनुमोदन को स्थगित करा दिया और इस प्रकार एक गतिरोध की स्थिति आ गयी। 28 नवम्बर, 1980 को अमरीका द्वारा सोवियत संघ से 'साल्ट-2' पर नवीन वार्ता का प्रस्ताव किया गया ताकि इस संधि का पुनर्मूल्यांकन किया जा सके।

6.2.23 मध्यम दूरी प्रक्षेपास्त्र संधि, दिसम्बर, 1987- राष्ट्रपति रोनाल्ड रीगन और सोवियत नेता मिखाइल गोर्बाच्योव ने 8 दिसम्बर, 1987 को ऐतिहासिक मध्यम दूरी प्रक्षेपास्त्र संधि पर हस्ताक्षर किए। संधि में दोनों देश मध्यम व कम दूरी के प्रक्षेपास्त्र नष्ट करने पर सहमत हो गए। इस संधि से कुल मिलाकर 1139 परमाणु हथियार नष्ट किए जाने थे। इन हथियारों की मारक क्षमता 50 किमी. से 5 हजार किमी. है।

संधि के अनुसार सोवियत संघ के एल-एस-12, एस-एस-20, एस-एस-23 प्रक्षेपास्त्रों और अमरीका के पर्शिग-1 और पर्शिग-2 और भू-प्रक्षेपास्त्रों को नष्ट किया जाना तय हुआ। एक अन्य समझौते के तहत दोनों देश अपने यहां परमाणु परीक्षणों की क्षमता की जांच के लिए एक-दूसरे को निरीक्षण की सुविधा देंगे। यह संधि आणविक निःशस्त्रीकरण की दिशा में पहला कदम था। इतिहास में पहली बार ऐसा हुआ था कि शस्त्र नियंत्रण की भाषा का स्थान शस्त्र कटौती ने ले लिया।

6.2.24 वारसा और नाटो में ऐतिहासिक 19 नवम्बर, 1990 को पेरिस में वारसा व नाटो संधि देशों के 34 शासनाध्यक्षों ने एक ऐतिहासिक संधि पर हस्ताक्षर किए। संधि में दोनों गुटों के लिए सैनिकों की संख्या निर्धारित नहीं की गयी है लेकिन परम्परागत शस्त्रों की अधिकतम संख्या प्रत्येक के लिए इस प्रकार नियत की गयी-टैंक 20,000, आर्म पर्सनल कैरियर्स 30,000, अर्टीलरी पीसेज 20,000, लड़ाकू विमान 6,800, लड़ाकू हेलीकाप्टर 2,000।

संधि में जांच-पड़ताल की भी व्यापक व्यवस्था की गयी ताकि कोई भी पक्ष उसका उल्लंघन न कर सके। संधि पर हस्ताक्षर करने के बाद अमरीका के राष्ट्रपति जार्ज बुश ने कहा कि इस संधि से यूरोप में आपसी सद्भाव व मैत्री का एक नया युग आरम्भ होगा।

6.2.25 सामरिक हथियारों में कटौती की ऐतिहासिक स्टार्ट-प्रथम संधि- 31 जुलाई, 1991 को मास्को में अमरीकी राष्ट्रपति जार्ज बुश और सोवियत राष्ट्रपति मिखाइल गोर्बाच्योव के शिखर सम्मेलन में "सामरिक हथियारों की कटौती" की ऐतिहासिक स्टार्ट-I संधि पर हस्ताक्षर हुए। संधि की शर्तों के अनुसार दोनों महाशक्तियां अपने परमाणु अस्त्रों को स्वेच्छा से 30 प्रतिशत कटौती करने को सहमत हो गए। यह संधि पहला बड़ा औपचारिक समझौता थी जिसके माध्यम से सर्वाधिक खतरनाक एवं विनाशकारी शस्त्रों में इतनी कटौती के लिए स्वेच्छा से सहमति हुई।

6.2.26 अमरीका द्वारा सामरिक हथियारों में भारी कटौती की घोषणा— 28 सितम्बर, 1991 को अमरीकी राष्ट्रपति ने घोषणा की कि अमेरिका अपने सामरिक परमाणु हथियारों में एकतरफा भारी कटौती करेगा। राष्ट्रपति के अनुसार उन्होंने स्वेच्छा से यह फैसला किया है ताकि 'विश्व को परमाणु युग में इतनी बेहतर स्थिति प्रदान की जा सके जितने पहली कभी नहीं रही।' एकपक्षीय निशस्त्रीकरण की मुख्य बातें निम्नलिखित हैं—

- यूरोप और विश्व में कहीं भी विद्यमान अमेरिका के कम दूरी तक मार करने वाले सभी सामरिक परमाणु हथियारों को समाप्त करना;
- जहाजों और पनडुब्बियों से छोड़ी जाने वाली सभी समुद्री परमाणु मिसाइलों की समाप्ति;
- सभी अमरीकी युद्धक बमवर्षकों को चौबीस घण्टे चौकसी की हालत में न रखने का फैसला;
- लम्बी दूरी तक मार करने वाले सभी बी-52 और अन्य बम वर्षकों को निष्क्रिय हालत में रखना;
- 'स्टार्ट' संधि के अंतर्गत जिन हथियारों को निष्क्रिय करने पर सहमति हुई थी उन्हें निर्धारित अवधि से पहले ही नष्ट करने का फैसला। सोवियत राष्ट्रपति मिखाइल गोर्बाच्योव ने बुश की पहल को "अंतर्राष्ट्रीय निशस्त्रीकरण की दिशा में एक महत्वपूर्ण योगदान" बताया।

6.2.27 सोवियत संघ द्वारा परमाणु शस्त्रों में कमी करने पर सहमति— अमरीका के राष्ट्रपति बुश ने सितम्बर 1991 में कम दूरी के परमाणु प्रक्षेपास्त्र नष्ट करने की घोषणा की थी। इसी के प्रत्युत्तर में सोवियत राष्ट्रपति गोर्बाच्योव ने अपने देश के परमाणु हथियारों में भी कमी करने की घोषणा की। गोर्बाच्योव ने कहा कि सोवियत संघ एक वर्ष के लिए परमाणु परीक्षण भी बंद करेगा। गोर्बाच्योव ने निम्नलिखित प्रस्तावों पर सहमति प्रकट की—

- जंगी जहाजों और बहु-उद्देश्यीय पनडुब्बियों से सभी सामरिक हथियारों को हटा लिया जाएगा;
- भारी बमवर्षकों को तैयारी की स्थिति से हटा लिया जाएगा और उनके परमाणु हथियारों का भण्डारण कम कर दिया जाएगा;
- सोवियत संघ के छोटे आकार के संचल अंतरमहाद्वीपीय बैलेस्टिक प्रक्षेपास्त्रों को सक्रिय नहीं किया जाएगा;
- सामरिक महत्व के आक्रामक हथियारों में और कटौती की जाएगी। सोवियत संघ की इस घोषणा का अमरीका ने स्वागत किया। ब्रिटिश प्रधानमंत्री जॉन मेजर ने इसे एक रचनात्मक कदम बताया।

6.2.28 मास्को में ऐतिहासिक स्टार्ट-दो संधि पर हस्ताक्षर— 3 जनवरी, 1993 को अमरीकी राष्ट्रपति बुश और रूसी राष्ट्रपति बोरोस येल्टसिन ने भव्य क्रेमलिन पैलेस (मास्को) में ऐतिहासिक संधि स्टार्ट-दो पर हस्ताक्षर किए। स्टार्ट-दो परमाणु हथियारों में कटौती सम्बन्धी पहली संधि का अगला चरण है जिस पर जुलाई 1991 में राष्ट्रपति जार्ज बुश और तत्कालीन सोवियत राष्ट्रपति मिखाइल गोर्बाच्योव ने हस्ताक्षर किए। स्टार्ट-दो जिसे राष्ट्रपति येल्टसिन ने शताब्दी की 'संधि' कहा है, का उद्देश्य दोनों देशों के परमाणु हथियारों में दो-तिहाई कटौती करना है, यानी वर्तमान में लगभग 20,000 को कम करके 6,500 रखना है। इस प्रकार अमरीका के शस्त्रगार में परमाणु हथियारों की संख्या उतनी ही रह जाएगी जितनी 1960 में थी और रूसी हथियारों की संख्या उतनी ही रह जाएगी, जितनी 1970 में थी। स्टार्ट-दो पर हस्ताक्षर होना अंतर्राष्ट्रीय निशस्त्रीकरण की दिशा में स्मरणीय घटना है, इसका महत्व और क्षेत्र स्टार्ट-एक तथा सुप्रसिद्ध आई.एन.एफ. संधि से अधिक व्यापक है।

6.2.29 रासायनिक हथियार निषेध— रासायनिक हथियारों के विकास, भण्डारण, उनके निर्माण, भण्डारण एवं उनके प्रयोग पर प्रतिबंध लगाने से सम्बन्धित संधि 29 अप्रैल, 1997 से लागू हो गई है। इस सम्बन्ध में 13 अप्रैल, 1993 को पेरिस में एक समझौते पर हस्ताक्षर किए गए थे जिसमें 160 देशों की सहमति थी। लेकिन इसे लागू करने के लिए कम-से-कम 65 देशों द्वारा इसका अनुमोदन किया जाना जरूरी था। 65 देशों के अनुमोदन के बाद इस संधि के कानूनी रूप लेने की अवधि 180 दिन थी। इस हिसाब से यह 29 अप्रैल, 1997 से प्रभावी हो गई है।

इस संधि के मसौदे में रासायनिक हथियारों के लिए अनुसंधान, उनका विकास, उनका भण्डारण एवं उनके हस्तान्तरण पर पूर्ण प्रतिबंध लगाने का प्रावधान रखा गया है। मसौदे में संधि पर हस्ताक्षर करने वाले देशों से आशा की गई है कि वे 1 से 15 वर्ष के बीच अपने-अपने रासायनिक हथियारों के जखीरे नष्ट कर देंगे। रासायनिक हथियारों पर नियंत्रण के लिए एक अंतर्राष्ट्रीय संस्था बनाई गई जिसका मुख्यालय हेग में है।

रासायनिक हथियारों के विनाश की दिशा में विश्वस्तर पर किए गए इन प्रयासों को एक महत्वपूर्ण उपलब्धि माना गया, लेकिन अमरीका एवं रूस के बिना यह संधि काफी हद तक खोखली सिद्ध होगी क्योंकि इन हथियारों पर पाबंदी लगाने वाले 65 देशों में अमरीका व रूस शामिल नहीं हैं। अमरीका एवं रूस की तरह के कई देश ऐसे हैं जिन्होंने इस संधि पर हस्ताक्षर नहीं किए हैं और ये देश चोरी-छिपे रासायनिक हथियारों के विकास एवं उत्पादन में लगे हुए हैं। ऐसे देशों में लीबिया, सीरिया तथा उत्तरी कोरिया प्रमुख हैं।

6.2.30 व्यापक आणविक परीक्षण प्रतिबंध संधि (सी.टी.बी.टी.)— सी.टी.बी.टी. अर्थात् व्यापक आणविक परीक्षण प्रतिबंध संधि विश्व भर में किए जाने वाले परमाणु परीक्षणों पर रोक लगाने के उद्देश्य से लायी गयी संधि या समझौता है जिसका 1993 में भारत, अन्य देशों के अलावा अमेरिका के साथ सह-प्रस्तावक था। लेकिन 1995 में उसने यह कहते हुए कि यह संधि सार्वभौमिक परमाणु निशस्त्रीकरण के समयबद्ध कार्यक्रम से जुड़ी हुई नहीं है, सह-प्रस्तावक बनने से ही इंकार कर दिया।

अगस्त 1996 में जेनेवा में इस विवादास्पद संधि के मसौदे पर विचार चलता रहा। इस बहुचर्चित संधि में परमाणु परीक्षणों पर प्रतिबंध लगाने तथा इस पर अमल की जांच के लिए अंतर्राष्ट्रीय निरीक्षण की व्यवस्था है। भारत ने सी.टी.बी.टी. के प्रस्तावित मसौदे पर हस्ताक्षर करने से इंकार कर दिया था क्योंकि प्रस्तावित मसौदे में परमाणु निशस्त्रीकरण का कोई प्रावधान नहीं रखा गया। भारत का दूसरा विरोध यह था कि यह संधि बहुत ही संकीर्ण है और यह केवल नए विस्फोट रोकने की बात करती है, पर नए तकनीकी विकास एवं नए परमाणु शस्त्रों के विषय में चुप है। संधि का स्वरूप परमाणु राष्ट्रों की तकनीकी उपलब्धता को बरकरार रखकर उनके हितों की रक्षा करने के लिए अधिक है न कि सम्पूर्ण निशस्त्रीकरण के लिए।

इस संधि पर 24 सितम्बर, 1996 से हस्ताक्षर प्रारंभ हुए थे। अब तक कुल मिलाकर 154 राष्ट्रों ने इस पर हस्ताक्षर किए हैं जिनमें से 45 ने इसका विधिवत् अनुमोदन भी कर दिया है। किंतु संधि के प्रभावी होने के लिए विश्व के उन सभी 44 देशों द्वारा इसकी पुष्टि किया जाना आवश्यक है जिनके पास परमाणु शस्त्र अथवा परमाणु विद्युत संयंत्र अथवा परमाणु क्षमता उपलब्ध है। विविध परमाणु क्षमताओं वाले इन 44 राष्ट्रों में से अभी तक 26 ने ही संधि का अनुमोदन किया है जबकि तीन देशों भारत, पाकिस्तान व उत्तर कोरिया ने इस पर अभी तक हस्ताक्षर भी नहीं किए हैं। परमाणु शक्ति के रूप में घोषित पांच राष्ट्रों— अमेरिका, रूस, ब्रिटेन, फ्रांस व चीन ने यद्यपि सी.टी.बी.टी. पर हस्ताक्षर कर दिए हैं, किंतु इनमें से केवल ब्रिटेन व फ्रांस ने ही संधि की पुष्टि की है। सी.टी.बी.टी. के भविष्य को एक बड़ा झटका अक्टूबर 1999 में उस समय लगा जब रिपब्लिकनों के वर्चस्व वाली अमेरिकी सीनेट ने इसका अनुमोदन नहीं किया। 100 सदस्यों वाली सीनेट में इसकी पुष्टि के लिए हुए मतदान में इसे 48 के मुकाबले 51 मतों से अस्वीकार कर दिया गया।

सी.टी.बी.टी. के कार्यान्वयन की प्रगति के मूल्यांकन के उद्देश्य से संयुक्त राष्ट्र संघ द्वारा एक विशेष सम्मेलन का आयोजन 6-8 अक्टूबर, 1999 को विएना में किया गया। इस सम्मेलन में 92 देशों के 400 से अधिक प्रतिनिधियों ने भाग लिया। संयुक्त राष्ट्र महासचिव द्वारा सम्मेलन का आयोजन संधि के उस प्रावधान के तहत किया गया था जिसमें कहा गया है कि संधि को हस्ताक्षर के लिए उपलब्ध कराए जाने की तिथि (24 सितम्बर, 1996) से तीन वर्ष के भीतर यदि विविध परमाणु क्षमताओं वाले सभी 44 राष्ट्रों द्वारा इस संधि का अनुमोदन नहीं किया गया तो संयुक्त राष्ट्र संघ के विशेष सम्मेलन में आगे की कार्यवाही के लिए विचार किया जाएगा।

तीन दिन चले इस सम्मेलन में भारत, पाकिस्तान व उत्तर कोरिया से संधि पर हस्ताक्षर करने व उसका अनुमोदन करने की अपील की गई ताकि संधि को लागू किया जा सके। 8 दिसम्बर, 2011 तक सी.टी.बी.टी. पर 182 देशों ने हस्ताक्षर कर दिए हैं एवं 156 देशों ने इसका पुष्टिकरण किया है।

6.2.31 परमाणु अप्रसार संधि समीक्षा सम्मेलन—अप्रैल—मई, 2000 में सम्पन्न परमाणु अप्रसार संधि समीक्षा सम्मेलन में पांच परमाणु सम्पन्न शक्तियां अपने परमाणु आयुध भण्डारों को पूरी तरह समाप्त करने पर राजी हो गईं, हालांकि इसके लिए कोई समय सीमा निर्धारित नहीं की गई है। 2 मई, 2005 को न्यूयार्क में सम्पन्न परमाणु अप्रसार समीक्षा सम्मेलन में 190 देशों के प्रतिनिधियों ने भाग लिया। सम्मेलन में ईरान के विदेश मंत्री कमाल खराजी परमाणु अप्रसार संधि के उस प्रावधान पर अड़े रहे जिसके तहत ईरान सहित 182 देशों ने परमाणु हथियार नष्ट कर दिए थे, जबकि अमरीका और अन्य कुछ देश नए मानदण्ड निर्धारित करते हुए एक बार फिर से विचार करने के पक्षधर थे।

एनपीटी समीक्षा सम्मेलन प्रति पांच वर्ष बाद आयोजित किया जाता है; अतः संयुक्त राष्ट्र के तत्वावधान में 3–28 मई, 2010 को न्यूयार्क में आयोजित सम्मेलन में 150 से अधिक देशों के प्रतिनिधियों ने भाग लिया। विश्वभर के कुल 189 देशों ने इस संधि पर हस्ताक्षर किए हैं। हस्ताक्षर न करने वालों में भारत के अतिरिक्त पाकिस्तान व इजराइल भी शामिल हैं। इन तीनों ही देशों ने इस सम्मेलन में भाग नहीं लिया। सम्मेलन के मसौदा दस्तावेज में भारत, पाकिस्तान और इजराइल से बिना शर्त परमाणु अप्रसार संधि तथा व्यापक परमाणु परीक्षण प्रतिबंध संधि में शामिल होने को कहा गया। ईरान द्वारा परमाणु अप्रसार संधि के दायित्वों को पूरा न करने पर इस सम्मेलन में चिंता व्यक्त की गई।

6.2.32 अमेरिका—रूस में परमाणु शस्त्र कटौती संधि : मई 2002— मई 2002 में अमरीकी राष्ट्रपति जॉर्ज बुश ने रूस की यात्रा की और रूस के साथ मित्रता मजबूत करने के लिए परमाणु शस्त्रों में कटौती के ऐतिहासिक समझौते पर हस्ताक्षर किए। संधि की शर्तों के अनुसार अमेरिका और रूस दोनों मिलकर साढ़े चार हजार के करीब परमाणु हथियार कम करेंगे। संधि के अनुसार परमाणु हथियारों में कटौती का लक्ष्य 2012 तक पूरा कर लिया जाएगा।

6.2.33 अमरीका व रूस के मध्य नई 'स्टार्ट संधि'— अमरीका व तत्कालीन सोवियत संघ में सम्पन्न 31 जुलाई, 1991 की स्टार्ट संधि 9 दिसम्बर, 2009 को समाप्त हो गई। स्टार्ट—I के स्थान पर एक नई स्टार्ट संधि पर अमरीका व रूस के बीच चैंक गणराज्य की राजधानी प्राग में 8 अप्रैल, 2010 को हस्ताक्षर किये गये। अमरीकी सीनेट व रूसी फेडरेशन काउन्सिल के अनुमोदन के बाद दोनों देशों द्वारा दस्तावेजों के आदान-प्रदान के पश्चात् संधि प्रभावी होगी। मूलतः 10 वर्ष के लिए की गई इस संधि का कार्यकाल 5 वर्ष तक बढ़ाया जा सकेगा। नई स्टार्ट संधि में दोनों देशों ने सात वर्षों में अपने परमाणु हथियारों की संख्या में एक-तिहाई तक कटौती करने तथा उन्हें ले जाने वाली पनडुब्बियों, मिसाइलों व बम वर्षकों की संख्या में आधी से अधिक कटौती करने के लिए प्रतिबद्धता व्यक्त की है। ऑपरेशन डिप्लॉइड न्यूक्लीयर वार हैड्स की संख्या को घटाकर 1550 तक सीमित करने को दोनों पक्ष संधि में सहमत हुए हैं।

6.2.34 वाशिंगटन में सम्पन्न नाभिकीय सुरक्षा शिखर सम्मेलन— अमरीकी राष्ट्रपति बराक ओबामा की पहल पर आयोजित दो दिवसीय नाभिकीय सुरक्षा शिखर सम्मेलन (12–13 अप्रैल, 2010 : वाशिंगटन) में 47 देशों के राष्ट्राध्यक्ष या उनके प्रतिनिधि उपस्थित थे। परमाणु सामग्री के गुप्त प्रसार व अवैध तस्करी के खतरों व आतंकवादियों द्वारा परमाणु सामग्री खरीदे जाने की संभावनाओं पर विशेष फोकस इस सम्मेलन में किया गया तथा ऐसी संभावनाओं के विरुद्ध कार्य योजना तैयार की गई। परमाणु आतंकवाद के खतरे का संज्ञान लेते हुए भारत सहित 47 देशों ने परमाणु प्रौद्योगिकी या सूचना के अ अवैध हाथों में पड़ने से रोकने व इस क्षेत्र में सुरक्षा बढ़ाने के लिए वैश्विक स्तर पर प्रभावी सहयोग का संभाव्य इस सम्मेलन में लिया।

7. परमाणु अप्रसार संधि: एनपीटी एवं सीटीबीटी—विश्व की पांच परमाणु शक्तियां जहां दुनिया को परमाणु अप्रसार की सीख देती रही हैं वहीं दूसरी ओर 1945 के बाद से उन्होंने हर नौ दिन में एक के औसत से परमाणु परीक्षण किए हैं। परमाणु विषयों की एक अग्रणी अमरीकी पत्रिका के अनुसार 1945 के बाद से दुनिया में कमसेकम 2060 ज्ञात परमाणु परीक्षण हुए हैं। इनमें से 85 प्रतिशत परीक्षण अमरीका तथा पूर्व सोवियत संघ द्वारा किए गए। 16 जुलाई, 1945 को न्यू मैक्सिको के आल्मागार्दो रेगिस्तान में अमेरिका द्वारा किये गये विश्व के पहले परमाणु परीक्षण के साथ ही परमाणु युग की शुरुआत हुई थी। इसके बाद 1949 में सोवियत संघ, 1952 में ब्रिटेन, 1958 में फ्रांस तथा 1964 में चीन अपना-अपना पहला परमाणु परीक्षण करके अमेरिकी बिरादरी में शामिल होते गये। इस बिरादरी में

कमोबेश भारत भी तब शामिल हो गया जब उसने 18 मई, 1974 को पोखरण में अपना प्रथम भूमिगत परमाणु परीक्षण किया। इसके साथ ही शायद कभी न खत्म होने वाली परमाणु परीक्षाओं की दौड़ शुरू हो गयी। जहां शीतयुद्ध के प्रमुख प्रतिद्वन्द्वी अमेरिका और सोवियत संघ अधिक से अधिक परीक्षण करके परमाणु क्षमता के मामले में एक-दूसरे से आगे निकल जाना चाहते थे, वहीं अन्य परमाणु सम्पन्न राष्ट्र भी कहां पीछे रहने वाले थे। फलतः आल्मागार्दो परीक्षण के 51 वर्ष पूरे होते-होते परीक्षाओं की संख्या 2000 के पार जा पहुंची। 1945 से लेकर अब तक कुल 2060 परमाणु परीक्षण किये जा चुके थे। इनमें से अमेरिका ने सर्वाधिक 1032, रूस ने 715, ब्रिटेन ने 45, फ्रांस ने 210, चीन ने 45, भारत ने 6, पाकिस्तान ने 6 और उत्तर कोरिया ने 1 परीक्षण किया। एक संतोषजनक बात यह है कि सोवियत संघ के विघटन के साथ समाप्त हुए शीतयुद्ध के बाद परमाणु परीक्षाओं की संख्या में काफी कमी दिखाई पड़ी है। जहां आंशिक परीक्षण प्रतिबंध संधि लागू होने और शीतयुद्ध के समाप्त होने के बीच के 25 वर्षों में औसत वार्षिक परीक्षण संख्या लगभग 50 थी, वहीं जनवरी 1989 से दिसम्बर 1995 के सात वर्षों में यह औसत गिरकर लगभग 11 रह गयी।

स्टाकहोम स्थित इण्टरनेशनल पीस रिसर्च इन्स्टीट्यूट (सिपरी) की प्रकाशित रिपोर्ट के अनुसार इजराइल के पास हथियार बनाने लायक पर्याप्त परमाणु सामग्री है जिससे 100 परमाणु बम बनाये जा सकते हैं, भारत 60 और पाकिस्तान 10 परमाणु बम बना सकते हैं। परमाणु बम बनाने के लिए दो प्रमुख सामग्रियां हैं—प्लूटोनियम और परिष्कृत यूरेनियम जिनका विश्व में कुल भण्डार इस समय क्रमशः एक हजार और 1300 टन है। इससे 50 हजार परमाणु बम बनाये जा सकते हैं और इस प्रकार परमाणु हथियारों के वर्तमान भण्डार से दुगने हथियार और बनाए जा सकते हैं। यह स्थिति अत्यन्त खतरनाक है, किंतु स्पष्ट है कि 'दहलीज' पर खड़ी शक्तियों के पास इन पदार्थों का एक नगण्य भण्डार है। इसकी बहुतायत तो परमाणु हथियार सम्पन्न राष्ट्रों के पास ही है, अतः परमाणु अप्रसार के बारे में कोई भी बड़ी शुरुआत इन्हीं पांच परमाणु शक्तियों की ओर से होनी चाहिए।

उत्तरी कोरिया ने 25 मई, 2009 को 2-5 किलो टन क्षमता का भूमिगत नाभिकीय परीक्षण करके सारे विश्व को स्पष्ट तौर पर संकेत दे दिए कि वह नाभिकीय हथियारों को बनाने की ओर अग्रसर हैं। यह परीक्षण अक्टूबर 2006 में किए गए विस्फोट से पांच गुना बड़ा था। इसी दौरान उत्तरी कोरिया ने छोटी दूरी की मिसाइलों एवं मध्यम दूरी के प्रक्षेपण यान का भी सफल प्रयोग किया।

8. आणविक शस्त्रों का विस्तार : परमाणु की राजनीति—अगस्त 1945 के आरंभ में अमरीका के पास केवल दो परमाणु बम थे और हिरोशिमा तथा नागासाकी में उनके इस्तेमाल के साथ ही अमरीका का परमाणु बमों का भण्डार खाली हो गया था। चार साल तक परमाणु बम की जानकारी और भण्डारण के क्षेत्र में अमरीका का एकाधिकार रहा। लेकिन 29 अगस्त, 1949 को यह एकाधिकार समाप्त हुआ, जब सोवियत संघ ने अपना पहला सफल परमाणु बम परीक्षण किया। इस तरह परमाणु शस्त्रों की दौड़ या प्रतियोगिता चल पड़ी।

मई 1951 में अमरीका ने और नवम्बर 1952 में सोवियत संघ ने अपने प्रथम हाइड्रोजन शक्ति परीक्षण किये। 1954-55 में दोनों ने हाइड्रोजन बम बना लिये। इन दोनों के अलावा 1952 में ब्रिटेन, 1960 में फ्रांस और 1964 में चीन भी परमाणु शस्त्रों की दौड़ में शामिल हुए। 1974 में भारत ने भी पोखरण में आणविक विस्फोट कर दिखाया। मई 1968 में भारत ने पांच तथा पाकिस्तान ने छः परमाणु विस्फोट किए।

यद्यपि 1955 तक दोनों महाशक्तियों ने अपने परमाणु शस्त्र भण्डार बना लिये थे। लेकिन उनका कारगर उपयोग करने की क्षमता केवल अमरीका में ही थी; क्योंकि अमरीकी सामरिक हवाई कमान ने सोवियत संघ के ईर्द-गिर्द यूरोप और तुर्की में अपने सैन्य अड्डे बना रखे थे, जहां से उसके वायुयान उड़कर सोवियत संघ की धरती पर परमाणु बम गिरा सकते थे। परन्तु अक्टूबर 1957 में रूसी 'स्पूतनिक' के सफल परीक्षण के बाद दूरगामी या अंतरमहाद्वीपीय प्रक्षेपास्त्रों का युग आरंभ हुआ। अब दोनों महाशक्तियां घर बैठे एक-दूसरे पर और साथ ही दुनिया के किसी भी भू-क्षेत्र पर बम बरसा सकती थीं। इसके अतिरिक्त, दोनों महाशक्तियों के पास तथा सीमित स्तर पर ब्रिटेन और फ्रांस के पास भी ऐसी परमाणु चालित पनडुब्बियां थीं, जिनसे प्रायः मध्यम दूरी के क्षेत्र में काफी दूर तक परमाणु प्रक्षेपास्त्रों द्वारा आक्रमण किया जा सकता था।

लगभग एक दशक पूर्व दोनों महाशक्तियों ने एम.आई.आर.वी. या 'मिर्व' नामक ऐसे प्रक्षेपास्त्रों का आविष्कार किया, जिन पर एक साथ बहुत से मेगाटन के परमाणु बम लादे जा सकते हैं तथा कम्प्यूटर के पूर्व निर्देश पर अलग-अलग कई निशानों पर ठीक-ठीक और बड़ी तेजी से गिराये जा सकते हैं। दोनों महाशक्तियों तथा फ्रांस, ब्रिटेन और चीन के पास नजदीकी क्षेत्रों पर परमाणु आक्रमण करने के लिए तेज रफ्तार वाले वायुयानों से लैस बड़े हवाई बेड़े भी हैं। इस प्रक्षेपण व्यवस्था के अतिरिक्त पाल्मे रिपोर्ट के अनुसार, अब दुनिया में 50,000 से अधिक परमाणु बम या 'वारहेड' हैं। इस स्थिति की भीषणता को दर्शाते हुए ओसलो (नार्वे) की विश्वविख्यात इण्टरनेशनल पीस रिसर्च इन्स्टीट्यूट के निदेशक तथा निःशस्त्रीकरण विशेषज्ञ मारेक थी ने कहा है— "वर्तमान समय में परमाणु शस्त्रों के बारे में निश्चित आंकड़े संकलित करना कठिन है। फिर भी अनुमान है कि आज की प्रलयकारी मशीन लगभग 60,000 परमाणु शस्त्रों से लैस है। आमतौर पर यह माना जाता है कि पूर्वी और पश्चिमी शक्तियों के परमाणु शस्त्र भण्डारों की कुल विध्वंस शक्ति हिरोशिमा वाले बम जैसे दस लाख बमों के बराबर अर्थात् 13 अरब एम.टी.एन.टी. है। दूसरे शब्दों में कहा जा सकता है कि आज के परमाणु शस्त्र भण्डार में प्रति 1,000 मनुष्यों के लिए एक हिरोशिमा जैसा बम मौजूद है। यहां पर यह याद रखना प्रासंगिक होगा कि हिरोशिमा में कुल मृतकों की संख्या साढ़े तीन लाख थी।"

लन्दन के अंतर्राष्ट्रीय सामरिक अध्ययन संस्थान ने कहा है कि महाशक्तियों के निजी शस्त्रागार में लगभग 1,500 परमाणु हथियारों की प्रतिवर्ष वृद्धि हो रही है। 1987-88 में "सैनिक संतुलन" विषयक संस्थान के प्रकाशन में बताया गया कि पिछले वर्ष अमरीका ने 1,000 हथियार बनाये और सोवियत संघ ने 4 हजार। अमरीका के पास कुल 13,000 परमाणु आयुध हैं जबकि रूस के पास 10,800। ये आयुध हिरोशिमा जैसे कई लाख नगरों का सफाया करने की घातक क्षमता रखते हैं। हिरोशिमा में लगभग दो लाख लोग असमय में ही काल के गाल में समा गये थे। इस समय जितने अस्त्र उपलब्ध हैं उनसे एक साथ 240 अरब लोगों को मारा जा सकता है जबकि आज सम्पूर्ण दुनिया की आबादी मात्र 6.82 अरब है। पिछले 50 वर्षों में महाशक्तियों ने इतने अधिक मेगाटन शक्ति के परमाणु बम बना लिये हैं कि उनसे दूसरे विश्व-युद्ध की ही तरह के लगभग 5 हजार युद्ध लड़े जा सकते हैं। इसके बावजूद पाल्मे रिपोर्ट के अनुसार प्रतिवर्ष अमरीकी और सोवियत भण्डारों में परमाणु अस्त्र बढ़ते जा रहे हैं। राजनीतिक तनाव के फलस्वरूप शस्त्र परिसीमन वार्ताएं मुश्किल बन गयीं। उधर बढ़ती हुई शस्त्र प्रतिस्पर्धा के फलस्वरूप राजनीतिक तनाव और अधिक तीव्र होते गये।

हथियारों की होड़ का नवीन उदाहरण है अमरीका का 'न्यूट्रॉन बम' जिसके निर्माण को राष्ट्रपति कार्टर ने रोक दिया था। लेकिन राष्ट्रपति रीगन ने उसके निर्माण के पुनः आदेश दे दिये। न्यूट्रॉन बम वास्तव में एक ऐसा हाइड्रोजन बम है, जिसमें तीव्र विस्फोट नहीं होता और इसलिए सम्पत्ति का नाश भी कम से कम होता है। इसके विपरीत, इससे मुक्त होने वाली न्यूट्रॉन गोली से मनुष्य और अन्य जीव-जंतुओं के लिए तुरन्त या विलम्बित मृत्यु निश्चित है। न्यूट्रॉन बम की पूरी संहारक शक्ति उसके उन असंख्य न्यूट्रॉनों में है जो बड़ी मात्रा में देर तक मुक्त होते रहते हैं क्योंकि घनीभूत रेडियोधर्मिता जीवित वस्तुओं के लिए घातक है और इससे जीवित कोशाएं तुरंत नष्ट हो जाती हैं। इसलिए इसके प्रभाव में आने वाले प्रत्येक मनुष्य की मृत्यु करीब-करीब निश्चित है। इसकी संहारकता का अनुमान इस बात से लगाया जा सकता है कि हाइड्रोजन बम जैसे भयंकर बम में भी मरने वालों और घायलों का अनुपात एक और तीन होता है मगर न्यूट्रॉन बम में इसके उल्टे यदि एक जख्मी होगा तो तीन मरेगे।

न्यूट्रॉन बम का प्रभाव कहां तक जा सकता है और इसका बचाव क्या है? यह इस बात पर निर्भर है कि न्यूट्रॉन बम कहां और कितनी दूर छोड़ा गया? न्यूट्रॉन परमाणु का एक ऐसा कण है जिस पर शून्य विद्युत् चार्ज रहता है, इसलिए सामान्य तरीकों से इसे रोका नहीं जा सकता। एक परम्परागत परमाणु बम का प्रभाव करीब 1.6 किलोमीटर तक रहता है मगर क्योंकि न्यूट्रॉन बम का उपयोग सीमित क्षेत्र में व्यक्तियों को मारने के लिए किया जायेगा इसलिए इसकी व्यापकता भी अधिक नहीं होगी। सामान्यतया 15 सेमी मोटी कंक्रीट की दीवार या 4 सेमी. मोटी इस्पात की दीवार ही इन कणों के प्रभाव को रोक सकती है। दूसरे शब्दों में, बमों से सुरक्षा के लिए बनाये गये सुरक्षित मकानों या खन्दकों में न्यूट्रॉन बम से बचाव हो तो सकता है मगर खुले मैदान में आमने-सामने की लड़ाई में न्यूट्रॉन बम से कोई बचाव नहीं। न्यूट्रॉन बम पैशाचिक परमाणु हथियार है। यह साम्राज्यवादी शक्तियों की अमानवीयता को प्रकट करता है, जिसकी दृष्टि में मानव का मूल्य कुछ भी नहीं है। इससे प्राणियों का संहार होगा

तथा कारखानों व बैंक की रक्षा की जायेगी क्योंकि उनका सम्बन्ध मात्र लाभ से है, मानवीय मूल्यों से नहीं। न्यूट्रॉन जैविकी की खोजों से प्रकट होता है कि न्यूट्रॉन विकिरण का कैंसर रोग सम्बन्धी प्रस्ताव एक्स-किरणों या गामा-किरणों के विकिरण से चार गुना अधिक होता है। अगर इसी तथ्य पर विचार किया जाय कि ऐसी आनुवांशिकी क्षति से आने वाली पीढ़ियों में भी रोग उत्पन्न हो जायेंगे तो बिना किसी अतिशयोक्ति के यह कहा जा सकता है कि यह मानव जाति के लिए एक अत्यधिक भयावह खतरा है।

वर्तमान में अमरीका तथा रूस दोनों ही देशों ने अपने-अपने यहां कंक्रीट से बने भूमिगत बंकरों में काफी बड़ी संख्या में प्रक्षेपास्त्र जमा कर रखे हैं। संकेत मिलते ही प्रक्षेपास्त्र अपने स्थान से निकलकर कुछ ही मिनटों में अपने लक्ष्यों पर पहुंचकर कहर ढा सकते हैं। कंक्रीट से बने सुरक्षित स्थानों पर इन प्रक्षेपास्त्रों को इसलिए रखा गया है, ताकि साधारण बमबारी से उन्हें कोई क्षति नहीं पहुंचे। इस तरह रखे गये प्रक्षेपास्त्र तभी नष्ट हो सकते हैं, जब उनको जहां रखा गया है, उस जगह से 400 मीटर तक की परिधि में कहीं भी कम-से-कम एक मेगाटन की क्षमता वाला बम डाला जाये। इस खतरे से बचने के लिए इन प्रक्षेपास्त्रों को एक ही स्थान पर न रखकर गोपनीय रूप में अलग-अलग स्थानों पर रखा जाता है और वहां भी जमीन के अंदर बनी हुई सुरंगों के द्वारा उन्हें अक्सर इधर-उधर स्थानान्तरित किया जाता रहता है। उद्देश्य यही है कि यदि संभावित परमाणु युद्ध में आक्रमण की पहल शत्रु देश करे तब भी हमले का लक्ष्य बने देश के पास इतने प्रक्षेपास्त्र अवश्य बच जायें कि वह जवाबी हमले में शत्रु को तहस-नहस कर सके। इसी उद्देश्य से परमाणु हथियारों से युक्त अनेक प्रक्षेपास्त्र ऐसी पनडुब्बियों में भी लगे रहते हैं, जो तीन माह तक समुद्र के अंदर रह सकती हैं।

आणविक युद्ध केवल राजनेताओं अथवा वैज्ञानिकों की सनक के कारण ही नहीं, बल्कि मानवीय अथवा यांत्रिक भूल के कारण भी हो सकता है। इस प्रकार की भूल अतीत में भी अनेक बार विश्व को आणविक युद्ध के कगार तक ले जा चुकी है। 1961 में जब चन्द्रमा से लौटी किसी तरंग को अमरीकी राडारों ने पकड़ा तो उस तरंग का अर्थ यह समझा गया कि आणविक आक्रमण के लिए सोवियत संघ के विमान अमरीका की ओर चल पड़े हैं। तत्काल अमरीका के बम-वर्षकों को भी सोवियत संघ पर आक्रमण का आदेश दे दिया गया। विमान अपने लक्ष्य की ओर उड़ भी चले, इसके लगभग एक घण्टे बाद वस्तुस्थिति की जानकारी मिली, तो उन बम-वर्षक विमानों को वापस बुला लिया गया। उन दिनों प्रक्षेपास्त्र नहीं बन पाये थे, इसीलिए विमानों को वापस बुलाने का समय मिल गया। आज प्रक्षेपास्त्रों के युग में तो इस एक घण्टे की अवधि में आणविक युद्ध अपनी पूरी गति से आरंभ हो सकता है। 9 नवम्बर, 1979 को भी गलतफहमी में इसी प्रकार के आदेश दे दिये गये थे, मगर उन्हें तत्काल सुधार लिया गया। 6 जून, 1980 को भी अमरीकी कम्प्यूटरों ने सूचना दी कि सोवियत संघ ने अपने अंतरमहाद्वीपीय प्रक्षेपास्त्रों को अमरीका की ओर रवाना कर दिया है। इसके उत्तर में अमरीका ने भी प्रक्षेपास्त्रों को निर्देश देने वाले यंत्रों को चालू करने का आदेश दे दिया। मगर इसके पहले कि प्रक्षेपास्त्र अपने लक्ष्य की ओर रवाना होते, गलती का पता चल गया और उन्हें रोक लिया गया। मगर प्रश्न यह है कि क्या इस प्रकार गलती सुधारने का समय क्या हमेशा ही मिलता रहेगा? इस संदर्भ में भी कुछ खतरे हैं। मसलन आणविक शस्त्रों से लैस विमान, जलपोत या पनडुब्बी किसी दुर्घटना का शिकार हो सकती है और इस कारण होने वाला संभावित आणविक विस्फोट विनाश को जन्म दे सकता है। 26 अप्रैल, 1986 को तत्कालीन सोवियत संघ में चेरनोबिल (उत्क्रेन) स्थित परमाणु संयंत्र में विस्फोट से 2000 से अधिक लोग तत्काल मर गये थे और जो बच गये थे, लेकिन प्रभावित हुए थे, उनमें से 80 प्रतिशत की हालत बड़ी चिंताजनक बताई गयी थी। वे गंभीर मानसिक और मनोवैज्ञानिक खराबी का शिकार हुए और उनकी स्मरण शक्ति पूरी तरह नष्ट हो चुकी थी। रूसी खबर के अनुसार सफाई कार्यों में लगे कम से कम 1250 श्रमिक आत्महत्या का प्रयास कर चुके हैं और सैकड़ों श्रमिक गंभीर हृदय रोगों, फुफ्फुसीय रोगों और स्नायु रोगों की पीड़ा झेल रहे हैं। इन सब बातों से पता चलता है कि परमाणु विकिरण के खतरे कितने भयावह हैं। वस्तुस्थिति यह है कि आज के आणविक हथियारों ने सम्पूर्ण विश्व की सुरक्षा को केवल कुछ यंत्रों तथा कुछ मनुष्यों के हाथों में गिरवी रख दिया है। अभी तक आठ देश आणविक परीक्षण कर चुके हैं—अमरीका, सोवियत संघ, इंग्लैण्ड, फ्रांस, चीन, भारत, पाकिस्तान और उत्तरी कोरिया। कुल परीक्षण हुए 2060 जिनमें अधिकांश अमरीका और सोवियत संघ ने किये हैं।

सर्वाधिक आणविक हथियार भी अमरीका और सोवियत संघ के पास ही हैं। इस दिशा में तीसरा देश जो तीव्रता से प्रगति कर रहा है वह चीन है। इन सात देशों के अतिरिक्त आठ देश ऐसे हैं, जिनके पास परमाणु हथियार बनाने की क्षमता है, वे देश हैं—कनाडा, जर्मनी, इजरायल, इटली, जापान, द. अफ्रीका, स्वीडन तथा स्विट्जरलैण्ड। अमरीका की पत्रिका 'न्यूजवीक' के जुलाई 1988 के अंक में अमरीकी खुफिया सूत्रों के हवाले से प्रकाशित किया गया था कि कई देशों ने परमाणु बम बना लिये हैं। पाकिस्तान ने चार ऐसे परमाणु बम बनाये हैं जिन्हें अमरीका द्वारा दिये गये एफ-16 लड़ाकू बम-वर्षकों में ले जाया जा सकता है। पत्रिका ने लिखा है कि भारत, पाकिस्तान, इजरायल और द. अफ्रीका के पास भी परमाणु हथियार हैं। विशेषज्ञों का मत है कि ब्राजील और अर्जेंटीना भी अगले दो वर्षों में परमाणु क्षमता प्राप्त कर लेंगे। 'न्यूजवीक' के अनुसार इजरायल के पास 100 से 200 के बीच परमाणु हथियार हैं। द. अफ्रीका ने इतना परिष्कृत यूरेनियम बना लिया है जिससे 13 से 21 बम बनाये जा सकते हैं। भारत के पास भी कम से कम 65 परमाणु हथियार हैं। आज परमाणु विज्ञान के बारे में इतना अधिक साहित्य बाजार में आ गया है कि साधन और सुविधा मिलने पर कोई भी प्रतिभाशाली परमाणु वैज्ञानिक बम बना सकता है। साधन का जहां तक सम्बन्ध है, इसके लिए चाहिए एक परमाणु भट्टी तथा यूरेनियम-235 अथवा प्लूटोनियम। दोनों वस्तुएं विश्व के खुले बाजार से खरीदी जा सकती हैं। यदि राजनीतिक परिस्थिति अनुकूल न हो तो उस स्थिति में इस सौदे में यह शर्त लगायी जा सकती है कि परमाणु भट्टी या यूरेनियम खरीदने वाला देश आणविक हथियारों के प्रसार पर रोक के लिए 1968 में की गयी संधि पर हस्ताक्षर करे जिसके तहत किसी भी नये देश द्वारा परमाणु बम बनाने का काम गोपनीय रूप से चल सकता है अथवा कोई देश बहाने की आड़ लेकर अंतर्राष्ट्रीय जांचकर्ताओं को अपने परमाणु संयंत्रों की जांच करने से रोक सकता है। इराक ने ईरान के साथ चल रहे युद्ध की आड़ में ही संयुक्त राष्ट्र संघ के निरीक्षकों को अपने परमाणु संयंत्रों वाले केन्द्रों पर जाने से रोका था।

इस समय विश्व में लगभग साठ हजार आणविक हथियार तैयार हैं। इनकी क्षमता का यदि अध्ययन करें तो यह जानकर आश्चर्य होता है कि इन हथियारों से वर्तमान विश्व को केवल दो बार नहीं, पूरे दर्जन बार नष्ट किया जा सकता है। इस तथ्य के बावजूद आणविक हथियारों के लिए अंधी होड़ निरंतर चालू है। इन आणविक हथियारों का संचालन अब केवल धरती से नहीं अंतरिक्ष से भी किये जाने के प्रयत्न चल रहे हैं। इस उद्देश्य के निमित्त महाशक्तियों द्वारा केवल 1980 में 103 सैन्य उपग्रह अंतरिक्ष में छोड़े गये थे। अमरीका की योजना थी कि 2000 ई. तक अंतरिक्ष में एक ऐसा मंच तैयार कर लें, जो भूमध्य रेखा के ऊपर स्थित हो, जहां से वह अपनी सम्पूर्ण सुरक्षा का संचालन कर सकेगा। परमाणु ऊर्जा की तकनीक सिद्ध हो जाने पर परमाणु बम बनाना या न बनाना, समृद्ध यूरेनियम की उपलब्धि, राजनीतिक निर्णय का मसला रह जाता है। परमाणु प्रौद्योगिकी पर कुछ विशिष्ट देशों का एकाधिकार होने के बावजूद इसका काफी विस्तार हुआ है—पश्चिमी देशों की व्यापारिक वृद्धि के कारण तथा उनकी आपसी प्रतिद्वन्द्विता के कारण। अमरीका, सोवियत संघ, फ्रांस, ब्रिटेन, कनाडा और चीन के बाहर कम-से-कम 16 देश ऐसे हैं जहां पश्चिमी देशों ने परमाणु प्रौद्योगिकी बेची और पहुंचायी है। पश्चिमी कम्पनियां विकासशील देशों में 37 परमाणु भट्टियां लगा चुकी हैं और 28 पर काम चल रहा है।

इनमें से अनेक देशों ने अंतर्राष्ट्रीय परमाणु ऊर्जा आयोग का निरीक्षण स्वीकार किया है, लेकिन इजरायल, दक्षिण अफ्रीका, पाकिस्तान और भारत ने परमाणु प्रसार संधि पर हस्ताक्षर करना स्वीकार नहीं किया था। अतः उनके यहां अंतर्राष्ट्रीय संगठन द्वारा परमाणु संयंत्रों की निगरानी का सवाल नहीं उठता। इनमें से इजरायल और दक्षिणी अफ्रीका दो ऐसे भी देश हैं जिन्हें माना जाता है कि बने-बनाये परमाणु अस्त्र मिल चुके हैं। पश्चिमी देशों की जो कम्पनियां तीसरी दुनिया के देशों से परमाणु व्यापार कर रही हैं उनमें अमरीका की 'जनरल इलेक्ट्रिक और वेस्टिंग हाउस' जर्मनी की 'के.डब्ल्यू.यू.', 'एटामिक एनर्जी ऑफ कनाडा' और फ्रांस की 'फ्रामाटोम' प्रमुख हैं।

9. परमाणु शक्ति का स्वरूप—द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद से अब तक लगभग 2060 ज्ञात परमाणु परीक्षण किये जा चुके हैं, जिनमें से 1747 केवल अमरीका तथा सोवियत संघ के ही हैं। इस समय विश्व में जो कुल परमाणु विस्फोटक सामग्री उपलब्ध है, उसे यदि विश्व के सभी व्यक्तियों में समान रूप से वितरित किया जाये, तो वह प्रति व्यक्ति दस टन के हिसाब से आयेगी। वैज्ञानिकों का मत है कि अब तक जितने भी नाभिकीय परीक्षण हो चुके हैं और उनसे जितनी रेडियोधर्मिता फैल चुकी है, वही अंततोगत्वा मानव जाति के लिए घातक सिद्ध होकर रहेगी। मानव जाति तरह-तरह के संकटों से गुजरी है, किंतु

इनमें से एक भी संकट ऐसा नहीं था जिसका सीधा सम्बन्ध समूची मानव जाति के अस्तित्व से हो। परमाणु हथियारों के रूप में आज पहली बार ऐसा सर्वव्यापी संकट उत्पन्न हो गया है जिसने समूची मानव जाति को महाविनाश के कगार पर लाकर खड़ा कर दिया है। एक सर्वव्यापी संकट पैदा करने में तो हम समर्थ हो गये हैं, किंतु इससे बचाव या निवारण के लिए सर्वव्यापी हल खोजने में अभी हम समर्थ नहीं बन पाये हैं।

परमाणु शक्ति का दूसरा पक्ष उसका सृजनकारी रूप है। मानव कल्याण में परमाणु शक्ति का सृजनात्मक तथा विकास हेतु उपयोग हो सकता है। आज अनेक राष्ट्र, जैसे अमरीका, रूस, जापान, जर्मनी, आदि परमाणु शक्ति का विकास करके अनेक महत्वपूर्ण कल्याणकारी कार्यों में उसका उपयोग कर रहे हैं। अणुचालित बिजलीघरों में अति सस्ती दर पर विद्युत् उत्पादन हो रहा है। इससे कोयला, पेट्रोल, गैस आदि प्राकृतिक ऊर्जा के रूप में परमाणु ऊर्जा के प्रयोग ने भविष्य की ईंधन की चिंता को बहुमूल्य कम कर दिया है। परिवहन एवं दूरसंचार के माध्यमों में भी इसका प्रयोग एक नयी क्रांति को जन्म दे रहा है। चिकित्सा क्षेत्र में भी अणु शक्ति मनुष्य के लिए वरदान बन गयी है।

परमाणु ऊर्जा तथाकथित परमाणुभट्टी या नाभिकीय रिएक्टर में 'मुक्त' की जाती है। इन भट्टियों में परमाणु नाभिकों का विखण्डन करते हैं। इससे ऊर्जा मुक्त होती है जो ऊष्मा के रूप में विभिन्न कामों में प्रयुक्त की जाती है। परमाणु ऊर्जा का एक ओर सृजनकारी उपयोग रेडियोधर्मी पदार्थों से प्राप्त विकिरणों से सम्बन्ध रखता है। रेडियोधर्मी पदार्थ जिन्हें सामान्यतः रेडियोधर्मी समस्थानिक कहते हैं, परमाणु इंजीनियरिंग के 'ऊर्जा से असम्बन्धित क्षेत्र' के होते हैं। इनका उपयोग अब विभिन्न कामों में होने लगा है जैसे— उद्योग, खेती, चिकित्सा आदि। कैंसर जैसे भयंकर तथा असाध्य रोग पर अब रेडियो कोबाल्ट की सहायता से काफी कुछ सफलता प्राप्त कर ली गयी है। अब अनेक तत्वों के रेडियोधर्मी समस्थानिक तैयार कर लिये गये हैं जिनको विभिन्न उपयोगों में लाया जाता है।

रेडियो तत्वों का एक और भी विशेष उपयोग हो सकता है। इसके द्वारा वैज्ञानिकों को द्रव्य के अदृश्य कणों की गति का पता चलता है। इनकी सहायता से वे प्रत्येक परमाणु का मार्ग जान सकते हैं तथा एक ही रासायनिक तत्व के विशिष्ट परमाणुओं को उसी तत्व के दूसरे परमाणु से अलग पहचान सकते हैं। अब रेडियोधर्मी पदार्थों से प्राप्त ऊर्जा का उपयोग आवश्यकतानुसार करना संभव हो गया है। इससे एक नये अध्याय का सूत्रपात हुआ है और वे मानव जीवन को श्रेष्ठतर बनाने में सहायक सिद्ध हुए हैं। भारत में भाभा परमाणु अनुसंधान केन्द्र में 360 प्रकार के रेडियो आइसोटोप तथा चिन्हित यौगिक बनाये जाते हैं। विश्व के अनेक राष्ट्र अब परमाणु शक्ति के विकास में लगे हुए हैं जिससे उन्हें इसके लाभ प्राप्त हो सकें।

10. परमाणु अप्रसार—द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद आणविक शक्ति में विभिन्न राष्ट्रों की बढ़ती हुई रुचि के कारण आणविक शस्त्रों के फैलाव का खतरा निरन्तर बढ़ने लगा। विशेषज्ञों ने विश्वास प्रकट किया कि जहां तक अंतर्राष्ट्रीय सुरक्षा का प्रश्न है आणविक शस्त्र बनाने वाले राष्ट्रों की संख्या में वृद्धि होने से विश्व में तनाव एवं असुरक्षा के वातावरण में वृद्धि होगी।

परमाणु अस्त्रों के उत्पादन को सीमित करने तथा उनके प्रयोग एवं परीक्षण पर रोक लगाने के सम्बन्ध में संसार की दो महाशक्तियों—सोवियत संघ और अमरीका के मध्य बहुत लम्बी वार्ताओं के उपरांत कतिपय समझौते हुए, जो इस प्रकार हैं—

10.1 आंशिक परमाणु परीक्षण प्रतिबंध संधि— मास्को में वार्तालाप के फलस्वरूप वायुमण्डल में अणुशक्ति परीक्षण पर प्रतिबंध लगाने के संदर्भ में एक संधि की शब्दावली पर सहमति हो गयी। उक्त संधि पर 5 अगस्त, 1963 को तीन अणु शक्तियों के विदेश मंत्रियों ने संयुक्त राष्ट्र के महासचिव की उपस्थिति में हस्ताक्षर किये एवं उसे 10 अक्टूबर, 1963 को स्वीकार किया गया। इससे पूर्व हस्ताक्षरकर्ता राष्ट्रों ने तथा संयुक्त राष्ट्र के 98 सदस्यों ने एवं 7 गैर-सदस्यों ने उक्त संधि की सम्पुष्टि की। फ्रांस तथा चीन गणराज्य ने इस संधि को स्वीकार करने में असमर्थता प्रकट की। संधि की प्रस्तावना में हस्ताक्षरकर्ता राष्ट्रों ने, अपना प्रमुख उद्देश्य "संयुक्त राष्ट्रों के उद्देश्यों के अनुसार कठोर अंतर्राष्ट्रीय नियंत्रण के सब प्रकार के तथा पूर्ण निःशस्त्रीकरण के बारे में समझौता करने में शीघ्रता से सफलता पाना, अणु-शस्त्रों सहित सब तरह के शस्त्रों के परीक्षण तथा उत्पादन को समाप्त करने की दृष्टि से शस्त्रों की होड़ को समाप्त करना" तय किया। 'आणविक शस्त्रों के विस्फोट के सब प्रकार के परीक्षणों को समाप्त करने के

लिए” सब राष्ट्रों ने अपनी दृढ़ इच्छा प्रकट की तथा “रेडियो क्रियाशील पदार्थों द्वारा मनुष्य के चारों ओर के वायुमण्डल को विषाक्त न होने देने के विषय में” बहुत अधिक बल दिया। यह संधि पांच धाराओं वाली है जो निम्नांकित हैं—

- पहली धारा में तीनों राष्ट्रों द्वारा संकल्प किया गया कि वे अपने अधिकार-क्षेत्र और नियंत्रण में विद्यमान किसी भी प्रदेश के वायुमण्डल में, इसकी सीमाओं में, बाह्य अंतरिक्ष में, प्रादेशिक अथवा महासमुद्रों के जल में कोई भी आणविक विस्फोट नहीं करेंगे।
- दूसरी धारा में संशोधन की व्यवस्था है। संधि में संशोधन का प्रस्ताव किसी भी राष्ट्र की सरकार द्वारा प्रस्तुत किया जा सकता है। यदि हस्ताक्षरकर्ता राष्ट्रों में से एक—तिहाई राष्ट्र प्रस्ताव के पक्ष में हो तो संशोधनों पर विचार हो सकता है।
- तीसरी धारा के अनुसार इस संधि पर कोई भी देश हस्ताक्षर कर सकता है। यह व्यवस्था है कि हस्ताक्षरकर्ता देश इस संधि पर अपनी संसद या राष्ट्रीय परिषद् का समर्थन प्राप्त करेगा और ऐसे समर्थन को सोवियत संघ, अमरीका व ग्रेट ब्रिटेन के पास जमा कराना पड़ेगा।
- चौथी धारा में लिखा है कि यह संधि असीमित काल के लिए है। यद्यपि हस्ताक्षरकर्ता प्रत्येक राष्ट्र को यह अधिकार है कि वह अपनी राष्ट्रीय प्रभुसत्ता का प्रयोग करते हुए उस समय स्वयं को इस संधि के बंधनों से मुक्त कर ले, जब वह यह अनुभव करे कि इससे उसके देश का सर्वोच्च हित संकट में पड़ गया है, तथापि हटने वाले राष्ट्र को तीन माह पूर्व नोटिस देना होगा।
- पांचवी धारा के अनुसार इस संधि के अंग्रेजी व रूसी भाषा के दोनों रूप समान रूप से प्रामाणिक समझे जायेंगे।

इस संधि में जमीन के अंदर किये जाने वाले अणु परीक्षणों को सम्मिलित नहीं किया गया है। संयुक्त राष्ट्र के पूर्व महासचिव ऊथांट ने इस संधि का महत्त्व अपने 1962-63 के वार्षिक प्रतिवेदन में प्रस्तुत किया। उन्होंने कहा—“परीक्षण प्रतिबंध की संधि यद्यपि तीन दशाओं तक सीमित है एवं निःशस्त्रीकरण की मुख्य समस्या से मिलती-जुलती है, परन्तु इसके अतिरिक्त भी वह अपने आप में एक प्रमुख उद्देश्य है। इससे आणविक विस्फोटों से उत्पन्न बढ़ती हुई रेडियो क्रियाशील धूल के खतरे से भी मानवता को बचाने का उद्देश्य सीधी तरह पूरा हो जाता है। इसके अतिरिक्त, आणविक शस्त्रों पर रोक तथा महाविनाश के नये शस्त्रों के विकास पर प्रतिबंध लगाने में सहायता मिलेगी एवं इस तरह शस्त्रों की होड़ को कम किया जा सकेगा। इस संधि से भूमिगत परीक्षणों पर प्रतिबंध सहित एक विस्तृत संधि करने का मार्ग उपलब्ध हो सकेगा।

10.2 परमाणु अप्रसार संधि— द्वितीय विश्व युद्ध के बाद अणु विज्ञान तेजी से बहुत-से राष्ट्रों में फैल गया। सारे विश्व के कई हजार वैज्ञानिक एवं तकनीशियन इस नये कार्य में प्रशिक्षित किये गये। अणु क्षेत्र में इस तकनीकी विकास की प्रक्रिया से परमाणु शक्ति के विध्वंसात्मक उपयोग की दृष्टि से बहुत प्रगति हुई। दुर्भाग्यवश, अणु शस्त्र बनाने का कार्यक्रम अणु के शांतिपूर्ण कार्यक्रम की तुलना में अंत तक गुप्त रहता है। इस प्रकार अणुशक्ति में समस्त विश्व की बढ़ती हुई रुचि के कारण आणविक शस्त्रों के जमा होने से खतरा राष्ट्र महासभा में स्वीकृत हुए बहुत से प्रस्तावों से सुस्पष्ट है जिसमें अणु शस्त्रों के और अधिक विस्तार को रोकने के लिए समझौते के प्रयास के लिए कहा गया।

1967 में प्रकाशित विशेषज्ञों के प्रतिवेदन में कहा गया था कि अणु शस्त्र बनाने वाली वर्तमान पांच महाशक्तियों के अतिरिक्त विश्व में सात अन्य राष्ट्र भी ऐसे हैं जो रचनात्मक कार्यों में प्रयुक्त अपने साधनों के अतिरिक्त आणविक शस्त्रीकरण को भी विकसित कर सकते हैं। विशेषज्ञों ने विश्वास प्रकट किया कि जहां तक अंतर्राष्ट्रीय सुरक्षा का प्रश्न है अणु शस्त्र बनाने वाले राष्ट्रों की संख्या में वृद्धि होने पर वर्तमान आणविक शस्त्रागारों का विस्तार होने से समस्त विश्व में अधिक तनाव एवं असुरक्षा के वातावरण में वृद्धि होगी। विशेषज्ञों की यह मान्यता थी कि सुरक्षा की समस्या का निदान आणविक शस्त्र रखने वाले देशों की संख्या बढ़ाने से नहीं हो सकता एवं न ही आणविक शस्त्र रखने वाले वर्तमान राष्ट्रों की शक्ति से इसे पाया जा सकता है।

सोवियत संघ और अमरीका द्वारा अगस्त 1967 में अलग-अलग परंतु एक जैसी संधियों के प्रारूप प्रस्तुत किये गये जिनमें अणु शस्त्रों के और अधिक संगृहीत न करने के लिए जोर दिया गया

था। 12 जून, 1968 को संयुक्त राष्ट्र महासभा ने भारी बहुमत से उक्त प्रस्ताव को स्वीकृति प्रदान की। जुलाई, 1968 को परमाणु अप्रसार संधि हस्ताक्षर के लिए प्रस्तुत की गयी एवं उसी दिन अमरीका, ब्रिटेन, सोवियत संघ तथा 50 से अधिक राष्ट्रों ने उस पर हस्ताक्षर कर दिये एवं वह संधि 5 मार्च, 1970 से प्रभावी हो गयी।

उक्त संधि के अंतर्गत यह व्यवस्था थी कि कोई भी अणु शक्ति वाला राष्ट्र अकेले या मिलकर अपने शस्त्र किसी भी अन्य राष्ट्रों को नहीं देंगे। अणु-शक्ति वाले देशों को आयुध वाले राष्ट्रों से किसी भी प्रकार के आणविक अस्त्र प्राप्त करने का कोई प्रयास नहीं करना चाहिए। अंतर्राष्ट्रीय आणविक शक्ति संस्था के साथ वार्तालाप के उपरांत किये जाने वाले समझौते के अंतर्गत गैर-अणु शस्त्र वाले देशों द्वारा संरक्षण मानकर चलने की व्यवस्था है जिससे संधि के अंतर्गत उत्तरदायित्वों को पूरा करने की व्यवस्था का मूल्यांकन हो सके। संधि में यह भी व्यवस्था है कि गैर-अणु शक्ति वाले देशों की बिना किसी भेदभाव के कम कीमत पर आणविक विस्फोटों के शांतिपूर्ण उपयोग के द्वारा प्राप्त बड़े लाभ मिल सकेंगे। संधि पर हस्ताक्षर करने वाला प्रत्येक राष्ट्र, आणविक शस्त्रों की होड़ को समाप्त करने एवं आणविक निःशस्त्रीकरण को प्रभावशाली बनाने के लिए अपने उत्तरदायित्व का पालन करने के लिए बाध्य है। यदि उक्त संधि के कारण किसी राष्ट्र के सर्वोच्च हितों का हनन होता है तो एवं उसके कारण कोई असाधारण घटनाएं हो रही हों तो वे संधि से अलग हो सकने के लिए स्वतंत्र है। संधि में यह व्यवस्था थी कि 'संधि के लागू होने के 25 वर्ष के उपरान्त एक सम्मेलन बुलाकर उक्त संधि को अनिश्चित काल तक जारी रखने अथवा किसी अतिरिक्त निश्चित अवधि के लिए उसे बढ़ाने पर निर्णय लिया जायेगा।'

संयुक्त राष्ट्र के तत्कालीन महासचिव ऊथांट ने उक्त संधि के संदर्भ में अपनी टिप्पणी में कहा कि आणविक महायुद्ध के खतरे को सीमित करने में सहयोग करने के अतिरिक्त "यह संधि विकासशील राष्ट्रों के लिए नये अवसर प्रदान करेगी क्योंकि अस्त्रों के उत्पादन तथा अधिग्रहण को त्यागने के उपरांत ये राष्ट्र अपनी सामग्री एवं धन के बहुत बड़े अपव्यय के भार से मुक्त होकर, उपलब्ध साधनों को आर्थिक, सामाजिक तथा वैज्ञानिक प्रगति में लगा सकते हैं।" उन्होंने यह भी कहा कि "इस संधि ने विशेषकर आणविक शस्त्रों वाले महादेशों के ऊपर एक नया एवं गंभीर उत्तरदायित्व डाल दिया है जिसके कारण आणविक अस्त्रों की होड़ को समाप्त करने, आणविक निशस्त्रीकरण तथा सब प्रकार के एवं पूर्ण निःशस्त्रीकरण के संदर्भ में संधि स्थापित करने के उपायों के बारे में वार्तालाप चलाया जा सकता है।"

संधि के प्रारूप पर सबसे अधिक आपत्ति फ्रांस, इटली, पश्चिमी जर्मनी और भारत को थी। भारत ने आणविक अप्रसार संधि पर हस्ताक्षर नहीं किये। भारत के अनुसार यह संधि भेदभावपूर्ण है, असमानता पर आधारित है और एकपक्षीय एवं अपूर्ण हैं। भारत को अपनी इस नीति के कारण परमाणु क्लब के सदस्यों की कड़ी आलोचना का सामना करना पड़ा। भारत का मानना था कि आणविक आयुधों के प्रसार को रोकने और पूर्ण निशस्त्रीकरण के उद्देश्यों की पूर्ति के लिए क्षेत्रीय नहीं अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर प्रयास किये जाने चाहिए।

11 मई, 1995 को अप्रसार संधि के पक्षकार राज्यों ने इस संधि का अनिश्चितकालीन विस्तार करने का निर्णय लिया। अप्रसार संधि की समीक्षा और विस्तार सम्मेलन के दौरान, पक्षकार राज्यों ने इस संधि के सार्वभौमिकरण को प्राथमिकता देने का निर्णय लिया और विशिष्ट रूप से भारत, इजरायल और पाकिस्तान ने इस संधि में शामिल होने के लिए आह्वान किया।

ऐसा भी कहा जाता है कि यह संधि छोटे राष्ट्रों के हितों को सुरक्षित रखने और समयानुकूल परिवर्तन करने में सक्षम नहीं है। इस संधि के द्वारा एक ओर तो यह प्रतिबंध लगाया गया कि जो राष्ट्र अभी तक परमाणु बम नहीं बना सके हैं, वे भविष्य में भी नहीं बनायेंगे तथा दूसरी ओर संयुक्त राष्ट्र के माध्यम से अणुविहीन राष्ट्रों को अणु शक्तिसम्पन्न राष्ट्र द्वारा आणविक हमले के समय जो गारण्टी दी गयी, वह अपर्याप्त है। इसके अलावा, परमाणु संधि करने वाले राष्ट्रों के पास ऐसा कोई मापदण्ड नहीं है जिससे सैनिक कार्यों व असैनिक कार्यों में स्पष्ट रूप से विभाजन किया जा सके ताकि वह शंका न रहे कि असैनिक कार्यों में किये गये अणु प्रयोग सैनिक कार्य में प्रयुक्त हो सकेंगे। बड़े राष्ट्रों ने यह व्यवस्था नहीं कि वे स्वयं भी अब अणु शक्ति का उत्पादन और प्रसार नहीं करेंगे। इस संधि का

अर्थ यह लगाया जाता है कि अणु प्रतियोगिता में रूस और अमरीका अन्य किसी राष्ट्र को आगे नहीं आने देना चाहते।

10.3 साल्ट-प्रथम समझौता- 4 जुलाई, 1974 को अमरीका और सोवियत संघ के मध्य दस-वर्षीय अणु आयुध परिसीमन समझौता हुआ जिसे 31 मार्च, 1976 से लागू किया जाना निश्चित किया गया। समझौते के अनुसार दोनों ने 150 किलो टन से अधिक भूमिगत आणविक परीक्षणों को रोकने तथा अपने प्रक्षेपास्त्रों पर नयी सीमा लगाने का निश्चय प्रकट किया। यह निश्चित किया कि शांतिपूर्ण कार्यों के लिए किये गये विस्फोट इस आंशिक प्रतिबंध व्यवस्था की परिधि में नहीं आयेंगे।

10.4 साल्ट-द्वितीय समझौता- 1979 में अमरीका और सोवियत संघ में साल्ट-2 समझौते पर हस्ताक्षर हुए। इसके बाद इस संधि का दोनों देशों की संसद द्वारा अनुमोदन होना था। अमरीकी कांग्रेस इस पर विचार कर ही रही थी कि अफगानिस्तान में सोवियत संघ का हस्तक्षेप हो गया। राष्ट्रपति कार्टर ने इस हस्तक्षेप के विरोध में साल्ट-2 के अनुमोदन को स्थगित करा दिया और इस प्रकार एक गतिरोध की स्थिति आ गयी।

10.5 मध्यम दूरी प्रक्षेपास्त्र संधि- वाशिंगटन शिखर संधि पर 8 दिसम्बर, 1987 को रीगन और गोर्बाच्योव के हस्ताक्षर हो गये। संधि में दोनों देश मध्यम व कम दूरी के प्रक्षेपास्त्र नष्ट करने को सहमत हो गये। इस संधि से कुल मिलाकर 1,139 परमाणु हथियार नष्ट किये जाने थे। इन हथियारों की मारक क्षमता 50 किमी. से 5 हजार किमी. है। यह सभी प्रक्षेपास्त्र भूमि पर से मार करने वाले हैं। इस संधि का महत्व इस बात में नहीं है कि इससे कितनी विनाशक सामग्री खत्म हुई है। इसके विपरीत इसका महत्व गुणात्मक है। विश्व में इस बात का भरोसा पैदा हुआ है कि इन महाशक्तियों में अपने विनाशकारी अस्त्रों को खत्म करने का साहस तो पैदा हुआ।

10.6 स्टार्ट-I संधि- 31 जुलाई, 1991 को मास्को में अमरीकी राष्ट्रपति जार्ज बुश और सोवियत राष्ट्रपति मिखाइल गोर्बाच्योव के शिखर सम्मेलन में सामरिक हथियारों में कटौती की ऐतिहासिक संधि 'स्टार्ट-I' पर हस्ताक्षर हुए। संधि की शर्तों के अनुसार दोनों महाशक्तियां अपने परमाणु शस्त्रों में स्वेच्छा से 30 प्रतिशत कटौती करने को सहमत हो गयीं। यह संधि पहला बड़ा औपचारिक समझौता था जिसके माध्यम से सर्वाधिक खतरनाक एवं विनाशकारी शस्त्रों में इतनी कटौती के लिए स्वेच्छा से सहमति हुई।

10.7 स्टार्ट-II संधि- 30 जनवरी, 1993 को अमरीकी राष्ट्रपति बुश और रूसी राष्ट्रपति येल्तसिन ने मास्को में ऐतिहासिक संधि स्टार्ट-II पर हस्ताक्षर किये। स्टार्ट-II परमाणु हथियारों में कटौती सम्बन्धी पहली संधि का अगला चरण है जिस पर जुलाई 1991 में राष्ट्रपति बुश एवं मिखाइल गोर्बाच्योव ने हस्ताक्षर किये थे। इस संधि का उद्देश्य दोनों देशों के परमाणु हथियारों में दो-तिहाई कटौती करना है। इस प्रकार अमरीका के शस्त्रागार में परमाणु हथियारों की संख्या उतनी ही रह जाएगी, जितनी 1970 में थी। राष्ट्रपति येल्तसिन ने इस संधि को अंतर्राष्ट्रीय सुरक्षा के क्षेत्र में बहुत बड़ी उपलब्धि बताया।

10.8 व्यापक आणविक परीक्षण प्रतिबंध संधि(सी.टी.बी.टी.)-सी.टी.बी.टी. अर्थात् व्यापक आणविक परीक्षण प्रतिबंध संधि विश्व भर में किए जाने वाले परमाणु परीक्षणों पर रोक लगाने के उद्देश्य से लायी गयी संधि या समझौता है जिसका 1993 में भारत अन्य देशों के अलावा अमेरिका के साथ सह प्रस्तावक था; लेकिन 1995 में उसने यह कहते हुए कि यह संधि सार्वभौमिक परमाणु निशस्त्रीकरण के समयबद्ध कार्यक्रम से जुड़ी हुई नहीं है, सह प्रस्तावक बनने से इंकार कर दिया।

भारत के अनुसार संधि के प्रस्तावित मसौदे में परमाणु निशस्त्रीकरण का कोई प्रावधान नहीं रखा गया है और यह संधि बहुत ही संकीर्ण है क्योंकि यह केवल नए विस्फोट रोकने की बात करती है, पर नए तकनीकी विकास एवं नए परमाणु शस्त्रों के विषय में चुप है। संधि का स्वरूप, परमाणु राष्ट्रों की तकनीकी उपलब्धता को बरकरार रखकर उनके हितों की रक्षा करने के लिए अधिक है न कि सम्पूर्ण निशस्त्रीकरण के लिए। महासभा में बहस के दौरान अनेक देशों ने भारत द्वारा उठायी गई आपत्तियों को सही बताया।

इस संधि पर 24 सितम्बर, 1996 से हस्ताक्षर प्रारंभ हुए थे। अब तक कुल मिलाकर 154 राष्ट्रों ने इस पर हस्ताक्षर किए हैं जिनमें से 45 ने इसका विधिवत् अनुमोदन भी कर दिया है। किंतु संधि के प्रभावी होने के लिए उन सभी 44 देशों द्वारा इसकी पुष्टि किया जाना आवश्यक है जिनके पास परमाणु

शस्त्र अथवा परमाणु विद्युत् संयंत्र अथवा परमाणु क्षमता उपलब्ध है। विविध परमाणु क्षमताओं वाले इन 44 राष्ट्रों में से अभी तक 25 ने ही संधि का अनुमोदन किया है। 13 अक्टूबर, 1999 को अमेरिकी सीनेट ने इसे 48 के मुकाबले 51 मतों से अस्वीकार कर दिया था। संधि के अनुमोदन के लिए दो-तिहाई मतों का इसके पक्ष में होना आवश्यक था। भारत, पाकिस्तान एवं उत्तर कोरिया ने इस पर अभी तक हस्ताक्षर भी नहीं किए हैं। परमाणु शक्ति के रूप ने यद्यपि घोषित पांच राष्ट्रों—अमेरिका, रूस, ब्रिटेन, फ्रांस व चीन ने यद्यपि इस पर हस्ताक्षर कर दिए हैं, किंतु इनमें से केवल ब्रिटेन व फ्रांस ने ही संधि की पुष्टि की है।

सी.टी.बी.टी. के कार्यान्वयन की प्रगति का मूल्यांकन के उद्देश्य से संयुक्त राष्ट्र संघ द्वारा एक विशेष सम्मेलन का आयोजन 6-8 अक्टूबर, 1999 को विएना में किया गया जिसमें 92 देशों के 400 से अधिक प्रतिनिधियों ने भाग लिया। इस सम्मेलन का आयोजन संधि के उसी प्रावधान के तहत किया गया था जिसमें कहा गया है कि संधि को हस्ताक्षर के लिए उपलब्ध कराए जाने की तिथि (24 सितम्बर, 1996) के तीन वर्ष के भीतर यदि विविध परमाणु क्षमताओं वाले सभी 44 राष्ट्रों द्वारा इस संधि का अनुमोदन नहीं किया गया तो संयुक्त राष्ट्र के विशेष सम्मेलन में आगे की कार्यवाही के लिए विचार किया जाएगा।

10.8.1 सीटीबीटी का स्वरूप—20 अगस्त, 1996 को भारत ने जेनेवा में इस विवादास्पद संधि के मसौदे को औपचारिक रूप से वीटो भी कर दिया। फलतः उसको पास कराने के लिए संयुक्त राष्ट्र महासभा में ले जाना पड़ा, लेकिन यह संधि तब तक कानूनन लागू नहीं हो सकती, जब तक कि उस पर भारत भी दस्तखत न कर दे। इस संधि के कुछ मुख्य बिंदु इस प्रकार हैं—

- व्यापक परमाणु परीक्षण प्रतिबंध संधि वास्तव में परमाणु अप्रसार संधि का ही अगला चरण है। परमाणु अप्रसार संधि पर भी भारत ने अभी तक हस्ताक्षर नहीं किये हैं।
- यह संधि मात्र पारम्परिक परमाणु परीक्षणों पर ही प्रतिबंध की बात करती है, प्रयोगशाला में किये जाने वाले परीक्षणों की नहीं। इसका तात्पर्य यह है कि परमाणु शक्ति सम्पन्न देश परमाणु परीक्षणों के संदर्भ में न केवल नयी तकनीक की खोज जारी रख सकते हैं, बल्कि इच्छानुसार परमाणु अस्त्रों का निर्माण भी कर सकते हैं।
- परमाणु अप्रसार संधि का ही अगला चरण होने के कारण हालांकि इसका उद्देश्य विश्व को परमाणु अस्त्रों से मुक्ति दिलाना है, लेकिन इस संधि में निशस्त्रीकरण के मुद्दे को दरकिनार कर दिया गया है।
- इस संधि की सबसे बड़ी खामी यह है कि जिन देशों को परमाणु तकनीक में महारथ हासिल नहीं है उनके पास परमाणु अस्त्र नहीं होने चाहिए। किंतु जिनके पास पहले से इस तरह के अस्त्र हैं वे बने रहने चाहिए।
- सीटीबीटी जैसी संधि की मांग 50 के दशक से ही कुछ देश लगातार करते रहे थे। किंतु सीटीबीटी का वर्तमान मसौदा तब तैयार किया गया, जब चीन और फ्रांस ने परमाणु अप्रसार संधि पर हस्ताक्षर करने का फैसला किया।
- सीटीबीटी के दायरे में केवल विस्फोटक परीक्षणों पर ही प्रतिबंध लगाये जाने की बात शामिल की गयी है, जबकि सब-क्रिटिकल जांच, सम्प्लेशन जांच जैसे गैर-विस्फोटक परीक्षणों को इसके दायरे में नहीं रखा गया है।

यदि कोई देश परमाणु हथियारों से सम्बन्धित इन परीक्षणों को प्रयोगशालाओं में करता है, तो उसका पता लगाना संभव नहीं है, क्योंकि इसकी कोई तकनीक विकसित नहीं की जा सकी है। व्यापक परीक्षण प्रतिबंध संधि में प्रयोगशाला परीक्षण को छोड़कर सभी तरह के परमाणु परीक्षणों पर रोक लगाने का प्रावधान है। वैसे इससे पहले 1963 में एक आंशिक परीक्षण प्रतिबंध संधि को स्वीकार किया गया था, जिसके तहत वायुमंडल में परमाणु परीक्षण करने पर रोक लगाने की व्यवस्था की गयी थी। सीटीबीटी के प्रारूप में हमेशा के लिए सभी तरह के परमाणु परीक्षण (भूमिगत, समुद्र और वायुमंडल) पर रोक लगाने की व्यवस्था तो है, लेकिन नयी तकनीक और परमाणु अप्रसार संधि के विस्तार ने सीटीबीटी

के संदर्भ और परिस्थितियों को बदलकर रख दिया है। नयी तकनीक की सहायता से अब परमाणु अस्त्रों का विकास और परीक्षण प्रयोगशालाओं और कम्प्यूटर से बनायी गयी परिस्थितियों में भी किया जा सकता है। इस स्थिति में व्यापक सीटीबीटी का उद्देश्य स्पष्ट नहीं हो पाता। यदि वास्तव में इस संधि के प्रस्तावकों का इरादा नेक है तो उन्हें इस संधि को पूर्ण निशस्त्रीकरण के साथ जोड़ना चाहिए। साथ ही, इस संधि में ऐसे प्रावधान भी जोड़े जाने चाहिए थे, जिनसे परमाणु अस्त्रों को और अधिक विकसित एवं मारक बनाने की समूची प्रक्रिया पर ही रोक लगे।

सीटीबीटी के प्रस्तावों का विस्तृत रूप से कहीं विवरण नहीं मिलता, लेकिन सारांशतः जो संदर्भ निकलते हैं, उनसे तीन बातें स्पष्ट होती हैं—

- इस संधि के लागू होने से सभी तरह के परमाणु-परीक्षण स्थगित हो जायेंगे। इस तरह नये परमाणु आयुधों का निर्माण न होगा।
- संख्यात्मक और गुणात्मक विकास पर भी प्रतिबंध लग जायेगा।
- महाशक्तियों को यह विशेषाधिकार प्राप्त होगा कि वे अपनी सुविधानुसार संधि से अलग हो सकती हैं।

इन तीनों से अधिक महत्वपूर्ण यह तथ्य है कि आकस्मिक विशेष निरीक्षण किये जायेंगे और ऐसा करने के लिए इस सम्बन्ध में गठित समिति के सामान्य बहुमत की आवश्यकता होगी। चीन और रूस इसका विरोध करते हैं। यह उन्हें अपने आंतरिक मामलों में हस्तक्षेप लगता है।

भारत का विरोध दूसरे स्तर का है। उसका तर्क है कि यह चर्चित संधि विभेदकारी है। इसमें अणु आयुध-सम्पन्न तथा विश्व में उन आयुधों से रहित राष्ट्रों के बीच एक दीवार खड़ी करने की कोशिश की गयी है। इस तरह अणु आयुध-सम्पन्न राष्ट्र हमेशा के लिए अणु-आयुध रहित राष्ट्रों को अपना गुलाम बना लेंगे तथा धौंस के बल पर उनके प्राकृतिक संसाधनों का दोहन करके उन्हें गरीब से गरीब बनाते जायेंगे। ऐसी स्थिति में भारत के तीन प्रस्ताव हैं—

- सभी तरह के परीक्षण चाहे वे विस्फोटक हों या गैर विस्फोटक हों, बंद होने चाहिए। अर्थात् लेबोरेटरी स्तर पर भी परीक्षण नहीं किया जाना चाहिए, क्योंकि इससे नये अतिसूक्ष्म आयुधों के निर्माण को रोका नहीं जा सकता और यह कार्य महाशक्तियां ही कर सकती हैं। अतः यदि लेबोरेटरी स्तर पर परीक्षण जारी रहा तो आण्विक आयुधों का विकास नहीं रुक सकता और संधि बेमानी हो जायेगी। भारत के इस तर्क का समर्थन करने को कोई तैयार नहीं है।
- संधि के अंतर्गत यह व्यवस्था होनी चाहिए कि विश्व से सम्पूर्ण अणु आयुध समाप्त कर दिये जायें अर्थात् अणु शक्ति-सम्पन्न राष्ट्र अपने अणु-आयुध भण्डार को नष्ट करने का आश्वासन दें। इस संदर्भ में भारत एक समयबद्ध अणु-आयुध विनष्टीकरण कार्यक्रम चाहता है अर्थात् ये आयुध भण्डार तत्काल नष्ट नहीं होते तो क्रमशः नष्ट करा दिये जायें। यह प्रस्ताव भी कोई नहीं मान रहा है।
- भारत का तीसरा पक्ष और महत्वपूर्ण है। उसका कहना है कि यदि यह व्यापक परीक्षण निषेध संधि है तो इसे केवल परमाणु क्षेत्र तक सीमित क्यों रखा गया। इसे रासायनिक एवं भौतिकी के अन्य परीक्षणों के क्षेत्र में क्यों नहीं विस्तार दिया जाता? यह संधि तो घुमा-फिराकर 'अणु अप्रसार संधि' का पर्याय बन जाती है, जिसका भारत हमेशा विरोधी रहा है।

महाशक्तियां भारत के इन तर्कों को स्वीकार करने को तैयार नहीं। कोई भी राष्ट्र न तो अपने संचित आयुध भण्डार को ही नष्ट करना चाहता और न लेबोरेटरी स्तर के परीक्षणों को ही स्थगित करने को राजी है। यह एक ऐसी बात है, जो भारत स्वीकार नहीं कर सकता। इस तरह विश्व के शक्ति सम्पन्न राष्ट्र इस प्रयास में हैं कि अन्य राष्ट्र उनकी समकक्षता में न पहुंच सकें और अपनी सुरक्षा के लिए उनके समक्ष गिड़गिड़ायें। फलस्वरूप वे महाशक्ति सम्पन्न राष्ट्र उनसे आर्थिक, सामाजिक और सांस्कृतिक कीमत वसूल कर सकेंगे। वास्तविकता में तो इस संधि के पीछे विकसित राष्ट्रों का अपना हित है, जिसके लिए वे विश्वशांति और मानवता की रक्षा का बहाना बनाकर असुरक्षित तथा विकास की

सीमा में कदम-दर-कदम आगे बढ़ रहे राष्ट्रों को छल रहे हैं। इस संधि में मूलतः पांच बातें ऐसी हैं, जिनसे शक्तिमान और शक्तिहीन का सिद्धान्त प्रतिपादित होता है—

- इस संधि के लागू होने से परीक्षण तो बंद हो जायेंगे, किंतु महाशक्तियों के अणु आयुध-भण्डार पर कोई असर नहीं पड़ेगा अर्थात् विश्व के सारे देश महाशक्तियों के अधीन रहेंगे वे जब चाहेंगे इन देशों को धौंस में ले लेंगे और उन्हें एक गुलाम राष्ट्र की हैसियत देकर उनके प्राकृतिक संसाधनों तथा श्रम शक्ति का अपने हितों में दोहन करेंगे। इस तरह यह एक अप्रत्यक्ष साम्राज्यवाद होगा।
- इस संधि पर हस्ताक्षर करके भारत जैसे विकासशील देशों को अपनी अणु प्रयोगशालाएं बंद करनी पड़ेगी, क्योंकि इसमें विखण्डनीय पदार्थ तैयार करने पर भी प्रतिबंध होगा। इस तरह सारी परमाणु भट्टियां निरर्थक होकर रह जायेंगी। भारत जो इतने दिनों से अणु अप्रसार संधि पर हस्ताक्षर करने से कतरा रहा था, उसे स्वतः इस संधि के माध्यम से अपने सारे परमाणु विकल्प छोड़कर संयुक्त राज्य अमेरिका या रूस की कृपा पर अपनी सुरक्षा छोड़ देनी पड़ेगी। भारत के पड़ोसी चीन और पाकिस्तान अणु आयुधों के स्वामी रहने के कारण भारत को धमकियां देते रहेंगे और भारत को संयुक्त राज्य अमेरिका की शरण में जाना पड़ेगा।
- इस संधि से आणविक प्रौद्योगिकी के लिए शांतिपूर्ण परीक्षण बंद हो जायेंगे। जिन देशों के पास सब क्रिटिकल परीक्षण के सूक्ष्मयंत्र हैं उनके लिए तो यह आसान रहेगा। उस स्थिति में उच्च प्रौद्योगिकी खरीदने के लिए सभी बाध्य होंगे। तात्पर्य यह कि संयुक्त राज्य अमेरिका और अन्य विकसित देश मानते हैं कि परमाणु विखण्डन की जिस प्रक्रिया से शांतिपूर्ण प्रौद्योगिकी विकसित की जाती है, उसके ही माध्यम से आयुध निर्माण की प्रौद्योगिकी भी विकसित होती है। अतः विखण्डन-प्रक्रिया ही बंद की जानी चाहिए। सन् 1947 में भारत ने जो शांतिपूर्ण कार्यों के लिए पोखरण में विस्फोट किया था, उसे ही लेकर संयुक्त राज्य अमेरिका ने तारापुर परमाणु संयंत्र को समृद्ध यूरेनियम देना बंद कर दिया था। कनाडा ने राणा प्रताप सागर में स्थित संयंत्र निर्माण में अपनी मदद रोक दी थी। वहीं बातें यहां भी दोहराई जायेंगी।
- इस संधि से शासक और शासित जैसी स्थिति उत्पन्न हो जायेगी, जिससे आंतरिक मामलों में हस्तक्षेप बढ़ जायेंगे जैसा कि इराक में हुआ है। वहां पर उत्तरी इराक को मानवाधिकार संरक्षण के नाम पर बहुराष्ट्रीय सेनाओं के हवाले कर दिया गया है तो दक्षिणी इराक में शिया लोगों के अधिकारों को संरक्षण देने के नाम पर बहुराष्ट्रीय सेनाओं की गश्त जारी है। भारत में भी पूर्वोत्तर राज्यों, कश्मीर तथा कुछ समय पूर्व तक 'खालिस्तान' के निर्माण पर संयुक्त राज्य अमेरिका की नजर थी। अतः स्पष्ट है कि इस संधि से सम्पूर्ण विश्व महाशक्तियों का साम्राज्य बनकर रह जायेगा।
- सबसे महत्वपूर्ण बात है कि संधि में महाशक्तियों की सदस्यता की अनिवार्यता नहीं है जबकि अन्य देशों पर यह अनिवार्यतः लागू होती है। महाशक्तियां जब चाहें संधि को छोड़कर अपने परीक्षण पुनः शुरू कर सकती हैं। एक तरह यह उनका 'वीटो' पावर है। इसी तरह अपने आयुधों के गुणात्मक विकास को रोकने हेतु भी उनके लिए यह बाध्यता नहीं है, जो अन्यो के लिए है, क्योंकि यदि उनके पास अणु आयुध-भण्डार है तो उनका रखरखाव तो उनका दायित्व होगा। अतः उस रखरखाव में उनके विकास की प्रक्रिया भी स्वतः जुड़ जाती है। यह बात और है कि वे नये परीक्षण नहीं करेंगे, लेकिन भण्डार में रखे आयुधों को तो उपयोग के लायक बनायेंगे ही जबकि अणु आयुध-विहीन देश इस तरह का कोई कार्य नहीं कर सकेंगे क्योंकि वे आयुधों का विकास कर नहीं सकते और पहले से उनके पास आयुध हैं नहीं। उन्हें तो अणु आयुध-सम्पन्न राष्ट्रों की दादागिरी के नीचे पिसना पड़ेगा। सबसे बड़ी बात तो यह है कि यदि ये देश अपना रुख बदलते हैं तो किसी देश की सुरक्षा का क्या होगा? यही न कि वह किसी महाशक्ति की शरण में जाये और सुरक्षा के बदले उस महाशक्ति की मनमानी शर्तें माने। इस तरह इस संधि से सार्वभौम सत्ता बेचने का खेल शुरू हो जायेगा।

10.8.2 भारत का संधि से सम्बन्ध—भारत इस संधि का एक महत्वपूर्ण अंग बन गया है। सच पूछा जाये तो इस संधि को कायरूप देने या न देने का ए 'वीटो' पॉवर भारत को अनायास प्राप्त हो गया। कुछ

तो इसके पीछे भारतीय राजनीति की कमजोरी है और कुछ संयुक्त राज्य अमेरिकी रणनीति की कुटिलता है कि भारत को एक ऐसा मोहरा बना दिया गया है कि उसके अलग हो जाने से सम्पूर्ण संधि का अस्तित्व संकट में पड़ जायेगा और उसके शामिल होने से उसकी राष्ट्रीय सुरक्षा को खतरा पैदा हो जायेगा। पहले संयुक्त राज्य अमेरिका की ओर से यह प्रस्ताव था कि पांच महाशक्तियाँ— संयुक्त राज्य अमेरिका, रूस, चीन, ब्रिटेन और फ्रांस हस्ताक्षर कर दें तो संधि को कार्यान्वित कर दिया जायेगा, लेकिन अब रूस, चीन, ब्रिटेन और फ्रांस की जिद है कि यदि भारत, इजरायल और पाकिस्तान संधि पर हस्ताक्षर नहीं करते तो इसका कोई मूल्य नहीं होगा। इजरायल की ओर से किसी तरह का तीखापन नहीं दिखाया गया है और पाकिस्तान का कहना है कि यदि भारत संधि पर हस्ताक्षर नहीं करता तो वह भी नहीं करेगा। इस तरह सारा भार भारत पर आ जाता है और भारत अपने राष्ट्रीय हित, भारतीय जनता की इच्छा तथा सैनिक विशेषज्ञों के परामर्श को ठुकराकर सी.टी.बी.टी. पर हस्ताक्षर नहीं कर सकता।

ऐसी स्थिति में भारत के विरुद्ध आर्थिक प्रतिबंध की संभावना प्रबल होती जा रही है। उसको धमकाया जा रहा है कि यदि उसने हस्ताक्षर नहीं किये और गत वर्षों से इस संधि के लिए चल रहा प्रयास विफल रहता है तो संयुक्त राज्य अमेरिका तथा उसके मित्र अन्य देश ब्रिटेन, जर्मनी, कनाडा, इटली और यहां तक कि जापान भी अपनी आर्थिक मदद बंद कर देंगे। इस तरह भारत की अर्थव्यवस्था की कमर ही टूट जायेगी। दूसरी ओर, भारतीय जनता चाहती है कि भारत दबाव में न आये। वह अपनी सुरक्षा के लिए आत्मनिर्भर बने और इसके लिए जरूरी है कि भारत स्वयं प्रक्षेपास्त्र, टैंकों, विमानों, बख्तरबंद गाड़ियों और युद्धपोतों का निर्माण करे। उनमें आणविक आयुध प्रणाली लगाये, ताकि न केवल पाकिस्तान, चीन या संयुक्त राज्य अमेरिका को भी उस पर हमला करने का साहस न हो। उधर संयुक्त राज्य अमेरिका का प्रयास भारत की इसी आत्मनिर्भरता को रोकना है; वह भारत के अग्नि प्रक्षेपास्त्र के परीक्षण का तो विरोधी है, भारत के पृथ्वी प्रक्षेपास्त्र को भी सेना में तैनात करने का समर्थन नहीं करता, जबकि संयुक्त राज्य अमेरिकी सूत्र ही इसकी पुष्टि करते हैं कि पाकिस्तान के पंजाब स्थित सरगोधा हवाई अड्डे पर 'एम-11' जैसी मिसाइलें तैनात हैं।

आश्चर्य की बात तो यह है कि संयुक्त राज्य अमेरिकी सूत्र यह मानते हैं कि यदि भारत ने अपने अग्नि प्रक्षेपास्त्र की द्वितीय श्रेणी का उत्पादन शुरू करके उसकी तैनाती की तो हिन्द महासागर के मलक्का जलडमरूमध्य से गुजरने वाले जहाजों को खतरा हो सकता है अर्थात् भारत अकारण हमला कर सकता है, जबकि सिंगापुर में तैनात संयुक्त राज्य अमेरिकी आणविक प्रक्षेपास्त्रों से भारत को कोई खतरा नहीं है। तात्पर्य यह है कि रूस, चीन, संयुक्त राज्य अमेरिका और पाकिस्तान के पास प्रक्षेपास्त्र रहने से खतरा नहीं है, लेकिन यदि भारत के पास हथियार रहेगा तो खतरा हो जायेगा। संयुक्त राज्य के इस तर्क का सबसे ज्यादा समर्थन पाकिस्तान करता है।

8 दिसम्बर, 2011 तक 182 देशों ने सीटीबीटी पर हस्ताक्षर कर दिए हैं तथा 156 देशों ने इस संधि का अनुमोदन भी कर दिया है। भारत-चीन, उत्तरी कोरिया, मिस्र, इजरायल, पाकिस्तान और अमेरिका जैसे देश आज भी सीटीबीटी से बाहर हैं।

10.9 अमेरिका-रूस में परमाणु शस्त्र कटौती संधि—मई 2002 में अमेरिकी राष्ट्रपति जॉर्ज बुश ने रूस की यात्रा की और रूस के साथ मित्रता मजबूत करने के लिए परमाणु शस्त्रों में कटौती के ऐतिहासिक समझौते पर हस्ताक्षर किए। इस संधि के तहत परमाणु हथियारों में दो-तिहाई कटौती करने पर सहमति हुई। संधि के अनुसार दोनों देश वर्ष 2012 तक परमाणु हथियारों की संख्या 1700 से 2200 के बीच ले आयेंगे। फिलहाल इन देशों के पास लगभग छह-छह हजार परमाणु हथियार हैं। राष्ट्रपति बुश और राष्ट्रपति पुतिन के बीच परमाणु हथियारों में कटौती के समझौते को शीतयुद्ध की पूर्ण रूप से समाप्ति के रूप में देखा जा रहा है। संधि के अनुसार परमाणु हथियारों में कटौती का लक्ष्य 2012 तक पूरा किया जाएगा।

10.10 राष्ट्रपति ओबामा एवं राष्ट्रपति मेदवेदेव के बीच परमाणु शस्त्रों की संख्या में कटौती का नया समझौता (जुलाई 2009)—6 जुलाई, 2009 को अमेरिका और रूस के राष्ट्रपतियों की मास्को शिखर वार्ता की सबसे बड़ी उपलब्धि परमाणु हथियारों की कटौती सम्बन्धी समझौते पर हस्ताक्षर होना है। 31 जुलाई, 1991 को हस्ताक्षरित स्टार्ट संधि के स्थान पर सम्पन्न नए समझौते के अंतर्गत दोनों देश अपने

परमाणु हथियारों की, संख्या घटाकर डेढ़-डेढ़ हजार करेंगे। इसके साथ ही इन हथियारों को लक्ष्य तक ले जाने में सक्षम बैलिस्टिक मिसाइलों की अधिकतम स्वीकृत संख्या में भी 500 से 1100 के बीच कटौती के लिए दोनों देश तैयार हुए हैं।

10.11 सुरक्षा परिषद् का सर्वसम्मत प्रस्ताव—एनपीटी व सीटीबीटी पर हस्ताक्षर का आह्वान—संयुक्त राष्ट्र सुरक्षा परिषद् ने 24 सितम्बर, 2009 को अमरीका के प्रस्ताव को सर्वसम्मति से स्वीकार किया जिसमें सभी राष्ट्रों से परमाणु अप्रसार संधि व व्यापक परीक्षण निषेधसंधि पर हस्ताक्षर करने को कहा गया। एनपीटी से बाहर के अन्य राष्ट्रों से 'गैर परमाणु शक्ति सम्पन्न राष्ट्र' के रूप में इस संधि में शामिल होने का अनुरोध प्रस्ताव में किया गया है। 'अन्य राष्ट्रों' से संकेत भारत व पाकिस्तान की ओर हैं, किंतु भारत ने इस पर हस्ताक्षर करने से एक बार पुनः इंकार करते हुए कहा है कि वह दूसरे देशों द्वारा निर्धारित उन मानदण्डों को स्वीकार नहीं कर सकता जो उसके राष्ट्रीय हितों के प्रतिकूल हैं।

10.12 अमरीका व रूस के मध्य नई 'स्टार्ट संधि'—अमरीका व तत्कालीन सोवियत संघ में सम्पन्न 31 जुलाई, 1991 की स्टार्ट संधि 9 दिसम्बर, 2009 को समाप्त हो गयी। स्टार्ट-I के स्थान पर एक नई स्टार्ट संधि पर अमरीका व रूस के बीच चैक गणराज्य की राजधानी प्राग में 8 अप्रैल, 2010 को हस्ताक्षर किए गए। अमरीकी सीनेट व रूसी फेडरेशन काउन्सिल के अनुमोदन के बाद दोनों देशों द्वारा दस्तावेजों के आदान-प्रदान के पश्चात् संधि प्रभावी होगी। मूलतः 10 वर्ष के लिए की गयी इस संधि का कार्यकाल 5 वर्ष तक बढ़ाया जा सकेगा। नई स्टार्ट संधि में दोनों देशों ने 7 वर्षों में अपने परमाणु हथियारों की संख्या में एक-तिहाई तक कटौती करने तथा उन्हें ले जाने वाली पनडुब्बियों, मिसाइलों व बमवर्षकों की संख्या में आधी से अधिक कटौती करने के लिए प्रतिबद्धता व्यक्त की। ऑपरेशन डिप्साइंड न्यूक्लीयर वार हैड्स की संख्या को घटाकर 1550 तक सीमित करने को दोनों पक्ष संधि में सहमत हुए हैं।

11. विश्व राजनीति पर आणविक शस्त्रों का प्रभाव—6 अगस्त, 1945 को जब अमरीकी बमवर्षक बी-29 ने जापान के हिरोशिमा पर अणु बम का विस्फोट किया था, उसी दिन मानव जाति मानो एक चौराहे पर आकर खड़ी हो गयी थी। अणु बम से आगे आज हाइड्रोजन बम, नाइट्रोजन बम, मेगाटन अंतरमहाद्वीपीय प्रक्षेपास्त्र, अंतरिक्ष यान, अंतरिक्ष यात्रा, भू-उपग्रह, चन्द्र पर विजय आदि कई वैज्ञानिक अकल्पनीय उपलब्धि मानव जाति ने प्राप्त कर ली है। आज हमारी धरती पर चन्द्रलोक से लौटे कई अंतरिक्ष यात्री हैं। यह केवल तकनीकी परिवर्तन मात्र नहीं है; इसके राजनीतिक, सामाजिक, अंतर्राष्ट्रीय और व्यापक मानवीय प्रभाव हैं। आज मानव जात असीम शक्ति की स्वामिनी बन गयी है। 1954 में ओसलो में नोबल शांति पुरस्कार प्राप्त करते समय एल्बर्ट श्वेत्जर ने कहा था, "आज का मानव महामानव हो गया है क्योंकि उसने सृष्टि की मूल शक्ति पर अधिकार पा लिया है परन्तु आज भी उसका मन और मस्तिष्क आदम का ही है। इस अथाह शक्ति को नियंत्रित करके मानव विकास के लिए उपयोग में लाने के लिए जिस चरम संयम की आवश्यकता है उसका उसमें नितांत अभाव है।"

आणविक शस्त्रों के आविष्कार ने विश्व राजनीति को बहुत अधिक प्रभावित किया है। इनके प्रभावों की चर्चा निम्न प्रकार की जा सकती है—

11.1 परम्परागत शक्तिशाली राज्यों को दुर्बल बनाना— परमाणु युद्ध से शक्तिशाली राष्ट्रों की क्षमता पर सबसे गहरा प्रभाव पड़ा है। विमान युद्ध द्वितीय विश्व-युद्ध तक भी युद्धरत राष्ट्र की पराजय का कोई मुख्य कारण नहीं बना था, यद्यपि यह एक बड़ा सहायक कारण निश्चय ही बन चुका था। लेकिन आज का परमाणु युद्ध सीधी कार्यवाही द्वारा प्रतिरक्षा के दूसरे साधनों का उपयोग किये बिना एक पक्ष को हरा देने में पूरी तरह समर्थ है। इससे उन राज्यों की अभेद्यता का भी अंत हो गया है जो परम्परागत रूप से बड़े शक्तिशाली रहे हैं।

11.2 युद्ध—कार्य विध्वंस का एक प्रक्रम बन गया है— बी.एच. लिड्सहार्ट ने लिखा है, युद्ध कार्य पहले सिर्फ लड़ाई था पर अब विध्वंस का एक प्रक्रम बन गया है। पहले वायु युद्ध को सर्वथा नये ढंग की चीज समझा जाता था, युद्ध में आम जनता को उलझाने की बात सर्वथा कल्पनातीत समझी जाती थी पर परमाणु अस्त्रों की सर्वनाशकता ने इसकी संभावना को अनिवार्य बना दिया है। आज भूमण्डल का कोई भी भाग अभेद्य नहीं माना जा सकता।

11.3 प्रत्येक राष्ट्र दूसरे राष्ट्र की 'अनुमति' से ही जीवित है— बोल्लिंग के अनुसार संचार प्रणाली में सुधार के कारण संसार बहुत सिकुड़-सा गया है इसलिए संसार का हर हिस्सा परमाणु युद्ध के लिए खुला हुआ है। बोल्लिंग ने बताया कि राष्ट्रों के प्रत्येक युगल में दोनों राष्ट्र एक-दूसरे का विनाश करने में समर्थ हैं, चाहे वे एक-दूसरे से कितनी ही दूरी पर हों। पर हर राष्ट्र स्वयं भी दूसरे राष्ट्र के हमले से अरक्षित है और नष्ट हो सकता है। दूसरे शब्दों में, प्रत्येक राष्ट्र किसी भी अन्य राष्ट्र को नष्ट कर सकता है और वह स्वयं का नाश भी नहीं रोक सकता। ऐसी स्थिति में प्रत्येक राष्ट्र दूसरे राष्ट्र की 'अनुमति' से ही जीवित है।

11.4 आणविक शस्त्रों से अमरीका और सोवियत संघ में फूट पड़ना— आणविक शस्त्रों के आविष्कार से सोवियत संघ और संयुक्त राज्य अमरीका में परस्पर फूट और वैमनस्य में वृद्धि हुई। अमरीका और सोवियत संघ द्वितीय विश्व-युद्ध के दौरान एक-दूसरे के मित्र थे, किंतु अमरीका ने अणु बम के आविष्कार को सोवियत संघ से सर्वथा गुप्त रखा। 1945 में जब अमरीका ने हिरोशिमा में परमाणु नरमेघ किया था तब उसका मूल कारण शत्रुमय नहीं, बल्कि विजय और अन्वेषण का दर्प तथा अहंकार था। तब सोवियत संघ या किसी और के पास परमाणु शक्ति थी ही नहीं। स्टालिन ने अमरीका द्वारा अणु बम के रहस्य को सोवियत संघ से गुप्त रखने की बात को गंभीर विश्वासघात माना। परिणामस्वरूप सोवियत संघ और अमरीका में परस्पर तनाव उत्पन्न हो गया और दोनों ही देश गुप्त रूप से वैज्ञानिक अस्त्र-शस्त्रों के आविष्कार की होड़ में संलग्न हो गये।

11.5 आणविक शस्त्रों का भय युद्ध प्रतिरोधक शक्ति के रूप में— जे.डब्ल्यू. बर्टन के अनुसार दोनों महाशक्तियों के पास प्रचुर मात्रा में आणविक हथियार मौजूद हैं जिससे वे चाहें तो एक-दूसरे का विनाश कर सकते हैं। वर्तमान विश्व राजनीति में इस स्थिति को 'आतंक का संतुलन' कहा जा सकता है और यही 'आतंक का संतुलन' महाशक्तियों को 'युद्ध' शुरू न करने के लिए बाध्य करता है। यदि किसी घटना को लेकर संघर्ष उत्पन्न भी हो जाये तो दोनों ही महाशक्तियां आणविक खतरे से परिचित होने के कारण युद्ध के बजाय कूटनीतिक रणनीति का सहारा लेना श्रेयस्कर समझती हैं। शीत-युद्ध की राजनीति के मार्फत अधिकांश देश किसी न किसी गुट से सम्बद्ध हैं अतः महत्त्वपूर्ण विश्व विवाद आणविक युद्ध के आसन्न खतरों से रोके जा सकते हैं।

11.6 आणविक शस्त्रों के फलस्वरूप सामूहिक सुरक्षा व्यवस्थाओं का उदय— आणविक आयुधों से असुरक्षा और आतंक इतना अधिक बढ़ा कि महाशक्तियों ने सुरक्षा हेतु सामूहिक सुरक्षा व्यवस्थाओं—नाटो, वारसा पैक्ट आदि का निर्माण किया। अमरीका नाटो को आधुनिक आणविक हथियारों से सुसज्जित करने में लगा रहा तो सोवियत संघ वारसा पैक्ट को आणविक हथियारों से सम्पन्न करता रहा।

11.7 शांति-अनुसंधान और शांतिपूर्ण सह-अस्तित्व के लिए आंदोलन— आणविक शस्त्रों की प्रलयकारी शक्ति और अणु युद्ध से मानव सभ्यता के विनाश के भय ने शांतिपूर्ण सह-अस्तित्व की धारणा को आज पहले से कहीं अधिक व्यावहारिक बना दिया है। यूरोपीय देशों की राजधानियों में परमाणु शस्त्र के विरोध में होने वाले प्रदर्शनों में लोगों का बड़ी संख्या में शामिल होना यह साबित करता है कि अणु युद्ध के खतरों के प्रति यूरोपवासी सजग हो गये हैं। यूरोपीय देशों में इस प्रकार के प्रदर्शन अपनी सानी नहीं रखते। लंदन, रोम, ब्रुसेल्स में पांच लाख से भी अधिक लोगों के जुलूस की एक ही मांग थी, "हमें विध्वंस की ओर न ले जाओ, पश्चिमी यूरोप में परमाणु अस्त्रों का प्रसार रोको।" हाल ही में कई देशों में परमाणु शस्त्रों के बारे में जो जनमत संग्रह हुए उनसे पता चलता है कि जनसाधारण की सोच में कितना बड़ा अंतर आया है। नाटो जिन पांच देशों में पर्शिग-5 प्रक्षेपास्त्र स्थापित करना चाहता था वहां के अधिकांश लोग या तो प्रक्षेपास्त्र के खिलाफ थे या उनकी जरूरत के बारे में मन में संदेह पालते थे। नाटो के नीति-निर्धारकों के लिए यह एक चिंताजनक बात थी कि वे जिन देशों—ब्रिटेन, इटली, पश्चिमी जर्मनी, हालैण्ड और बेल्जियम को प्रक्षेपास्त्रों का गढ़ बनाना चाहते थे उन्हीं देशों के लोग उनकी नीति को चुनौती दे रहे थे। आजकल यूरोप के देशों में एक-पक्षीय परमाणु निःशस्त्रीकरण के समर्थकों की संख्या बढ़ रही है। पेरिस में हुए एक प्रदर्शन में भाग लेने वालों की मांग थी कि परमाणु बमों पर रोक लगा दी जाये और सुरक्षा के लिए लगाये जाने वाले धन का रुख मोड़कर उसे तीसरी दुनिया की मदद के लिए खर्च किया जाये।

11.8 मानव मात्र के अस्तित्व की समस्या— मानव जाति के सम्मुख पहले भी संकट आये थे, परन्तु आज समस्या शांति स्थापित करने की नहीं है वरन् मानव मात्र के अस्तित्व की है। टॉयनबी के शब्दों में, “स्थिति की विकटता अकल्पनीय है।” परमाणु अस्त्रों के कारण युद्ध का अर्थ ही महाविनाश हो गया है। चर्चिल ने उचित ही कहा था “क्या विडम्बना है कि मानव मात्र चरम विकास की उस स्थिति में पहुँच गया है जहाँ हमारी सुरक्षा, आणविक शक्ति की भयंकरता के कारण ही सुरक्षित रहेगी, और मानव जाति का अस्तित्व महाविनाश की संभावना के भय पर ही टिका रहेगा।” इससे पहले कई संकटों को मानव जाति ने पार किया है पर इतिहास इसका साक्षी है कि मानव जाति को जीवित और स्वतंत्र रहने के लिए अधिकाधिक मूल्य चुकाना पड़ा है। आज केवल शोषण और रक्तपात से मुक्त, दुःख-दारिद्र्य से मुक्त, आत्मा और विश्वास की मुक्ति ही नहीं प्राप्त करनी है, वरन् अस्तित्व और विनाश के निरंतर भय से मुक्ति प्राप्त करनी है। लिपमैन ने इस को इस प्रकार व्यक्त किया है कि अणु युग में असफलता और समर्थता का भाव और भी उग्र हो उठा है। न हम युद्ध को समाप्त कर सकते हैं, न आज युद्धों को संचालित करने की पूरी क्षमता हममें है और विजयी होकर पुनर्निर्माण को तो प्रश्न ही नहीं है। निराशा की व्याप्त भावना का कारण यह है कि अणुशक्ति पर हम नियंत्रण न पा सकें तो आगामी कल महाविनाश का कल होगा, यह वैज्ञानिक आविष्कार मानव मात्र की चरम तर्क शक्ति, बुद्धि, प्रज्ञा और चिंतन का प्रतीक है परन्तु उस शक्ति का उपयोग अपने ही विनाश के लिए करके मानव जाति सबसे बड़ी भूल कर रही है।

राजनीतिज्ञ, विचारक, अंतर्राष्ट्रीय सम्बन्धों के विवेचक सभी इस संकट के आभास से भयभीत हैं तथा नियति मानो सारी मानव जाति को उस ओर ले जा रही है जहाँ वह जाना नहीं चाहती। अणु शक्ति पर नियंत्रण पाने के लिए प्रायः विचार-विमर्श होता रहता है और अणु युग के अनुकूल राजनीतिक नीतियाँ अपनाने पर विशेष बल दिया जाता है। पामर व पर्किन्स ने आणविक युग के अनुकूल विदेश नीति अपनाने के लिए निम्नलिखित सुझाव दिये हैं—

- युद्ध का अंतर्राष्ट्रीय राजनीति से पूर्ण उन्मूलन,
- सशक्त विश्व सरकार रूपी अंतर्राष्ट्रीय संघ का गठन,
- सामान्य निःशस्त्रीकरण,
- परमाणु शक्ति पर समुचित नियंत्रण,
- समस्त राष्ट्रों द्वारा कभी भी परमाणु अस्त्रों के प्रयोग न करने की वचनबद्धता,
- व्यापक नर-संहार करने वाले शस्त्रों के परीक्षणों पर पूर्ण निषेध,
- जिन देशों के पास भी हों विशेषकर रूस और संयुक्त राज्य अमरीका द्वारा समस्त अणु आयुधों का समूल विनाश,
- आणविक शस्त्रों के प्रसार को निरोध करने वाले समझौते,
- आणविक शक्ति से सम्पन्न किसी राष्ट्र द्वारा आक्रमण किये जाने पर राष्ट्रों को सुरक्षा प्रदान करने की व्यवस्था।

परन्तु अंतर्राष्ट्रीय राजनीति का यथार्थवादी विचारक जानता है कि इनमें से एक भी सुझाव राष्ट्रों को मान्य नहीं है। अतः अणु शक्ति पर नियंत्रण आज की अंतर्राष्ट्रीय राजनीति की मूल समस्या है।

12. शक्ति राजनीति में आणविक शक्ति की भूमिका—क्या आणविक शस्त्रों के बल पर ही अंतर्राष्ट्रीय शक्ति राजनीति में स्थान पाना संभव है? इस सम्बन्ध में दो दृष्टिकोण हमारे सामने हैं—प्रथम दृष्टिकोण के अनुसार बम विस्फोट से राष्ट्र की शक्ति में वृद्धि होती है। बम वह कुंजी है जो विदेश नीति के अनेक तालों को एक साथ खोल देती है। आणविक शक्ति से सम्पन्न राष्ट्र का संयुक्त राष्ट्र संघ, गुटनिरपेक्ष आंदोलन, राष्ट्रकुल आदि अंतर्राष्ट्रीय संस्थाओं में भी ओहदा एवं प्रतिष्ठा रातोंरात ऊँचा उठ जाता है। उदाहरण के लिए, चीन ने अणु शस्त्रों के निर्माण शुरू किया और उन शस्त्रों के बल पर ही चीन को अंतर्राष्ट्रीय शक्ति राजनीति में अपना स्थान मिला। पोखरण अंतःस्फोट ने ही भारत की छवि

इतनी चमका दी तो बम के राजनीतिक लाभ कितने होंगे, यह कहने की जरूरत नहीं है। दूसरा दृष्टिकोण यह है कि प्रामाणिक शस्त्रों से शक्ति राजनीति में राज्य की प्रतिष्ठा में वृद्धि हो ही, यह आवश्यक नहीं। उदाहरण के लिए, ब्रिटेन भी आणविक राष्ट्र है, परंतु अणु शस्त्रों के निर्माण से क्या अंतर्राष्ट्रीय राजनीति में उसका स्तर कुछ बढ़ा है? सचाई तो यह है कि शस्त्रों का निर्माण भी द्वितीय विश्व-युद्ध के बाद से निरन्तर घटती ब्रिटिश प्रतिष्ठा को बचा नहीं सका। पश्चिमी यूरोप में ही ब्रिटेन द्वितीय श्रेणी का राष्ट्र बनकर रह गया है। जापान का उदाहरण भी हमारे सामने है। जापान के पास आणविक शस्त्र नहीं है तथापि दक्षिण-पूर्वी एशिया के परिप्रेक्ष्य में जापान की शक्ति को नजरअंदाज नहीं किया जा सकता। इसलिए महाशक्ति होना, अणु-शस्त्रों का निर्माण करना दोनों एक-दूसरे के पूरक नहीं माने जा सकते। इसका यह भी अर्थ नहीं है कि अगर कोई राष्ट्र महाशक्ति है तो अणु-शस्त्रों का निर्माण उसकी महत्ता को और बढ़ा सकता है। पर ऐसा नहीं कि अणु-शस्त्र बनाने वाले राष्ट्र स्वतः महाशक्ति बन जाते हैं। ऐसे राष्ट्र यदि अणु शस्त्र तैयार भी कर लें तो बम विस्फोट के बाद थोड़ा दबदबा बढ़ेगा, पर जल्दी ही महानता का बुलबुला भी फूट जाएगा। अंतर्राष्ट्रीय राजनीति में शक्तिशाली होने के लिए राष्ट्रीय शक्ति के अन्य आवश्यक तत्वों के साथ-साथ सबल प्रतिरक्षात्मक शक्ति से सम्पन्न होना अपरिहार्य है। इसके साथ ही आर्थिक और तकनीकी विकास द्वारा राष्ट्रीय विकास अपनी चरम सीमा पर हो, तभी कोई राष्ट्र सत्ता केन्द्रों में स्थान पा सकता है।

13. विश्व व्यवस्था : आतंक का युग—आजकल परमाणु भट्टियां तथा अन्य यंत्र अंतर्राष्ट्रीय बाजार में सहज रूप से उपलब्ध हो रहे हैं। अमरीका, इंग्लैण्ड, रूस, फ्रांस, कनाडा, जर्मनी आदि देश परमाणु भट्टियों को मुक्त रूप से बेच रहे हैं। इस समय विश्व में लगभग 300 परमाणु भट्टियां कार्यरत हैं तथा अनुमान है कि अगले चार-पांच वर्षों में इनकी संख्या 500 हो जायेगी। वर्तमान भट्टियों में से प्रत्येक से लगभग 500 पौण्ड प्लूटोनियम प्रतिवर्ष प्राप्त होता है जो परमाणु बम के लिए आधार तत्व है। हिरोशिमा पर डाले गये बम में केवल दस पौण्ड प्लूटोनियम लगा था। ऐसी स्थिति में यह सहज अनुमान लगाया जा सकता है कि केवल विद्युत् प्राप्ति के लिए बनायी गयी परमाणु भट्टियां प्रतिवर्ष कितनी बड़ी संख्या में आणविक हथियारों को जन्म दे सकती हैं। यूरेनियम अथवा प्लूटोनियम की चोरी के भी समाचार हमें आये दिन पढ़ने-सुनने को मिलते हैं।

परमाणु शक्ति के उत्तरोत्तर विकास से सम्बन्धित तीन संभावित खतरे आज मानव जाति के सम्मुख हैं—

- बमों के परीक्षणों, विस्फोटों तथा परमाणु भट्टियों में प्रक्रियाओं के कारण पर्यावरण में रेडियोधर्मी तत्वों की प्रतिशत मात्रा बढ़ती जाती है। वास्तव में, कुछ रेडियोधर्मी तत्व शीघ्रता से विघटित नहीं होते और लम्बी अवधि तक रेडियो विकिरणों का उत्सर्जन करते हैं। वस्तुतः यह तत्व वायुमण्डल की रेडियोधर्मिता में निरन्तर वृद्धि करते हैं। अन्य प्रदूषणों को नियंत्रित अथवा कम किया जा सकता है पर रेडियोधर्मिता को नष्ट करना समस्या ही है।
- न्यूक्लीयर कचड़े को फेंकने की समस्या— इस कचरे से लम्बी अवधि तक विकिरण निकलते रहते हैं—वैसे इससे निबटने के लिए केवल तीन विकल्प हैं— इसका संग्रहण, पुनः प्रोसेसिंग तथा इसे समाप्त करना, किंतु इनमें से प्रत्येक के साथ विशेष प्रकार की कठिनाइयां तथा समस्याएं हैं, जिन्हें हल करना अत्यन्त कठिन है।
- परमाणु संयंत्रों में होने वाले आकस्मिक दुर्घटनाएं जिनके बारे में यद्यपि छिपायी जाती है किंतु फिर भी आये-दिन जिनके बारे में जानकारी मिलती ही रहती है।

अमेरिकी राष्ट्रपति कैंनेडी ने सन् 1961 में ठीक ही कहा था कि “इन हथियारों को नष्ट करना ही होगा वरना ये हमें नष्ट कर देंगे एवं यह धरती किसी के जीवित रहने योग्य ही नहीं रह सकेगी।” यदि परमाणु युद्ध हुआ तो ये बम इस पृथ्वी से मानवता का समूल नाश कर देंगे। यदि युद्ध केवल उत्तरी गोलार्द्ध में होता है तब भी इसके परिणाम सम्पूर्ण विश्व को भुगतने होंगे। परमाणु युद्ध के बाद धरती का तापमान 30 डिग्री से 40 डिग्री सेल्सियस तक परिवर्तित हो जायेगा; पृथ्वी के सभी जीव-जन्तु काल के गाल में समाने के लिए बाध्य हो जायेंगे।

- M.A. NVP (P)/P-IV/260